

R4,(Q2)

1318

15CD

Sukracharya.

Sukraniti'sarah

1318

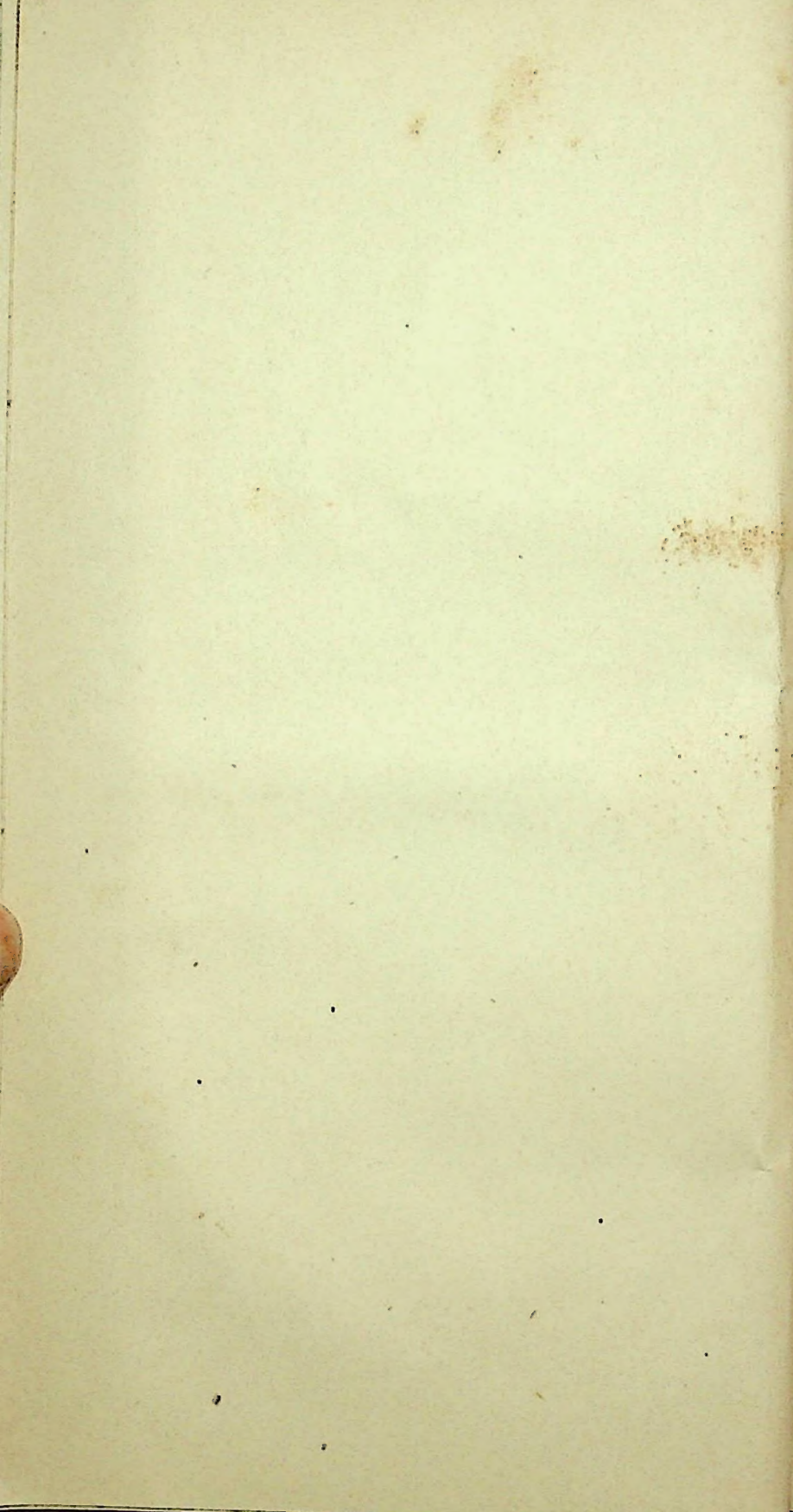


**VISHWARADHYA JNANA**

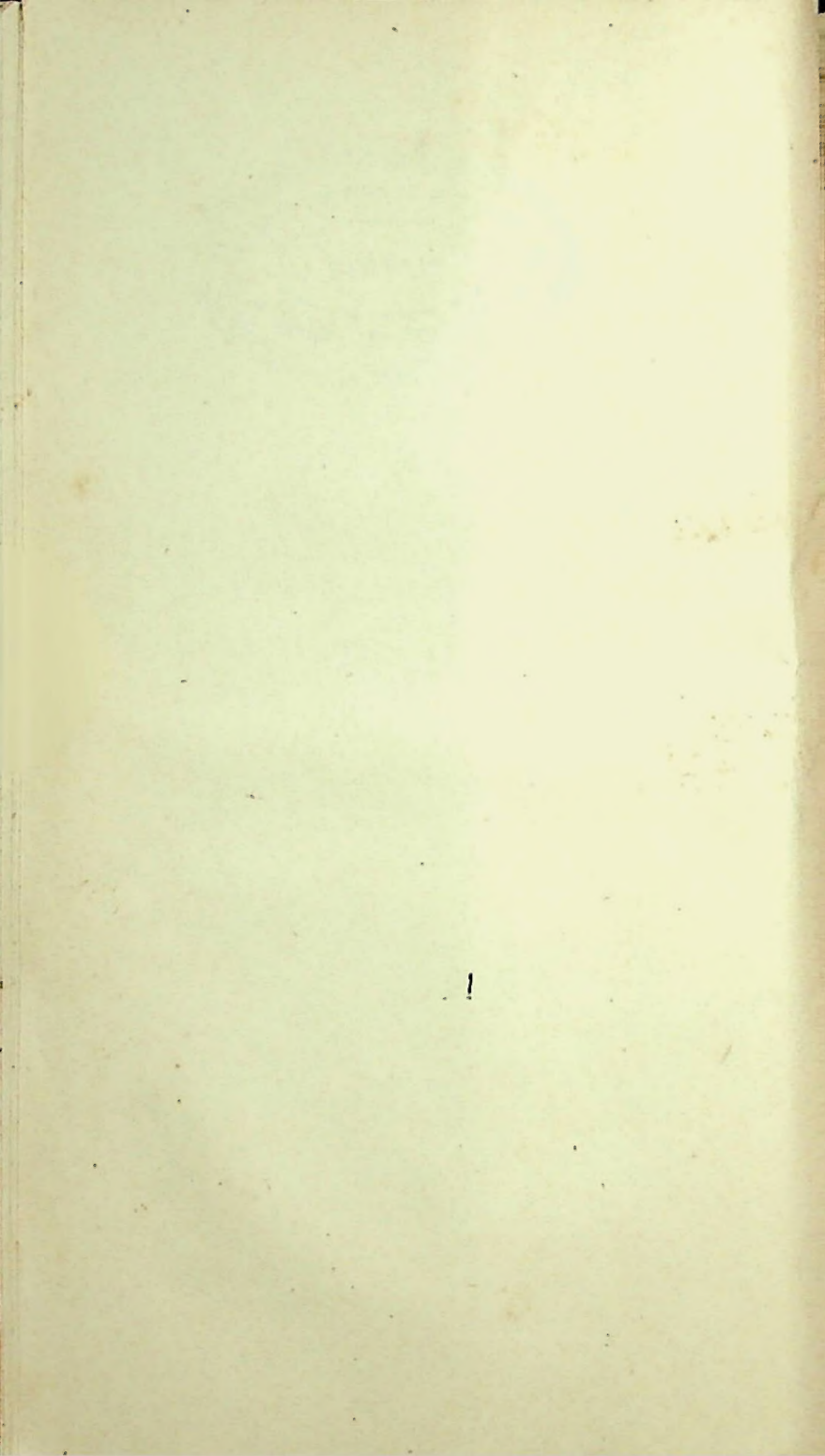
**JANGAMAWADIMATHI, VARANASI**

★ ★ ★ ★ ★

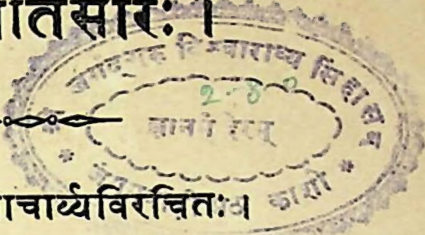
[illegible]



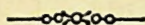




# शुक्रनीतिसारः ।



श्रीमत् शुक्राचार्यविरचितः ।



पण्डितकुलपतिना

वि, एं, उपाधिधारिणा

श्रीजीवानन्दविद्यासागरभट्टाचार्येण

विरचितया व्याख्यया समलङ्कृतः ।



द्वितीयसंस्करणम् ।

कलिकाताराजधान्याम्

नारायणयन्त्रे मुद्रितः ।

इ १८८० ।

R4, (Q2)  
15C0

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA  
JNANA SIMHASANA JNANAMANDIR  
LIBRARY.

Jangamwadi Math, VARANASI,

Acc No. ~~2407~~.....

1318

## सूचीपत्रम् ।

| प्रथमोऽध्यायः ।                 |        | विषयः                      | पृष्ठा |
|---------------------------------|--------|----------------------------|--------|
| विषयः                           | पृष्ठा | सुजनसङ्गतिः कर्त्तव्या     | ३७     |
| नीतिशास्त्रस्य प्रशंसा          | १      | मनोहारिणीं वाचमुदीरयेत्    | ३८     |
| राज्ञः नृतिशास्त्रज्ञाने        |        | नृपतेः सामन्तादिभेदाः      | ४२     |
| प्रयोजनम्                       | ४      | भूमेर्मानभेदाः             | ४५     |
| राजा कालस्य कारणम्              | ६      | राजधानीकरणमाह              | ४८     |
| धर्मस्य प्रशंसा                 | ६      | विभिन्नशालाकरणमाह          | ५२     |
| सात्त्विकादिगुणभेदेन राजान-     |        | दुर्गकरणमाह                | ५६     |
| स्त्रिविधाः                     | ८      | पान्थशालाकरणमाह            | ६१     |
| सुगतिं दुर्गतिं प्रति प्राक्तन- |        | राजमार्गकरणमाह             | ६१     |
| कर्मणः कारणता                   | ८      | राज्ञामावश्यकीयदैनिक-      |        |
| राज्यस्य सप्ताङ्गानि            | १५     | कर्माणि                    | ६६     |
| राजा देवांशसम्भूतः              | १७     | सुहृत्तविभागेन राजकार्य-   |        |
| सप्तगुणैर्युतः राजा प्रजा-      |        | माह                        | ६६     |
| रञ्जकः                          | १८     | यामिककर्त्तव्यता           | ७०     |
| इन्द्रियजयस्य आवश्यकता-         |        | प्रजासु राज्ञा आदेशमाह     | ७०     |
| माह                             | २३     | राज्ञः कर्त्तव्यमाह        | ७५     |
| यूतादिव्यसनदोषाः                | २६     | विषादि संस्तिष्टखाद्य-     |        |
| अष्टधा राजवृत्तम्               | २८     | परीक्षा                    | ७८     |
| नृपतेः गुणदोषाः                 | ३०     | मृगयाव्यापारकथनम्          | ७८     |
| आन्वीचिक्यादीनां लक्ष-          |        | राजकुलेषु नृपतिनिर्द्धारण- |        |
| णानि                            | ३५     | माह                        | ८२     |

|                           |    |
|---------------------------|----|
| सम्बन्धिज्ञातिबान्धवादिषु |    |
| नृपनिर्द्धारितकार्याणि    | ८४ |
| परिषद्व्यवस्था            | ८५ |
| राजचिह्नरक्षणमाह          | ८७ |
| सांवत्सरिकराज्यपरिदर्शनम् | ८९ |
| राज्ञः पारलौकिककार्य-     |    |
| विधानम्                   | ९४ |

### द्वितीयोऽध्यायः ।

|                                |     |
|--------------------------------|-----|
| सत्सहायवतो राज्ञः श्रेष्ठत्वम् | ९६  |
| कुसहायवतो राज्ञो हानिः         | ९७  |
| युवराजकार्यमाह                 | ९८  |
| अभिषेकार्हापुत्रनिर्णयः        | ९८  |
| दुर्धत्तराजपुत्रेषु आचार-      |     |
| व्यवस्था                       | १०१ |
| राजपुत्राणां पितरि             |     |
| कर्त्तव्यता                    | १०५ |
| भृत्यादिविचारकथनम्             | १०८ |
| अमात्यादिषु श्रेष्ठानुक्रम-    |     |
| विचारः                         | ११२ |
| पुरोधादीनां लक्षणानि           |     |
| कार्याणि च                     | ११४ |
| अन्येषामधिकारिणां लक्षणानि     |     |
| कार्याणि च                     | १२३ |
| गजाश्वाद्यधिपादीनां लक्ष-      |     |
| णानि कार्याणि च                | १२५ |

|                              |     |
|------------------------------|-----|
| सेनाधिपादीनां लक्षणानि       | १३० |
| कोषाध्यक्षादीनां लक्षणानि    | १३३ |
| राज्ञो धर्माधिकारे प्रजानाम् |     |
| आचारव्यवस्था                 | १५० |
| लेख्यानां भेदाः              | १६८ |
| अथ राज्ञ आयव्ययादिकम्        | १७५ |
| राज्ञः स्वलेख्यचिह्नम्       | १८५ |
| अथ मानानि                    | १८९ |
| संख्यासंज्ञा                 | १९२ |
| अथ कालमानकथनम्               | १९२ |
| भृतिनिरूपणम्                 | १९४ |
| राज्ञो भृत्यानुरञ्जनमाह      | १९८ |

### तृतीयोऽध्यायः ।

|                             |     |
|-----------------------------|-----|
| सर्वकर्त्तव्यसदाचारव्यवस्था |     |
| साधारणनीतिकथनञ्च            | २०३ |
| गोप्यवस्तु कथनम्            | २३५ |
| देशाटनसमावेशनशास्त्रचिन्ता  |     |
| नियमाः                      | २३५ |
| वशीकरणोपायाः                | २४१ |
| गुरुराज्ञोः समीपे सहासनोप-  |     |
| वेशननिषेधः                  | २४३ |
| स्त्रीणां स्वाभाविकदोष-     |     |
| कथनम्                       | २४४ |
| कन्यादानविधिः               | २४५ |
| विद्यार्थोपायप्रकारमाह      | २४६ |

|                        |     |
|------------------------|-----|
| पैतृकार्यविभागव्यापारः | २५२ |
| बन्धुवशीकरणोपायः       | २५४ |
| सौजन्यगुणप्रशंसा       | २६० |
| षट् असुखकारणानि        | २६३ |
| सदाचारसम्पन्नब्राह्मण- |     |

प्रशंसा २६६

अथ उत्तमादिभेदेन

वृत्तयः २७०

अथ बुद्धिप्रशंसा २७२

### चतुर्थाध्यायस्य

#### प्रथमप्रकरणम् ।

अथ मित्रामित्रलक्षणानि २८३

कथं ते व्यवहार्याः २८८

सामदानादिप्रयोगकथनम् २८९

अथ नृपकर्तव्यतामाह २९४

दण्डव्यवस्था २९५

के दण्ड्याः २९९

अपराधभेदकथनम् ३००

दण्डदानात् परं शिचा-

विधिः ३०९

### चतुर्थाध्यायस्य

#### द्वितीयप्रकरणम् ।

कोषसञ्चयव्यवस्था ३१२

धान्यसंग्रहव्यवस्था ३१८

नवरत्नानां परीक्षा ३२२

रत्नानां मूल्यकथनम् ३२५

धातुमूल्यकथनम् ३३३

गवादीनां मूल्यकथनम् ३३४

करसंग्रहव्यवस्था ३३७

### चतुर्थाध्यायस्य

#### तृतीयप्रकरणम् ।

जातिविचारः ३४७

ब्राह्मणादिजातिभेदाः ३४८

ब्राह्मणादीनां कार्याणि ३४८

वेदादिकथनम् ३५०

द्वात्रिंशद्विद्याभेदाः ३५१

चतुःषष्टिकलाभेदानाह ३६१

### चतुर्थाध्यायस्य

#### चतुर्थप्रकरणम् ।

चतुराश्रमभेदाः ३६९

स्त्रीणामाचारव्यवस्थामाह ३७१

शूद्राणाम् आचारव्यवस्था-

माह ३७७

यवनानामाचारव्यवस्था-

माह ३७८

गुणेन श्रेष्ठत्वं न जात्या ३७९

कारुशिल्पिगणानां

संस्थापनव्यवस्था ३८०

|   |     |
|---|-----|
| वृक्षसंरोपणव्यवस्था                               | ३८१ |
| वृक्षाणां सेकविधिः                                | ३८२ |
| वृक्षाणां फलपुष्पवृद्धि-<br>व्यवस्था              | ३८२ |
| खदिरादिवृक्षरोपण-<br>व्यवस्था                     | ३८३ |
| कूपादिखननव्यवस्था                                 | ३८४ |
| सेतुबन्धनव्यवस्था                                 | ३८४ |
| जलयाननिर्माणव्यवस्था                              | ३८४ |
| देवमन्दिरादिनिर्माण-<br>व्यवस्था                  | ३८५ |
| प्रतिमानिर्माणव्यवस्था                            | ३८७ |
| मूर्त्तीनां वाहनव्यवस्था                          | ४०८ |
| गणपतिमूर्त्तिव्यवस्था                             | ४१० |
| शक्तिमूर्त्तिव्यवस्था                             | ४१३ |
| बालमूर्त्तिव्यवस्था                               | ४१४ |
| सप्ततालादिमूर्त्तिभेदस्य<br>निर्माणप्रकारव्यवस्था | ४१५ |
| पेशाचीमूर्त्तिव्यवस्था                            | ४१८ |
| भग्नप्रतिमास्थापनव्यवस्था                         | ४१८ |
| उत्सवव्यापारव्यवस्था                              | ४१८ |

### चतुर्थाध्यायस्य

#### पञ्चमप्रकरणम् ।

अथ व्यवहारदर्शनव्यवस्था ४२०

|   |     |
|---|-----|
| अथ राज्ञः व्यवहारदर्शन-<br>व्यवस्था                 | ४२१ |
| समाधिवेशनव्यवस्था                                   | ४२६ |
| सभाया दशाङ्गानि                                     | ४२८ |
| विचारनियमाः   | ४३३ |
| के दण्डाः   | ४३६ |
| पञ्चाशच्छलानि                                       | ४३७ |
| द्वाविंशतिविवादस्थानानि                             | ४३८ |
| आहुतस्य आगमनव्यवस्था                                | ४४४ |
| प्रतिभूप्रकारमाह                                    | ४५० |
| पक्षनिरूपणम्  | ४५१ |
| भाषादोषादि  | ४५२ |
| पक्षाभासनिरूपणम्                                    | ४५२ |
| चतुर्विधमिथ्यानिरूपणम्                              | ४५६ |
| त्रिविधप्राङ्न्यायनिरूपणम्                          | ४५७ |
| अथ लिखितकथनम्                                       | ४६२ |
| अग्राह्यलिखितम्                                     | ४६४ |
| साक्षिग्रहणव्यवस्था                                 | ४६८ |
| परवस्तुनः अधिककालभोगे<br>स्वामिनः स्वत्वलोपव्यवस्था | ४७४ |
| सत्त्वाधिकारविचार-<br>व्यवस्था                      | ४८१ |
| धातुकूटकारिणां दण्ड-<br>व्यवस्था                    | ५०२ |

## चतुर्थाध्यायस्य षष्ठप्रकरणम् ।

दुर्गप्रकरणम्

५०३

## चतुर्थाध्यायस्य सप्तमप्रकरणम् ।

सैन्यनिरूपणम्

५०७

चतुर्विधसैन्यानां भागनिरूपणम्

५१२

नृपतेर्व्ययनिरूपणम्

५१३

रथगजादिनिरूपणम्

५१४

अथ गजमानानि

५१५

अश्वानां भेदलक्षणमानानि

५१७

अश्वपरिचर्या

५३७

अश्वचिकित्सा

५४०

अश्वानां षड्विधाः गतयः

५४१

वृषोद्गादीनां गुणाः

५४२

पशुमनुष्यादीनां परमायुक्थनम्

५४३

अश्ववृषोद्गाणां वयोज्ञानम्

५४४

हस्तिपकादीनाम् अङ्गुशकथनम्

५४७

गजादीनां वशीकरणम्

५४८

गजादीनां तथा सैन्यानां सन्निवेशनकथनम्

५४९

योजनान्ते सैन्यस्थापनव्यवस्था

५४९

मौलशिञ्चितबलेन सह अरिं प्रति युद्धयात्राकथनव्यवस्था

५५०

नालिकास्त्रकथनम्

५५३

अग्निचूर्णनिर्माणप्रकारव्यवस्था

५५५

नालिकास्त्रे अग्निप्रदानव्यवस्था

५५७

अन्येषाम् अस्त्रशस्त्रादीनां निरूपणम्

५५८

युद्धकामुकस्य रात्रिः कालदेशादिनिरूपणम्

५६१

|   |     |
|---|-----|
| सन्धिविग्रहादि षड्गुणकथनम्              | ५६३ |
| युद्धयात्रा                             | ५७० |
| सैन्यानां दैनिककार्याणि व्यूहभेदाश्च    | ५७१ |
| शत्रोरवरोधव्यवस्था                      | ५७५ |
| संग्रामे सामाद्युपायचिन्तनम्            | ५७८ |
| संग्रामे प्रवृत्ते युद्धादनिवृत्तिकथनम् | ५७९ |
| अस्त्रशस्त्रभेदैः युद्धभेदाः            | ५८७ |
| बाहुयुद्धमाह                            | ५८८ |
| नियुद्धस्य अष्टौ भेदाः                  | ५८८ |
| युद्धव्यवहारनियमाः                      | ५९० |
| युद्धे के के न हन्तव्याः                | ५९२ |
| शत्रुजयकथनम्                            | ५९४ |
| युद्धे अर्जितधनव्यवस्था                 | ५९६ |
| मन्त्रिसभाव्यवस्था                      | ५९७ |
| सैन्यानां पण्यादिव्यवस्था               | ५९८ |
| सैन्यानां संशासनव्यवस्था                | ५९९ |
| सैन्यानां शिचितादिभेदेन भृतिव्यवस्था    | ६०१ |
| दुष्टसैन्यानां हननव्यवस्था              | ६०१ |
| हृतराज्यस्य नृपतेः वृत्तिदानव्यवस्था    | ६०२ |
| यामिकसन्निवेशनव्यवस्था                  | ६०४ |
| राजधर्मपालनेन प्रजानुरञ्जनम्            | ६०६ |
| शुक्रनीतिप्रशंसा                        | ६०८ |
| खिलनीतिमिरूपणम्                         | ६१० |

# शुक्रनीतिसारं

प्रथमोऽध्यायः ।

प्रणम्य जगदाधारं सर्गस्थित्यन्तकारणम् ।  
संपूज्य भार्गवः पृष्टो वन्दितः पूजितस्तुतः ॥१॥  
पूर्वदेवैर्यथान्यायं नीतिसारमुवाच तान् ।  
शतलक्षलोकमितं नीतिशास्त्रमथोक्तवान् ॥२॥  
स्वयम्भूर्भगवान् लोकहितार्थं संग्रहेण वै ।  
तत्सारन्तु वशिष्ठाद्यै रस्माभिर्द्विहेतवे ॥३॥

हेरम्बचरणद्वन्द्वं प्रणम्य विघ्नशान्तये ।

व्याख्यायते शुक्रनीतिः श्रीजीवानन्दशर्मणा ॥

अन्यारम्भे विघ्नविघाताय प्रारिक्षितपरिसमाप्तिकामो अन्यज्ञानं  
जगदीश्वरप्रणामरूपमङ्गलमाचरन् शिष्यमाह प्रणम्येत्यादि । सर्गस्थि-  
त्यन्तकारणं सृष्टिस्थितिसंहारकर्त्तारं जगतामाधारं जगदीशं प्रणम्य  
संपूज्य च पूर्वदेवैः असुरैः यथान्यायं वन्दितः प्रणतः पूजितः स्तुतः पृष्टः  
वन्दनपूजनस्तवनानन्तरं जिज्ञासितः सच्चित्त्वर्थः तान् असुरान् प्रथमं  
नीतिसारं सङ्क्षिप्तनीतिम् उवाच । पूर्वं भगवान् स्वयम्भूः विधाता  
लोकहितार्थं लोकानां हिताय शतलक्षलोकमितं नीतिशास्त्रम् उक्त-  
वान् अथ अनन्तरं वशिष्ठाद्यैः अस्माभिः द्विहेतवे अभ्युदयाय अस्मा-  
द्युभूभृदाद्यर्थम् अदीर्घजीविराजादिप्रयोजनार्थं संग्रहेण वै संक्षेपार्थ-  
मेव तत्सारं तस्य नीतिशास्त्रस्य ब्रह्मप्रोक्तस्य सारं तर्कैः युक्तिभिः विस्तृतं  
युक्तियुक्तं यथा तथा सङ्क्षिप्तं सङ्कलितम् । अन्यानि शास्त्राणि क्रियैक-

अल्पायुर्भूद्दादर्थं सङ्क्षिप्तं तर्कविस्तृतम् ।  
 क्रियैकदेशबोधीनि शास्त्राण्यन्यानि सन्ति हि ॥४॥  
 सर्वोपजीवकं लोकस्थितिद्वन्नीतिशास्त्रकम् ।  
 धर्मार्थकाममूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः ॥५॥  
 अतः सदा नीतिशास्त्रमभ्यसेद् यत्नतो नृपः ।  
 यद्विज्ञानात् नृपाद्याश्च शत्रुजिह्वोकरञ्जकाः ॥६॥  
 सुनीतिकुशला नित्यं प्रभवन्ति च भूमिपाः ।  
 शब्दार्थानां न किं ज्ञानं विना व्याकरणं भवेत् ? ॥७॥

देशबोधीनि एकदेशक्रियाप्रतिपादकानि विशेषार्थसाधकानीत्यर्थः न तु  
 साधारणानीत्यर्थः सन्ति हि हिशब्दोऽवधारणे । किन्तु यतः यस्मात्  
 कारणात् नीतिशास्त्रं सर्वेषां जनानाम् उपजीवकं जीवनोपयोगि,  
 लोकानां स्थितिद्वत् मर्यादाविधायकं धर्मार्थकाममूलं त्रिवर्गहेतुभूतं  
 तथा मोक्षप्रदं निर्वाणदायकञ्च अतः नृपः यत्नतः सदा नीतिशास्त्रम्  
 अभ्यसेत् नीतिशास्त्रमनुसृत्य व्यवहरेदिति भावः । यस्य नीतिशास्त्रस्य  
 विज्ञानात् विशेषेण अवबोधात् नृपाद्याः राजप्रभृतयः राजा प्रजाप-  
 तृजितः शत्रुजयिनः तथा लोकरञ्जकाः लोकानाम् आनन्दविधायिनो  
 भवन्तीति शेषः । एतेन अन्यस्य प्रयोजनं चतुर्वर्गप्राप्तिरूपम् अभिधेयं  
 सर्वविषयसमाचारज्ञानं स्वस्वम् साक्षात् परस्परया वा ज्ञाप्यज्ञापक-  
 त्वादिरूपो यथायथमूहनीयः उक्तञ्च ज्ञातार्थं ज्ञातस्वप्नं श्रोतुं श्रोता  
 प्रवर्तते । अन्यादौ तेन वक्तव्यः स्वप्नः सप्रयोजन इति ॥१-६॥

सुनीतिकुशला इति । भूमिपाः राजानश्च नित्यं सुनीतौ कुशलाः  
 प्रभवन्ति अस्य नीतिशास्त्रस्य ज्ञानादिति भावः । ननु व्याकरणमनधीन-  
 कथं शब्दज्ञानं तद्वत् च कथं नीतिज्ञानसम्भव इत्याशङ्क्याह शब्दार्थानां  
 मिति । व्याकरणं विना शब्दार्थानां ज्ञानं किं न भवेत् ? अपि तु  
 भवेदेव व्याकरणस्य शब्दसाधन एव प्रयोजकत्वादिति भावः ॥७॥

प्राकृतानां पदार्थानां न्यायतर्कैर्विना न किम् ? ।  
 विधिक्रियाव्यवस्थानां न किं सीमांसया विना ? ॥८॥  
 देहावधिनश्वरत्वं वेदान्तैर्न विना हि किम् ? ।  
 स्वस्वाभिमतबोधीनि शास्त्राण्येतानि सन्ति हि ॥९॥  
 तत्तन्मतानुगैः सर्वैर्विधृतानि जनैः सदा ।  
 बुद्धिकौशलमेतद्वि तैः किं स्याद् व्यवहारिणाम् ? ॥१०॥  
 सर्वलोकव्यवहारस्थितिर्नीत्या विना न हि ।  
 यथाऽशनैर्विना देहस्थितिर्न स्याद्वि देहिनाम् ॥११॥

प्राकृतानामिति । न्यायतर्कैः नैयायिकयुक्तिविज्ञानैः विना प्राकृतानां  
 प्रकृतिसिद्धानां स्वाभाविकानामित्यर्थः पदार्थानां ज्ञानं किं न भवेत् ?  
 अपि तु भवेदेव, तथा सीमांसया सीमांसकनिबन्धज्ञानेन विना विधि-  
 क्रियाव्यवस्थानां कार्यानुष्ठाननियमानां ज्ञानञ्च किं न भवेत् ? अपि तु  
 भवेदेव, नीतिज्ञानं न न्यायसीमांसाशास्त्रानुशीलनाधीनमिति भावः ॥८॥

देहेति । वेदान्तैः विना वेदान्तज्ञानमृते देहावधिः नश्वरत्वं देह-  
 पर्यन्तस्य नश्वरत्वं न तु देहिन इत्यर्थः किं न विज्ञायते ? इति शेषः,  
 वेदान्तमते सर्वं वस्तु नश्वरं केवलमात्मा नित्य इति ज्ञानसापेक्षं न  
 नीतिशास्त्रमिति भावः । एतानि पूर्वोक्तानि व्याकरणादीनि शास्त्राणि  
 स्वस्वाभिमतबोधीनि निजनिजमतप्रतिपादकानि सन्ति, तानि च तत्त-  
 न्मतानुगैः तत्तन्मतानुसारिभिः सर्वैर्जनैः सदा विधृतानि गृहीतानि,  
 तैः शास्त्रैः व्यवहारिणां लौकिकाचारपरायणानाम् एतत् बुद्धिकौशलं  
 प्रज्ञाचातुर्यं किं स्यात् ? नैवेत्यर्थः तत्तच्छास्त्रानुशीलनेन तत्तद्देशेष्टिक-  
 ज्ञानमेव भवेत् न तु लोकाचारज्ञानम् एतत् तु केवलं नीतिशास्त्रादे-  
 वेति फलितार्थः ॥ ८ ॥ १० ॥

सर्वेति । देहिनां प्राणिनाम् अशनैः भोजनैः विना यथा देह-  
 स्थितिः न स्यात् तथा नीत्या विना सर्वेषां लोकानां व्यवहारस्थितिः  
 साधाररक्षा न हि भवेदित्यर्थः ॥ ११ ॥

सर्वाभीष्टकरं नीतिशास्त्रं स्यात् सर्वसम्मतम् ।  
 अत्यावश्यं नृपस्यापि स सर्वेषां प्रभुर्यतः ॥१२॥  
 शत्रवो नीतिहीनानां यथापथ्याशिनां गदाः ।  
 सद्यः केचिच्च कालेन भवन्ति न भवन्ति च ॥१३॥  
 नृपस्य परमो धर्मः प्रजानां परिपालनम् ।  
 दुष्टनिग्रहणं नित्यं न नीत्या ते विना ह्युभे ॥१४॥  
 अनौतिरेव संछिद्रं राज्ञो नित्यं भयावहम् ।  
 शत्रुसंवर्द्धनं प्रोक्तं बलक्रासकरं महत् ॥१५॥  
 नीतिं त्यक्त्वा वर्त्तते यः स्वतन्त्रः स हि दुःखभाक् ।

सर्वेति । नीतिशास्त्रं सर्वाभीष्टकरं सर्वजनमनोरथपूरकम् अतः  
 सर्वेषां जनानां सम्मतं स्यात् नृपस्य अपि नृपस्य एव अपिशब्दोऽत्र  
 व्यवधारणे । अत्यावश्यम् अतिप्रयोजनीयं यतः सः नृपः सर्वेषां  
 जनानां प्रभुः, प्रभौ नीतिपरायणे तदनुजीविनः सर्वे एव नीतिपरा  
 भवन्तीति भावः ॥ १२ ॥

शत्रव इति । नीतिहीनानां नीतिशास्त्रविमुखानाम् अपथ्याशिनां  
 गदा रोगा इव सद्यः शत्रवः केचिच्च कालेन भवन्ति, तथा अनौति-  
 हीनानां नीतिपरायणानां पथ्याशिनां गदा इव केचिच्च केचिदपि  
 शत्रवः सद्यः कालेन च न भवन्तीति अन्यव्यतिरेकाभ्यां नीतिशास्त्रस्य  
 फलसुक्तम् ॥ १३ ॥

नृपस्येति । नित्यं प्रजानां परिपालनं दुष्टनिग्रहणञ्च नृपस्य  
 परमो धर्मः, नीत्या विना नीतिज्ञानं विना ते उभे प्रजापालनं दुष्ट-  
 दमनञ्च न भवत इति शेषः ॥ १४ ॥

अनौतिरिति । राज्ञः अनौतिः नीतिशास्त्राननुसरणं संछिद्रं  
 सव्यक् छिद्रं रज्ज्वभूतम् अतः नित्यं सततं भयावहं शत्रुसंवर्द्धनं शत्रु-  
 हृदिकरं तथा महत् बलक्रासकरं बलक्षयविधायकम् ॥ १५ ॥

नीतिरिति । यः नीतिं त्यक्त्वा स्वतन्त्रः स्वेच्छाकारी सन् वर्त्तते

स्वतन्त्रप्रभुसेवा तु ह्यसिधारावलेहनम् ॥१६॥  
 खाराध्यो नीतिमान् राजा दुराराध्यस्वनीतिमान् ।  
 यत्र नीतिवले चोभे तत्र श्रीः सर्वतोमुखी ॥१७॥  
 अप्रेरितहितकरं सर्वराष्ट्रं भवेद् यथा ।  
 तथा नीतिस्तु सन्धार्या नृपेणात्महिताय वै ॥१८॥  
 भिन्नं राष्ट्रं बलं भिन्नं भिन्नोऽमात्यादिको गणः ।  
 अकौशल्यं नृपस्यैतदनीतेर्यस्य सर्वदा ॥१९॥  
 तपसा तेज आदत्ते शास्त्रा पाता च रञ्जकः ।  
 नृपः स्वप्राक्तनादत्ते तपसा च महीमिमाम् ॥२०॥

स हि दुःखभाक् तस्य च स्वतन्त्रस्य प्रभोः सेवा तु असिधारावलेहनं  
 हि यथा यः असिधारामवलेदि स सद्यश्चिन्नजिह्वः प्राणसंग्रयमापद्यते  
 तथा स्वेच्छाचारिप्रभुसेवकोऽपीति भावः ॥१६॥

खाराध्य इति । नीतिमान् राजा खाराध्यः सुखेन आराधनीयः  
 अनीतिमांस्तु दुराराध्यः दुःखेन आराधनीयः, यत्र राज्ञि उभे नीति-  
 वले नीतिः बलञ्चेत्यर्थः विद्योते इति पदमध्याहार्यं तत्र श्रीर्लक्ष्मीः  
 सर्वतोमुखी भवतीति शेषः ॥१७॥

अप्रेरितेति । यथा सर्वं राष्ट्रम् अप्रेरितम् अकथितं सत् हित-  
 करं भवेत् नृपेण आत्महिताय तथा नीतिस्तु तृणञ्चोऽयधारणे  
 सन्धार्या वैशब्दः पादपूरणार्थः तादृशीं नीतिमनुसृत्य राज्ञा व्यवहर्त्तव्यं  
 यथा प्रजा विनोपदेशं सदाचारपरा भवेदिति भावः ॥१८॥

भिन्नमिति । यस्य नृपस्य सर्वदा अनीतेः दुर्नयात् हेतोः एतत्  
 अकौशल्यम् अनैपुण्यं भवतीति शेषः, तस्य राष्ट्रं भिन्नं विचलितं बलं  
 सैन्यं भिन्नं भेदं गतम् अमात्यादिकः गणः परिषद्वर्गश्च भिन्नः भेदं  
 गतः सः अचिराद् भ्रश्यतीति भावः ॥१९॥

तपसेति । तपसा तपोवलेन तेजः आदत्ते अपहृदति, तपसा परेषां  
 दुर्धर्षो भवति भावः, शास्त्रा यथाशास्त्रव्यवहारी पाता रञ्जकः च रञ्जकः

यादृक् तपति योऽत्यर्थं तादृक् भवति सो नृपः ॥२६॥

यो हि स्वधर्मनिरतः प्रजानां परिपालकः ।

यथा च सर्वयज्ञानां नेता शत्रुगणस्य च ॥३०॥

दानशौण्डः क्षमी शूरो निष्पृहो विषयेष्वपि ।

विरक्तः सात्त्विकः सो हि नृपोऽन्ते मोक्षमन्वितात् ॥३१॥

विपरीतस्तामसः स्यात् सोऽन्ते नरकभाजनः ।

निर्घृणश्च मदोन्मत्तो हिंसकः सत्यवर्जितः ॥३२॥

राजसो दाम्भिको लोभी विषयी वञ्चकः शठः ।

मनसान्यश्च वचसा कर्मणा कलहप्रियः ॥३३॥

सात्त्विकमिति । तपः त्रिविधं सात्त्विकं सत्त्वगुणकृतं राजसं रजोगुणकृतं तथा तामसं तमोगुणकृतं, यः अत्यर्थम् अतिमात्रं यादृक् तपति तापश्चरति स तादृक् तादृशतपोबलसम्पन्नः नृपः राजा भवति राजत्वस्य तपःसाध्यत्वादिति भावः ॥२६॥

य इति । दानशौण्ड इति । यो नृपः हिंशद्रोऽवधारणे, स्वधर्मनिरतः राजधर्मपालनपरः प्रजानां परिपालकः सर्वतो रक्षिता सर्वयज्ञानाम् अश्वमेधादीनां यथा याज्ञिकः शत्रुगणस्य च शत्रूणामपीत्यर्थः नेता शास्ता, दानशौण्डः बहुदानशीलः क्षमी क्षमवान् शूरः वीर्यसम्पन्नः विषयेष्वपि ऐश्वर्येषु अपि निष्पृहः विरक्तश्च सः सात्त्विकः सत्त्वगुणावलम्बी, सः अन्ते परिणामे मोक्षं निर्वाणमन्वितात् प्राप्नुयात् ॥३०॥३१॥

विपरीत इति । यः नृपः विपरीतः पूर्वोक्तधर्मवर्हिर्भूतः निर्घृणः निर्दयः मदेन मद्यपानजनितेन विकारेण गर्वेण वा उन्मत्तः, हिंसकः तथा सत्यवर्जितः अलीकृतः सः तामसः तमोगुणावलम्बी सः अन्ते नरकभाजनः निरयगामी भवतीति शेषः ॥३२॥

राजस इति । नीचप्रिय इति । यस्य दाम्भिकः दम्भमयः लोभी

नीचप्रियः स्वतन्त्रश्च नीतिहीनश्छलान्तरः ।

स तिर्य्यक्त्वं स्थावरत्वं भवितान्ते नृपाधमः ॥३४॥

देवांशान् सात्त्विको भुङ्क्ते राजसांशान्सु तामसः ।

राजसो मानवांशान्सु सत्त्वे धार्य्यं मनस्ततः ॥३५॥

सत्त्वस्य तमसः साम्यान्मानुषं जन्म जायते ।

यद् यदाश्रयते मर्त्यस्तत्तुल्यो दिष्टतो भवेत् ॥३६॥

कर्मैव कारणञ्चात्र सुगतिं दुर्गतिं प्रति ।

कर्मैव प्राक्तनमपि क्षणं किं कोऽस्ति चाक्रियः ? ॥३७॥

लुब्धः विषयी विषयलोभः वञ्चकः प्रतारकः शठः धूर्तः मनसा अन्यः वचसा अन्यः कर्मणा च अन्यः, कलहप्रियः विवादरतः नीचप्रियः नीचानां दुर्जनानां प्रियः, स्वतन्त्रः स्वेच्छाचारी, नीतिहीनः नीति-  
शास्त्रविमुखः तथा छलान्तरः कपटपूर्णः स नृपाधमः अन्ते तिर्य्यक्त्वं  
पञ्चादिभावं वा स्थावरत्वं वृक्षादिभावं भविता प्राप्स्यति भूधातोः  
प्राप्त्यर्थकत्वमिह बोद्धव्यम् ॥३३॥३४॥

देवांशानिति । सात्त्विकः सत्त्वगुणालम्बी देवांशान् तामसः तमो-  
गुणालम्बी राजसांशान् तथा राजसः रजोगुणालम्बी मानवांशान्  
प्राप्नोति, ततः तस्मात् हेतोः सत्त्वे मनो धार्य्यं सत्त्वगुण एवाश्रयणीय  
इति भावः ॥३५॥

सत्त्वस्येति । सत्त्वस्य तमसश्च गुणयोरेतयोः साम्यात् समानत्वात्  
मानुषं जन्म जायते अयं भावः यत् यादृशः सत्त्वगुणः तादृश एव  
तमोगुणः विद्यते स मनुष्यत्वं लभते इति पूर्वं केवलरजसा मनुष्यत्वं  
लभ्यते इह तु सत्त्वतमसोः साम्येनेति न पुनरुक्तिरिति बोध्यम् ।  
अतः मर्त्यः यद् यद् आश्रयते यदाचारी भवतीत्यर्थः दिष्टतः भाग्येन  
तत्तुल्यः तदनु रूपः भवेत् ॥३६॥

कर्मैति । अत्र संसारे कर्मैव सुगतिं वा दुर्गतिं प्रति कारणं  
कर्मबलेनैव लोकः सुगतिं वा दुर्गतिं भजते इत्यर्थः, प्राक्तनं पूर्वजन्मतं

न जात्या ब्राह्मणश्चात्र क्षत्रियो वैश्य एव न ।  
 न शूद्रो न च वै श्लेच्छो भेदिता गुणकर्मभिः ॥३८॥  
 ब्राह्मणस्तु सप्तत्यन्नाः सर्वे ते किं नु ब्राह्मणाः ? ।  
 न वर्णतो न जनकाद् ब्राह्मतेजः प्रपद्यते ॥३९॥  
 ज्ञानकर्म्मोपासनाभिर्देवताराधने रतः ।  
 शान्तो दान्तो दयालुश्च ब्राह्मणश्च गुणैः कृतः ॥४०॥  
 लोकसंरक्षणे दक्षः शूरो दान्तः पराक्रमी ।  
 दुष्टनिग्रहशीलो यः स वै क्षत्रिय उच्यते ॥४१॥

यत् तदपि कर्म एव, कोऽपि जनः किं क्षणमपि अक्रियः कर्मशून्यः  
 अस्ति नैवेत्यर्थः, सर्वमेव कर्मायत्तमिति भावः ॥ ३७॥

नेति । अत्र संसारे जात्या कश्चित् ब्राह्मणः क्षत्रियश्च न विद्यते  
 इति शेषः तथा वैश्यः न, शूद्रश्च न, श्लेच्छश्च न अस्तीति शेषः, तर्हि  
 किमित्याह भेदिता इति । गुणकर्मभिः गुणैः तत्तज्जातिनिष्ठैः गुणैः  
 धर्मैः कर्मभिश्च भेदिता एते इति शेषः गुणकर्मप्रभेदेन कोऽपि ब्राह्मणाः  
 कोऽपि क्षत्रियाः कोऽपि वैश्याः अपरे शूद्राः अत्रे श्लेच्छाश्चेति संशया  
 निर्दिश्यन्ते इत्यर्थः ॥३८॥

ब्राह्मण इति । सर्वे ते पूर्वोक्ताः ब्राह्मणाः ब्राह्मणः विधातुः सप्त-  
 पक्षाः, अतः ब्राह्मणाः किं नैवेत्यर्थः तुल्यो पितरौ । वर्णतः आदिम-  
 वर्णतया ब्राह्मतेजः न प्रपद्यते न प्राप्यते तथा जनकाद् जनकसम्बन्धात्  
 ब्राह्मजातत्वादित्यर्थः वा ब्राह्मतेजः न प्राप्यते ॥३९॥

अहो ब्राह्मणः कथं जायते इत्याह ज्ञानेति । यः ज्ञानस्य कर्म-  
 चाक्षु उपपासनाभिः अनुशीलनाद्युपासनात्मकैः गुणैः उपबलितः, देवता-  
 राधने रतः शान्तः जितेन्द्रियः दान्तः विनयरत तथा दयालुः स  
 ब्राह्मणः कृतः विधातेति शेषः ॥४०॥

लोकेति । यस्य लोकरक्षणे प्रजापालने इक्षुः निपुणः शूरो

क्रयविक्रयकुशला ये नित्यञ्च पण्यजीविनः ।

पशुरक्षाः क्षपिकरास्ते वैश्याः कीर्तिता भुवि ॥४२॥

द्विजसेवार्चनरताः शूराः शान्ता जितेन्द्रियाः ।

सीरकाष्ठवहास्ते नीचाः शूद्रसंज्ञकाः ॥४३॥

त्यक्तस्त्रधर्माचरणा निर्घृणाः परपीडकाः ।

चण्डाश्च हिंसका नित्यं स्तेच्छास्ते ह्यविवेकिनः ॥४४॥

प्राक्कर्मफलभोगार्हा बुद्धिः सञ्जायते नृणाम् ।

प्रापकर्मणि पुण्ये वा कर्तुं शक्नो न चान्यथा ॥४५॥

बलवान् दानः निवृत्ततेन्द्रियः पराक्रमी तथा दुष्टानां निग्रहे समर्थः

स क्षत्रियः उच्यते वैशब्देः अवधारणे ॥४१॥

क्रयेति । ये नित्यं क्रयविक्रयकुशलाः सनः पण्यजीविनः व्यवसायिन इत्यर्थः तथा पशुरक्षाः पशुपालनरताः क्षपिकराश्च ते भुवि प्रथिव्यां वैश्याः कीर्तिताः ॥४२॥

द्विजेति । ये द्विजानां ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां सेवायां परिचर्यायाम् अर्चने च पूजने च रताः शूराः बलवान्तः कार्यक्षमा इत्यर्थः शान्ताः सुशीलाः जितेन्द्रियाः वशीकृतेन्द्रियाः सीरं लाकूलं काष्ठं दृष्ट्वा वहन्तीति तथोक्ताः अतएव नीचाः शूद्रकर्मरताः, ते शूद्रसंज्ञकाः शूद्रा इत्यभिहिता इत्यर्थः ॥४३॥

त्यक्तेति । ये च त्यक्तस्त्रधर्माचरणाः धर्माचारवर्जिता इत्यर्थः निर्घृणाः निर्दयाः परपीडकाः चण्डाः उघ्राः नित्यं सततं हिंसकाः हिंसाशीलाः तथा अविवेकिनः विवेकरहिताः ग्रथेच्छाचारिण इत्यर्थः न स्तेच्छाः हिंशब्देः अवधारणे ॥४४॥

प्रागिति । नृणां मनुष्याणां प्राक् कर्मफलभोगार्हा प्राक्तनशुभाशुभकर्मफलभोगविपरिणो बुद्धिः सञ्जायते, अन्यथा पापकर्माणि पुण्यं वा कर्तुं न च शक्नो न शक्नोतीत्यर्थः । प्राक्तनकर्मबलेनैव कोऽपि पापकर्मणि कोऽपि वा पुण्यकर्मणि प्रवर्तते इति फलितार्थः ॥४५॥

बुद्धिरुत्पद्यते तादृक् यादृक् कर्मफलोदयः ।

सहायास्तादृशा एव यादृशी भवितव्यता ॥४६॥

प्राक्कर्मवशतः सर्वं भवत्येवेति निश्चितम् ।

तदोपदेशा व्यर्थाः स्युः कार्याकार्यप्रबोधकाः ॥४७॥

धीमन्तो वन्द्यचरिता मन्यन्ते पौरुषं महत् ।

अशक्ताः पौरुषं कर्तुं क्लृप्ता देवमुपासते ॥४८॥

दैवे पुरुषकारे च खलु सर्वं प्रतिष्ठितम् ।

पूर्वजन्मकृतं कर्महार्जितं तद् द्विधाकृतम् ॥४९॥

बलवान् प्रतिकारी स्याद् दुर्बलस्य सदैव हि ।

स बलाबलयोर्ज्ञानफलप्राप्त्यान्यथा न हि ॥५०॥

बुद्धिरिति । यादृक् कर्मफलस्य उदयः, तादृक् बुद्धिः उत्पद्यते, भवितव्यता नियतिः यादृशी, तादृशा एव सहायाः भवन्तीति शेषः ॥४६॥

प्रागिति । प्राक्कर्मवशतः प्राक्तनकर्मवशात् सर्वं शुभाशुभं भवत्येव इति निश्चितं यदीत्यध्याहार्यं तदा कार्याकार्यप्रबोधकाः कर्तव्या-कर्तव्यप्रतिपादकाः उपदेशाः व्यर्था विफला स्युः भवेयुः केवलप्राक्तनाङ्गीकारे पुरुषकारो व्यर्थ इति भावः ॥४७॥

धीमन् इति । वन्द्यचरिताः महनीयचरित्वाः धीमन्तः बुद्धिमन्तः पौरुषं पुरुषकारं महत् मन्यन्ते न तु देवं, क्लृप्ताः व्यक्तमास्तु पौरुषं कर्तुम् अशक्ताः सन्तः दैवं प्राक्तनभयम् उपासते आश्रयन्ति ॥४८॥

दैव इति । सर्वं शुभाशुभं दैवे पुरुषकारे च प्रतिष्ठितं खलु निश्चितं सर्वमेव दैवाधीनं परं पुरुषकारमपेक्षते इति भावः तत् फलोत्पत्तिसाधनं द्विधाकृतं द्वैविध्येन व्यवस्थापितम् एकं पूर्वजन्मकृतं कर्म दैवमित्यर्थः, अपरम् इहार्जितम् ऐहिकं पौरुषमित्यर्थः ॥४९॥

बलवानिति । बलवान् प्रबलः जनः सदैव दुर्बलस्य प्रतिकारी

फलोपलब्धिः प्रत्यक्षहेतुना नैव दृश्यते ।  
 प्राक्कर्महेतुको सा तु नान्यथैवेति निश्चयः ॥५१॥  
 यज्जायतेऽल्पक्रियया नृणां वापि सहत् फलम् ।  
 तदपि प्राक्तनादेव केचित् प्रागिहकर्मजम् ॥५२॥  
 वदन्तीहैव क्रियया जायते पौरुषं नृणाम् ।  
 सस्नेहवर्त्तिदीपस्य रक्षा वातात् प्रयत्नतः ॥५३॥  
 अवश्यस्माविभावानां प्रतीकारो न चेद् यदि ।  
 दुष्टानां क्षपणं ये यो यावद् बुद्धिवलोदयम् ॥५४॥

अपकारी अथवा उपकारी स्यात् हिशब्दः पादपूरणार्थः । स बला-  
 बलयोः ज्ञानस्य फलस्य प्राप्ता तत् करोतीति शेषः । अन्यथा न हि  
 बलाबलयोः स्वपरनिष्ठयोः ज्ञानेन फलप्राप्ता च तस्य दुर्वलप्रतीकार  
 इति भावः ॥५०॥

फलोपलब्धिरिति । प्रत्यक्षहेतुना दृश्यमानकारणेन फलोपलब्धिः  
 फललाभः नैव दृश्यते, सा तु फलोपलब्धिः प्राक्कर्महेतुको प्राक्तनकर्मा-  
 धीना, अन्यथा नैव इति निश्चयः ॥५१॥

यदिति । वापि अथवा अल्पक्रियया अल्पेन पुरुषकारेण नृणां  
 यत् सहत् फलं जायते तदपि प्राक्तनात् पूर्वजन्मकृतात् कर्मण एव भव-  
 तीति शेषः, केचित् तत् प्रागिहकर्मजं प्राक्तनैहिककर्मभ्यां जातं  
 वदन्तीति उत्तरलोकीयक्रियापदेनान्वयः ॥५२॥

वदन्तीति । इहैव क्रियया नृणां पौरुषं जायते, तथाहि प्रयत्नतः  
 पुरुषकारात् सस्नेहवर्त्तिदीपस्य तैलाक्तदशान्वितस्य दीपस्य वातात् रक्षा  
 भवतीति शेषः इत्यपि वदन्ति केचिदिति पूर्वेणान्वयः ॥५३॥

अवश्यमिति । अवश्यं भाविनां भावानां विषयाणां यदि प्रती-  
 कारो न वै नैव भवतीति शेषः वैशब्दः अवधारणे, तदा यावद्बुद्धिवलो-  
 दयं बुद्धिवलानुसारेणेत्यर्थः दुष्टानाम् अपकारिणां रोगादीनां शत्रूणां  
 क्षपणम् अप्रतिकरणं येयः शुभावहं भवतु इति शेषः ॥५४॥

प्रतिकूलानुकूलाभ्यां फलाभ्याञ्च नृपोऽप्यतः ।

ईषन्मध्याधिकाभ्याञ्च त्रिधा दैवं विचिन्तयेत् ॥५५॥

रावणस्य च भीष्मादेर्वनभङ्गे च गोग्रहे ।

प्रातिकूल्यन्तु विज्ञातमेकस्माद् वानरान्नरात् ॥५६॥

कालानुकूल्यं विस्मष्टं राघवायार्जुनस्य च ।

अनुकूले यदा दैवे क्रियात्पा सुफला भवेत् ॥५७॥

महती सत्क्रियानिष्टफला स्यात् प्रतिकूलके ।

बलिर्दानेन संबद्धो हरिश्चन्द्रस्तथैव च ॥५८॥

प्रतिकूलेति । अतः कारणात् नृपः अपि प्रतिकूलानुकूलाभ्यां तथा ईषत् मध्याधिकाभ्यां फलाभ्यां दैवं त्रिधा विचिन्तयेत् अल्पप्रतिकूलानुकूलफलकमेकं मध्यविधप्रतिकूलानुकूलफलकं द्वितीयम् अधिकप्रतिकूलानुकूलफलकं तृतीयमिति ॥५५॥

रावणस्येति । रावणस्य एकस्मात् वानरात् हनुमत इत्यर्थः वनभङ्गे मधुवनमर्दने तथा भीष्मादेः भीष्म आदिः श्रेष्ठः यस्य तस्य दुर्योधनस्य इत्यर्थः एकस्मात् नरात् अर्जुनादित्यर्थः गोग्रहे विराटराजस्य गवां प्रत्याहरणे प्रातिकूल्यं दैवस्येति शेषः विज्ञातं रावणस्य भीष्मादेरिति कर्त्तरि षष्ठी ॥५६॥

कालानुकूल्यमिति । राघवस्य रामस्य अर्जुनस्य च कालानुकूल्यं कालस्य समयस्य आनुकूल्यं सहकारित्वं विस्मष्टं विशेषेण व्यक्तमित्यर्थः यदा दैवम् अनुकूलं तदा अल्पा क्रिया अल्पपुरुषकारः सुफला भवेत् यथा एकेन हनुमता मधुवनभङ्गः तथा एकेन अर्जुनेन गोप्रत्याहरणमिति भावः ॥५७॥

महतीति । प्रतिकूलके प्रातिकूल्ये दैवस्येति शेषः महती सत्क्रिया साध्वी क्रिया अनिष्टफला स्यात् तथाहि बलिः तथा हरिश्चन्द्रः दानेन संबद्धः आसीदिति शेषः ॥५८॥

भवतीष्टं सत्क्रिययानिष्टं तद्विपरीतया ।

शास्त्रतः सदसत्ज्ञात्वा त्यक्त्वाऽसत्सत् समाचरेत् ॥५६॥

कालस्य कारणं राजा सदसत्कर्मणस्त्वतः ।

सुकार्योऽद्यतदण्डाभ्यां स्वधर्मे स्थापयेत् प्रजाः ॥६०॥

स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गवलानि च ।

सप्ताङ्गमुच्यते राज्यं तत्र मूर्ध्ना नृपः स्मृतः ॥६१॥

दृगमात्यः सुहृच्छ्रोत्रं सुखं कोशो बलं मनः ।

हस्तौ पादौ दुर्गराष्ट्रौ राज्याङ्गानि स्मृतानि हि ॥६२॥

भवतीति । सत्क्रियया इष्टं भवति तद्विपरीतया असत्क्रिय-  
येत्यर्थः अनिष्टं भवति । अतः शास्त्रतः सदसत् ज्ञात्वा यत्नात् असत्  
कार्यं त्यक्त्वा सत् कार्यं समाचरेत् ॥५६॥

कालस्वेति । राजा कालस्य कारणम् अयं भावः यदा राजा  
सम्यक् कार्यं पश्यति स कालः सत्ययुगं, यदा सामान्यतः पश्यति तदा  
त्रेतायुगं, यदा न कार्यं पश्यति तदा द्वापरयुगं, यदा निद्राति तदा  
कलियुगमिति । अतः सदसत्कर्मणः कारणं तु एव त्रयशब्दः अवधारणे  
राज्ञ एव लोकानां सदसत्कर्मप्रवर्त्तकत्वादिति भावः । तस्मात् राजा  
सुकार्योऽद्यतम् उद्योगः भावे क्लृप्त्ययः, दण्डश्च ताभ्यां प्रजाः  
स्वधर्मे स्थापयेत् ॥६०॥

स्वामीति । राज्यं सप्ताङ्गं सप्तावयवम् उच्यते स्वामी राजा,  
अमात्यः सन्धी, सुहृद् मित्रं कोशः धनं राष्ट्रं राज्यस्य प्रजावर्गः, दुर्गं  
शत्रुदुर्गमं गुप्तिस्थानं तथा बलं सैन्यम् । तत्र तेषु सप्तसु मध्ये नृपः  
मूर्ध्ना उत्तमाङ्गं स्मृतः ॥६१॥

दृगिति । अमात्यः दृक् चक्षुः, सुहृद्, श्रोत्रं कर्णावयवं, कोशः  
सुखं, बलं मनः अन्ताकरणं, दुर्गं हस्तः, राष्ट्रं पादः एतानि राज्या-  
ङ्गानि स्मृतानि कथितानि हि शब्दः अवधारणे ॥६२॥

अङ्गानां क्रमशो वक्ष्ये गुणान् भूतिप्रदान् सदा ।  
 यैर्गुणैस्तु सुसंयुक्ता वृद्धिमन्तो भवन्ति हि ॥६३॥  
 राजास्य जगतो हेतुर्द्वैष्ट्वं वृद्धाभिसम्मतः ।  
 नयनानन्दजनकः शशाङ्क इव तोयधेः ॥६४॥  
 यदि न स्यान्नरपतिः सम्यङ्नेता ततः प्रजा ।  
 अकर्णधारा जलधौ विल्लवेतेह नौरिव ॥६५॥  
 न तिष्ठन्ति स्वस्वधर्मे विना पालेन वै प्रजा ।  
 प्रजया तु विना स्वामी पृथिव्यां नैव शोभते ॥६६॥  
 न्यायप्रवृत्तो नृपतिरात्मानमथ च प्रजाः ।  
 त्रिवर्गेणोपसन्धत्ते निहन्ति ध्रुवमन्यथा ॥६७॥

अङ्गानामिति । क्रमशः अङ्गानां सदा भूतिप्रदान् शुभावहान्  
 गुणान् वक्ष्ये यैः गुणैः सुसंयुक्ता राजानः वृद्धिमन्तः उत्ततिशालिनः  
 भवन्ति हि हिशब्दः अवधारणे ॥६३॥

राजेति । वृद्धाभिसम्मतः सुविज्ञप्राचीनजनमतानुवर्त्ती राजा  
 तोयधेः समुद्रस्य शशाङ्कः चन्द्र इव नयनानन्दजनकः लोकानामिति  
 शेषः तथा अस्य जगतः वृद्धौ अभ्युदयाय हेतुः ॥६४॥

यदीति । यदि नरपतिः सम्यक् नेता नायकः कार्यदर्शीति यावत्  
 न स्यात् ततः तदा प्रजा जलधौ समुद्रे अकर्णधारा नाविकरहिता  
 नौः अर्णवतरिरिव इह जगति विल्लवेत विपद्यते ॥६५॥

नेति । प्रजाः पालेन रक्षकेण विना स्वस्वधर्मे न तिष्ठन्ति वेशब्दो-  
 ऽवधारणे, तथा स्वामी प्रजया विना पृथिव्यां न शोभते राजप्रजयोः  
 परस्परसापेक्षं प्रयोजनीयमिति भावः ॥६६॥

न्यायेति । नृपतिः न्यायप्रवृत्तः न्यायपरायणः सन् आत्मानं  
 प्रजाश्च तयाणां धर्मार्थकामानां वर्गैः उपसन्धत्ते योजयति, अन्यथा  
 अन्यायप्रवृत्तश्चेत् आत्मानं प्रजाश्च ध्रुवं निश्चितं निहन्ति नाशयति ॥६७॥

धर्मं द्वैतवने राजा विधाय बुभुजे दिवम् ।  
 अधर्माच्चैव नहुषः प्रतिपेदे रसातलम् ॥६८॥  
 वेणो नष्टस्त्वधर्मेण पृथुर्दृष्टु धर्मतः ।  
 तस्माद्धर्मं पुरस्कृत्य यतेतार्थाय पार्थिवः ॥६९॥  
 यो हि धर्मपरो राजा देवांशोऽन्यश्च रक्षसाम् ।  
 अंशभूतो धर्मलोपी प्रजापीडाकरो भवेत् ॥७०॥  
 अराजके हि सर्वस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात् ।  
 रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभुः ॥७१॥  
 इन्द्रानिलयमाकाणामग्नेश्च वरुणस्य च ।  
 चन्द्रवित्तेशयोश्चापि माता निर्हृत्य शाश्वतीः ॥७२॥

धर्ममिति । राजा युधिष्ठिर इत्यर्थः द्वैतवने धर्मं विधाय दिवं  
 बुभुजे नहुषः अधर्मात् रसातलं प्रतिपेदे च एवमन्धोऽवधारणे । अग-  
 स्त्यशापेन नहुषस्य अधर्माचरणत्वात् इन्द्रत्वपदात् अजगरसर्परूपेण मर्त्य-  
 लोके आगमनम् अभूत् इति पौराणिकीकथा अत्र अनुसन्धेया ॥६८॥

वेण इति । वेणो नाम नृपतिः अधर्मेण नष्टः, पृथु वेणुपुत्रः  
 धर्मतः धर्मेण दृढः दृढि गतः, तस्मात् पार्थिवः धर्मं पुरस्कृत्य आश्रित्य  
 अर्थाय अर्थलाभाय यतेत यत्नं कुर्व्यात् ॥६९॥

य इति । यः राजा धर्मपरः स देवांशः, अन्यः रक्षसाम् अंश-  
 भूतः नृपः धर्मलोपी प्रजानां पीडाकरश्च भवेत् ॥७०॥

अराजक इति । इन्द्रेति । सर्वस्मिन् जगति अराजके व्यतएव  
 भयात् सर्वतः समन्ततः विद्रुते पलायिते सति प्रभुर्ब्रह्मा अस्य सर्वस्य  
 जगतः रक्षार्थम् इन्द्रस्य अनिलस्य यमस्य अर्कस्य अग्नेः वरुणस्य चन्द्रस्य  
 कुबेरस्य च अष्टानामेतेषां देवानां शाश्वतीः चिरन्तनीः तेजस्विनीरित्यर्थः  
 माताः अंशान् निर्हृत्य संदृष्ट्य राजानमसृजत् सृष्टवान् ॥७१॥७२॥

जङ्गमस्थावराणाञ्च हीशः स्वतपसा भवेत् ।  
 भागभागक्षणे दक्षो यथेन्द्रो नृपतिस्तथा ॥७३॥  
 वायुर्गन्धस्य सदसत्कर्मणः प्रेरको नृपः ।  
 धर्मप्रवर्तकोऽधर्मनाशकस्तमसो रविः ॥७४॥  
 दुष्कर्मदण्डको राजा यमः स्याद् दण्डकृद् यमः ।  
 अग्निः शुचिस्तथा राजा रक्षार्थं सर्वभागभुक् ॥७५॥  
 पुष्यत्यपां रसैः सर्वं वरुणः स्वधनैर्नृपः ।  
 करैश्चन्द्रो ह्लादयति राजा स्वगुणकर्मभिः ॥७६॥  
 कोशानां रक्षणे दक्षः स्यान्निधौनां धनाधिपः ।  
 चन्द्रो यथा विना सर्वरंशैर्नो भाति भूपतिः ॥७७॥

जङ्गमेति । यथा इन्द्रः स्वतपसा निजेन तपोबलेन जङ्गमस्थाव-  
 राणां चराचराणां जगताम् ईशः अधिपतिः सन् भागभाक् तथा  
 रक्षणे दक्षः रक्षाकुशलः नृपतिः भागभाक् करग्राही भवेत् ॥७३॥

वायुरिति । वायुः गन्धस्य प्रेरकः नृपस्तु सदसत्कर्मणः प्रेरकः  
 धर्मप्रवर्तकः तथा तमसः रविरिव अधर्मस्य नाशकः ॥७४॥

दुष्कर्मेति । दुष्कर्मणां पापिनां दण्डकः दण्डयिता राजा यमः  
 स्यात् यतः यमः दण्डकृत् । अग्निः शुचिः पवित्रः सन् यथा सर्वेषां  
 देवानां भागम् अग्नौ हुतमिति भावः भुङ्क्ते इति सर्वभागभुक्  
 तथा शुचिः राजा रक्षार्थं सर्वेषां जगतां प्रजानामित्यर्थः भागभुक्  
 स्वग्राह्यांग्राहीत्यर्थः ॥७५॥

पुष्यतीति । वरुणः अपां रसैः सलिलरसैः सर्वं जगत् पुष्यति,  
 नृपः स्वधनैः सर्वं पुष्यति, चन्द्रः करैः किरणैः सर्वं ह्लादयति प्रीण-  
 यति, राजा स्वस्य गुणैः दयादाक्षिण्यादिभिः कर्मभिः पूर्तकार्यादि-  
 भिर्य सर्वं रञ्जयति ॥७६॥

कोशानामिति । कोशानां धनानां रक्षणे सङ्गृहे दक्षः पटु राजा

पिता माता गुरुर्भ्राता बन्धुर्वैश्वर्यो यमः ।

नित्यं सप्तगुणैरेषां युक्तो राजा न चान्यथा ॥७८॥

गुणसाधनसंदक्षः स्वप्रजायाः पिता यथा ।

क्षमयिष्यपराधानां माता पुष्टिविधायिनी ॥७९॥

हितोपदेष्टा शिष्यस्य सुविद्याध्यापको गुरुः ।

स्वभागोद्धारकश्च भ्राता यथाशास्त्रं पितुर्धनात् ॥८०॥

आत्मस्त्रीधनगुह्यानां गोप्ता बन्धुस्तु मित्रवत् ।

धनदस्तु कुवेरः स्याद् यमः स्याच्च सुदण्डकृत् ॥८१॥

निधीनां धनाधिपः कुवेर इव प्रभूतधनशाली स्यात् । कोशानां सञ्चये

आवश्यकतामाह । चन्द्रः सर्वैः अंशैः विना अंशेन यथा न भाति ।

तथा भूपतिः सर्वैः अंशैः विपुलकोपैः विना नो भाति न शोभते ॥७७॥

पितेति । पिता जनकः माता जननी गुरुः आचार्यः भ्राता  
सौदरः बन्धुः सुहृत् वैश्वर्यः धनपतिः यमः दण्डधरः एषां सप्तगुणैः  
राजा नित्यं युक्तः भवेत् अन्यथा एषां गुणैर्विहीन इत्यर्थः न च  
रङ्गको भवेत् ॥७८॥

गुणेति । राजा पिता यथा जनक इव स्वप्रजायाः गुणसाधने  
गुणोपार्जने संदक्षः सम्यक् तत्परः भवेदिति शेषः । तथा पुष्टिविधायिनी  
पोषणकारिणी अपराधानां दोषाणां क्षमयित्री माता यथा जननीव  
प्रजानां पोषकः क्षमाशीलश्च भवेत् ॥७९॥

हितेति । सुविद्याध्यापकः शोभनविद्याशिक्षकः गुरुर्यथा शिष्यस्य  
उपदेष्टा, तथा राजा प्रजानां विद्यादाता उपदेष्टा च भवेत् । भ्राता  
यथा पितुर्धनात् स्वस्य भागस्य उद्धारं करोतीति स्वभागोद्धारकृत् तथा  
राजा प्रजाभ्यः स्वभागसुद्धरेदिति भावः ॥८०॥

आत्मोति । राजा मित्रवत् आत्मनः स्त्रीणां धनानां तथा गुह्यानां  
विपयाणां गोप्ता रक्षिता अतएव बन्धुः धनदः अतएव कुवेरः, तथा  
सुदण्डकृत् यथान्यायं दण्डयिता अतएव यमः स्यात् ॥८१॥

प्रवृद्धिमति सुरास्त्रि निवसन्ति गुणा अमी ।  
 एते सप्त गुणा राज्ञा न हातव्याः कदाचन ॥८२॥  
 क्षमते योऽपराधं सः शक्तः सुदमने क्षमी ।  
 क्षमया तु विना भूपो न भात्यखिलसङ्गुणैः ॥८३॥  
 स्वान् दुर्गुणान् परित्यज्य ह्यतिवादांस्तितिक्षते ।  
 दानैर्मानैश्च सत्कारैः स्वप्रजारञ्जकः सदा ॥८४॥  
 दान्तः शूरश्च शस्त्रास्त्रकुशलोऽरिनिघ्नद्वन्द्वः ।  
 अस्वतन्त्रश्च मेधावी ज्ञानविज्ञानसंयुतः ॥८५॥  
 नीचहीनो दीर्घदर्शी वृद्धसेवी सुनीतियुक् ।  
 गुणिजुष्टस्तु यो राजा स ज्ञेयो देवतांशकः ॥८६॥

प्रवृद्धीति । प्रवृद्धिमति प्रकटाभ्युदयशालिनि सुरास्त्रि शोभने  
 राजनि अमी पूर्वोक्ताः पित्रादिगुणाः निवसन्ति, अतः राज्ञा कदाचन  
 एते सप्त गुणाः न हातव्याः न त्यक्तव्याः ॥८२॥

क्षमते इति । यः शक्तः समर्थः सन् अपराधं क्षमते, स सुदमने  
 प्रजानां सुशासने क्षमी सत्तमः । क्षमया तु विना भूपः अखिलैः सस्रपैः  
 अदुर्गुणैः उपलक्षितोऽपीत्यर्थः न भाति न शोभते ॥८३॥

स्वानित्यादि । यः स्वान् निजान् दुर्गुणान् दोषान् परित्यज्य  
 अतिवादान् निन्दावादान् तितिक्षते स हते किञ्च सदा दानैः मानैः सत्-  
 कारैः समादरविशेषैश्च स्वप्रजानां रञ्जकः प्रीतिजनकः, दान्तः इन्द्रिय-  
 दमनशीलः शूरः बलवान् शस्त्रास्त्रकुशलः संप्रामादिद्वन्द्वैः अरिनिघ्नद्वन्द्वः  
 शत्रुतापनः अस्वतन्त्रः अस्वेच्छाचारी नीतिशास्त्रानुवर्त्तीत्यर्थः मेधावी  
 बुद्धिमान् ज्ञानविज्ञानाभ्यां सामान्यविशेषरूपाभ्यां संयुतः नीचहीनः  
 हीनसंसर्गरहितः दीर्घदर्शी वृद्धदर्शी वृद्धसेवी अभिज्ञजनमतानुवर्त्ती  
 सुनीतियुक् सनयसम्पन्नः तथा गुणिभिः विवृद्धिः जुष्टः सेवितः भवति  
 स राजा देवांशकः देवांशेनावतीर्ण इत्यर्थः ज्ञेयः ॥८४—८६॥

विपरीतस्तु रक्षोऽंशः स वै नरकभाजनः ।  
नृपांशसदृशो नित्यं तत्सहायगणः किल ॥८७॥  
तत्कृतं मन्यते राजा सन्तुष्यति च मोदते ।  
तेषामाचरणैर्नित्यं नान्यथा नियतेर्बलात् ॥८८॥  
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतकर्मफलं नरैः ।  
प्रतिकारैर्विना नैव प्रतिकारे कृते सति ॥८९॥  
तथा भोगाय भवति चिकित्सितगदो यथा ।  
उपदिष्टेऽनिष्टहेतौ तत् तत् कर्तुं यतेत कः ॥९०॥  
रज्यते सत्फले स्वान्तं दुष्फले न हि कस्यचित् ।

विपरीत इति । उक्तविपरीतस्तु ऋषः रक्षोऽंशः राक्षसांशेनावतीर्णः,  
स वै स एव नरकभाजनः निरयभागी भवति । तस्य राज्ञः सहाय-  
गणः सहचरवर्गः नृपांशसदृशः राजांशसमानः, यादृशो राजा तादृश  
एव तत्पार्श्वचरः इत्यर्थः यस्य देवस्य यद्रूपं यथा भूषणवाहनम् ।  
तद्वदेव तच्छक्तिरिति भावः ॥८७॥

तदिति । राजा नित्यं सततं तत्कृतं तेषां पार्श्वचराणां कृतं  
कार्यं मन्यते अनुमोदते, तथा नियतेः अदृष्टस्य बलात् प्रभावात् तेषाम्  
आचरणैः व्यवहारैः सन्तुष्यति सन्तोषं लभते, अन्यथा न मोदते न  
हृष्यति ॥८८॥

अवश्यमिति । नरैः मानवैः प्रतिकारैः विना, शान्तिमन्तरेण कृत-  
कर्मफलम् अवश्यमेव निश्चितमेव भोक्तव्यं, प्रतिकारे शान्तौ कृते सति  
नैव भोक्तव्यमिति भावः ॥८९॥

तथेति । चिकित्सितगदः प्रतिहतरोगः यथा भोगाय भवति  
शक्नोति, तथा प्रतिहतकर्मफलः राजा भोगाय भवति, अनिष्टहेतौ  
उपदिष्टे उपदेशेन सम्यक् विदिते सति कः तत् तत् अनिष्टं कर्तुं  
यतेत न कोऽपीत्यर्थः ॥९०॥

सदसद्बोधकान्येव दृष्ट्वा शास्त्राणि चाचरेत् ॥६१॥

नयस्य विनयो मूलं विनयः शास्त्रनिश्चयात् ।

विनयस्येन्द्रियजयस्तद्व्युक्तः शास्त्रमृच्छति ॥६२॥

आत्मानं प्रथमं राजा विनयेनोपपादयेत् ।

ततः पुत्रांस्ततोऽमात्यांस्ततो भृत्यांस्ततः प्रजाम् ॥६३॥

परोपदेशकुशलः केवलो न भवेन्नृपः ।

प्रजाधिकारहीनः स्यात् सगुणोऽपि नृपः क्वचित् ॥६४॥

न तु नृपविहीनाः स्युर्दुर्गुणा ह्यपितु प्रजाः ।

रज्यते इति । सत्फलं सुन्दरे फले सति स्वान्तं मनः रज्यते  
दृष्यति, दुष्फले मन्दफले सति कस्यचिदपि न हि नैव । सदसद्बोध-  
कानि हिताहितप्रतिपादकानि शास्त्राणि दृष्ट्वा आचरेत् यथा दुष्फलं  
न स्यात् तथा व्यवहरेदित्यर्थः ॥६१॥

नयस्येति । विनयः नयस्य नीतिप्रयोगस्य मूलं विनयेनैव नीतिः  
प्रयुज्यते इति भावः, विनयश्च शास्त्रनिश्चयात् शास्त्रार्थतत्त्वावबोधोपात्  
भवति, इन्द्रियजयः विनयस्य मूलं तद्व्युक्तः जितेन्द्रियः जनः शास्त्रम्  
मृच्छति अधिगच्छति ॥६२॥

आत्मानमिति । राजा प्रथमम् आत्मानं ततः पुत्रान्, ततः  
अमात्यान् सचिवान्, ततः भृत्यान् अपरान् कर्मचारिवर्गान् ततश्च प्रजां  
विनयेन उपपादयेत् योजयेत् । अयं भावः राज्ञः विनयदर्शनेन राज-  
पुत्रा राजपुत्राणां विनयदर्शनेन अमात्याः अमात्यानां विनयदर्शनेन  
अपरकर्मचारिणः तेषाञ्च विनयदर्शनेन सर्वाः प्रजाः विनयालङ्घिता  
भवन्तीति ॥६३॥

परेति । नृपः केवलः परोपदेशकुशलः न भवेत् स्वयमपि उप-  
देशातुरूपसमाचारो भवेदेति केवलशब्दार्थः । क्वचित् सगुणोऽपि उप-  
देशकुलोऽपि नृपः प्रजाधिकारहीनः राज्यच्युतः स्यात् स्वस्य उपदेश-  
ातुरूपमाचारविरहाद् यथेच्छाचारेण प्रजाविरागाच्चेति भावः ॥६४॥

यथा न विधवेन्द्राणी सर्वदा तु तथा प्रजाः ॥६५॥  
 भृष्टाः स्वामिता राज्ञो यस्य दान्ता न मन्त्रिणः ।  
 तथाऽविनीता दायादा दुष्टाः पुत्रादयोऽपि च ॥६६॥  
 सदानुरक्तप्रकृतिः प्रजापालनतत्परः ।  
 विनीतात्मा हि नृपतिर्मयसीं श्रियमश्नुते ॥६७॥  
 प्रकीर्णविषयारण्ये धावन्तं विप्रसाथिनम् ।  
 ज्ञानाङ्कुशेन कुर्वीत वशमिन्द्रियदन्तिनम् ॥६८॥  
 विषयामिषलोभेन मनः प्रेरयतीन्द्रियम् ।

नत्विति । प्रजाः तु दुर्गुणा गुणविहीना अपि नृपविहीना राज-  
 रहिता न स्युः न भवन्ति, इन्द्राणी यथा न विधवा, तथा प्रजाः सर्वदा  
 तु सर्वदेवं तु शब्दोऽवधारणे । न विधवा न स्वामिहीना भवन्ति  
 गुणविहीनो राजा प्रजाहीनः भवेत् प्रजा तु गुणविहीनापि न कदा-  
 चिदपि राजविहीना भवतीति फलितार्थः ॥६५॥

भृष्टेति । यस्य राज्ञः नृपतेः मन्त्रिणः अमात्याः न दान्ताः न  
 विनयसम्पन्ना तथा दायादाः बान्धवाः अविनीताः दुष्टस्वभावाः पुत्रा-  
 दयोऽपि दुष्टाः दुष्टस्वभावाः तस्य राज्ञः स्वामिता राजत्वं भृष्टाः  
 श्रीहीना भवतीति यावत् । अतः राज्ञः मन्त्रादिभिः विशेषेण  
 विनीतैर्भवितव्यम् इति फलितार्थः ॥६६॥

सदेति । सदा अनुरक्ता प्रकृतिः प्रधानपुरुषः अमात्यादिरित्यर्थः  
 यस्य सः प्रजानां पालने तत्परः न तु अलस इत्यर्थः तथा विनी-  
 तात्मा विनयी नृपतिः भूयसीं महतीं श्रियम् अश्नुते भुङ्क्ते ॥६७॥

इन्द्रियजयमाह प्रकीर्ण्येति । प्रकीर्णः विस्तृतः विषयः एव  
 अरण्यं तस्मिन् धावन्तं विप्रसाथिनं दुर्दान्तम् इन्द्रियदन्तिनम् इन्द्रिय-  
 रूपमातङ्गं ज्ञानमेव अङ्कुशः हस्तिशासनदण्डविशेषः तेन वश्यं वशी-  
 भूतं कुर्वीत जितेन्द्रियो भवेदित्यर्थः ॥६८॥

विषयेति । मनः विषयाः सम्पद एव आमिषाणि भोग्यवस्तूनि

तन्निरुध्यात् प्रयत्नेन जिते तस्मिन् जितेन्द्रियः ॥६६॥

एकस्यैव हि योऽशक्तो मनसः सन्निरुद्धे ।

महीं सागरपर्यन्तां स कथं ह्यवजेष्यति ? ॥१००॥

क्रियावसानविरसैर्विषयैरपहारिभिः ।

गच्छत्याक्षिप्तहृदयः करीव नृपतिर्ग्रहम् ॥१०१॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।

एकैकस्त्वलमेतेषां विनाशप्रतिपत्तये ॥१०२॥

शुचिर्दर्भाङ्कुराहारो विदूरभ्रमणे क्षमः ।

लुब्धकोऽज्ञीतमोहेन ऋगो ऋणयते बधम् ॥१०३॥

तेषु लोभेन लालसया इन्द्रियं चक्षुरादिकं प्रेरयति, अतः प्रयत्नेन यत्नातिशयेन तत् मनः निरुध्यात् निरुद्धं कुर्यात्, तस्मिन् मनसि जिते वशीकृते सति जितेन्द्रियः भवति ॥६६॥

एकस्येति । यः नृपः एकस्यैव मनसः सन्निरुद्धे वशीकरणे अशक्तः असमर्थः, सः सागरपर्यन्तां ससागरां महीं कथम् अवजेष्यति ? वशीकरिष्यति ? न कथमपीत्यर्थः । सर्वथा मन एव अयं वशीकर्तव्यमिति भावः ॥१००॥

क्रियेति । नृपतिः क्रियायाः अवसानविरसैः परिणामास्तुखकरैः अपहारिभिः आपातमनोहारिभिः विषयैः आक्षिप्तस् आकृष्टं हृदयं यस्य तथाभूतः सन् करीव गज इव ग्रहं बन्धनं गच्छति प्राप्नोति । राज्ञा विषयासक्तेन न भाव्यमिति भावः ॥१०१॥

शब्द इति । शब्दः अवशेन्द्रियभोग्य इत्यर्थः स्पर्शः त्वगिन्द्रियभोग्य इत्यर्थः, रूपं दर्शनेन्द्रियगोचरं, रसः रसनेन्द्रियविषयः पञ्चमः गन्धः घ्राणेन्द्रियगम्यश्च एतेषाम् एकैकस्तु एकैकोऽपीत्यर्थः विनाशप्रतिपत्तये अनर्थोत्पत्तये अलं समर्थः ॥१०२॥

शब्दमुदाहरति शुचिरिति । शुचिः पवित्रः निर्दोषो वा, दर्भाङ्कुरा-

गिरौन्द्रशिखराकारो लीलयोन्मूलितद्रुमः ।  
 करिणीस्पर्शसंमोहाद् बन्धनं याति वारणः ॥१०४॥  
 स्निग्धदीपशिखालोकविलोलितविलोचनः ।  
 ऋत्युः ऋच्छति संमोहात् पतङ्गः सहसा पतन् १०५  
 अगाधसलिले मग्नो दूरेऽपि दासतो वसन् ।  
 मीनस्तु सामिषं लोहमाखादयति ऋत्यवे ॥१०६॥  
 उत्कर्त्तितुं समर्थोऽपि गन्तुं चैव सपक्षकः ।  
 दिरेफो गन्धलोभेन कमले याति बन्धनम् ॥१०७॥

क्षुरं कुशाक्षुर एव आहारो यस्य सः तथा विदूरभ्रमणे अतिदूर-  
 भ्रवने क्षमोऽपि ऋगः लुब्धकस्य व्यावस्य उद्गीतेन उच्चैर्गानेन यः मोहः  
 सुगन्धता तेन गानश्रवणासक्ततया इत्यर्थः वधम् आत्मविनाशं ऋगयते  
 अन्विच्छति प्राप्नोतीत्यर्थः ॥१०३॥

स्पर्शसदाहरति गिरौति । गिरौन्द्रशिखराकारः पर्वतश्चक्रतुल्यः  
 तथा लीलया व्यवहेलया उन्मूलिता द्रुमा दृष्ट्वाः येन तादृशः वारणः  
 गजोऽपि करिण्याः स्पर्शेन यः संमोहः सुगन्धता तस्मात् बन्धनं याति  
 प्राप्नोति ॥१०४॥

रूपसदाहरति स्निग्धेति । पतङ्गः पक्षयान् कीटविशेषः स्निग्धा  
 या दीपशिखा तस्या आलोकेन विलोलिते विमोहिते विलोचने नेत्रे  
 यस्य तथाभूतः सन् संमोहात् सहसा पतन् दीपशिखायामिति शेषः  
 ऋत्युम् ऋच्छति प्राप्नोति ॥१०५॥

रससदाहरति अगाधेति । दासतः कैवर्त्तस्य दूरे दूरवर्त्तिनि अगाधे  
 अतलस्पर्शसलिले वसन् मीनस्तु ऋत्यवे आत्मनो नाशाय सामिषम्  
 आनिपयुक्तं लोहं वह्निंश्च आखादयति ॥१०६॥

गन्धसदाहरति उत्कर्त्तित्वमिति । दिरेफः ध्वजरः उत्कर्त्तित्वं  
 दशनेन कर्त्तित्वं समर्थः तथा सपक्षकः पक्षसहितः उड्डयनसमर्थोऽपी-

एकैकशो विनिघ्नन्ति विषया विषसन्निभाः ।

किं पुनः पञ्च मिलिताः न कथं नाशयन्ति हि? १०८

द्यूतं स्त्री मद्यमेवैतत् चितयं बह्वनर्थकत् ।

अयुक्तं युक्तियुक्तं हि धनपुत्रमतिप्रदम् ॥१०९॥

धर्मपुत्रनलाद्यास्तुः सुद्यूतेन विनाशिताः ।

सकापट्यं धनायालं द्यूतं भवति तद्विदाम् ॥११०॥

स्त्रीणां नामापि संह्लादि विकरोत्येव मानसम् ।

किं पुनर्दर्शनं तासां विलासोल्लासितभ्रुवाम्? ॥१११॥

त्यर्थः सहजायोऽपीति ध्यन्यते । गन्धलोभेन कसले पद्मे बन्धनं याति लभते ॥१०७॥

इन्द्रियसुदाहरति एकैकश इति । विषसन्निभाः गरलसदृशाः विषयाः भोग्यवस्तूनि एकैकशः विनिघ्नन्ति नाशयन्ति मिश्रिताः पञ्च शब्दादय इत्यर्थः किं पुनः ? कथं न नाशयन्ति हि ? अवश्यमेव नाशयन्तीत्यर्थः । हिशब्दः अवधारणे ॥१०८॥

यथाक्रमेण व्यसनदोषं वर्णयिष्यन्, प्रथमं द्यूतादितिकमाह द्यूतमिति । द्यूतं देवं स्त्री तथा मद्यम् अयुक्तम् अयुचितम् अयथासेवितमित्यर्थः एतत् त्रितयं बह्वनाम् अनर्थानां कृत् कारकं, युक्तियुक्तं यथा-यथं सेवितं धनं पुत्रं मतिञ्च यथाक्रमेण प्रददातीति तथोक्तं भवति ॥१०९॥

तत्र द्यूतसुदाहरति नलेति । धर्मपुत्रः युधिष्ठिरः तथा नलः आदिर्येषां ते तु सुद्यूतेन सहजदेवनेन न तु कापटरूपयुक्तियुक्तेनेत्यर्थः विनाशिताः राज्यात् भ्रंशिताः, अतः तद्विदां द्यूताभिज्ञानां सकापयत्वं द्यूतं धनाय अलं समर्थं दुद्यूतदेवनेन धनं लभ्यते सहजेन तु सर्वनाश इति भावः ॥११०॥

स्त्रीसुदाहरति स्त्रीणामिति । स्त्रीणां नामापि नामोच्चारणमपि संह्लादि आनन्दजनकं सत् मानसं विकरोत्येव, विलासेन उल्लासितौ भ्रुवौ यासां तासां स्त्रीणां दर्शनं किं पुनः ? मानसं विकरोतीति किं वक्तव्यमित्यर्थः ॥१११॥

रहःप्रचारकुशला ऋदुगङ्गदभाषिणी ।

कं न नारी वशीकुर्यान्नरं रक्तान्तलोचना? ॥११२॥

मुनेरपि मनोऽवश्यं सरागं कुरुतेऽङ्गना ।

जितेन्द्रियस्य का वार्त्ता किं पुनश्चाजितात्मनाम् ११३

व्यायच्छन्तश्च बहवः स्त्रीषु नाशं गता अमी ।

इन्द्रदण्डकनकुपरावणाद्याः सदा ह्यतः ॥११४॥

अतत्परनरस्यैव स्त्री सुखाय भवेत् सदा ।

साहायिनी गृह्यत्ये तां विनान्या न विद्यते ११५॥

रह इति । रहसि एकान्ते यः प्रचरः प्रचरणं तत्र कुशलाः  
निपुणाः ऋदुगङ्गदभाषिणी तथा रक्तान्ते लोचने यस्याः तादृशी नारी  
कं नरं न वशीकुर्यात्, अपितु सर्वमेवेत्यर्थः ॥११२॥

मुनेरिति । अङ्गना प्रशस्ताङ्गवती नारी जितेन्द्रियस्य मुनेरपि  
मनः अवश्यं सरागं कुरुते का वार्त्ता किं वक्तव्यम्, अजितात्मनाम्  
अजितेन्द्रियाणां किं पुनः ? ॥११३॥

व्यायच्छन्त इति । अतः कारणात् सदा स्त्रीषु व्यायच्छन्तः आसन्ति  
कुर्वन्त अमी इन्द्रदण्डकनकुपरावणाद्याः बहवः राजानः नाशं गताः  
हि । द्विशब्दः अवधारणे । अहल्याहरणेन इन्द्रस्य विपतिः सञ्जाता ।  
दण्डकराज्ञा भार्गवाश्रमे भार्गवकन्याया अरजाया बलाद्वरणम् । ततो  
भार्गवदत्तेन शापेन सप्तरात्रेण भस्मसाद्भूतो दण्डकस्य विषयः ।  
सप्तवल्गवाहनो दण्डकोऽपि मृतः । दण्डककथाया विस्तरस्तु  
वाल्मीकिरामायणस्य उत्तरकाण्डे अशीति सर्गे द्रष्टव्यः । शची-  
कामनया च नकुपस्य अगस्त्यशापेन अजगेरसर्परूपेण मर्त्यलोके  
पतनम् । विस्तरस्तु महाभारते उद्योगपर्वणि सप्तदशाध्याये द्रष्टव्यः ।  
सीताहरणेन रावणस्य ध्वंसस्तु रामायणे द्रष्टव्यः ॥११४॥

अतत्परस्येति । अतत्परस्य अनासक्तस्य स्त्री सदा सुखाय भवेत्

अतिमद्यं हि पिवतो बुद्धिलोपो भवेत् किल ।  
 प्रतिभां बुद्धिवैशद्यं धैर्यं चित्तविनिश्चयम् ॥११६॥  
 तनोति सात्रया पीतं मद्यमन्यद् विनाशकृत् ।  
 कामक्रोधौ मद्यतमौ नियोक्तव्यौ यथोचितम् ॥११७॥  
 कामः प्रजापालने च क्रोधः शत्रुनिवर्हणे ।  
 सेनासंधारणे लोभो योज्यो राज्ञा जयार्थिना ॥११८॥  
 परस्त्रीसङ्गमे कामो लोभो नान्यधनेषु च ।  
 स्वप्रजादण्डने क्रोधो नैव धार्यो नृपैः कदा ॥११९॥

यतः तां विना अन्या गृह्यन्ते गार्हस्थ्यकार्ये सन्तानोत्पादनपालन-  
 पालनादिरूपे साहायिनी साहाय्यकारिणी न विद्यते ॥११५॥

मद्यमुदाहरति अतिमद्यमिति । तनोतीति । अतिमद्यं पिवतः  
 जनस्य बुद्धिलोपः भवेत् किल किलेति प्रसिद्धौ । हिशब्दः अवधारणे ।  
 सात्रया परिमाणेन पीतं मद्यं प्रतिभां बुद्धितैज्ज्ण्यं बुद्धिवैशद्यं निर्मलं  
 मतिं धैर्यं धीरतां चित्तस्य विनिश्चयं स्थिरताञ्च तनोति, पूर्वं युक्ति-  
 युक्तं मतिप्रदमित्युक्तम् इह तु तद्विवरणमिति बोद्धव्यम् । अन्यत् अप-  
 रिमितमित्यर्थः मद्यं विनाशकृत् विनाशकमित्यर्थः । कामक्रोधौ मद्य-  
 तमौ माद्यत्याभ्यामिति मद्यौ करणे यपत्ययः । अतिशयेन मद्यौ मद्य-  
 तमौ अतिमादकौ इत्यर्थः किन्तु यथोचितं नियोक्तव्यौ व्यवहार्यौ न तु  
 अयथोचितमिति भावः ॥११६॥११७॥

काम इति । राज्ञा प्रजापालने सन्तानरक्षणे वा अधिष्ठतजन-  
 पालने कामः योज्यः प्रयोक्तव्यः, तथा जयार्थिना सता शत्रुनिवर्हणे  
 शत्रुपराजये क्रोधः सेनानां संधारणे संरक्षणे लोभश्च योज्यः नियो-  
 क्तव्य इत्यर्थः ॥ ११८ ॥

परस्त्रीति । नृपैः कदापि परस्त्रीसङ्गमे कामः अन्यधनेषु परधनेषु  
 लोभः तथा स्वप्रजानां दण्डने क्रोधः नैव धार्यः नैव कर्तव्यः ॥११९॥

किमुच्यते कुटुम्बीति परस्त्रीसङ्गमान्नरः ।

स्वप्रजादण्डनाच्छूरो धनिकोऽन्यधनैश्च किम् ? ॥ १२० ॥

अरक्षितारं नृपतिं ब्राह्मणं चातपस्विनम् ।

धनिकं चाप्रदातारं देवा मन्ति त्यजन्त्यधः ॥ १२१ ॥

स्वामित्वं चैव दातृत्वं धनिकत्वं तपःफलम् ।

एनसः फलमर्थित्वं दास्यत्वं च हरिद्रुता ॥ १२२ ॥

दृष्ट्वा शास्त्राण्यतश्चित्तं सन्निवस्य यथोचितम् ।

कुर्यात् नृपः स्वदत्तं तु परचेह सुखाय च ॥ १२३ ॥

दुष्टनिग्रहणं दानं प्रजायाः परिपालनम् ।

यजनं राजस्त्रयादेः कोशानां न्यायतोऽर्जनम् ॥ १२४ ॥

किमिति । नरः परस्त्रीसङ्गमात् किं कुटुम्बी नृही उच्यते ?  
नैवेत्यर्थः तथा स्वप्रजादण्डनात् शूरः बलवान् वा अन्यधनेः परधनेः  
क्षुतैरिति शेषः धनिकः धनवान् किम् उच्यते ? नैवेत्यर्थः ॥ १२० ॥

अरक्षितारमिति । देवाः अरक्षितारं प्रजापालनमकुर्वीषं नृप-  
तिम् अतपस्विनं तपोधिरहितं ब्राह्मणं, तथा अप्रदातारं क्षपणं  
धनिकं देवाः मन्ति नाशयन्ति अधः त्यजन्ति कुर्वन्ति च ॥ १२१ ॥

स्वामित्वमिति । स्वामित्वम् आधिपत्यं दातृत्वं दानशील्यं तपः  
धनिकत्वं धनयत्त्वं तपसः फलं तपोबलेनैव एतानि लभ्यन्ते इति भावः ।  
तथा अर्थित्वं याचकत्वं दास्यत्वं दास्यद्वितिः हरिद्रुता निर्जनता च  
एनसः पापस्य फलं पापेनैवेतः नि सक्त्यवलोति भावः ॥ १२२ ॥

दृष्टेति । अतः कारणात् नृपः शास्त्राणि दृष्ट्वा सपालोच्य  
चित्तं सन्नियम्य वशीकृत्य परत्र इह च सुखाय यथोचितं स्वदत्तं  
स्वकर्तव्यं कार्यं कुर्यात् ॥ १२३ ॥

किं तत् स्वदत्तमित्याह दृष्टेति । करदीकरणमिति । राजदत्तम्  
अथवा यथा दुष्टानां नियन्त्रणं, दानं, प्रजायाः परिपालनं, राजस्त्रया ;

करदीकरणं राज्ञां रिपूणां परिमर्दनम् ।

भूमेरुपार्जनं भूयो राजवृत्तं तु चाष्टधा ॥१२५॥

न वर्द्धितं बलं यैस्तु न भूपाः करदीक्षताः ।

न प्रजाः पालिताः सम्यक् ते वै षण्ढतिला नृपाः ॥१२६॥

प्रजा सूद्विजते यस्माद् यत्कर्म परिनिन्दति ।

त्यज्यते धनिकैर्यस्तु गुणिभिस्तु नृपाधमः ॥१२७॥

नटगायकगणिकामल्लषण्डाल्यजातिषु ।

योऽतिसक्तो नृपो निन्द्यः स हि शत्रुसुखे स्थितः ॥१२८॥

बुद्धिमन्तं सदा द्वेष्टि मोदते वञ्चकैः सह ।

देर्यज्ञस्य यजनं, कोशानां धनानां न्यायतः यथान्यायम् अर्जनं, राज्ञां करदीकरणं करदानेन अधीनीकरणं, रिपूणां शत्रूणां परिमर्दनं पराजयनं, तथा भूमेः भूयः प्राचुर्येण उपार्जनम् ॥ १२४ ॥ १२५ ॥

नेति । यैः बलं सैन्यं न वर्द्धितं, भूपाः नृपाः न करदीक्षताः करदानेन न वशीक्षताः तथा सम्यक् प्रजाः न पालिताः, ते नृपाः षण्ढतिलाः नपुंसकतिलाः अकर्मण्या इत्यर्थः ॥ १२६ ॥

प्रजेति । प्रजा यस्मात् सूद्विजते अतिशयेन उद्देगं प्राप्नोति, यत्कर्म यस्य कर्म परिनिन्दति च तथा गुणिभिर्गुणवद्भिः पिद्विद्विरित्यर्थः धनिभिश्च यः त्यज्यते यत्संसर्गः न क्रियते इत्यर्थः स नृपाधमः ॥ १२७ ॥

नटेति । यः नृपः, नटाः ताण्डवव्यवसायिनः, गायकाः सङ्गीतजीविनः गणिकाः वेश्याः मल्लाः व्यायामिनः षण्डाः क्लीवाः तथा अल्पा क्षुद्रा जातिर्येषां तादृशाः नीचजातय इत्यर्थः, तेषु अतिसक्तः अत्यासक्तः स निन्द्यः निन्दनीयः सन् हि निश्चयेन शत्रूणां सुखे स्थितः तिष्ठतीत्यर्थः वर्त्तमाने क्लृप्त्ययः ॥ १२८ ॥

बुद्धिमन्तमिति । यः नृपः सदा बुद्धिमन्तं सुधियं द्वेष्टि, वञ्चकैः भूक्तैः सह मोदते आभोदं करोति, तथा स्वं दुर्गुणं दोषं नैव वेत्ति

खं दुर्गुणं नैव वेत्ति स्वात्मनाशाय स नृपः १२६॥

नापराधं हि क्षमते प्रदण्डो धनहारकः ।

खदुर्गुणश्रवणतो लोकानां परिपीडकः ॥१३०॥

नृपो यदा तदा लोकः क्षुब्धते भिद्यते यतः ।

गूढचारैः आवयित्वा खट्वात्तं दूषयन्ति के ॥१३१॥

भूषयन्ति च कैर्भावैरमात्याद्याश्च तद्विदः ।

मयि कीदृक् च संप्रीतिः केषामप्रीतिरेव वा ॥१३२॥

समागुणैर्गुणैर्वापि गूढं संश्रुत्य चाखिलम् ।

चारैः खदुर्गुणं ज्ञात्वा लोकतः सर्वदा नृपः ॥१३३॥

सुकीर्त्यै संत्यजेन्नित्यं नावमन्येत वै प्रजाः ।

लोको निन्दन्ति राजंस्त्वां चारैः संश्रावितो यदि १३४

नावबुध्यते, स स्वात्मनाशाय निजदेहनाशाय भवतीत्यर्थः सः अचिराद् भ्रश्यते इति भावः ॥ १२६ ॥

नेत्यादि । यदा धनहारकः परधनलुब्धः लोकानां प्रजानां परि-  
पीडकः तथा प्रदण्डः तीक्ष्णदण्डः नृपः खदुर्गुणानां श्रवणतः श्रव-  
णात् अपराधं प्रजानामिति शेषः न क्षमते तदा लोकः क्षुब्धते विरज्यते  
यतः कारणात् नृपः यतः खट्वात्तं खचरित्वात् भिद्यते तत् खट्वात्  
गूढचारैः गुप्तचारैः आवयित्वा के अमात्यादयः तद्विदः तज्ज्ञानन्तः सन्तः  
दूषयन्ति दूषितं कुर्वन्ति तदिति शेषः वा कैः भावैः भूषयन्ति प्रशंसन्ति,  
तथा सम अगुणैः वा गुणैः केषां जनानां मयि कीदृक् सम्प्रीतिः अनु-  
रागः केषां वा अप्रीतिरनुरागः, एतत् अखिलं समग्रं चारैः गूढ-  
गुणैः संश्रुत्य सम्यगाकर्ण्य लोकतः लोकपरम्परातश्च सर्वदा ज्ञात्वा राजा  
सुकीर्त्यै सुयशसे नित्यं सततं खदुर्गुणं निजदोषं त्यजेत्, प्रजाः  
नैव अवमन्येत । हे राजन् ! लोकस्त्वां निन्दति इति चारैः संश्रावितः  
सन् यदि दौरात्यात् कोपं करोति तदा असौ नृपः आत्मनः दुर्गुणानां

कोपं करोति दौरात्मग्राहात्मदुर्गुणलोपकः ।

सीता साध्व्यपि रामेण त्यक्ता लोकापवादतः॥१३५॥

शक्तेनापि हि न धृतो दण्डोऽल्पो रजके क्वचित् ।

ज्ञानविज्ञानसम्पन्नः राजादत्ताभयोऽपि च॥१३६॥

समक्षं वक्ति न भयाद्वाञ्छो गुर्वपि दूषणम् ।

स्तुतिप्रिया हि वै देवा विष्णुमुख्या इति श्रुतिः॥१३७॥

किं पुनर्मनुजा ? नित्यं निन्दाजः क्रोध इत्यतः ।

राजा सुभागदण्डो स्यात् सुक्ष्मी रक्षकः सदा॥१३८॥

दोषाणां लोपकः लोपकारी अस्वीकारीत्यर्थः आत्मनो दोषाच्छादने-  
नातिविरागभाजनं प्रजानामिति भावः । सति दोषे का कथा, अपि सीता  
असत्यपि लोकापवादो निराकरणीय इत्याह सीतेति । रामेण साध्वी  
लोकापवादतः त्यक्ता । शक्तेनापि रामेण क्वचित् कदाचित् रजके  
अपवादकारिणीत्यर्थः अल्पोऽपि दण्डः न धृतः न क्षत इत्यर्थः यतः  
राजा राजः ज्ञानेन सामान्येन विज्ञानेन विशेषज्ञानेन च सम्पन्नः युक्तः  
तथा दत्तम् अभयं देन स दत्ताभयः अपवादवचनेन स्वदोषसंशोधन सत्त्व-  
यात् अपवादिनि अभयं दत्तवानित्यर्थः । पुरा किल स्त्रां पत्नीं स्थाना-  
न्तरादागतां नाहं त्वां यहीष्यामि अहं रामो न यः राजसमृद्धस्थितां  
सीतां परिजग्राहेति कथयतः कस्यचिद्रजकस्य सुखात् गूढचारेण सीता-  
पवादं श्रुत्वा रामाय कथितं रामश्च तच्छ्रवणात् सीतापरित्यक्तेति  
वाचार्तात्मानुसन्धेया ॥१३०—१३६॥

सनक्षमिति । किमिति । लोकः राज्ञः गुरु सहृदपि दूषणं भयात्  
समक्षं न वक्ति, हि यतः विष्णुमुख्याः नारायणप्रभृतयः देवा वै अपि  
स्तुतिप्रियाः स्तवसन्तुष्टा भवन्तीति शेषः इति श्रुतिः वेदवचनम् । मनुजः  
मानवाः किं पुनः ? क्षत्रेणैव सर्वे सन्तुष्यति दोषवादेन नेति फलितार्थः  
इत्यतः अस्मात् कारणात् नित्यं सततं क्रोधः निन्दाजः निन्दया जायते  
इत्यर्थः अतः निन्दा नैव कर्तव्येति भावः । राजा सदा शोकनः मुनि-

यौवनं जीवितं चित्तं छाया लक्ष्मीश्च स्वामिता ।  
 चञ्चलानि षडे तानि ज्ञात्वा धर्मरतो भवेत् ॥१३६॥  
 अदानेनापमानेन कृलाच्च कटुवाक्यतः ।  
 राज्ञः प्रवलदण्डेन नृपं सुञ्चति वै प्रजा ॥१४०॥  
 विपरीतगुणैरेभिः सान्वयारज्यते प्रजा ।  
 एकस्तनोति दुष्कीर्तिं दुर्गुणः सङ्क्षयो नु किम्? ॥१४१॥  
 ऋगयाक्षास्तथा पानं गर्हितानि महीभुजाम् ।  
 दृष्टास्ते व्यस्तु विपदो पाण्डुनैषधदृष्टिषु ॥१४२॥

यतत्वात् सुन्दरः भागः विभागः यत्नं तत् सुव्यवस्थामिति यावत् यथा  
 तथा दण्डयतीति दथोक्तः, सुचमो अतिक्षमावान् तथा रज्जुकः लोका-  
 नामिति शेषः स्थात् भवेत् ॥१३७॥१३८॥

यौवनमिति । यौवनं तारुण्यं जीवितं जीवनं चित्तं मनः छाया  
 अनातपं लक्ष्मीः श्रीः तथा स्वामिता ऐश्वर्यम् एतानि षट् चञ्चलानि  
 अस्विराणि ज्ञात्वा धर्मरतः धर्मनिष्ठः भवेत् ॥१३६॥

अदानेनेति । प्रजा राज्ञः अदानेन अयथोचितदानेन दान-  
 राहित्येन वा अपमानेन अवमाननया, कृलात् कापच्यात्, कटुवाक्यतः  
 दुर्वचसा तथा प्रवलदण्डेन गुरतरदण्डविधानेन नृपं सुञ्चति त्यजति  
 ॥ १४० ॥

विपरीतेति । एभिः विपरीतैः गुणैः पूर्वोक्तैः अदानादिभिर्दु-  
 र्गुणैरित्यर्थः सान्वया सपुत्रपौत्रादिः प्रजा अरज्यते विरज्यते इत्यर्थः ।  
 अथवा एभिर्विपरीतगुणैः दानमानादिभिः रज्यते अनुरागमातनोती-  
 त्यर्थः । एको दुर्गुणः दोषः दुष्कीर्तिं तनोति, नु भो सङ्क्षयः समस्त  
 इत्यर्थः किं वक्तव्यम् इत्यर्थः ॥ १४१ ॥

ऋगयेति । ऋगया, अक्षाः द्यूतानि, तथा पानं मद्यपानम्  
 एतानि महीभुजां राज्ञां गर्हितानि निन्दितानि, तेभ्यः त्रिभ्यः पाण्डु-  
 नैषधदृष्टिषु पाण्डुनक्षयादवेपु विपदः दृष्टाः ॥ १४२ ॥

कामक्रोधस्तथा मोहो लोभो मानो मदस्तथा ।  
 षड्वर्गसुत्सृजेदेनमस्त्रिंस्त्यक्ते सुखी नृपः ॥१४३॥  
 दण्डको नृपतिः कामात् क्रोधाच्च जनमेजयः ।  
 लोभादेलस्तु राजर्षिर्मोहाद् वातापिरासुरः १४४  
 पौलस्त्यो राजसो मानान्मदाद् दम्भोद्भवो नृपः ।  
 प्रयाता निधनं ह्येते शत्रुषड्वर्गमाश्रिताः ॥१४५॥  
 शत्रुषड्वर्गसुत्सृज्य जामदग्नयः प्रतापवान् ।  
 अम्बरीषो महाभागो बुभुजाते चिरं महीम् ॥१४६॥  
 वर्द्धयन्निह धर्मार्थौ सेवितौ सद्भिरादरात् ।  
 निगृहीतेन्द्रियग्रामः कुर्वीत गुरुसेवनम् ॥१४७॥

काम इति । कामः विषयाभिलाषः क्रोधः, मोहः लोभः मानः  
 तथा मदः गर्वः एनं षड्वर्गम् उत्सृजेत् त्यजेत् राजेति शेषः, अस्त्रिन्  
 षड्वर्गे कामादिके त्यक्ते सति नृपः सुखी भवति ॥१४३॥

दण्डक इति । पौलस्त्य इति । एते दण्डकादयः राजानः  
 शत्रुषड्वर्गं शत्रुरूपं षड्वर्गं कामादिकम् आश्रिताः सन्तः निधनं विनाशं  
 प्रयाताः गताः । तथाहि दण्डकः नृपतिः कामात्, जनमेजयः क्रोधात्  
 ऐलः इलातनयः राजर्षिः पुरुषा लोभात् आसुरः असुर एव आसुरः  
 स्वार्थेण प्रत्ययः । वातापिः मोहात् अज्ञानात्, पौलस्त्यः पुलस्त्यतनयः  
 राजसः रावणः मानात् तथा दम्भोद्भवः दम्भपुत्रः नृपः मदात् गर्वात्  
 निधनं प्रयाता इत्यनेनान्वयः । एतेषामिति वृत्तानि पुराणेषु अतु-  
 सन्धेयानि ॥ १४४ ॥ १४५ ॥

शत्रुषड्वर्गमिति । प्रतापवान् जामदग्निरपत्यं पुमान् जामदग्नयः  
 परशुरामः तथा महाभागः अम्बरीषः शत्रुषड्वर्गम् उत्सृज्य त्यक्त्वा  
 चिरं महीं पृथ्वीं बुभुजाते भुक्तवन्तौ ॥ १४६ ॥

वर्द्धयदिति । इह जगति सद्भिः साधुभिः सेवितौ अनुष्ठितौ

शास्त्राय गुरुसंयोगः शास्त्रं विनयद्वये ।

विद्याविनीतो नृपतिः सतां भवति सम्मतः ॥१४८॥

मेर्यमाणोऽप्यसद्वृत्तैर्नाकार्येषु प्रवर्त्तते ।

श्रुत्या स्मृत्या लोकतश्च मनसा साधुनिश्चितम् १४९

तत् कर्म धर्मसंज्ञं तद् व्यवस्यति च पण्डितः ।

प्राददानप्रतिदानकलासम्यक् महीपतिः ॥१५०॥

जितेन्द्रियस्य नृपतेर्नीतिशास्त्रानुसारिणः ।

भवन्त्युच्चलिता लक्ष्म्यः कीर्त्तयश्च नभस्पृशः १५१॥

आन्वीक्षिकी चयी वार्त्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती ।

धर्माधी आदरात् यत्रात् निगृहीतेन्द्रियमामः जितेन्द्रियः सन् वर्द्धयन्  
सेवमानः गुरुणां दृष्टानां सेवनं कुर्वति ॥ १४७ ॥

शास्त्रायेति । शास्त्राय शास्त्रज्ञानाय गुरुसंयोगः दृष्टसेवनं, विनय-  
द्वये शास्त्रं शास्त्रानुशीलनं प्रभवतीति शेषः, विद्याविनीतः शास्त्र-  
विदुः विनीतश्च नृपतिः सतां साधूनां सम्मतः प्रियो भवति ॥१४८॥

मेर्यमाण इति । यदिति । यः महीपतिः असद्वृत्तैः दुर्बलैः  
पुरुषैः मेर्यमाणोऽपि अकार्येषु असत्सु कार्येषु न प्रवर्त्तते तथा  
श्रुत्या वेदेन स्मृत्या धर्मसंहितया लोकतः आचारेण मनसा च साधु  
निश्चितं सुनिश्चितं यत् धर्मसंज्ञं कर्म धर्मकार्यं तत् व्यवस्यति सेवते च,  
यश्च प्राददानप्रतिदानयोः सह्यप्रत्यर्पणयोः आङ्पूर्वकात् दाघातोः भावे  
शानच्प्रत्ययः । कलासु विभागेषु कुत्र किं दानं कर्त्तव्यं कुतो वा किं  
पण्डितव्यमित्येवं रूपासु सम्यक् सुविचक्षणः स पण्डितः ॥१४९॥१५०॥

जितेन्द्रियस्येति । जितेन्द्रियस्य नीतिशास्त्रानुसारिणः नृपतेः  
लक्ष्म्यः प्रियः सम्पदः इत्यर्थः उच्चलिताः उन्नताः तथा कीर्त्तयश्च नभ-

स्पृशः आकाशदर्शिनः सुदूरगामिन्य इत्यर्थः भवन्ति ॥१५१॥

आन्वीक्षिकीति । आन्वीक्षिकी, तयी, वार्त्ता, दण्डनीतिश्च एषा

विद्याश्चतस्र एवैता अभ्यसेद् नृपतिः सदा ॥१५२॥  
 आन्वीक्षिकां तर्कशास्त्रं वेदान्ताद्यं प्रतिष्ठितम् ।  
 त्रय्यां धर्मो ह्यधर्मश्च कामोऽकामः प्रतिष्ठितः १५३  
 अर्थानर्थौ तु वार्त्तायां दण्डनीत्यां नयानयौ ।  
 वर्णाः सर्वाश्चमाश्चैव विद्यास्त्रासु प्रतिष्ठिताः १५४  
 अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः ।  
 धर्मशास्त्रपुराणानि त्रयीदं सर्वमुच्यते ॥१५५॥  
 कुसीदकृषिवाणिज्यं गोरक्षावार्त्तयोच्यते ।  
 सम्यन्नो वार्त्तया साधुर्न वृत्ते भयन्दच्छति ॥१५६॥

चतुर्विधा शास्त्रतो चिरन्तनी विद्या इति शेषः, राजा सदा एताश्चतस्र  
 एव विद्याः अभ्यसेत् शिचेत् ॥१५२॥

आन्वीक्षिक्यामिति । आन्वीक्षिकां विद्यायां वेदान्ताद्यं वेदान्-  
 प्रभृति तर्कशास्त्रं न्यायशास्त्रं प्रतिष्ठितं प्रपञ्चितं, त्रय्याम् ऋग्यजुः-  
 सामरूपायां श्रुतौ इत्यर्थः धर्मः अधर्मश्च कामः अकामश्च प्रतिष्ठितः  
 प्रपञ्चितः ॥१५३॥

अर्थेति । वार्त्तायां अर्थानर्थौ अर्थश्च अनर्थश्च अर्थोपार्जनानर्थ-  
 निवारणोपायावित्यर्थः, दण्डनीत्याम् अनयश्च नयश्च नयमार्गेण व्यव-  
 हर्तव्यम् अनये दण्डनमित्येवंरूपौ इत्यर्थः प्रतिष्ठिताविति शेषः । वर्णाः  
 ब्राह्मणादयः सर्वाश्चमाः सर्वे आश्रमाः ब्रह्मचारिप्रभृतयश्च आसु उक्ताश्च  
 विद्यासु प्रतिष्ठिताः नियतं स्थिता इत्यर्थः ॥१५४॥

अङ्गानीति । अङ्गानि शिक्षाकल्पव्याकरणनिरुक्तच्छन्दोव्योति-  
 शाणि चत्वारः वेदाः ऋग्यजुसामाथर्वाख्याः, मीमांसा, न्यायविस्तरः  
 तर्कप्रपञ्चः, धर्मशास्त्राणि मन्वादिप्रणीतानि, पुराणानि ब्राह्मणादीनि इदं  
 सर्वं त्रयी उच्यते त्रयीशब्देन उक्तानि शास्त्राणि बोद्धव्यानीत्यर्थः ॥१५५॥

कुषीदेति । वार्त्तया पूर्वोक्तया अर्थानर्थसाधन्या कुषीदं वृद्धि-  
 व्यवहारः कृषिः वाणिज्यं तथा गोरक्षा गवां रक्षा उपलक्षणमेतत्

दमो दण्ड इति ख्यातस्तस्माद्दण्डो महीपतिः ।

तस्य नीतिर्दण्डनीतिर्नयनानीतिरुच्यते ॥१५७॥

आन्वीक्षिक्यात्मविज्ञानाद्दर्पशोकौ व्युदस्यति ।

उभौ लोकाववाप्नोति त्वय्यां तिष्ठन् यथाविधि १५८

आनृशंसं परो धर्मः सर्वप्राणभृतां यतः ।

तस्माद्राजानृशंस्येन पालयेत् कृपणं जनम् ॥१५९॥

न हि स्वसुखमन्विच्छन् पीडयेत् कृपणं जनम् ।

कृपणः पीड्यमानः स्वमृत्युना हन्ति पार्थिवम् ॥१६०॥

पशुपालनमित्यर्थः उच्यते, साधुर्जनः वार्त्तया विद्यया सम्पन्नः युक्तः  
वृत्तेः जीविकाया भयं न ऋच्छति न प्राप्नोति सुखेन जीवनं यापय-  
तीति भावः ॥ १५६ ॥

दम इति । दण्डः दमः दुष्टदमनमित्यर्थः इति ख्यातः प्रसिद्धः  
तस्मात् महीपतिः दण्डः दमनकारित्वात् दण्ड एवेति कार्यकारणयो-  
रभेदेनोपचारः । तस्य महीपतेः नीतिः दण्डनीतिः, नयनात् दुष्टा-  
दुष्टनिर्णयात् नीतिः उच्यते कथ्यते ॥१५७॥

आन्वीक्षिक्येति । आन्वीक्षिक्या विद्यया आत्मविज्ञानात् आत्माव-  
बोधात् हर्षशोकौ व्युदस्यति त्यजति जन इति शेषः, आत्मज्ञाने सति  
शुभाशुभहर्षशोकौ भवत इति भावः । तथा त्वय्यां विद्यायां यथाविधि  
तिष्ठन् यथाविधि त्वयिमनुसरन्नित्यर्थः उभौ लोकौ ऐहिकमास्तिकञ्च  
प्राप्नोति ॥ १५८ ॥

आनृशंसमिति । यतः सर्वेषां प्राणभृतां देहिनाम् आनृशंसं  
दया परमः धर्मः उक्त इति शेषः, तस्मात् राजा आनृशंस्येन अतृक-  
मया कृपणं दीनं जनं पालयेत् ॥ १५९ ॥

न हीति । स्वं निजं सुखम् अन्विच्छन् कृपणं दीनं जनं न हि  
पीडयेत्, पीड्यमानः कृपणः दीनः स्वमृत्युना निजेन मृत्युना पार्थिवं  
राजानं हन्ति नाशयति ॥ १६० ॥

सुजनैः सङ्गतं कुर्याद्भर्माय च सुखाय च ।  
 सेव्यमानस्तु सुजनैर्महानतिविराजते ॥१६१॥  
 हिमांशुमाली च यथा नवोत्फुल्लोत्पलं सरः ।  
 आनन्दयति चेतांसि तथा सुजनचेष्टितम् ॥१६२॥  
 ग्रीष्मसूर्यांशुसन्तप्तमुद्गवेजनमनाश्रयम् ।  
 मरुस्थलमिवोदग्रं त्यजेद् दुर्जनसङ्गतम् ॥१६३॥  
 निःश्वासोद्गर्णोद्भुतभुक्धूमधूमीक्षताननैः ।  
 वरमाशीविषैः सङ्गं कुर्यान्न त्वेव दुर्जनैः ॥१६४॥  
 क्रियतेऽभ्यर्हणीयाय सुजनाय यथाञ्जलिः ।

सुजनैरिति । महान् जनः धर्माय सुखाय च सुजनैः साधुभिः  
 सङ्गतं संसर्गं कुर्यात्, सुजनैः सेव्यमानस्तु अतिविराजते, अधिकं  
 शोभते ॥ १६१ ॥

हिमांश्चति । हिमांशुमाली चन्द्रः यथा नवानि उत्फुल्लानि  
 उत्पलानि कुमुदानि यस्मिन् तादृशं सरः आनन्दयति शोभयति, तथा  
 सुजनानां साधूनां चेष्टितम् आचरितं चेतांसि मनांसि आनन्द-  
 यति ॥ १६२ ॥

ग्रीष्मेति । ग्रीष्मे निदाघे ये सूर्यांशवः रविकिरणाः तैः सन्-  
 तप्तम् उद्गवेजनं भीतिजनकम् अनाश्रयम् आश्रयरहितम् अनाहत-  
 मित्यर्थः मरुस्थलमिव मरुभूमिष्विव उदपम् अतिभयङ्करं दुर्जनसङ्गतम्  
 असाधुसङ्गं त्यजेत् ॥ १६३ ॥

निःश्वासेति । निःश्वासेन उद्गर्णः यः उद्भुक् अग्निः तस्य धूमेन  
 धूमीक्षतानि क्षणलौहितीक्षतानि आननानि सुखानि येषां तादृशैः  
 आशीविषैः भुजङ्गैः वरं सङ्गं कुर्यात् दुर्जनैः नत एव सः विषधरसङ्गा-  
 दपि दुर्जनसङ्गो भयावह इति भावः ॥ १६४ ॥

क्रियते इति । अभ्यर्हणीयाय पूज्याय सुजनाय यथा अञ्जलि

ततः साधुतरः कार्यो दुर्जनाय हितार्थिना ॥१६५॥

नित्यं मनोऽप्रहारिण्या वाचा प्रह्लादयेज्जगत् ।

उद्वेजयति भूतानि क्रूरवाग्धनदोऽपि सन् ॥१६६॥

हृदि विद्ध इवात्यर्थं यया सन्तप्यते जनः ।

पीडितोऽपि हि मेधावी न तां वाचमुदीरयेत् ॥१६७॥

प्रियमेवाभिधातव्यं नित्यं सत्सु द्विषत्सु वा ।

शिखीव केकां मधुरां वाचं ब्रूते जनप्रियः ॥१६८॥

मदरक्तस्य हंसस्य कोकिलस्य शिखण्डिनः ।

हरन्ति न तथा वाचो यथा वाचो विपश्चिताम् ॥१६९॥

क्रियते, यथा वद्वाञ्छलिना मुजनः सेव्य इत्यर्थः, हितार्थिना जनेन दुर्जनाय ततः तस्मादपि साधुतरः अञ्जलिः कार्यः समधिकवद्वाञ्छलिना दुर्जनः सेव्य इत्यर्थः, चाटुपचनैः परितोष्य दुर्जनः परिहर्तव्य इति भावः ॥ १६५ ॥

नित्यमिति । मनोहारिण्या मधुरया वाचा नित्यं सततं जगत् प्रह्लादयेत् सन्तोषयेत्, क्रूरा कर्कशा वाक् यस्य तादृशः जनः धनदः अर्घदोऽपि सन् भूतानि प्राणिनः उद्वेजयति तापयति ॥ १६६ ॥

हृदीति । जनः यया वाचा हृदि विद्ध इव अत्यर्थम् अतिमात्रं सन्तप्यते, मेधावी बुद्धिमान् जनः पीडितोऽपि परैरभिहितोऽपि तां वाचं निष्ठुरां वाणीं न उदीरयेत् न कथयेत् ॥ १६७ ॥

प्रियमेवेति । सत्सु बन्धुषु वा द्विषत्सु शत्रुषु अपि प्रियमेव न तु अप्रियम् एवकारोऽन्यव्यवच्छेदकः । नित्यं सततम् अभिधातव्यं वक्तव्यम् । जनप्रियः लोकः शिखी मयूरः केकामिव मधुरां वाचं ब्रूते कथयति ॥ १६८ ॥

मदेति । विपश्चितां विदुषां वाचः यथा हरन्ति मन इति शेषः, मदरक्तस्य हंसस्य कोकिलस्य तथा शिखण्डिनः मयूरस्य वाचः तथा न ॥ १६९ ॥

ये प्रियाणि प्रभाषन्ते प्रियमिच्छन्ति सत्कृतम् ।  
 श्रीमन्तो वन्द्यचरिता देवास्ते नरविग्रहाः ॥१७०॥  
 न हीदृशं संवननं त्रिषु लोकेषु विद्यते ।  
 दया मैत्री च भूतेषु दानञ्च मधुरा च वाक् ॥१७१॥  
 श्रुतिरास्तिक्यपूतात्मा पूजयेद् देवतां सदा ।  
 देवतावद् गुरुजनानात्मवच्च सुहृज्जनान् ॥१७२॥  
 प्रणिपातेन हि गुरुन् सतोऽनूचानवेष्टिताः ।  
 कुर्वीताभिमुखान् देवान् भूत्यै सुकृतकर्मणा ॥१७३॥  
 सद्भावेन हरेन्मित्रं सद्भावेन च बान्धवान् ।

ये इति । ये जनाः प्रियं सत्कृतं प्रशंसावादरूपं सत्कारम्  
 इच्छन्ति प्रियाणि वचनानि प्रभाषन्ते वदन्ति प्रियवादिनः प्रियसत्-  
 काराङ्गा इति भावः, ते नरविग्रहाः मानवदेहधारिणः श्रीमन्तः  
 वन्द्यं चरितं येषां तादृशाः महनीयचरिता देवाः वक्तव्या इति  
 शेषः ॥ १७० ॥

न हीति । त्रिषु लोकेषु इदृशं संवननं यशीकरणं न हि नैव  
 विद्यते इत्यर्थः, यथा भूतेषु दया, मैत्री, सौहृद्यं, दानं तथा मधुरा  
 वाक् ॥ १७१ ॥

श्रुतिरिति । आस्तिक्यपूतात्मा ईश्वरे भक्तिमान् सन् सदा देवतां  
 देवतावत् गुरुजनान् तथा आत्मवत् सुहृज्जनान् वन्द्यन् पूजयेत् इति  
 श्रुतिरस्तीति शेषः ॥ १७२ ॥

प्रणिपातेनेति । अनूचानैः साङ्गवेदविद्भिः सुपण्डितैरित्यर्थः,  
 अनूचानः प्रवचने साङ्गेऽधीति गुरोस्तु य इत्यमरः, वेष्टितः परिष्ठितः  
 सन् प्रणिपातेन सतः साधून् गुरुन् गुरुजनान् तथा भूत्यै मङ्गलाय  
 सुकृतकर्मणा शोभनेन कार्येण देवान् अभिसृज्यन् अनुकूलान्  
 कुर्वीति ॥ १७३ ॥

सद्भावेनेति । सद्भावेन मित्रं सद्भावेन बान्धवान्, प्रेम्णानाभ्यां

स्त्रीभृत्यौ प्रेममानाभ्यां दाक्षिण्येनेतरं जनम् १७४  
 बलवान् बुद्धिमान् शूरो यो हि युक्तपराक्रमौ ।  
 वित्तपूर्णां महीं भुङ्क्ते स भूपो भूपतिर्भवेत् ॥ १७५ ॥  
 पराक्रमो बलं बुद्धिः शौर्यमेते वरा गुणाः ।  
 एभिर्हीनोऽन्यगुणयुग्ं महीभुक् सधनोऽपि च १७६  
 महीं खल्यां नैव भुङ्क्ते द्राक् च राज्याद् विनश्यति ।  
 महाधनाच्च नृपतेर्विभात्यल्पोऽपि पार्थिवः ॥ १७७ ॥  
 अव्याहताक्षस्तेजस्वी एभिरेव गुणैर्भवेत् ।  
 राज्ञः साधारणास्त्वन्ये न शक्ता भूपसाधने ॥ १७८ ॥  
 खनिः सर्वधनस्येयं देवदैत्यविमर्दिनौ ।

प्रेम्णा सम्मानेन च स्त्रीभृत्यौ स्त्रीं भृत्यं परिजनवर्गं तथा दाक्षि-  
 ण्येन औदार्येण इतरं जनं हरेत् वशोक्त्यात् ॥ १७४ ॥

बलवानिति । यः भूपः बलवान् बुद्धिमान् शूरः प्रतापवान् तथा  
 युक्तपराक्रमौ युक्तम् उचितं यथा तथा पराक्रमते इति तादृशः भवेत्,  
 स भूपतिः समष्ट्यधिपतिः सम्पादित्यर्थः सन् वित्तपूर्णां महीं  
 भुङ्क्ते ॥ १७५ ॥

पराक्रम इत्यादि । पराक्रमः बलं बुद्धिः तथा शौर्यम् एते वराः  
 श्रेष्ठाः गुणाः, एभिर्गुणैः हीनः अन्यगुणयुक् महीभुक् राजा  
 सधनोऽपि धनवानपि खल्वपि महीं नैव भुङ्क्ते, प्रत्युत द्राक् च शीघ्रं  
 द्राक् इति अव्ययम् । राज्यात् विनश्यति भ्रश्यति । यस्य राज्ञः एभिः  
 पराक्रमादिभिः गुणैः उपलब्धितः अव्याहताक्षः अस्त्रलितनिदेशः तथा  
 तेजस्वी भवेत् सः अल्पोऽपि असम्बद्धोऽपि पार्थिवः महाधनात् उक्त-  
 गुणहीनात् नृपतेः अपेक्षार्थं पञ्चमी । विभाति शोभते । अन्ये साधा-  
 रणाः सामान्याः जनाः भूपसाधने पृथिवीवशीकरणे न शक्ताः न  
 समर्थाः ॥ १७६—१७८ ॥

भूम्यर्थे भूमिपतयः स्वात्मानं नाशयन्त्यपि ॥१७६॥  
 उपभोगाय च धनं जीवितं येन रक्षितम् ।  
 न रक्षिता तु भूर्येन किं तस्य धनजीवितैः ॥१८०॥  
 न यथेष्टव्ययायालं सञ्चितं तु धनं भवेत् ।  
 सदागमाद् विना कस्य कुवेरस्यापि नाञ्जसा ॥१८१॥  
 पूज्यस्त्वेभिर्गुणैर्भूपो न भूपः कुलसम्भवः ।  
 न कुले पूज्यते यादृग् बलशौर्यपराक्रमैः ॥१८२॥  
 लक्षकर्मितो भागो राजतो यस्य जायते ।

खनिरिति । इयं देवदैत्यविमर्दिनी सुरासुरविध्वंसिनी भूमिः  
 अस्या एव कृते वञ्छशः सुरासुरविमर्दो जात इति भावः सर्वधनस्य  
 खनिः आकरः, भूमिपतयः राजानः भूम्यर्थे अस्या एव भूमेः कृते  
 इत्यर्थः स्वात्मानं स्वदेहम् अपि नाशयन्ति ॥ १७६ ॥

उपभोगायेति । येन उपभोगाय धनं जीवितञ्च रक्षितं किन्तु भूः  
 पृथिवी न रक्षिता, तस्य धनजीवितैः धनैः जीवनैश्च किम् ? न किमपि  
 प्रयोजनमित्यर्थः ॥ १८० ॥

नेति । कस्यापि जनस्य सञ्चितं धनं सदागमात् नित्यधनलाभं  
 विना यथेष्टव्ययाय अलं समर्थं न भवेत्, कुवेरस्यापि अञ्जसा तत्त्वतः  
 न अन्यस्य किं पुनरिति भावः यथेष्टव्यये सति सञ्चितं धनम् अचिरात्  
 क्षीयते, यादृग्व्ययः तादृशश्चेत् सर्वदा आगमो न स्यादिति फलि-  
 तार्थः ॥ १८१ ॥

पूज्य इति । एभिः पूर्वोक्तैः पराक्रमादिभिः गुणैः उपलक्षितस्तु  
 भूपः पूज्यः प्रशंसनीयः, कुलसम्भवः राजवंशप्रसूतस्तु भूपः न पूज्यः  
 राजवंशप्रसूतत्वमेव न पूज्यते निदानमिति भावः । बलशौर्यपराक्रमैः  
 यादृक् पूज्यते, कुले कुलजातत्वे तादृक् न ॥ १८२ ॥

लब्धेति । सामन्त इति । यस्य तु वत्सरे वत्सरे प्रतिवत्सरं प्रजानाम्



स्वभागभृत्या दास्यत्वे प्रजानाञ्च नृपः कृतः ।  
 ब्रह्मणा स्वामिरूपस्तु पालनार्थं हि सर्वदा ॥१८८॥  
 सामन्तादिसमा ये तु भृत्या अधिष्ठता भुवि ।  
 ते तु सामन्तसंज्ञाः स्युराजभागहराः क्रमात् १८९  
 सामन्तादिपदभ्रष्टास्तत्तुल्यं भृतिपोषिताः ।  
 महाराजादिभिस्ते तु हीनसामन्तसंज्ञकाः ॥१९०॥  
 शतग्रामाधिपो यस्तु सोऽपि सामन्तसंज्ञकः ।  
 शतग्रामे चाधिष्ठतोऽनुसामन्तो नृपेण सः ॥१९१॥  
 अधिष्ठतो दशग्रामे नायकः स च कीर्तितः ।

स्वभागेति । ब्रह्मणा विधाता स्वभागः राजग्राह्यांश्च एव भृतिः  
 वेतनं तया प्रजानां दास्यत्वे किङ्करत्वे स्थित इति शेषः नृपः सर्वदा  
 पालनार्थं प्रजानामेव रक्षणार्थं हि स्वामिरूपः कृतः कल्पित इत्यर्थः,  
 राज्ञः राजस्वरूपवेतनग्रहणात् प्रजानां भृत्यत्वं रक्षणकारित्वात्  
 स्वामित्वञ्चेति भावः ॥ १८८ ॥

सामन्तेति । ये तु भुवि पृथिव्यां भृत्या वेतनेन केनचिन्निर्दिष्ट-  
 मूल्येनेत्यर्थः अधिष्ठताः प्रजानां पालनकर्मणि नियुक्ता इत्यर्थः ते साम-  
 न्तादिसमाः सामन्तादीनां पूर्वोक्तानां समाः समानकार्यकारिण इत्यर्थः ।  
 ते तु क्रमात् यथाक्रमं राजभागहराः राजग्राह्यांश्चहारिणः सामन्त-  
 संज्ञाः सामन्तादिनामधारिणो न भवन्तीति शेषः ॥१८९॥

सामन्तेति । ये तु सामन्तादिपदेभ्यो भ्रष्टाः विच्युताः अपि  
 महाराजादिभिः तत्तुल्यं यथा तथा भृत्या वेतनेन पोषिताः पालिताः  
 भवन्ति, ते तु हीनसामन्तसंज्ञकाः हीनसामन्ता इति कथिताः ॥१९०॥

शतेति । यस्तु शतग्रामाणाम् अधिपः, सोऽपि सामन्तसंज्ञकः  
 सामन्त इति कथितः । यस्तु नृपेण शतग्रामे अधिष्ठतः नियुक्तः, सः  
 अनुसामन्तः उक्त इति शेषः स्वावत्तपरायत्ततया भेद इति भावः ॥१९१॥

अधिष्ठत इति । यः दशग्रामे अधिष्ठतः दशानां ग्रामाणां रक्षण-

आशापालोऽयुतग्रामभागभाक् च खराडपि ॥१६२॥  
 भवेत् क्रोशात्मको ग्रामो रूप्यकर्षसहस्रकः ।  
 ग्रामार्द्धकं पल्लिसंज्ञं पल्लग्रहं कुम्भसंज्ञकम् ॥१६३॥  
 करैः पञ्चसहस्रैर्वा क्रोशः प्रोक्तः प्रजापतेः ।  
 हस्तैश्चतुःसहस्रैर्वा मनोः क्रोशस्य विस्तरः ॥१६४॥  
 सार्द्धद्विकोटिहस्तैश्च क्षेत्रं क्रोशस्य ब्रह्मणः ।  
 पञ्चविंशतैः प्रोक्तं क्षेत्रैस्तद्वि निवर्त्तनम् ॥१६५॥  
 मध्यमामध्यमपर्वदैर्घ्यं यच्च तदङ्गुलम् ।  
 यवोदरैरष्टभिस्तद्दैर्घ्यं स्थौल्यन्तु पञ्चभिः ॥१६६॥

कर्मणि नियुक्त इत्यर्थः सः नायकः कीर्तितः । यस्तु अयुतग्रामाणां  
 दशसहस्रग्रामाणां भागभाक् राजस्वपात्री, सः आशापालः दिक्पालः  
 तथा खराट् अपि कीर्तित इति शेषः ॥१६२॥

भवेदिति । क्रोशात्मकः क्रोशैकपरिच्छिन्नः रूप्यकर्षसहस्रकः सह-  
 स्ररौप्यमुद्राराजस्वः भूभागः ग्रामो भवेत्, ग्रामार्द्धकम् अर्द्धग्रामः  
 पल्लिसंज्ञं पल्लीति नाम्ना प्रसिद्धं, तथा पल्लग्रहं अर्द्धपल्लो कुम्भसंज्ञकं  
 कुम्भनाम्ना प्रसिद्धम् ॥१६३॥

करैरिति । पञ्चसहस्रैः करैः हस्तैः परिच्छिन्नः भूभागः क्रोशः  
 प्रजापतेः प्रोक्तः कथितः, प्रजापतेरिति वर्त्तमानकृतप्रत्यययोगे कर्त्तरि  
 षष्ठी । चतुःसहस्रैः हस्तैः क्रोशस्य विस्तरः परिमाणं मनोः प्रोक्त  
 इति अध्याहार्यम्, अत्रापि मनोरिति कर्त्तरि षष्ठी ॥१६४॥

सार्द्धेति । सार्द्धद्विकोटिहस्तैः क्रोशस्य क्षेत्रं क्रोशमिता भूरिति,  
 तथा पञ्चविंशतैः क्षेत्रैः क्रोशमितभूभागैः तत् हि प्रसिद्धं निवर्त्तनं  
 नाम ब्रह्मणः प्रोक्तं, ब्रह्मण इति कर्त्तरि षष्ठी ॥१६५॥

मध्यमेति । मध्यमाया अङ्गुल्याः मध्यमं यत् पर्वं तस्य दैर्घ्यं  
 दीर्घपरिमाणं तत् अङ्गुलम् उक्तमिति शेषः, तथा अष्टभिः यवानाम्

चतुर्विंशत्यङ्गुलैस्तैः प्राजापत्यः करः स्मृतः ।  
 स श्रेष्ठो भूमिमाने तु तदन्यास्त्वधमा मताः ॥१६७॥  
 चतुःकरात्मको दण्डो लघुः पञ्चकरात्मकः ।  
 तदङ्गुलं पञ्चयवैर्मानवं मानमेव तत् ॥१६८॥  
 वसुषण्मुनिसंख्याकैर्यवैर्दण्डः प्रजापतेः ।  
 यवोदरैः षट्शतैस्तु मानवो दण्ड उच्यते ॥१६९॥  
 पञ्चविंशतिभिर्दण्डैरुभयोस्तु निवर्त्तनम् ।  
 त्रिंशच्छतैरङ्गुलैर्यवैस्त्रिपञ्चसहस्रकैः ॥२००॥

उदरैः मध्यभागैः दैर्घ्यं दैर्घ्यं परिमितं, तथा पञ्चभिः यवोदरैः स्थौल्यं  
 स्थौल्ये परिच्छिन्नमित्यर्थः यत् तदपि अङ्गुलमिति केषाञ्चिन्मतमिति  
 भावः ॥१६६॥

चतुर्विंशेति । तैः चतुर्विंशत्या अङ्गुलैः प्राजापत्यः प्रजापतिसम्मतः  
 करः हस्तः स्मृतः । भूमिमाने भूपरिमाणे तु यः करः श्रेष्ठः, तद-  
 न्यास्तु कराः अधमाः मताः कथिताः ॥१६७॥

चतुरिति । चतुःकरात्मकः चतुर्हस्तमितः परिमाणविशेषः दण्डः,  
 पञ्चकरात्मकस्तु लघुः लघुसंज्ञया कथितः । तस्य दण्डस्य लघोर्वा अङ्गुलं  
 पञ्चभिर्यवैः परिच्छिन्नमिति शेषः, तत् मानवं मनुसम्मतं मानं परि-  
 माणम् अथवा मानवं मनुष्यसम्बन्धीत्यर्थः ॥१६८॥

वस्त्रिति । वसुषण्मुनिसंख्याकैः ७६८ अष्टपञ्चाधिकशतसङ्ख्यै-  
 रित्यर्थः यवैः एकैकशः स्थापितैः परिच्छिन्नः परिमाणविशेषः भवतीति  
 शेषः इति प्रजापतेर्मतमित्यर्थः, षट्शतैः यवानाम् उदरैः मध्यभागैः  
 एकैकशः स्थापितैरिति भावः परिच्छिन्नः परिमाणविशेषः मानवः दण्ड  
 उच्यते ॥१६९॥

पञ्चविंशतीति । उभयोः दैर्घ्यं स्थौल्ययोः यथाक्रमं त्रिंशता शतैः  
 दैर्घ्यं त्रिंशच्छताङ्गुलपरिमितैरित्यर्थः स्थौल्ये च त्रिपञ्चसहस्रकैः यवैः  
 त्रिपञ्चसहस्रयवपरिमितैः पञ्चविंशतिभिः दण्डैः निवर्त्तनं भवति ॥२००॥

सपादशतहस्तैश्च मानवन्तु निवर्त्तनम् ।  
 जनविंशतिसाहस्रैर्विंशतैश्च यवोदरैः ॥२०१॥  
 चतुर्विंशतैरेव ह्यङ्गुलैश्च निवर्त्तनम् ।  
 प्राजापत्यन्तु कथितं शतैश्चैव करैः सदा ॥२०२॥  
 सपादषट्शता दण्डा उभयोश्च निवर्त्तने ।  
 निवर्त्तनान्यपि सदोभयोर्वै पञ्चविंशतिः ॥२०३॥  
 पञ्चसप्ततिसाहस्रैरङ्गुलैः परिवर्त्तनम् ।  
 मानवं षष्टिसाहस्रैः प्राजापत्यं तथाङ्गुलैः ॥२०४॥  
 पञ्चविंशाधिकैर्हस्तैरेकचिंशच्छतैर्मनोः ।  
 निवर्त्तनमाख्यातं पञ्चविंशतैः करैः ॥२०५॥  
 प्राजापत्यं पादहीनचतुर्लक्ष्यवैर्मनोः ।

सपादेति । सपादशतहस्तैः पञ्चविंशत्यधिकशतहस्तैः वा जनविंश-  
 तिसाहस्रैः द्विशतैश्च द्विशताधिकेन न विंशतिसहस्रैः यवोदरैः एकशः  
 स्थापितैः यवमध्यभागैः मानवं बहुप्रोक्तं निवर्त्तनं परिमाणविशेष  
 त्वर्थः भवति ॥२०१॥

चतुरिति । चतुर्विंशतैः चतुर्विंशतिशतैरङ्गुलैः एव अथवा एवं-  
 द्योऽल विकल्पवाचीति । शतैः करैः हस्तैः प्राजापत्यं ब्रह्मप्रोक्तं  
 न सदा कथितम् । हस्तस्य चतुर्विंशत्यङ्गुलपरिमाणत्वादिति  
 वः ॥ २०२ ॥

सपादेति । उभयोश्च बहुप्राजापत्योः सम्बन्धिनी निवर्त्तने कथिते  
 त शेषः, सपादषट्शताः पञ्चविंशत्यधिकषट्शताः दण्डाः पूर्वोक्तमान-  
 येपाः उभयोरेव मतयोः पञ्चविंशतिः निवर्त्तनानि सदा भवन्ति ॥२०३॥  
 पञ्चेति । पञ्चसप्ततिसाहस्रैः अङ्गुलैः मानवं परिवर्त्तनं मानविशेषः  
 षष्टिसाहस्रैः अङ्गुलैः प्राजापत्यं परिवर्त्तनं भवतीति शेषः ॥२०४॥  
 पञ्चेति । प्राजापत्यमिति । पञ्चविंशाधिकैः एकविंशच्छतैर्हस्तैः

अशीत्यधिकसाहस्रचतुर्लक्षयवैः परम् ॥२०६॥

निवर्त्तनानि द्वात्रिंशन्मनुमानेन तस्य वै ।

चतुःसहस्रहस्ताः स्युर्दण्डाश्चाष्टशतानि हि ॥२०७॥

पञ्चविंशतिभिर्दण्डैर्भुजः स्यात् परिवर्त्तने ।

करैरयुतसंख्याकैः क्षेपं तस्य प्रकीर्त्तितम् ॥२०८॥

चतुर्भुजैः समं प्रोक्तं कष्टभूपरिवर्त्तनम् ।

प्राजापत्येन मानेन भूभागहरणं नृपः ॥२०९॥

सदा कुर्याच्च स्वापत्तौ मनुमानेन नान्यथा ।

लोभात् संकर्षयेद् यस्तु हीयते सप्रजो नृपः ॥२१०॥

मनोः सम्बन्धीत्यर्थः परिवर्त्तनं तथा पञ्चविंशतैः करैः प्राजापत्यं ब्रह्मसम्मतं परिवर्त्तनम् आख्यातम् कथितम् । किञ्च पादहीनचतुर्लक्षयवैः चतुर्थांशन्यूनचतुर्लक्षयवैः मनोः सम्मतमिति शेषः परिवर्त्तनं, तथा अशोतिसहस्राधिकचतुर्लक्षयवैः परम् अन्यत् प्राजापत्यमित्यर्थः परिवर्त्तनम् आख्यातं कथितम् । २०५ ॥ २०६ ॥

निवर्त्तनानीति । तस्य मनोरित्यर्थः सम्बन्धिनः सम्मता इत्यर्थः अष्टशतानि दण्डाः चतुःसहस्राः हस्ताश्च चतुःसहस्रहस्ताधिकाष्टशतदण्डा इत्यर्थः मनुमानेन मनोः परिमाणेन द्वात्रिंशत् निवर्त्तनानि स्युः भवेयुः ॥ २०७ ॥

पञ्चेति । परिवर्त्तने पूर्वोक्ते परिमाणविशेषे त्रिपदे पञ्चविंशतिभिः दण्डैः भुजः स्यात्, तस्य भुजस्य अयुतसंख्याकैः दशसहस्रैः करैः परिच्छिन्नं स्थानमिति शेषः क्षेपं प्रकीर्त्तितं कथितम् ॥ २०८ ॥

चतुरिति । सदेति । कष्टः क्लेशजनकं भूपरिवर्त्तनं भुवः भूमेः परिवर्त्तनं तदाख्यमानविशेषः चतुर्भुजैः समं प्रोक्तं कथितं शतदण्डपरिमितमित्यर्थः । नृपः प्राजापत्येन पूर्वोक्तेन मानेन स्वापत्तौ स्वस्व आपत्तौ बाधावां सत्यां क्षतिसम्भवे इत्यर्थः मनुमानेन भूभागहरणं

न दद्याद् द्वाङ्गुलमपि भूमेः स्वत्वनिवर्त्तनम् ।

वृत्त्यर्थं कल्पयेद् वापि यावद् ग्राहस्तु जीवति ॥ २११ ॥

गुणी तावद् देवतार्थं विस्तृजेच्च सदैव हि ।

आरामार्थं गृहार्थं वा दद्याद् दृष्ट्वा कुटुम्बिनम् ॥ २१२ ॥

नानावृत्तलताकीर्णं पशुपक्षिगणावृते ।

सुबह्मदकधान्ये च तृणकाष्ठमुखे सदा ॥ २१३ ॥

भूमिपरिच्छेदं सदा कुर्यात् अन्यथा न । यस्तु नृपः लोभात्  
संकर्षयेत् भूभागनिर्णयेन प्रजाः पीडयेत् स तु सप्रजः ससं-  
न्तानः हीयते भ्रश्यति ॥ २०६ ॥ २१० ॥

नेति । राजा भूमेः द्वाङ्गुलमपि अङ्गुलद्वयपरिमितामपि  
भूमिमित्यर्थः न दद्यात् कस्मैचिदपीति शेषः, वापि अथवा  
गृह्णातीति ग्राहः ग्रहीता यावत् जीवति तावत् तस्य वृत्त्यर्थं  
जीविकार्थं स्वत्वनिवर्त्तनं स्वत्वस्य त्यागं कल्पयेत् । अयमर्थः,  
अल्पामपि भूमिं कस्मैचिन्न दद्यात्, यदि दद्यात् तदा ग्रहीतु-  
र्जीवनावधिस्तत्स्वत्वत्याग इति ॥ २११ ॥

गुणीति । गुणी नृपः देवतार्थं देवालयस्थापनार्थं सदैव  
विस्तृजेत् दद्यात् भूमिमिति शेषः, तथा कुटुम्बिनं गृहिणं  
दृष्ट्वा विविच्य तस्य आरामार्थम् उद्यानार्थं वा गृहार्थं गृह-  
निर्माणार्थं दद्याद् वा वाशब्दोऽवधारणे, दानञ्च जीवनावधीति  
बोद्धव्यम् अन्यथा पूर्ववाक्यविरोधादिति ॥ २१२ ॥

राजधानीकरणमाह नानेति । आसिन्धिति । राजा नाना-  
वृत्तलताकीर्णं बहुविधवृत्तलतावहूले पशुपक्षिगणैः आवृते युक्ते,  
सदा सुबह्मनि अतिप्रचुराणि उदकानि धान्यानि च यस्मिन्  
तथाभूते, तृणैः काष्ठैश्च सुखे सुखकरे, आसिन्धु आसमुद्रं नौभिः

आसिन्धुनौगमाकूले नातिदूरमहीधरे ।

सुरस्यसमभूदेशे राजधानीं प्रकल्पयेत् ॥ २१४ ॥

अर्द्धचन्द्रां वर्तुलां वा चतुरश्रां सुशोभनाम् ।

सप्राकारां सपरिखां ग्रामादीनां निवेशिनीम् ॥ २१५ ॥

सभामध्यां कूपवापीतडागादियुतां सदा ।

चतुर्दिक्षु चतुर्द्वारां सुमार्गारामवीथिकाम् ॥ २१६ ॥

दृढसुरालयमठपान्यशालाविराजिताम् ।

कल्पयित्वा वसेत् तत्र सुगुप्तः सप्रजो नृपः ॥ २१७ ॥

नौकाभिः गमः गमनं तेन आकुले युक्ते समुद्रपर्यन्तनौका-  
गमनागमनसाधने इत्यर्थः नातिदूरः अदूरवर्ती महीधरः  
पर्वतो यस्य तादृशे सुरस्ये मनोहरे समभूदेशे समानभूमिभागे  
राज्या धीयते उच्यते अस्यामिति राजधानीं स्वनिवासस्थानं  
प्रकल्पयेत् ॥ २१३ ॥ २१४ ॥

अर्द्धचन्द्रमित्यादि । अर्द्धचन्द्राम् अर्द्धचन्द्राकारमित्यर्थः वा  
वर्तुलां मण्डलाकाराम् अथवा चतुरश्रां चतुष्कोणां सुशोभनां  
शोभाशालिनीं सप्राकारां प्राचीरवेष्टितां ग्रामादीनाम् अन्तरा-  
न्तरा ग्रामपञ्चरादिविभागवतीं सभामध्यां मध्ये मध्ये स्थापित-  
समाजां वापीभिर्दीर्घिकाभिः तडागैः सरोवरैः आदिपदेन  
जलयन्त्रादिभिः युतां चतुर्दिक्षु पूर्वपश्चिमोत्तरदक्षिणासु चतु-  
र्द्वारां द्वारचतुष्टयवतीं शोभनाः मार्गाः पन्थानः आरामवीथयः  
उपवनश्रेणयः यस्यां तादृशीं तथा दृढैः सुरालयैः देवालयैः मठैः  
शालादिपाठशालाभिः तथा पान्यशालाभिः पथिकजनाव-  
स्थानार्थं निर्मितगृहैरित्यर्थः विराजितां राजधानीं कल्पयित्वा

राजगृहं सभामध्यं गवाश्वगजशालिकम् ।  
 प्रशस्तवापीकूपादिजलयन्त्रैः सुशोभितम् ॥ २१८ ॥  
 सर्वतः स्यात् समभुजं दक्षिणोच्चमुदङ्गतम् ।  
 शालां विना नैकभुजं तथा विषमबाहुकम् ॥ २१९ ॥  
 प्रायः शाला नैकभुजा चतुःशालं विना शुभा ।  
 शस्त्रास्त्रधारिसंयुक्तप्राकारं सुष्ठुयन्त्रकम् ॥ २२० ॥  
 सत्त्विकचतुर्द्वारं चतुर्दिक्षु सुशोभितम् ।  
 दिवा रात्रौ सशस्त्रास्त्रैः प्रतिकक्षासु गोपितम् ॥ २२१ ॥

नृपः सदा तत्र सुरक्षितः तथा सप्रजः पुत्राद्यन्वयसहितः सन्  
 वसेत् ॥ २१५ ॥ २१६ ॥ २१७ ॥

राजगृहमित्यादि । तत्र राजधान्यां सभामध्यं मध्यस्थित-  
 सभागृहं गवाम् अश्वानां गजानाञ्च शालाभिः समन्वितं  
 प्रशस्तैः मनोज्ञैः वापीकूपजलयन्त्रैः सुशोभितं सर्वतः सर्वासु  
 दिक्षु समभुजं समानभुजपरिमाणं दक्षिणस्यां दिशि उच्चम्  
 उन्नतम् तथा उदङ्गतम् उत्तरस्यां दिशि नतम् अवनतं, शालां  
 गृहं विना अनेकभुजं बहुभुजपरिमाणं यावद्भिर्भुजैः गृहमानं  
 ततोऽधिकभुजैः परिच्छिन्नावान्तरस्थानमित्यर्थः (यतः चतुः-  
 शालं यस्मिन् गृहे चत्वारः विभागाः सन्तीति तत् विना  
 अनेकभुजा बहुभुजपरिमाणा शाला प्रायः बाहुल्येन अशुभा  
 अमनोहरा इत्यर्थः) विषमबाहुकम् अयुग्मभुजमितं शस्त्रास्त्र-  
 धारिभिः संयुक्तः रक्षित इत्यर्थः प्राकारो यस्य तथोक्तं तथा  
 सुष्ठु शोभनानि मन्त्राणि नानाकार्यसाधनानि यस्मिन् तादृशं  
 राजगृहं स्यात् भवेत् ॥ २१८ ॥ २१९ ॥ २२० ॥

चतुर्भिः पञ्चभिः षड्भिर्यामिकैः परिवर्त्तकैः ।  
 नानागृहोपकार्य्यादृसंयुतं कल्पयेत् सदा ॥२२२॥  
 वस्त्रादिमार्जनार्थञ्च स्नानार्थं यजनार्थकम् ।  
 भोजनार्थञ्च पाकार्थं पूर्वस्यां कल्पयेत् गृहान् ॥२२३॥  
 निद्रार्थञ्च विहारार्थं पानार्थं रोदनार्थकम् ।  
 धान्यार्थं घरटाद्यर्थं दासीदासार्थमेव च ॥ २२४ ॥  
 उत्सर्गार्थं गृहान् कुर्याद्दक्षिणस्यामनुक्रमात् ।  
 गोमृगोष्ट्रगजाद्यर्थं गृहान् प्रत्यक् प्रकल्पयेत् ॥२२५॥

सेति । चतुर्भिरिति । तच्च राजगृहं सत्रिकच्चतुर्द्वारं  
 त्रिभिः कक्षैः विभागविशेषैः तथा चतुर्भिर्द्वारैः सहितं चतुर्दिक्षु  
 सुशोभितं शोभासंयुक्तं दिवा दिवसे दिवेत्यव्ययम् । तथा रात्रौ  
 सशस्त्रास्त्रैः शस्त्रास्त्रधारिभिः चतुर्भिः पञ्चभिः षड्भिर्वा परि-  
 वर्त्तकैः पर्यायक्रमेण स्थितैः यामिकैः प्रहरिभिः प्रतिकक्षासु  
 प्रतिविभागेषु सदा सुगोपितं सुरक्षितं तथा नानागृहैः  
 विविधाकारैः सदनैः उपकार्य्याभिः पटमण्डपैः तथा अट्टैः हर्म्यैः  
 संयुतं कल्पयेत् ॥ २२१ ॥ २२२ ॥

वस्त्रेति । पूर्वस्यां दिशि वस्त्रादीनां मार्जनार्थं क्षालनार्थं  
 स्नानार्थं यजनार्थं यज्ञानुष्ठानार्थं भोजनार्थं तथा पाकार्थं रन्ध-  
 नार्थं गृहान् कल्पयेत् ॥ २२३ ॥

निद्रार्थमिति । उत्सर्गार्थमिति । दक्षिणस्यां दिशि अनु-  
 क्रमात् यथाक्रमं निद्रार्थं शयनार्थं विहारार्थं क्रीडार्थं पानार्थं  
 मद्यादीनामुपयोगार्थं रोदनार्थं क्रन्दनार्थं धान्यार्थं धान्यरक्ष-  
 णार्थं घरटाद्यर्थं मुद्गगोधूमादिचूर्णार्थं यन्त्रविशेषाद्यर्थं दासी-

रथवाज्यस्त्रशस्त्रार्थं व्यायामायामिकार्थकम् ।  
 वस्त्रार्थकन्तु द्रव्यार्थं विद्याभ्यासार्थमेव च ॥२२६॥  
 उदग्गृहान् प्रकुर्वीत सुगुप्तान् सुमनोहरान् ।  
 यथा सुखानि वा कुर्याद् गृहाण्येतानि वै नृपः ॥२२७॥  
 धर्माधिकरणं शिल्पशालां कुर्यादुदग्गृहात् ।  
 पञ्चमांशाधिकोच्छ्राया भित्तिर्विस्तारतो गृहे ॥२२८॥

दासार्थं किङ्करीकिङ्करावस्थानार्थं तथा उत्सर्गार्थं मलमूत्र-  
 त्यागार्थं गृहान् कुर्यात् । किञ्च, प्रत्यक् पश्चिमायां दिशि  
 गवां मृगाणाम् उष्ट्राणां गजादीनाञ्च रक्षणार्थं गृहान् प्रकल्प-  
 येत् ॥ २२४ ॥ २२५ ॥

रथेति । उदगिति । रथानां वाजिनाम् अस्त्राणां क्षेप-  
 णीयानां शस्त्राणां हस्तधृतानां प्रहरणानां स्थानार्थं व्याया-  
 मायामिकार्थं व्यायामः अङ्गचालनाविशेषः तस्य आयामिका  
 विस्तारः तदर्थं वस्त्रार्थकं वसनरक्षणार्थकं द्रव्यार्थं धनरक्षणार्थं  
 गृहोपकरणार्थं वा तथा विद्याभ्यासार्थं सुगुप्तान् सुरक्षितान्  
 सुमनोहरान् उदग्गृहान् उत्तरदिग्वर्तिनः गृहान् प्रकुर्वीत ।  
 वा अथवा नृपः यथासुखानि आत्मनः सुखानुसारेण एतानि  
 पूर्वोक्तानि गृहाणि कुर्यात् ॥ २२६ ॥ २२७ ॥

धर्मेति । धर्माधिकरणं विचारालयं तथा शिल्पशालां  
 गृहात् राजगृहात् उदक् उत्तरस्यां दिशि, उदगिति अव्ययं,  
 कुर्यात् । किञ्च गृहे राजगृहे भित्तिः विस्तारतः गृहविस्ता-  
 रात् पञ्चमांशः अधिकः उच्छ्रायः औन्नत्यं यस्याः तादृशी भव-  
 तीति शेषः ॥ २२८ ॥

कोष्ठविस्तारषष्ठांशस्थूला सा च प्रकीर्तिता ।  
 एकभूमेरिदं मानमूर्ध्वमूर्ध्वं समन्ततः ॥२२६॥  
 स्तम्भैश्च भित्तिभिर्वापि पृथक्कोष्ठानि संन्यसेत् ।  
 त्रिकोष्ठं पञ्चकोष्ठं वा सप्तकोष्ठं गृहं स्मृतम् ॥२३०॥  
 द्वारार्थमष्टधा भक्तं द्वारस्यांशौ तु मध्यमौ ।  
 द्वौ द्वौ ज्ञेयौ चतुर्दिक्षु धनपुत्रप्रदौ नृणाम् ॥२३१॥  
 तत्रैव कल्पयेद्द्वारं नान्यथा तु कदाचन ।  
 वातायनं पृथक्कोष्ठे कुर्याद्यादृक् सुखावहम् ॥२३२॥

कोष्ठेति । सा च भित्तिः कोष्ठस्य गृहभाभ्यन्तरभागस्य यः  
 विस्तारः तस्य षष्ठांशवत् स्थूला प्रकीर्तिता उक्ता समन्ततः  
 सर्वतः एकभूमेः एकस्य गृहस्य भूमेः इदम् ऊर्ध्वम् उत्कृष्टं  
 चरममित्यर्थः ऊर्ध्वं मानं परिमाणम् उक्तमिति शेषः ॥ २२६ ॥

स्तम्भैरिति । द्वारार्थमिति । स्तम्भैः भित्तिभिर्वा पृथक्  
 भिन्नानि भिन्नानि कोष्ठानि संन्यसेत् विन्यसेत् कल्पयेदित्यर्थः ।  
 किञ्च गृहं त्रिकोष्ठं त्रिभिः कोष्ठैः युतं पञ्चकोष्ठं पञ्चभिः  
 कोष्ठैः युतं वा सप्तकोष्ठं सप्तभिः कोष्ठैः युतं द्वारार्थम् अष्टधा-  
 भक्तं द्वारसहिताष्टकोष्ठमित्यर्थः स्मृतं कथितम् । किञ्च द्वारस्य  
 अंशौ खण्डौ मध्यमौ मध्यविधौ चतुर्दिक्षु द्वौ द्वौ निर्मितौ  
 सन्तौ नृणां धनपुत्रप्रदौ भवत इति शेषः अदृष्टार्थमेतत् प्रशंसा-  
 वचनमिति भावः ॥ २३० ॥ २३१ ॥

तत्रेति । तत्रैव कोष्ठविभागेषु इत्यर्थः द्वारं कल्पयेत् कदा-  
 चन अन्यथा न । तथा कोष्ठे यादृक् सुखावहं सुखकरं भवतीति  
 शेषः तादृक् वातायनं गवाक्षं पृथक् पृथक् कुर्यात् ॥ २३२ ॥

अन्यगृहद्वारविद्धं गृहद्वारं न चिन्तयेत् ।

गृहकोणस्तम्भमार्गपीठकूपैश्च वेधितम् ॥२३३॥

प्रासादमण्डपद्वारे मार्गवेधो न विद्यते ।

गृहपीठं चतुर्थांशमुच्छ्रायस्य प्रकल्पयेत् ॥२३४॥

प्रासादानां मण्डपानामर्द्धांशं वापरे जगुः ।

परवातायनैर्विद्धं नापि वातायनं स्मृतम् ॥२३५॥

विस्तारार्द्धांशमध्योच्चा छदिः खर्परसम्भवा ।

पतितन्तु जलं तस्यां मुखं गच्छति वाप्यधः ॥२३६॥

अन्येति । गृहद्वारम् एकमित्यर्थः अन्यगृहद्वारविद्धम् अपरद्वारसंयुक्तं तथा वृक्षकोणेन स्तम्भेन मार्गपीठेन पथि-  
स्थापितपीठाकारप्रदेशेन तथा कूपैश्च वेधितं संसक्तं न चिन्त-  
येत् न कल्पयेत् ॥ २३३ ॥

प्रासादेति । प्रासादमण्डपस्य देवगृहस्य राजगृहस्य वा,  
प्रासादो देवभूभुजामित्यमरः । द्वारे मार्गवेधः मार्गयोर्मार्गाणां  
वा वेधः संयोगः न विद्यते न कार्य इत्यर्थः । किञ्च उच्छ्रा-  
यस्य चतुर्थांशं चतुर्थांशपरिमाणं गृहपीठं प्रकल्पयेत् ॥ २३४ ॥

प्रासादानामिति । अपरे विद्वांसः प्रासादानां मण्डपानां  
पूर्वोक्तदेवराजगृहाणाम् अर्द्धांशम् अर्द्धांशपरिमितं वा गृहपीठं  
जगुः कथयन्ति अर्द्धपरिमाणेन गृहपीठं कार्यमिति भावः ।  
किञ्च वातायनमेकं परवातायनेन अपरगवाक्षेण विद्धं संसक्तं  
नापि नैव स्मृतं कथितं न कार्यमिति भावः ॥ २३५ ॥

विस्तारेति । खर्परसम्भवा खर्परैः तदाख्यैः आच्छादकवस्तु-  
विशेषैः कृतेत्यर्थः छदिः विस्तारस्य स्वविस्तारस्य अर्द्धांशं मध्यम्

हीना निम्ना छदिर्न स्यात् तादृक् कोष्ठस्य विस्तरः ।  
 सोच्छ्रायस्यार्द्धमूलो वा प्राकारः सममूलकः ॥ २३७ ॥  
 तृतीयांशकमूलो वा ह्युच्छ्रायार्द्धप्रविस्तरः ।  
 उच्छ्रितस्तु तथा कार्य्यो दस्युभिर्न विलङ्घ्यते ॥ २३८ ॥  
 यामिकैः रक्षितो नित्यं नालिकास्त्रैश्च संयुतः ।  
 सुबहुदृढगुल्मश्च सुगवाक्षप्रणालिकः ॥ २३९ ॥

उच्चं मूलं यस्याः तथाभूता कार्य्या इति शेषः तस्यां पतितं  
 जलं सुखं यथा तथा अधः गच्छति, तुशब्दः अवधारणे ॥ २३६ ॥

हीनेति । छदिः उक्तरूपा हीना न्यूना निम्ना अवनता च  
 न स्यात्, तथा सोच्छ्रायस्य समुन्नतस्य कोष्ठस्य विस्तरः तादृक्  
 हीनः निम्नश्चेत्यर्थः न स्यात् किञ्च प्राकारः प्राचीरवेष्टनम् अर्द्ध-  
 मूलः मूलार्द्धपरिमितः वा सममूलकः मूलपरिमितः न स्यात्,  
 मूलात् किञ्चिदूनपरिमितः कार्य्य इति भावः ॥ २३७ ॥

तृतीयेति । वा अथवा प्राकारः तृतीयांशकं तृतीयभाग-  
 मितं मूलं यस्य तथोक्तः तथा उच्छ्रायस्य उच्चतायाः अर्द्धः अर्द्ध-  
 मितः प्रविस्तरः विस्तारः यस्य तादृशः कार्य्य इति शेषः । किञ्च  
 तथा उच्छ्रितः उन्नतः कार्य्यः यथा दस्युभिः शत्रुभिरित्यर्थः न  
 विलङ्घ्यते ॥ २३८ ॥

यामिकैरिति । उक्तरूपः प्राचीरः नित्यं सततं यामिकैः  
 प्रहरिभिः रक्षितः, नालिकाग्रैः नालिकाग्रप्रहरणविशेषैः  
 संयुतः, सुबह्वनि बहुलानि दृढानि गुल्मानि रक्षकवर्गस्थान-  
 विशेषाः यस्मिन् तादृशः तथा सुष्ठु गवाक्षाणां प्रणाली सन्नि-  
 वेशशृङ्खला यत्र तथाभूतः कार्य्य इति शेषः ॥ २३९ ॥

स्वहीनप्रतिप्राकारो ह्यसमीपमहीधरः ।

परिखा च ततः कार्य्या खाताद् द्विगुणविस्तरा ॥ २४०

नातिसमीपप्राकारा ह्यगाधसलिला शुभा ।

युद्धसाधनसम्भारैः सुयुद्धकुशलैर्विना ॥ २४१ ॥

न श्रेयसे दुर्गवासो राज्ञः स्याद् बन्धनाय सः ।

राज्ञा राजसभा कार्य्या सुगुप्ता सुमनोरमा ॥ २४२

त्रिकोष्ठैः पञ्चकोष्ठैर्वा सप्तकोष्ठैः सुविस्तृता ।

दक्षिणोदक् तथा दीर्घा प्राक्प्रत्यग् द्विगुणायवा २४३

स्वहीनेत्यादि । उक्तः प्राकारः स्वस्मात् हीनः न्यूनः प्रति-  
प्राकारः विपक्षप्राकारः यस्य तथोक्तः विपक्षप्राकारात् समुन्नत  
इत्यर्थः तथा असमीपः अस्मिन्नहितः महीधरः पर्वतो यस्य  
तादृशः कर्तव्य इति अध्याहार्यं पर्वतसन्निधाने तदाश्रयेण  
शत्रुभिरुल्लङ्घनीयत्वादिति भावः । ततश्च तस्य प्राचीरस्य परत  
इत्यर्थः परिखा तदास्या जलवृत्तिरित्यर्थः कार्य्या, सा च  
खाताद् गभीरत्वादित्यर्थः द्विगुणः विस्तरः यस्याः तथोक्ता,  
नातिसमीपप्राकारा प्राकारस्य नितान्तमस्मिन्निहिता, अगाध-  
सलिला बह्मदका तथा शुभा सुदृश्या च । किञ्च युद्धसाधन-  
सम्भारैः संग्रामोपकरणसमूहैः तथा सुयुद्धकुशलैः रणदक्षैः  
पुरुषैः विना राज्ञः दुर्गं वासः श्रेयसे मङ्गलाय न परं स बन्ध-  
नाय स्यात् । अपरश्च राज्ञा सुगुप्ता सुरक्षिता मनोहरा  
त्रिकोष्ठैः पञ्चकोष्ठैः सप्तकोष्ठैर्वा विभक्ता इति अध्याहार्यं  
दक्षिणोदक् दक्षिणोत्तरयोरित्यर्थः सुविस्तृता तथा प्राक् प्रत्यक्  
पूर्वपश्चिमयोरित्यर्थः दीर्घा अथवा द्विगुणा विस्तारात् दैर्घ्यं

त्रिगुणा वा यथा काममेकभूमिर्द्विभूमिका ।

त्रिभूमिका वा कर्त्तव्या सोपकार्या शिरोगृहा ॥ २४४ ॥

परितः प्रतिकोष्ठे तु वातायनविराजिता ।

पार्श्वकोष्ठात्तु द्विगुणो मध्यकोष्ठस्य विस्तरः ॥ २४५ ॥

पञ्चमांशाधिकं तूच्चं मध्यकोष्ठस्य विस्तरात् ।

विस्तारेण समं तूच्चं पञ्चमांशाधिकन्तु वा ॥ २४६ ॥

कोष्ठकानाञ्च भूमिर्वा छदिर्वा तत्र कारयेत् ।

द्विभूमिके पार्श्वकोष्ठे मध्यमं त्वेकभूमिकम् ॥ २४७ ॥

इति शेषः अथवा त्रिगुणा राजसभा कार्य्या । अथवा यथाकामं यथेक्षितम् एकभूमिः एकमात्रगृहा द्विभूमिका गृहद्वययुता त्रिभूमिका गृहत्रयसंयुता सोपकार्या शिरोगृहा उपकार्यास्थ-गृहविशेषेण शिरोगृहेण शिरस्थगृहविशेषेण सहिता प्रति-कोष्ठेषु परितः सर्वतः चतुर्दिक्षु इत्यर्थः वातायनविराजिता गवाक्षशोभिता राजसभा कर्त्तव्या । किन्तु मध्यकोष्ठस्य विस्तरः पार्श्वकोष्ठात् द्विगुणः कार्य्य इति शेषः ॥ २४०—२४५ ॥

पञ्चमेति । मध्यकोष्ठस्य तु उच्चम् उच्चता विस्तरात् पञ्चमांशाधिकं कार्य्यमिति शेषः । उच्चं विस्तरेण समं पञ्चमांशाधिकं वा कार्य्यमिति केचिद् वदन्तीति अध्याहार्यम् ॥ २४६ ॥

कोष्ठकानामिति । कोष्ठकानां भूमिः विस्तारभागः वा छदिः आच्छादनभागः या आसीदिति अध्याहार्यं तत्र द्विभूमिके पार्श्वकोष्ठे गृहद्वयावच्छिन्ने पार्श्ववयवे सति मध्यमं कोष्ठमिति शेषः एकभूमिकम् एकगृहपरिच्छिन्नं कारयेत् ॥ २४७ ॥

पृथक्स्तम्भान्तसत्कोष्ठा चतुर्भर्गागमा शुभा ।  
जलोर्ध्वपातियन्त्रैश्च युता सुखरयन्त्रकैः ॥२४८॥  
वातप्रेरकयन्त्रैश्च यन्त्रैः कालप्रबोधकैः ।  
प्रतिष्ठिता च स्वादर्शैस्तथा च प्रतिरूपकैः ॥२४९॥  
एवंविधा राजसभा मन्त्रार्था कार्य्यदर्शने ।  
तथाविधामात्यलेख्यसभ्याधिकृतशालिकाः ॥२५०॥  
कर्त्तव्याश्च पृथक् त्वेतास्तदर्थ्याश्च पृथक् पृथक् ।  
शतहस्तमितां भूमिं त्यक्त्वा राजगृहात् सदा ॥२५१॥

पृथगित्यादि । पृथक् विभिन्नं सभान्तः सभामध्ये सत्  
विद्यमानं कोष्ठं यस्याः तथोक्ता, चतुर्भिर्मार्गैः पथिभिः आगमे  
आगमने शुभा सुखकरी चतुष्पथा इत्यर्थः जलानि ऊर्ध्वपातीनि  
ऊर्ध्वगामीनि यैः तादृशानि यन्त्राणि जलोद्गमयन्त्राणीत्यर्थः  
तैः तथा सुखरयन्त्रकैः स्वयं मधुरस्वरोत्थापकैः यन्त्रैश्च युता ।  
किञ्च वातप्रेरकयन्त्रैः अभिमतसमीरणसञ्चारकयन्त्रैरित्यर्थः  
कालप्रबोधकैः समयनिर्णायकैश्च यन्त्रैः उपलब्धिता तथा द्वादशैः  
शोभनैः दर्पणैः प्रतिरूपकैः प्रतिकृतिभिश्च प्रतिष्ठिता अलङ्कृता  
एवंविधा उक्तप्रकारा मन्त्रार्था मन्त्रणाभिप्रायेण निर्मिता  
राजसभा कार्य्यदर्शने कार्य्यदर्शनार्थमित्यर्थः निमित्तार्थं  
सप्तमी । कार्य्या इति शेषः । तथाविधा तादृशी प्रशस्ता इति  
शेषः, अमात्यानां लेख्यानां लेखकानां सभ्यानाम् अधिकृतानां  
कर्मचारिणां शालिकाः गृहाणि पृथक् पृथक् तथा राजगृहात्  
शतहस्तमितां भूमिं त्यक्त्वा सदा तदर्थ्याः कार्य्यदर्शनार्थाः एताः  
शालिकाः पृथक् पृथक् कर्त्तव्याः ॥ २४८ ॥ २४९ ॥ २५० ॥ २५१ ॥

उदग्द्विशतहस्तां प्राक् सेनासंवेशनार्थिकाम् ।  
 आराद्राजगृहस्यैव प्रजानां निलयानि च ॥२५२॥  
 सधनश्रेष्ठजात्यानुक्रमतश्च सदा बुधः ।  
 समन्ताच्च चतुर्दिक्षु विन्यसेच्च ततः परम् ॥२५३॥  
 प्रकृत्यनुप्रकृतयो ह्यधिकारिगणस्ततः ।  
 सेनाधिपाः पदातीनां गणः सादिगणस्ततः ॥२५४॥  
 साश्वश्च सगजश्चापि गजपालगणस्ततः ।  
 बृहन्नालिकयन्त्राणि ततः स्वतुरगीगणः ॥२५५॥  
 ततः स्वगौल्मिकगणो ह्यारण्यकगणस्ततः ।  
 क्रमादिषां गृहाणि स्युः शोभनानि पुरे सदा ॥२५६॥

उदगिति । सधनेति । बुधः विद्वान् नृपतिः प्राक् प्रथमं  
 राजगृहस्य आरात् समीपे एव आराद् दूरसमीपयोरित्यमरः,  
 सदा सेनासंवेशनार्थिकां सैन्यरक्षार्थाम् उदग् द्विशतहस्तां  
 द्विशतहस्तोत्तरवर्तिनीं शालिकां ततः परं चतुर्दिक्षु समन्तात्  
 सर्वतः अनुक्रमतः यथाक्रमेण सधना श्रेष्ठा च या जातिः तथा  
 तदनुसारेणेत्यर्थः प्रजानां निलयानि च विन्यसेत् कल्पयेत् ।  
 २५२ ॥ २५३ ॥

प्रकृत्यादि । प्रकृतयः प्रधानपुरुषाः, अनुप्रकृतयः ततो  
 निष्कृष्टाः प्रजाः तदनन्तरम् अधिकारिगणः राजनियुक्तभृत्यवर्गः  
 ततः सेनाधिपाः सेनापतयः ततः पदातीनां सैन्यानां गणः,  
 ततः साश्वः अश्वसहितः सादिनाम् अश्वारोहिणां सैन्यानां  
 गणः, ततः सगजः गजसहितः गजपालगणः ततः बृहन्नालिक-  
 यन्त्राणि बृहन्ति महान्ति नालिकयन्त्राणि अस्त्रविशेषयन्त्राणि

पान्थशाला ततः कार्या सुगुप्ता सुजलाशया ।  
 सजातीयगृहाणां हि समुदायेन पङ्क्तिः ॥२५७॥  
 निवेशनं पुरे ग्रामे प्रागुदङ्मुखमेव वा ।  
 सजातिपण्यनिवहैरापणे पण्यवेशनम् ॥ २५८ ॥  
 धनिकादिक्रमेणैव राजमार्गस्य पार्श्वयोः ।  
 एवं हि पत्तनं कुर्यात् ग्रामञ्चैव नरापिधः ॥२५९॥  
 राजमार्गास्तु कर्त्तव्याश्चतुर्दिक्षु नृपगृहात् ।

चेतनसाहचर्यात् लक्षणया तच्छालिनः पुरुषाः ततः स्वतुरगी-  
 गणः स्वस्य राज्ञ इत्यर्थः तुरगीगणः अश्वासमूहः ततः स्वस्य  
 गौल्लिकगणः रक्षकवर्गः ततश्च आरण्यकगणः वन्यजातिसङ्घः  
 पुरे नगरे क्रमात् एषाम् उक्तानां प्रकृत्याद्वारण्यकगणपर्य-  
 न्तानां सदा शोभनानि गृहाणि स्युः भवेयुः ॥२५४॥२५५॥२५६॥

पान्थशालेति । निवेशनमिति । ततश्च सुगुप्ता सुजलाशया  
 शोभनजलाशयसमन्विता पान्थशाला पथिकावासः कार्या ।  
 किञ्च पुरे नगरे ग्रामे वा पङ्क्तिः श्रेणिक्रमेण सजातीय-  
 गृहाणां समानजातीयलोकानां गृहाणां प्रागुदङ्मुखं प्राङ्मुखम्  
 उदङ्मुखं वा इत्यर्थः समुदायेन साकल्येन निवेशनं तथा  
 आपणे निषद्यायां सजातिपण्यनिवहैः समानजातीनां पण्यानां  
 विक्रेयद्रव्याणां निवहैः समुदायैः तत्क्रमेण इत्यर्थः पण्यवेशनं  
 पण्यानां स्थापनं कर्त्तव्यमिति शेषः ॥ २५७ ॥ २५८ ॥

धनिकादीति । किञ्च राजमार्गस्य पार्श्वयोः क्रमेण धनि-  
 कादि समृद्धजनादिकं स्थापयेदिति शेषः । नराधिपः राजा एवं  
 हि ईदृशमेव पत्तनं नगरं ग्रामञ्च कुर्यात् ॥ २५९ ॥

उत्तमो राजमार्गस्तु त्रिंशद्वहस्तमितो भवेत् ॥२६०॥  
 मध्यमो विंशतिकरो दशपञ्चकरोऽधमः ।  
 पण्यमार्गास्तथा चैते पुरग्रामादिषु स्थिताः ॥२६१॥  
 करत्रयात्मिका पद्या वीथिः पञ्चकरात्मिका ।  
 मार्गो दशकरः प्रोक्तो ग्रामेषु नगरे च ॥ २६२ ॥  
 प्राक् पश्चादक्षिणोदक् तान् ग्राममध्यात् प्रकल्पयेत् ।  
 पुरं दृष्ट्वा राजमार्गान् सुबहून् कल्पयेन्नृपः ॥२६३॥  
 न वीथिं न च पद्यां हि राजधान्यां प्रकल्पयेत् ।

राजमार्गा इति । नृपगृहात् चतुर्दिक्षु राजमार्गा  
 कर्तव्याः । तत्र त्रिंशद्वहस्तमितः त्रिंशता हस्तैः परिमितः राज-  
 मार्गः उत्तमः भवेत् ॥ २६० ॥

मध्यम इति । विंशतिकरः विंशतिहस्तपरिमितः राज-  
 मार्गः मध्यमः । दशपञ्चकरः पञ्चदशहस्तपरिमितः अधमः ।  
 तथा पुरग्रामादिषु एते पण्यमार्गाः पण्यानां विक्रेयस्थानानां  
 मार्गाश्च उच्छ्रिताः विशालाः कर्तव्या इति शेषः ॥ २६१ ॥

करेति । पद्या केवलपादचारणयोग्या रथ्या करत्रयात्मिका  
 त्रिहस्तमिता वीथिः विपणिमार्ग इत्यर्थः पञ्चकरात्मिका प-  
 हस्तमिता कार्या इति शेषः । ग्रामेषु नगरेषु सामान्येष्वित्य-  
 मार्गः दशकरः दशहस्तमितः प्रोक्तः कथितः ॥ २६२ ॥

प्रागिति । नृपः ग्राममध्ये प्राक्पश्चात् दक्षिणोदक् प-  
 पश्चिमदक्षिणोत्तरं दृष्ट्वा तान् मार्गान् पथः प्रकल्पयेत् । त-  
 पुरं दृष्ट्वा सुबहून् राजमार्गान् कल्पयेत् ॥ २६३ ॥

नेति । राजधान्यां वीथिम् अल्पप्रसरां रथ्यां न प्रकल्प-

षड्योजनान्तरेऽरण्ये राजमार्गन्तु चोत्तमम् ॥ २६४

कल्पयेत् मध्यमं मध्ये तयोर्मध्ये तथाधमम् ।

दशहस्तात्मकं नित्यं ग्रामे ग्रामे नियोजयेत् ॥ २६५ ॥

कूर्मपृष्ठा मार्गभूमिः कार्य्याः ग्राम्यैः सुसेतुका ।

कुर्यान्मार्गान् पार्श्वखातान्निर्गमार्थं जलस्य च २६६

राजमार्गमुखानि स्युर्गृहाणि सकलान्यपि ।

गृहपृष्ठे सदा वीथिर्मलनिर्हरणस्थलम् ॥ २६७ ॥

हिशब्दः अवधारणे । तथा षड्योजनान्तरे चतुर्विंशतिक्रोश-  
व्यवहिते अरण्ये अरण्ययानार्थमित्यर्थः उत्तमं राजमार्गं प्रक-  
ल्पयेत् ॥ २६४ ॥

कल्पयेदिति । मध्ये चतुर्विंशतिक्रोशव्यवहितारण्यमध्ये  
इत्यर्थः मध्यमं राजमार्गं तयोः मार्गयोः मध्ये च अधमं मार्गं  
कल्पयेत् । तथा ग्रामे ग्रामे प्रतिग्रामं दशहस्तात्मकं दशहस्त-  
परिमितं मार्गं नित्यं सततं योजयेत् स्थापयेत् ॥ २६५ ॥

कूर्मेति । ग्राम्यैः ग्रामवासिभिः कूर्मपृष्ठा कमठपृष्ठाकारा  
उन्नतमध्या इत्यर्थः, तथा सुसेतुका शोभनसेतुयुक्ता मार्गभूमिः  
कार्या । किञ्च ग्रामवासी जनः जलस्य निर्गमार्थं पार्श्वखातान्  
पार्श्वयोः खातात् मार्गान् कुर्यात् ॥ २६६ ॥

राजेति । सकलानि अपि गृहाणि राजमार्गे मुखं येषां  
तानि तथाभूतानि स्युः भवेयुः । गृहाणां पृष्ठे पृष्ठदेशे पश्चादु-  
भूमौ सदा मलनिर्हरणस्य मलनिष्कासनस्य स्थलं स्थानभूतम्  
उपायस्वरूपमित्यर्थः वीथिः अल्पप्रसरा रथ्या च कार्य्या इति  
शेषः ॥ २६७ ॥

पङ्क्तिद्वयगतानां हि गेहानां कारयेत् तथा ।  
 मार्गान् सुधाशर्करैर्वा घटितान् प्रतिवत्सरम् ॥२६८॥  
 अभियुक्तनिरुद्धैर्वा कुर्यात् ग्राम्यजनैर्नृपः ।  
 ग्रामद्वयान्तरे चैव पान्थशालां प्रकल्पयेत् ॥२६९॥  
 नित्यं सम्मार्जिताञ्चैव ग्रामपैश्च सुगोपिताम् ।  
 तत्रागतन्तु सम्पृच्छेत् पान्थं शालाधिपः सदा ॥२७॥  
 प्रयातोऽसि कुतः कस्मात् क्व गच्छसि ऋतं वद ।  
 ससहायोऽसहायो वा किं सशस्त्रः सवाहनः ॥२७१॥

पङ्क्तिद्वयेति । तथा प्रतिवत्सरं पङ्क्तिद्वयगतानां मार्गस्य  
 उभयोः पार्श्वयोः श्रेणिबद्धानां गेहानां गृहाणां मार्गान् सुधा-  
 शर्करैः सुधासु चूर्णेषु यानि शर्कराणि कठिनद्रव्यविशेषाः तैः वा  
 घटितान् निबद्धान् कर्दमपरिहारार्थमिति भावः कारयेत् ॥२६८॥

अमीति । नित्यमिति । अभियुक्तैः सम्भ्रान्तैः जनैः निरुद्धैः  
 अनुरुद्धैः सम्भ्रान्तजनानुरोधवशवर्त्तिभिरित्यर्थः ग्राम्यजनैः ग्राम्य-  
 जनेषु सम्भ्रान्तानामनुरोधः साहाय्यदानायेति बोद्धव्यम् ।  
 ग्रामे ग्रामे वा ग्रामयोर्मध्ये नित्यं सम्मार्जितां परिष्कृतां  
 ग्रामपैः ग्रामीणैः सुगोपितां सुरक्षिताञ्च पान्थशालां पथिक-  
 जनाश्रयं प्रकल्पयेत् । सदा पान्थशालाधिपः पान्थशालाध्यक्षः  
 तत्र पान्थशालायाम् आगतं जनं सम्पृच्छेत् ॥ २६९ ॥ २७० ॥

पृच्छाप्रकारमाह प्रयात इत्यादि । हे पथिक ! कुतः  
 कस्मात् देशात् प्रयातः आगतः असि, क्व कुत्र गच्छसि, त्वं  
 ससहायः सानुचरः, असहायः एकाकी वा, शस्त्रधारी किं वा  
 सवाहनः वाहनेन अश्वादिना सहितः किं, द्रुतं शीघ्रं वद

का जातिः किं कुलं नाम स्थितिः कुवास्ति ते चिरम् ।  
 इति पृष्ठा लिखेत् सायं शस्त्रं तस्य प्रगृह्य च ॥२७२॥  
 सावधानमना भूत्वा स्वापं कुर्विति शासयेत् ।  
 तत्रस्थान् गणयित्वा तु शालाद्वारं पिधाय च ॥२७३॥  
 संरक्षयेद् यामिकैश्च प्रभाते तान् प्रबोधयेत् ।  
 शस्त्रं दद्याच्च गणयेद् द्वारमुद्घाद्य मोचयेत् ॥२७४॥  
 कुर्यात् सहायं सीमान्तं तेषां ग्राम्यजनः सदा ।  
 प्रकुर्याद्दिनकृत्यन्तु राजधान्यां वसन् नृपः ॥२७५॥

कथय । ते तव का जातिः, किं कुलं कस्मात् कुलादुत्पन्नोऽसी-  
 त्यर्थः, नाम किं कुत्र चिरं स्थितिः अवस्थानम् अस्ति ? इति  
 पृष्ठा लिखेत् पूर्वोक्तं सर्वमिति शेषः, सायं सन्ध्यायान्तु तस्य  
 पथिकस्य शस्त्रं प्रगृह्य सावधानमनाः भूत्वा सतर्कः सन्नित्यर्थः  
 स्वापं कुरु निद्राहीति तं शासयेत् उपदिशेत् । ततः तत्रस्थान्  
 पथिकान् गणयित्वा संख्याय शालाद्वारं गृहद्वारं पिधाय आ-  
 च्छाद्य निरुध्य इत्यर्थः यामिकैः प्रहरिभिः संरक्षयेत् रक्षां  
 कारयेत् । अथ प्रभाते द्वारमुद्घाद्य तान् प्रबोधयेत् जागरयेत्  
 शस्त्रं तेषामिति शेषः दद्यात् प्रत्यर्पयेत्, गणयेत् संख्यां कुर्यात्  
 तथा मोचयेत् विसर्जयेत् ॥ २७१ ॥ २७२ ॥ २७३ ॥ २७४ ॥

कुर्यादिति । ग्राम्यजनः सदा सर्वस्मिन् काले सीमान्तं  
 स्वग्रामसीमापर्यन्तं तेषां पथिकानां सहायं सहगमनं कुर्यात् ।  
 नृपस्तु राजधान्यां वसन् दिनकृत्यं प्रतिदिनकर्तव्यं प्रकुर्यात्  
 प्रकर्षेण यथाविधानेन कुर्यादित्यर्थः ॥ २७५ ॥

उत्थाय पश्चिमे यामे मुहूर्त्तद्वितयेन वै ।

नियतायश्च कल्यस्ति व्ययश्च नियतः कति ॥२७६॥

कोशभूतस्य द्रव्यस्य व्ययः कति गतस्तथा ।

व्यवहारे मुद्रिताय व्ययशेषं कतीति च ॥ २७७ ॥

प्रत्यक्षतो लेखतश्च ज्ञात्वा चाद्य व्ययः कति ।

भविष्यति च तत्तुल्यं द्रव्यं कोशात् तु निर्हरेत् २७८

पश्चात्तु वेगनिर्मोक्षं स्नानं मौहूर्त्तिकं मतम् ।

सन्ध्यापुराणदानैश्च मुहूर्त्तद्वितयं नयेत् ।

गवाश्वयानव्यायामैर्नयेत् प्रातर्मुहूर्त्तकम् ॥२७९॥

उत्थायेत्यादि । पश्चिमे यामे प्रहरे रात्रेरिति शेषः उत्थाय राजा मुहूर्त्तद्वितयेन द्वौ मुहूर्त्तौ यावदित्यर्थः नियतायः निर्धारितः आयः अर्थागमः कति कियान् व्ययश्च नियतः निर्धारितः कति, कोशभूतस्य भाण्डारस्थितस्य द्रव्यस्य धनस्य कति व्ययः गतः भूतः, व्यवहारे विचारदर्शने मुद्रितानां निर्णीतानाम् आयस्य व्ययस्य च शेषः कति इति प्रत्यक्षतः लेखतः लिखिताच्च ज्ञात्वा अद्य व्ययः कति भविष्यतीति च विचार्य इति अध्याहार्यं कोशात् धनागारात् तत्तुल्यं वर्त्तमानदिवसीयव्ययोपयोगि इत्यर्थः द्रव्यं निर्हरेत् वहिष्कुर्त्यादित्यर्थः ॥२७६-२७८॥

पश्चादिति । पश्चात् आयव्ययादिनिर्णयानन्तरमित्यर्थः मौहूर्त्तिकं मुहूर्त्तैकनिष्पाद्यं वेगनिर्मोक्षस्नानं मुहूर्त्तं न मलमूत्रोत्सर्गः स्नानञ्च कर्त्तव्यमित्यर्थः । ततश्च सन्ध्यापुराणदानैः सन्ध्यावन्दनपुराणानुशीलनदानकर्मभिश्च मुहूर्त्तद्वितयं द्वौ मुहूर्त्तौ नयेत् यापयेत् । ततश्च गवाश्वयानव्यायामैः गोभि-

पारितोषिकदानेन मुहूर्त्तन्तु नयेत् सुधीः ।

धान्यवस्त्रस्वर्णरत्नसेनादेशविलेखनैः ॥ २८० ॥

आयव्ययैर्मुहूर्त्तानां चतुष्कन्तु नयेत् सदा ।

स्वस्थचित्तो भोजनेन मुहूर्त्तं समुहृन्नृपः ॥ २८१ ॥

प्रत्यक्षीकरणाज्जीर्णनवीनानां मुहूर्त्तकम् ।

ततस्तु प्राड्विवाकादिवोधितव्यवहारतः ॥ २८२ ॥

मुहूर्त्तद्वितयञ्चैव मृगयाक्रीडनैर्नयेत् ।

व्यूहाभ्यासैर्मुहूर्त्तन्तु मुहूर्त्तं सन्ध्यया ततः ॥ २८३ ॥

रथैश्च यानानि गमनानि एव व्यायामाः अङ्गचालनव्यापाराः

तैः प्रातर्मुहूर्त्तकं प्रातःकालं नयेत् ॥ २७९ ॥

पारितोषिकेति । आयव्ययैरिति । ततः सुधीः सुविज्ञो  
नृपः पारितोषिकदानैः अनुजीविभ्यः पुरस्कारवितरणैः मुहूर्त्तं  
नयेत् । ततश्च धान्यानां वस्त्राणां स्वर्णानां रत्नानां सेनानां  
देशानाञ्च विलेखनेन परिमाणादिपर्यालोचनया विशेषेण  
लेखनैः अमात्येनेति भावः तथा आयव्ययैः आगमापायनिरू-  
पणैः मुहूर्त्तानां चतुष्कं तथा स्वस्थचित्तः समुहृद् बन्धुजन-  
परिवृतः सन् भोजनेन मुहूर्त्तं पञ्चममिति शेषः नयेत् यापयेत्  
॥ २८० ॥ २८१ ॥

प्रत्यक्षीत्यादि । ततः जीर्णानां पुरतनानां नवीनानां नूत-  
नानाञ्च प्रत्यक्षीकरणात् परीक्षणादित्यर्थः मुहूर्त्तकं ततश्च  
प्राड्विवाकादिभिर्विचारकर्मणि नियुक्तैः पुरुषैः बोधितेन ज्ञा-  
पितेन व्यवहारेण मुहूर्त्तद्वितयं तदनन्तरं मृगयाव्यापारेण  
क्रीडनैः वा व्यूहाभ्यासैः सैन्यरचनासन्दर्शनैः मुहूर्त्तम् अनन्तरं

मुहूर्त्तं भोजनेनैव द्विमुहूर्त्तञ्च वार्त्तया ।  
 गुढचारैः आवितया निद्रयाष्टमुहूर्त्तकम् ॥२८४॥  
 एवं विहरतो राज्ञः सुखं सम्यक् प्रजायते ।  
 अहोरात्रं विभज्यैवं त्रिंशद्भिस्तु मुहूर्त्तकैः ॥२८५॥  
 नयेत् कालं वृथा नैव नयेत् स्त्रीमद्यसेवनैः ।  
 यत्काले ह्युचितं कर्त्तुं तत्कार्यं द्रागशङ्कितम् २८६  
 काले वृष्टिः सुपोषाय ह्यन्यथा सुविनाशिनी ।  
 कार्यस्थानानि सर्वाणि यामिकैरभितोऽनिशम् २८७

सम्यया सायंकालीनया इत्यर्थः मुहूर्त्तं तदनन्तरञ्च भोजनेन  
 रात्रिकालीनेन मुहूर्त्तं पश्चात् गुढचारैः गुप्तचारैः आवितया  
 वार्त्तया समाचारेण द्विमुहूर्त्तं तत्परं निद्रया अष्टमुहूर्त्तकं  
 नयेत् ॥ २८२ ॥ २८३ ॥ २८४ ॥

एवमित्यादि । एवम् उक्तरूपेण विहरतः समयम् अति-  
 वाहयतः राज्ञः सम्यक् सुखं प्रजायते । एवं पूर्वोक्तया दिशा  
 त्रिंशद्भिः मुहूर्त्तकैः दण्डद्वयमितैः कालैः अहोरात्रं दिवारात्रं  
 षष्टिदण्डात्मकं विभज्य अस्मिन् समये इदं कर्त्तव्यमस्मिन् इद-  
 मित्येवं विभागं कृत्वा नयेत्, स्त्रीमद्यसेवनैः स्त्रीभिर्विहारैः  
 सुरापानैश्च वृथा नैव नयेत् । यत्काले यत्कार्यं कर्त्तुमुचितं तत्  
 कार्यं द्राक् भटिति अशङ्कितं निःशङ्कं यथा तथा तत्काले एव  
 कर्त्तव्यम् । एवं सति काले योग्ये काले सुपोषाय प्रजानां  
 सुखपालनाय वृष्टिर्भवति अन्यथा सुविनाशिनी प्रजाक्षयकरी  
 वृष्टिरतिवृष्टिरित्यर्थः हिशब्दः अवधारणे अवश्यमेव भवती-  
 त्यर्थः । किञ्च नयवान् नीतिविचक्षणः तथा अनीतेर्नीतिम् अधो-

नयवान् अनौतिनतिवित् सिद्धशस्त्रादिकैर्वरैः ।

चतुर्भिः पञ्चभिर्वापि षड्भिर्वा गोपयेत् सदा ॥ ८८ ॥

तत्रत्यानि दैनिकानि शृणुयात्ते खकाधिपैः ।

दिने दिने यामिकानां प्रकुर्व्यात् परिवर्त्तनम् ॥ ८९ ॥

गृहपङ्क्तिमुखे द्वारं कर्त्तव्यं यामिकैः सदा ।

तैस्तद्वृत्तन्तु शृणुयात् गृहस्थभूतिपोषितैः ॥ ९० ॥

निर्गच्छन्ति च ये ग्रामाद् ये ग्रामं प्रविशन्ति च ।

तान् सुसंशोध्य यत्नेन मोचयेद्वत्तलग्नकान् ॥ ९१ ॥

गतिं वेत्तीति तथोक्तः अनयन्नश्च इत्यर्थः राजा अभितः सर्वतः

सिद्धशस्त्रादिकैः शस्त्रास्त्रकुशलैरित्यर्थः वरैः श्रेष्ठैः चतुर्भिः

पञ्चभिः वा षड्भिः यामिकैः प्रहरिभिः सदा सर्वाणि कार्य-

स्थानानि गोपयेत् संरक्षेत् ॥ १८५—१८८ ॥

तत्रत्यानीति । तत्रत्यानि दैनिकानि प्रतिदिनसञ्जातानि

कार्याणि लेखकाधिपैः प्रधानलेखकैः शृणुयात् । तथा दिने

दिने यामिकानां प्रहरिणां परिवर्त्तनं विनिमयं कुर्व्यात् ॥ १८९ ॥

गृहेति । यामिकैः प्रहरिभिः सदा गृहपङ्क्तिमुखे गृह-

स्थानां गृहश्रेष्ठभिमुखे सदा द्वारं दौवारिकवदवस्थानमित्यर्थः

कर्त्तव्यम् । गृहस्थानां भूतिभिः वेतनैः गृहस्थदत्तैरित्यर्थः

पोषितैः पालितैः तैः प्रहरिभिः तद्वृत्तं तेषां गृहस्थानां वृत्तम्

आचरितं शृणुयात् ॥ १९० ॥

निर्गच्छतीति । ये जनाः ग्रामात् निर्गच्छन्ति, ये च ग्रामं

प्रविशन्ति, तान् यत्नेन सुसंशोध्य परीक्ष्य दत्तलग्नकान् दत्तः

लग्नकः प्रतिभूर्यैः तथाभूतान् अथवा दत्तं लग्नकं शोधनपत्रं

प्रख्यातवृत्तशीलांस्तु ह्यविमृश्य विमोचयेत् ।  
 वीथिवीथिषु यामार्गैर्निशिपर्यटनं सदा ॥२६२॥  
 कर्त्तव्यं यामिकैरेव चौरजारनिवृत्तये ।  
 शासनं त्वीदृशं कार्य्यं राज्ञा नित्यं प्रजामु च २६  
 दासे भृत्येऽथ भार्यायां पुत्रे शिष्येऽपि वा क्वचित्  
 वाग्दण्डपरुषं नैव कार्य्यं मद्देशसंस्थितैः ॥२६४॥  
 तुलाशासनमानानां नाणकस्यापि वा क्वचित् ।  
 निर्यासानाञ्च धातूनां सजातीनां घृतस्य च ॥२६॥

येभ्यः तान् कृत्वा मोचयेत् निर्गमप्रवेशौ कारयेदित्यर्थः ॥२६॥

प्रख्यातेति । कर्त्तव्यमिति । प्रख्यातवृत्तशीलान् सुख्यात  
 चरित्रानित्यर्थः तु पुनः अविमृश्य अविचार्य्य अपरीक्ष्येति यावत्  
 विमोचयेत् हिशब्दः अवधारणे । किञ्च यामिकैः प्रहरिभिः  
 चौराणां तस्कराणां जाराणाम् उपपत्तीनां निवृत्तये निराका  
 णाय निशि रजन्यां वीथिवीथिषु प्रतिपत्नीश्रेणिमध्येषु सदा  
 यामार्गैः प्रहरमध्ये वारहयेनेत्यर्थः पर्यटनं भ्रमणं कर्त्तव्यम्  
 राज्ञा प्रजामु ईदृशम् उक्तप्रकारं शासनं नित्यं कर्त्तव्यं तु शब्द  
 अवधारणे, अवश्यमेव कर्त्तव्यमित्यर्थः ॥ २६२ ॥ २६३ ॥

इत आरभ्य शासनडिण्डिमैरित्यन्तं राजशासनं निर्दिशति  
 दासे इत्यादि । राजा शासनडिण्डिमैः शासनार्थवाद्यभेदै  
 प्रजाः नित्यम् इति वक्ष्यमाणप्रकारेण बोधयेत् ज्ञापयेत् । यद्य  
 मद्देशसंस्थितैः मदधिकारवर्त्तिभिः जनैः क्वचित् दासे किङ्करे  
 भृत्ये पोष्यजने, अथवा भार्यायां पुत्रां अपि वा अथवा  
 शिष्ये छात्रे वाग्दण्डपरुषं वाक्पारुष्यं दण्डपारुष्यं वा नैव

मधुदुग्धवसादीनां पिष्टादीनाञ्च सर्वदा ।  
 कूटं नैव तु कार्य्यं स्याद् बलाच्च लिखितं जनैः ॥२६६॥  
 उत्कोचग्रहणं नैव स्वामिकार्य्यविलोभनम् ।  
 दुर्वृत्तकारिणञ्चोरं जारं मद्वेष्टिणं द्विषम् ॥२६७॥  
 न रक्षन्त्वप्रकाशं हि तथान्यानपकारकान् ।  
 मातृणां पितृणाञ्चैव पूज्यानां विदुषामपि ॥२६८॥  
 नावमानं नोपहासं कुर्य्युः सद्वृत्तशालिनाम् ।  
 न भेदं जनयेयुर्वै नृनार्य्योः स्वामिभृत्ययोः ॥२६९॥

कर्त्तव्यम् । तुलायाः शासनानि निर्णायकानि यानि मानानि  
 परिमाणानि तेषां क्वचित् कुत्रचित् वा नाणकस्य मुद्रायाः  
 निर्यासानां तरुलतानिर्गतसरसानां सजातीनां समानावयवानां  
 धातूनां स्वर्णरजतादीनां घृतस्य मधुदुग्धवसादीनां पिष्टादीनां  
 चूर्णविशेषाणाञ्च सर्वदा कदापीत्यर्थः कूटं कपटं, बलात् बला-  
 त्कारेण जनैः लिखितं लेखनं भावे क्तप्रत्ययः । उत्कोचग्रहणं तथा  
 स्वामिकार्य्येषु विलोभनं विशेषेण लोभप्रदर्शनं नैव कर्त्तव्यम् ।  
 दुर्वृत्तकारिणं दुराचारिणं चोरं जारं मद्वेष्टिणं मम प्रतिकूलं  
 मन्निदेशमकुर्वाणमित्यर्थः द्विषं शत्रुं ममेति शेषः, तथा अप्र-  
 काशं गूढं यथा तथा अपकारकान् अनिष्टकारिणः अन्यान्  
 जनान् न रक्षन्तु न गोपयन्तु केऽपीति कर्तृपदमध्याहार्य्यं  
 मातृणां पितृणाम् अन्येषां पूज्यानां गुरुजनानां विदुषां पण्डित-  
 जनानां तथा तद्वृत्तशालिनां सदाचाररतानां जनानाम् अव-  
 मानं न उपहासञ्च न कुर्य्युः मदधिकृता इति कर्तृपदमूह्यम्  
 एवमुत्तरत्र ज्ञेयम् । नृनार्य्योः स्त्रीपुंसयोः दम्पत्योरित्यर्थः तथा

भ्रातृणां गुरुशिष्याणां न कुर्युः पितृपुत्रयोः ।  
 वापीकूपारामसीमाधर्मशालासुरालयान् ॥ ३०० ॥  
 मार्गान्नैव प्रबाधेयुर्हीनाङ्गविकलाङ्गकान् ।  
 द्यूतञ्च मद्यपानञ्च मृगयां शस्त्रधारणम् ॥ ३०१ ॥  
 गोगजाश्वोष्ट्रमहिषीन्टणां वै स्थावरस्य च ।  
 रजतस्वर्णरत्नानां मादकस्य विषस्य च ॥ ३०२ ॥  
 क्रयो वा विक्रयो वापि मद्यसन्धानमेव च ।  
 क्रयपत्रं दानपत्रमृणनिर्णयपत्रकम् ॥ ३०३ ॥

स्वामिभृत्ययोः भेदं परस्परमनोभङ्गं न जनयेयुः, किञ्च भ्रातृणां  
 गुरुशिष्याणां तथा पितृपुत्रयोः भेदञ्च न कुर्युः । वापी दीर्घिका  
 कूपः प्रसिद्धः आरामः उपवनं सीमा उभयोर्विवादशान्तर्यं  
 निर्णीतं स्थानं धर्मशाला धर्मानुशीलनार्थं स्थापितगृहं सुरा-  
 लयः देवालयः एतान् मार्गान् पथः हीनाङ्गान् विकलाङ्गान्  
 वा जनान् नैव प्रबाधेयुः नैव पीडयेयुः । राजान्नया विना नृपा-  
 नुमतिमन्तरेण द्यूतं सपणदेवनं मद्यपानं मृगया शस्त्रधारणं  
 गवां गजानाम् अश्वानाम् उष्ट्राणां महिषीणां नृणां नराणां  
 स्थावरस्य भूम्यादेः रजतस्य रौप्यस्य स्वर्णस्य रत्नस्य मणिभेदस्य  
 मादकस्य मत्तताजनकद्रव्यस्य तथा विषस्य क्रयः विक्रयः वा  
 मद्यसन्धानं सुराप्रस्तुतकरणं क्रयपत्रं दानपत्रम् ऋणनिर्णय-  
 पत्रकं वा चिकित्सितं चिकित्साव्यवसायः नैव कार्यम् । महा-  
 पापाभिश्मनं महापापकौर्त्तनेन अभिसम्पातं निधेरस्वामि-  
 कस्य धनस्य ग्रहणं तस्य राजलभ्यत्वादिति भावः नवं नूतनं  
 समाजनियमं सभाव्यवस्थां निर्णयम् अनिर्णीतस्य कस्यचित्

राजाज्ञया विना नैव जनैः कार्यं चिकित्सितम् ।

महापापाभिः शपनं निधिग्रहणमेव च ॥ ३०४ ॥

नवसमाजनियमं निर्णयं याति दूषणम् ।

अस्वामिनाष्टिकधनसंग्रहं मन्त्रभेदनम् ॥ ३०५ ॥

नृपदुर्गुणालापन्तु नैव कुर्युः कदाचन ।

स्वधर्महानिमन्त्रतं परदाराभिमर्शनम् ॥ ३०६ ॥

कूटसाक्ष्यं कूटलेख्यमप्रकाशप्रतिग्रहम् ।

निर्धारितकराधिक्यं स्तेयं साहसमेव च ॥ ३०७ ॥

मनसापि न कुर्वन्तु स्वामिद्रोहं तथैव च ।

विषयस्येति शेषः तस्य राजनिर्णयत्वादिति भावः, जातिदूषणं

जातेः दोषकीर्तनम् अस्वामिकस्य नाष्टिकस्य केनचित् हारि-

तस्य वा धनस्य संग्रहं मन्त्रभेदनं गूढमन्त्रणाप्रकाशं तथा नृपस्य

राज्ञः दुर्गुणालापं दुर्गुणालाप रूपं दुष्कृतं कदाचन नैव कुर्युः

प्रजा इति कर्तृपदमध्याहर्तव्यम् । स्वधर्महानिं निजधर्मक्षयम्

अनृतम् अलीकवादं परदाराभिमर्शनं परस्त्रीगमनं कूटसाक्ष्यं

कपटसाक्ष्यं कूटलेख्यं कपटलिखितम् अप्रकाशप्रतिग्रहम्

अज्ञातेन परस्वग्रहणं निर्धारितस्य करस्य राजस्वस्य आधिक्यं

करादायिभिः प्रजाभ्यः अतिरेकग्रहणं स्तेयं चौर्यं साहसं दस्यु-

वृत्तिं तथा स्वामिद्रोहं प्रभोरनिष्टाचरणं मनसापि न कुर्वन्तु

अत्रापि प्रजा इति कर्तृपदमूहनीयम् । किञ्च भृत्या वेतनेन

भरणेन वा शुल्केन पण्यद्रव्याणां राजग्राह्यांशेन भागेन वण्टनेन

वृद्ध्या कुसीदव्यवहारेण दर्पात् बलात् कृतात् व्याजाद् वा

सर्वदा कदापीत्यर्थः यस्य कस्यापि जनस्य आधर्षणं पीडनं न

मृत्या शुल्केन भागेन वृद्ध्या दर्पाद्बलाच्छलात् ३  
 आधर्षणं न कुर्वन्तु यस्य कस्यापि सर्वदा ।  
 परिमाणोन्मानमानं धार्यं राजविमुद्रितम् ॥ ३०  
 गुणसाधनसंदक्षा भवन्तु निखिला जनाः ।  
 साहसाधिकृते दद्युर्विनिगृह्याततायिनम् ॥ ३१  
 उत्सृष्टा वृषभाद्या यैस्तैस्ते धार्याः सुयन्त्रिताः ।  
 इति मच्छासनं श्रुत्वा येऽन्यथा वर्त्तयन्ति तान् ॥ ३२  
 विनिशिष्यामि दण्डेन महता पापकारकान् ।  
 इति प्रबोधयेन्नित्यं प्रजाः शासनडिण्डिमैः ॥ ३३  
 कुर्वन्तु अधिकृता इति शेषः । परिमाणं भूम्यादीनां मानां  
 रज्जादिकम् उन्मानं घटकादिकं मानम् आढकादिकञ्च राज  
 विमुद्रितं राजचिह्नितं कृत्वा धार्यं व्यवहर्त्तव्यम् । निखिल  
 समग्राः प्रजाः गुणसाधने गुणार्जने संदक्षाः सम्यक् निपुण  
 भवन्तु । तथा साहसाधिकृते बलात्कारादिदुष्कर्मापवादे र्  
 आततायिनं तादृशमपराधिनं विनिगृह्य विशेषेण निगृह्य द  
 राजसमीपे इति शेषः । आततायिनश्च षड्विधाः । यद्वा  
 अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः । क्षेत्रदारापहारी  
 षड्भेदे आततायिनः ॥ इति । यैः जनैः वृषभाद्याः उत्सृष्टाः,  
 ते वृषभाद्याः सुयन्त्रिताः सुनियमिताः धार्याः प्रतिपा  
 इत्यर्थः । इति उक्तप्रकारं मच्छासनं मदीयनिदेशं श्रुत्वा  
 जनाः अन्यथा वर्त्तयन्ति आचरन्ति, पापकारकान् राजा  
 लङ्घनरूपपापकारिणः तान् महता प्रबलेन दण्डेन वि  
 शिष्यामि विशेषेण दण्डयिष्यामीत्यर्थः ॥ २८४—३१२ ॥

लिखित्वा शासनं राजा धारयेत् चतुष्पथे ।

सदा चोद्यतदण्डः स्यादसाधुषु च शत्रुषु ॥३१३॥

प्रजानां पालनं कार्य्यं नीतिपूर्वं नृपेण हि ।

मार्गसंरक्षणं कुर्यान् नृपः पान्यसुखाय च ॥३१४॥

पान्यप्रपीडका ये ये हन्तव्यास्ते प्रयत्नतः ।

त्रिभिरंशैर्बलं धार्य्यं दानमर्द्धांशकेन च ॥ ३१५ ॥

अर्द्धांशेन प्रकृतयो ह्यर्द्धांशेनाधिकारिणः ।

अर्द्धांशेनात्मभोगश्च कोशोऽंशेन च रक्ष्यते ॥३१६॥

लिखित्वेति । राजा शासनम् आदेशं लिखित्वा चतुष्पथे धारयेत् स्थापयेत् सर्वेषां गोचरार्थमिति भावः । तथा असाधुषु दुर्जनेषु शत्रुषु च सदा उद्यतदण्डः दण्डधारी स्याच्च ॥ ३१३ ॥

प्रजानामिति । नृपेण राज्ञा नीतिपूर्वं यथानीति प्रजानां पालनं कार्य्यं तथा नृपः पान्यानां पथिकानां सुखाय मार्गसंरक्षणं कुर्यात् हिशब्दः अवधारणे ॥ ३१४ ॥

पान्येत्यादि । ये ये जनाः पान्यानां पथिकानां प्रपीडकाः पीडनकारिणः ते प्रयत्नतः यत्नातिशयेन हन्तव्याः बध्याः राज्ञा इति शेषः । किञ्च वार्षिकस्य आयस्य त्रिभिः अंशैः तृतीय-भागेनेत्यर्थः बलं सैन्यं धार्य्यं रक्षितव्यम् अर्द्धस्य आयार्द्धस्य अंशकेन चतुर्थभागेन समुदायस्य अष्टमभागेनेत्यर्थः दानं कर्त्तव्यमिति शेषः । पुनश्च अर्द्धांशेन पूर्ववत् समुदायस्य अष्टम-भागेन प्रकृतयः प्रधानराजपुरुषाः अपरार्द्धांशेन अधिकारिणः रक्ष्या इति शेषः तथा अपरार्द्धांशेन उक्तया रीत्या समुदाया-ष्टमभागेन आत्मनः स्वस्य भोगश्च सम्पादनीय इति शेषः ।

आयस्यैवं षड्विभागैर्व्ययं कुर्यात् तु वत्सरे ।  
 सामन्तादिषु धर्मोऽयं न न्यूनस्य कदाचन ॥३१७॥  
 राज्यस्य यशसः कीर्त्तधनस्य च गुणस्य च ।  
 प्राप्तस्य रक्षणेऽन्यस्य हरणे चोद्यमोऽपि च ॥३१८॥  
 संरक्षणे संहरणे सुप्रयत्नो भवेत् सदा ।  
 शौर्यपाण्डित्यवक्तृत्वं दातृत्वं न त्यजेत् क्वचित् ॥३१९॥  
 बलं पराक्रमं नित्यमुत्थानञ्चापि भूमिपः ।  
 समितौ स्वात्मकार्ये वा स्वामिकार्ये तथैव च ३२०॥  
 त्यक्त्वा प्राणभयं युध्येत् स शूरस्त्वविशङ्कितः ।  
 पक्षं सन्त्यज्य यत्नेन बालस्यापि सुभाषितम् ॥३२१॥  
 अंशेन अवशिष्टेन भागेन च कीशः धनरक्षणस्थानं रक्षते पूर्यते  
 सञ्चयस्यावश्यकत्वादिति भावः ॥ ३१५ ॥ ३१६ ॥

आयस्येति । एमम् उक्तप्रकारेण आयस्य षड्विभागैः षड्वि-  
 विभागैः अंशैः आयं षोढा विभज्येत्यर्थः वत्सरे प्रतिवर्षं व्य-  
 कुर्यात् । सामन्तादिषु पूर्वोक्तेषु अयं धर्मः नियमः अर्थव्यव-  
 स्थेति भावः व्यवस्थित इति अध्याहार्यं न्यूनस्य सामन्तादय-  
 क्षया निवृत्तस्य कदाचन अयं धर्मो नेत्यर्थः ॥ ३१७ ॥

राज्यस्येत्यादि । राजा प्राप्तस्य लब्धस्य राज्यस्य यशस-  
 सुख्यातेः कीर्त्तः यशस्यकार्यस्य धनस्य गुणस्य सञ्चरितस्य  
 रक्षणे तथा अन्यस्य अप्राप्तस्य राज्यादेरिति शेषः हरणे उद्यमः  
 उद्यच्छति चेष्टते इति उद्यमः चेष्टावान् उत्पूर्वकात् यच्छते-  
 रन्प्रत्ययः । किञ्च संरक्षणे सम्यक् रक्षणे संहरणे सम्यक् हरणे  
 च सदा सुप्रयत्नः सम्यक् यत्नवाञ्छ भवेत् । भूमिपः क्वचित्

गृह्णाति धर्मतत्त्वञ्च व्यवस्यति स पण्डितः ।

राज्ञोऽपि दुर्गुणान् वक्ति प्रत्यक्षमविशङ्कितः ॥३२२

स वक्ता गुणतुल्यांस्तान् प्रस्तौति कदाचन ।

अदेयं यस्य नैवास्ति भार्यापुत्रादिकं धनम् ॥३२३॥

आत्मानमपि संदत्ते पात्रे दाता स उच्यते ।

अशङ्कितक्षमो येन कार्यं कर्तुं बलं हि तत् ॥३२४

किङ्करा इव येनान्ये नृपाद्याः स पराक्रमः ।

युद्धानुकूलव्यापार उत्थानमिति कीर्तितम् ॥३२५॥

कदाचिदपि शौर्यं पाण्डित्यं वक्तृत्वं दातृत्वं वदान्यतां बलं पराक्रमं नित्यं सततम् उत्थानम् उद्योगञ्च न त्यजेत् । यः समितौ युद्धे स्वात्मकार्यं निजदेहसम्बन्धिनि कार्यं तथा स्वामिकार्यं विषये प्राणभयं त्यक्त्वा अविशङ्कितः निःशङ्कः सन् यत्नेन युध्येत् सः शूरः । यः पक्षं पक्षपातमित्यर्थः संत्यज्य बालस्यापि सुभाषितं यत्नेन गृह्णाति, धर्मतत्त्वं व्यवस्यति यथा-यथं निरूपयति सः पण्डितः । यः अविशङ्कितः सन् प्रत्यक्षं समक्षं राज्ञः अपि का कथान्येषामिति भावः दुर्गुणान् दोषान् वक्ति कथयति, कदाचन तान् दुर्गुणान् गुणैः तुल्यान् कृत्वेति शेषः न प्रस्तौति प्रकटयति न प्रशंसतीत्यर्थः सः वक्ता । यस्य भार्यापुत्रादिकं धनम् अदेयं नैव अस्ति यस्य आत्मानमपि पात्रे दानपात्रे संदत्ते ददाति हरिश्चन्द्रवदिति भावः स दाता उच्यते । येन गुणेन अशङ्कितं यथा तथा कार्यं कर्तुं क्षमः शक्नो भवति जन इति शेषः तत् हि तदेव बलम् ॥ ३१८—३२४ ॥

किङ्करा इति । येन गुणेन अन्ये नृपाद्याः राजप्रभृतयः

विषदोषभयादन्नं विमृशेत् कपिकुकुटैः ।

हंसाः खलन्ति कूजन्ति भृङ्गा नृत्यन्ति मायूराः ॥३२४॥

विरौति कुकुटो माद्येत् क्रौञ्चो वै रेचते कपिः ।

हृष्टरोमा भवेद् बभ्रुः सारिका वमते तथा ॥३२५॥

दृष्ट्वैवं सविषं चान्नं तस्माद् भोज्यं परीक्षयेत् ।

भुञ्जीत षड्रसं नित्यं न द्वितिरससङ्कुलम् ॥३२६॥

हीनातिरिक्तं न कटु मधुरचारसङ्कुलम् ।

आवेदयति यत्कार्यं शृणुयान्मन्त्रिभिः सह ॥३२७॥

किङ्करा इव दासा इव क्रियन्ते इति शेषः, सः पराक्रमः सर्व-  
ऽपि पराक्रान्ताधीना इति भावः । युद्धस्य अनुकूलः उपयोगी  
व्यापारः उद्यम उत्थानमिति कीर्तितं विधेयप्राधान्यात् की-  
र्तितमिति नपुंसकत्वम् ॥ ३२५ ॥

विषदोषेत्यादि । विषदोषभयात् षड्रसं षट् तित्तकटुक-  
पायान्मलवणमधुराः रसाः आस्वादाः यस्य तादृशम् अन्नं कपि-  
कुकुटैः बहुवचनात् कपिकुकुटप्रभृतिभिरित्यर्थः विमृश्य परीक्ष-  
नित्यं भुञ्जीतेति उत्तरेणान्वयः । यतः सविषम् अन्नं दृष्ट्वैव हंसाः  
खलन्ति पतन्ति, भृङ्गाः भ्रमराः कूजन्ति कूजनम् अस्मृष्टि-  
नादं कुर्वन्ति, मायूराः मयूरा एव मायूराः स्वार्थे णप्रत्ययः  
नृत्यन्ति, कुकुटः विरौति चीत्कारं करोति, क्रौञ्चः वकः माद्येत्  
मत्ततां गच्छति, कपिः वानरः रेचते पुरीषमुत्सृजति, बभ्रुः  
भारद्वाजाख्यपक्षिविशेषः हृष्टरोमा रोमाञ्चितदेहः भवेत् तथा  
सारिका वमते वमनं करोति वैशब्दोऽवधारणे । तस्मात् भोज्यं  
खाद्यं वस्तु परीक्षयेत् एतैरिति भावः । द्वितिरससङ्कुलं रसद्वय-

आरामादौ प्रकृतिभिः स्त्रीभिश्च नटगायकैः ।

विहरेत् सावधानस्तु मागधैरैन्द्रजालिकैः ॥३३०॥

गजाश्वरथयानं तु प्रातः सायं सदाभ्यसेत् ।

व्यूहाभ्यासं सैनिकानां स्वयं शिचेच्च शिचयेत् ॥३३१॥

व्याघ्रादिभिर्वनचरैर्मयूराद्यैश्च पक्षिभिः ।

क्रीडयेत् मृगयां कुर्याद् दुष्टसत्त्वान्निपातयन् ॥३३२॥

युक्तं त्रययुक्तं वा न भुञ्जीत, हीनातिरिक्तं यस्मिन् यादृशो रसः  
उपयुज्यते ततो हीनरसयुक्तम् अधिकरसयुक्तं वा न भुञ्जीत,  
तथा कटुमधुरच्चारसङ्कुलं कटुमधुरलवणाक्तं न भुञ्जीत । किञ्च  
यत् कार्यम् आवेदयति अर्थी प्रत्यर्थी वा इति शेषः तत्  
मन्त्रिभिः सह शृणुयात् ॥ ३२६—३२८ ॥

आरामादाविति । सावधानः सदावहितः सन् आरामादौ  
उपवनादिरम्यायतने प्रकृतिभिः प्रधानपुरुषैः, स्त्रीभिः कामि-  
नीभिः, नटैः नर्तकैः गायकैः मागधैः वैतालिकैः तथा ऐन्द्र-  
जालिकैः आश्चर्य्यप्रदर्शकैर्जनविशेषैः यथासमयमित्यध्याहार्य्यं  
विहरेत् ॥ ३३० ॥

गजेति । सदा प्रतिदिनं प्रातः प्रातःकाले सायं सायंकाले  
च गजाश्वरथयानं गजेन अश्वेन रथेन वा यानं गमनम् अभ्य-  
सेत् आचरेत् । तथा सैनिकानां व्यूहाभ्यासं रचनाप्रणालीं,  
व्यूहस्तु बलविन्यास इत्यमरः । स्वयं शिचेत् शिचयेच्च ॥३३१॥

व्याघ्रैति । वनचरैः व्याघ्रादिभिः मयूराद्यैः पक्षिभिश्च  
वनादानीय गृहपालितैरित्यर्थः क्रीडयेत् तथा दुष्टसत्त्वान्  
हिंस्रान् प्राणिनः सिंहशार्दूलादीन् निपातयन् नाशयन् मृग-  
याम् आखेटं कुर्यात् ॥ ३३२ ॥

शौर्यं प्रवर्द्धते नित्यं लक्ष्यसन्धानसाधनम् ।  
 अकातरत्वं शस्त्रास्त्रशीघ्रपातनकारिता ॥ ३३३ ॥  
 मृगयायां गुणा एते हिंसादोषो महत्तरः ।  
 इङ्गितं चेष्टितं यत्नात् प्रजानामधिकारिणाम् ॥ ३३४ ॥  
 प्रकृतीनाञ्च शत्रूणां सैनिकानां मतञ्च यत् ।  
 सभ्यानां बान्धवानाञ्च स्त्रीणामन्तःपुरे च यत् ॥ ३३५ ॥  
 शृणुयाद् गूढचारेभ्यो निशि चात्ययिके सदा ।  
 सावधानमनाः सिद्धशस्त्रास्त्रः संलिखेच्च तत् ॥ ३३६ ॥

शौर्यमित्यादि । मृगयायां सदा शौर्यं शूरत्वं निःशङ्क-  
 मित्यर्थः लक्ष्यसन्धानं शरव्यान्वेषणकौशलमित्यर्थः अकातरत्वं  
 अश्रान्तत्वं, तथा शस्त्राणाम् अस्त्राणाञ्च शीघ्रपातनकारिता  
 द्रुतपातित्वं प्रवर्द्धते प्रकर्षेण वृद्धिं प्राप्नोति । एते गुणाः शौर्या-  
 दय इव मृगयायां सन्तीति शेषः परम् एकः हिंसादोषः हिंसा-  
 रूपं पापं महत्तरः अतिमहान्, अतः अस्या निवृत्तिरेव महा-  
 फलेति भावः । किञ्च सावधानमनाः सतर्कः सन् सदा प्रति-  
 दिनं निशि रात्रौ तथा सिद्धानि शस्त्राणि अस्त्राणि च यस्तु  
 तथोक्तः शस्त्रास्त्रव्यापारे सुनिपुणः सन् आत्ययिके आसन्नवि-  
 पदि च गूढचारेभ्यः गुप्तचारेभ्यः प्रजानाम् अधिकारिणां भृत्य-  
 वर्गाणाम् प्रकृतीनां प्रधानपुरुषाणाञ्च यत् इङ्गितं मनोभावः  
 तथा चेष्टितम् आचरणं यत्, शत्रूणां विपक्षाणां सैनिकानाञ्च  
 मतम् अभिप्रायः यत्, सभ्यानां राजसभासदां बान्धवानाञ्च  
 मतं यत्, तथा अन्तःपुरे स्त्रीणां मतञ्च यत्, तत् सर्वं यत्नात्  
 शृणुयात् संलिखेच्च पत्रारूढञ्च कुर्यात् ॥ ३३३—३३६ ॥

असत्यवादिनं गूढचारं नैव च शास्ति यः ।

स नृपो स्नेच्छ इत्युक्तः प्रजाप्राणधनापहः ॥ ३३७ ॥

वर्णि-तपस्वि-सत्र्यासि-नीचसिद्धस्वरूपिणम् ।

प्रत्यक्षेण छलेनैव गूढचारं विशोधयेत् ॥ ३३८ ॥

विना तच्छोधनात् तत्त्वं न जानाति च नाप्यते ।

अशोधकनृपान्नैव विभ्यत्यनृतवादने ॥ ३३९ ॥

प्रकृतिभ्योऽधिकृतेभ्यो गूढचारं सुरक्षयेत् ।

असत्यमिति । यः नृपः असत्यवादिनं मिथ्यावादिनं गूढ-  
चारं नैव शास्ति नैव दण्डयति, सः प्रजानां प्राणान् धनानि च  
अपहन्तीति तथोक्तः, अत एव स्नेच्छः दुर्जातिविशेषः इति उक्तः  
कथितः । तादृशचारवचनप्रत्ययेन प्रजानां सर्वनाशकरणादिति  
भावः ॥ ३३७ ॥

वर्णीति । वर्णी ब्रह्मचारी, तपस्वी वानप्रस्थः तृतीयाश्रमी-  
त्यर्थः वा सत्र्यासी चतुर्थाश्रमी नीचसिद्धः कपटसिद्धपुरुषः तेषां  
स्वरूपिणं कपटसिद्धपुरुषादिवेशधारिणं गूढचारं प्रत्यक्षवद्  
दृश्यमानेन छलेन व्याजेन विशोधयेत् कौशलेन तस्मात् अ-  
लीकवादं वहिष्कृत्यादित्यर्थः । तेषामेव तत्कौशलज्ञानमस्तीति  
राज्ञा तेषां साहाय्येन गूढचारशुद्धिः कर्तव्येति भावः ॥ ३३८ ॥

विनेति । तच्छोधनात् तेषां गूढचाराणां शोधनात् विना  
राजा तत्त्वं यथातथ्यं न जानाति न ज्ञातुं शक्नोति, न च तत्त्वम्  
आप्यते प्राप्यते राज्ञेति शेषः । ते च चाराः अशोधकनृपात्  
उक्तप्रकारेण यः न शोधयति तस्मान्नृपादित्यर्थः अनृतवादने  
असत्यभाषणे नैव विभ्यति भयं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥ ३३९ ॥

सदैकनायकं राज्यं कुर्यान्न बहुनायकम् ॥३४०॥  
 नानायकं क्वचिदपि कर्तुमीहेत भूमिपः ।  
 राजकुले तु बहवः पुरुषा यदि सन्ति हि ॥३४१॥  
 तेषु ज्येष्ठो भवेद्राजा शेषास्तत्कार्यसाधकाः ।  
 गरीयांसो वराः सर्वसहायेभ्योऽभिवृद्धये ॥ ३४२ ॥  
 ज्येष्ठोऽपि बधिरः कुष्ठी मूकोऽन्धः षण्ड एव यः ।  
 स राज्यार्हो भवेन्नैव भ्राता तत्पुत्र एव हि ॥३४३॥

प्रकृतिभ्य इति । प्रकृतिभ्यः अधिकृतेभ्यः राजपुरुषेभ्यः  
 गूढचारं सुरक्षयेत् । गूढचारः प्रकृत्यादीनां राजानि अनुरागवि-  
 रागौ गूढं कथयति तेन ज्ञातेन तेषां गूढचारं प्रति विद्वेषो  
 जायते अतस्तस्यानिष्टसम्भवः तस्मात् तं सुरक्षयेत् यथा ते तं  
 प्रति नानिष्टमाचरन्तीति फलितार्थः । किञ्च राज्यं सदा एक-  
 नायकम् एकस्वामिकं कुर्यात् बहुस्वामिकं न, तथात्वे राज्यस्य  
 अस्थायित्वप्रसङ्गादिति भावः ॥ ३४० ॥

नेति । तेष्विति । भूमिपः राजा क्वचिदपि अनायकम्  
 अस्वामिकं राज्यमिति शेषः कर्तुं न ईहेत चेष्टेत । यदि राज-  
 कुले बहवः पुरुषाः सन्ति विद्यन्ते, हिशब्दः अवधारणे । तेषु  
 बहुषु ज्येष्ठः वयसा गुणेन चेति भावः राजा भवेत्, शेषाः अव-  
 शिष्टाः तस्य ज्येष्ठस्य कार्यसाधकाः सर्वसहायेभ्यः सर्वेभ्यः सह-  
 कारिभ्यः गरीयांसः वराः श्रेष्ठाश्च, अतः अभिवृद्धये अभ्युदयाय  
 भवन्ति ॥ ३४१ ॥ ३४२ ॥

ज्येष्ठ इति । ज्येष्ठोऽपि अपिकारात् मध्यमादयोः दण्डा-  
 पूषण्यायसिद्धा वेदितव्याः । यः बधिरः श्रवणेन्द्रियहीनः, कुष्ठी

स्वकनिष्ठोऽपि ज्येष्ठस्य भ्रातुः पुत्रस्तु राज्यभाक् ।  
यथाग्रजस्य चाभावे कनिष्ठा राज्यभागिनः ।  
दायादानामैकमत्यं राज्ञः श्रेयस्करं परम् ॥३४४॥  
पृथग्भावो विनाशाय राज्यस्य च कुलस्य च ।  
अतः स्वभोगसदृशान् दायादान् कारयेन्नृपः ।  
अव्याहताज्ञः सन्तुष्येत् छत्रसिंहासनैरपि ॥३४५॥  
राज्यविभजनाच्छ्रेयो न भूपानां भवेत् खलु ।

महाध्याधिग्रस्तः, मूकः वर्णानुच्चारकः, अन्धः चक्षुर्हयहीनः,  
तथा षण्डः क्लीवः, सः तथा भ्राता राज्ञ इति शेषः, तत्पुत्रः  
तस्य भ्रातुः पुत्रो वा वधिरादिष्वेत् नैव राज्याहः राज्याधिकारी  
नैव भवेदित्यन्वयः ॥ ३४३ ॥

स्वकनिष्ठ इति । स्वस्य राज्ञः कनिष्ठोऽपि तथा ज्येष्ठस्य  
भ्रातुः पुत्रस्तु पुत्रो वा तुशब्दो विकल्पवाची, उक्तदोषरहितस्वेत्  
राज्यभाक् । यथाहि अग्रजस्य ज्येष्ठस्य च अभावे कनिष्ठाः  
राज्यभागिनः, किञ्च दायादानां भ्रातृप्रभृतीनाम् ऐकमत्यम्  
एकमतावलम्बनं राज्ञः परम् अन्तन्तं श्रेयस्करं शुभावहम्  
अन्यथा राज्यहानिप्रसङ्गादिति भावः ॥ ३४४ ॥

पृथगिति । पृथग्भावः दायादानामनैक्यं राज्यस्य कुलस्य  
वंशस्य च विनाशाय भवति अतः अस्मात् कारणात् नृपः अव्या-  
हताज्ञः अप्रतिहतादेशः सन् छत्रसिंहासनैरपि राज्यशासनाधि-  
कारैरेव सन्तुष्येत् दायादान् भ्रात्रादीन् स्वभोगसदृशान् समान-  
भोगिनः कारयेत् तथात्वे सर्व एव सन्तुष्टास्तिष्ठेयुरिति भावः ॥३४५॥

राज्यविभागे दोषमाह राज्येति । राज्यस्य विभजनात्

अल्पीकृतं विभागेन राज्यं शत्रुर्जिघृक्षति ॥३४६॥  
 राज्यतुर्यांशदानेन स्थापयेत् तान् समन्ततः ।  
 चतुर्दिक्ष्वथवा देशाधिपान् कुर्यात् सदा नृपः ३४७  
 गोगजाश्वोष्ट्रकोशानामाधिपत्ये नियोजयेत् ।  
 माता मातृसमा या च सा नियोज्या महानसे ३४८  
 सेनाधिकारे संयोज्या बान्धवाः श्यालकाः सदा ।  
 स्वदोषदर्शकाः कार्य्या गुरवः सुहृदश्च ये ॥३४९॥

विभागकरणात् भूपानां राज्ञां श्रेयः शुभं न खलु नैव भवेत्  
 खलुशब्दोऽवधास्ये । यतः विभागेन अल्पीकृतं खण्डीकृतं नुद्र-  
 मित्यर्थः राज्यं शत्रुः जिघृक्षति ग्रहीतुमिच्छति, अल्पस्य अना-  
 यासेनैव जेतुं शक्यत्वादिति भावः ॥ ३४६ ॥

राज्येति । गो इति । नृपः तान् दायादान् राज्यस्य तुर्यां-  
 शदानेन चतुर्यांशप्रदानेन समन्ततः चतुर्दिक्षु स्थापयेत्, अथवा  
 चतुर्दिक्षु सदा देशाधिपान् खण्डजनपदाधिपतीन् कुर्यात्,  
 किंवा गवां गजादीनाम् अश्वानाम् उष्ट्राणां कोशानां घनानाञ्च  
 आधिपत्ये अधिकारकर्मणि नियोजयेत् नियुक्तान् कुर्यात् ।  
 किञ्च माता जननी तथा या मातृसमा जननीतुल्या सा महा-  
 नसे पाकक्रियाकर्तृत्वे इत्यर्थः नियोज्या स्थाप्या, आहारदानेन  
 शरीरपुष्टौ मातुर्यज्ञातिशयादिति भावः ॥ ३४७ ॥ ३४८ ॥

सेनेति । बान्धवाः बन्धुवर्गाः श्यालकाः पत्नीभ्रातरश्च सदा  
 सेनाधिकारे सैन्यकर्मणि संयोज्याः स्थाप्याः । ये च गुरवः गुरु-  
 जनाः सुहृदश्च ते स्वस्य आत्मनः राज्ञ इत्यर्थः दोषदर्शकाः

वस्त्रालङ्कारपात्राणां स्त्रियो योज्याः सुदर्शने ।  
 स्वयं सर्वन्तु विमृशेत् पर्यायेण च मुद्रयेत् ॥३५०॥  
 अन्तर्वेश्मनि रात्रौ वा दिवारण्ये विशोधिते ।  
 मन्त्रयेन्मन्त्रिभिः साङ्गं भाविकृत्यन्तु निर्जने ॥३५१॥  
 सुहृद्भिर्भातभिः साङ्गं सभायां पुत्रबान्धवैः ।  
 राजकृत्यं सेनपैश्च सभ्याद्यैश्चिन्तयेत् सदा ॥३५२॥  
 सभायां प्रत्यगर्द्धस्य मध्ये राजासनं स्मृतम् ।  
 दक्षसंस्था वामसंस्था विशेयुः पार्श्वकोष्ठगाः ॥३५३॥

कार्याः, दोषदर्शनकर्मणि कस्मिन् कर्मणि दोषः, किं कर्तव्यं  
 किमकर्तव्यमित्युपदेशकार्यं स्थाप्या इत्यर्थः ॥ ३४८ ॥

वस्त्रेति । स्त्रियः स्त्रीवर्गः वस्त्राणाम् अलङ्काराणां पात्राणां  
 भाजनद्रव्याणाञ्च सुदर्शने सुपरीक्षणे तत्त्वावधाने च योज्याः  
 स्थापनीयाः । स्वयं सर्वं विमृशेत् केन किं क्रियते न वेति परि-  
 दर्शनं कुर्यात् पर्यायेण क्रमेण मुद्रयेत् सर्वं परिदृष्टं राजनामा-  
 द्भितं कुर्यादित्यर्थः ॥ ३५० ॥

अन्तरिति । रात्रौ दिवा दिवसे वा विशोधिते परिष्कृते  
 निर्जने अन्तर्वेश्मनि गृहाभ्यन्तरे वा अरण्ये मन्त्रिभिः साङ्गं  
 भावि भविष्यत् कृत्यं मन्त्रयेत् ॥ ३५१ ॥

सुहृद्भिरिति । सभायां सुहृद्भिः मित्रैः भ्रातृभिः पुत्रबान्धवैः  
 पुत्रैः बान्धवैः ज्ञातिभिः सेनपैः सेनाध्यक्षैः सभ्याद्यैश्च सदा राज-  
 कृत्यं चिन्तयेत् एतत् प्रकाश्यविषयमिति बोध्यम् ॥ ३५२ ॥

सभायामिति । सभायां प्रत्यगर्द्धस्य पश्चिमार्द्धभागस्य मध्ये  
 राजासनं सिंहासनं स्मृतं कथितं स्थाप्यत्वेनेति भावः । तस्य

पुत्राः पौत्रा भ्रातरश्च भागिनेयाः स्वपृष्ठतः ।  
 दौहित्रा दक्षभागात् तु वामसंस्था क्रमादिमे ॥ ३५४  
 पितृव्याः स्वकुलश्रेष्ठाः सभ्याः सेनाधिपास्तथा ।  
 स्वाग्रे दक्षिणभागे तु प्राक्संस्थाः पृथगासनाः ॥ ३५५  
 मातामहकुलश्रेष्ठा मन्त्रिणो बान्धवास्तथा ।  
 श्वशुराश्चैव श्यालाश्च वामाग्रे चाधिकारिणः ॥ ३५६  
 वामदक्षिणपार्श्वस्थौ जामाता भगिनीपतिः ।

दक्षसंस्थाः दक्षिणभागस्थाः केचिदिति शेषः केचिच्च वामसंस्थाः  
 वामांशस्थिताः सन्तः उपविशेयुरित्यर्थः । अपरे तस्य पार्श्वयोः  
 कोष्ठयोः विभागयोः गच्छन्ति तिष्ठन्तीति तथोक्ताः भवेयुरिति  
 शेषः ॥ ३५३ ॥

पुत्रा इत्यादि । पुत्राः पौत्राः भ्रातरः तथा भागिनेयाः  
 स्वस्य राज्ञः पृष्ठतः पश्चाद्भागे इत्यर्थः तथा दौहित्राः दुहितृसुता  
 दक्षभागात् दक्षिणभागमाश्रित्येत्यर्थः यवर्थं पञ्चमौ । विशेषे  
 रित्यनेनान्वयः । इमे वक्ष्यमाणाः पितृव्याः स्वकुलश्रेष्ठाः निज-  
 कुलमहत्तराः सभ्याः सभासदः तथा सेनाधिपाः क्रमात् वाम-  
 संस्थाः विशेषेयुरित्यनेनान्वयः । तथा स्वाग्रे राजाग्रे नृपसम-  
 मित्यर्थः दक्षिणभागे तु मातामहकुलश्रेष्ठाः राज्ञ इति शेषः  
 मन्त्रिणः बान्धवाः, श्वशुराः श्यालकाश्च प्राक्संस्थाः पूर्वाभि-  
 मुखाः पृथगासनाः विभिन्नासनस्थाः सन्तः विशेषेयुरित्यनेना-  
 न्वयः । वामाग्रे च वामांशे च अधिकारिणः राजकर्मचारिण-  
 निवसेयुरिति शेषः ॥ ३५४—३५६ ॥

वामेति । जामाता भगिनीपतिश्च वामदक्षिणपार्श्वस्थौ

स्वसदृशः समीपे वा स्वाङ्घ्रासनगतः सुहृत् ॥ ३५० ॥  
 दौहित्रभागिनेयानां स्थाने स्युर्दत्तकादयः ।  
 भागिनेयाश्च दौहित्राः पुत्रादिस्थानसंश्रिताः ॥ ३५८  
 यथा पिता तथाचार्यः समश्रेष्ठासने स्थितः ।  
 पार्श्वयोरग्रतः सर्वे लेखका मन्त्रिपृष्ठगाः ॥ ३५९ ॥  
 परिचारगणाः सर्वे सर्वेभ्यः पृष्ठसंस्थिताः ।  
 स्वर्णदण्डधरौ पार्श्वे प्रवेशनतिबोधकौ ॥ ३६० ॥  
 विशिष्टचिह्नयुग्राजा स्वासने प्रविशेत् सुखम् ।

क्रमेण विशेतामिति शेषः । स्वसदृशः आत्मसमः सुहृद् समीपे  
 वा स्वस्य अङ्घ्रासनगतः वा विशेदित्यर्थः ॥ ३५७ ॥

दौहित्रेति । दत्तकादयः पुत्राः दौहित्रभागिनेयानां स्थाने  
 स्युः भवेयुः । तथा भागिनेयाः दौहित्राश्च पुत्रादीनां स्थान-  
 संश्रिताः स्थानस्थाः स्थानेषु तिष्ठेयुरित्यर्थः ॥ ३५८ ॥

यथेति । यथा पिता तथा आचार्यः वेदाध्यापकः गुरुः  
 शिश्नागुरुर्वा पार्श्वयोः अग्रतः पार्श्वद्वयाग्रभागे समश्रेष्ठासने  
 समे राजासनस्य समाने वा श्रेष्ठे आसने स्थितः भवेदिति शेषः ।  
 लेखकाः सर्वे मन्त्रिपृष्ठगाः मन्त्रिणां पञ्चाङ्गागेषु तिष्ठेयुरित्यर्थः ।  
 ॥ ३५९ ॥

परिचारेति । परिचारगणाः भृत्यवर्गाः सर्वे सर्वेभ्यः कथि-  
 तैर्भ्यः पुत्रादिभ्यः पृष्ठसंस्थिताः पञ्चाङ्गागेषु तिष्ठेयुरित्यर्थः ।  
 पार्श्वे प्रवेशनतिबोधकौ प्रवेशं नतिं प्रणामञ्च कार्यार्थिनामिति  
 भावः बोधयत इति तथोक्तौ प्रवेशनतिनिवेदकौ स्वर्णदण्डधरौ  
 द्वौ भृत्यौ तिष्ठेतामिति शेषः ॥ ३६० ॥

सुभूषणः सुकवचः सुवस्त्रो मुकुटान्वितः ॥ ३६ ॥  
 सिद्धास्त्रो नग्नशस्त्रः सन् सावधानमनाः सदा ।  
 सर्वस्मादधिको दाता शूरस्त्वं धार्मिको ह्यसि ॥ ३७ ॥  
 इति वाचं न शृणुयाच्छ्रावका वञ्चकास्तु ये ।  
 रागाह्लोभाद्वयाद्राजः स्युर्मूका इव मन्त्रिणः ॥ ३८ ॥  
 न ताननुमतान् विद्यान् नृपतिः स्वार्थसिद्धये ।  
 पृथक्पृथङ्मतं तेषां लेखयित्वा ससाधनम् ॥ ३९ ॥  
 विमृशेत् स्वमतेनैव यत् कुर्व्याद् बहुसम्मतम् ।  
 गजाश्वरथपशवादीन् भृत्यान् दासांस्तथैव च ॥ ४० ॥

विशिष्टेत्यादि । सिद्धास्त्रः शिञ्जितास्त्रविद्यः राजा विगिह्य  
 चिह्नयुक् विशेषलक्षणान्वितः सुभूषणः कुण्डलाद्यलङ्कृतः सुक-  
 वचः शोभनवर्मधारो सुवस्त्रः परिहितशोभनवसनः मुकुट-  
 न्वितः किरौटधरः नग्नशस्त्रः शस्त्रधारो सदा सावधानमन-  
 सन् स्वासने राजासने सुखं प्रविशेत् उपविशेत् तथा त्वं सर्व-  
 स्मात् अधिकः दाता वदान्यः शूरः विक्रान्तः धार्मिकश्च अर्थ-  
 इति वाचं चाटुकारिणामिति शेषः न शृणुयात् । ये श्राव-  
 कार्यार्थिनां कार्यश्रावणकारिणः वञ्चकाः प्रतारकाः तथा  
 मन्त्रिणः रागात् कार्यार्थिनां केषुचित् अनुरागात् स्नेहादित्य-  
 लोभात् तुष्णीभ्रावे धनप्राप्तिलोभात् वा भयात् यथार्थकथ-  
 नस्य हानिः तस्मात् भौताः मूका इव स्युः भवेयुः तान् स्वा-  
 सिद्धये स्वकार्यस्य राजकार्यस्य सिद्धये अनुमतान् न विद्या-  
 तेभ्यः राजकार्याभिमतं न गृह्णीयादित्यर्थः । तेषां मन्त्रि-  
 पृथक् पृथक् प्रत्येकं भिन्नं भिन्नं ससाधनं सकारणं युक्तिसहि-

सम्भारान् सैनिकान् कार्य्याक्षमान् ज्ञात्वा दिने दिने

संरक्षयेत् प्रयत्नेन सुजीर्णान् सन्त्यजेत् सुधीः ॥३६६॥

अयुतक्रोशजां वार्त्तां हरेदेकदिनेन वै ।

सर्वविद्याकलाभ्यासे शिद्येद् भृतिपोषितान् ॥३६७॥

समाप्तविद्यं संदृष्ट्वा तत्कार्य्यं तं नियोजयेत् ।

विद्याकलोत्तमान् दृष्ट्वा वत्सरे पूजयेच्च तान् ॥३६८॥

मित्यर्थः भूतं लेखयित्वा स्वमतेन विमृशेत् विवेचयेत् । यच्च बहुसम्मतं भवेत् तत् कुर्यात् । सुधीः सुबुद्धिः नृपः दिने दिने गजान् अश्वान् रथान् पञ्चादीन् भृत्यान् पोष्यवर्गान् दासान् किङ्करान् सम्भारान् प्रयोजनद्रव्याणि तथा सैनिकान् कार्य्याक्षमान् ज्ञात्वा विचार्य्यं प्रयत्नेन संरक्षयेत् कार्य्याक्षमान् कर्त्तुमिति शेषः । सुजीर्णान् अत्यन्ताक्षमानित्यर्थः संत्यजेत् ॥३६१॥

३६२ ॥ ३६३ ॥ ३६४ ॥ ३६५ ॥ ३६६ ॥

अयुतेति । अयुतक्रोशजां दशसहस्रक्रोशस्थितां वार्त्तां संवादम् एकदिनेन हरेत् वैशब्दोऽवधारणे, यथा एकेन दिनेन तथाभूता वार्त्ता प्राप्यते प्रेर्यते वा तथा उपायं कुर्यादित्यर्थः, तथा जनान् भृतिपोषितान् भृत्या वेतनादिना पोषितान् सर्वविद्यानां कलानाञ्च चतुःषष्टिप्रकाराणां नृत्यगीतादीनाम् अभ्यासे शिद्येत् ॥ ३६७ ॥

समाप्तेति । तेषु समाप्तविद्यं सुशिञ्चितमित्यर्थः संदृष्ट्वा सम्यक् परीक्ष्य संदृष्टेत्यार्षः, प्रयोगः । तत्कार्य्यं तद्विद्यानुशीलनकार्य्यं वा तदध्यापनकार्य्यं तं नियोजयेत् । तथा तान् छात्रानित्यर्थः विद्यासु कलासु च उत्तमान् उत्कृष्टान् दृष्ट्वा

विद्याकलानां वृद्धिः स्यात्तथा कुर्यान् नृपः सदा  
 पृष्ठाग्रगान् क्रूरवेशान्नतिनीतिविशारदान् ॥ ३६८ ॥  
 सिद्धास्त्रनग्नशस्त्रांश्च भटानारान्नियोजयेत् ।  
 पुरे पर्यटयेन्नित्यं गजस्थो रञ्जयन् प्रजाः ॥ ३७० ॥  
 राजयानारूढितः किं राज्ञा श्वा न समोऽपि च  
 शुना समो न किं राजा कविभिर्भाव्यतेऽञ्जसा ॥ ३७१ ॥  
 अतः स्वबान्धवैर्मित्रैः स्वसाम्यप्रापितैर्गुणैः ।

परीक्ष्य वत्सरे प्रतिवत्सरमित्यर्थः पूजयेत् पुरस्कारादिना सन्मानयेत् ॥ ३६८ ॥

विद्याकलानामिति । सिद्धास्त्रेति । नृपः सदा यथा विद्या  
 कलानां वृद्धिः उन्नतिः स्यात् तथा कुर्यात् । तथा क्रूरवेशान्  
 भीषणवेशधारिणः नतिनीतिविशारदान् नतौ प्रणतौ नीतिं  
 च विशारदान् विचक्षणान् सिद्धास्त्रान् नग्नशस्त्रान् शस्त्र-  
 धारिणः भटान् वीरान् आरात् समीपे पृष्ठाग्रगान् पश्चात्  
 सम्मुखवर्तिनः नियोजयेत् रक्षेत् । स्वयञ्च गजस्थः गजारूढ-  
 सन् प्रजाः रञ्जयन् नित्यं पुरे नगरे पर्यटयेत् परिभ्रमेत् स्वा-  
 णिजन्तोऽयं परिपूर्वोऽटधातुर्बोध्यः ॥ ३६८ ॥ ३७० ॥

राजेति । श्वा कुक्कुरः राजयानारूढितः राजयोग्यवाहन-  
 रोहणात् राज्ञा समः तुल्यः किं न ? अपि तु राजतुल्य एवे-  
 त्यर्थः । तथा राजा तादृशपरिच्छदपरिजनविहीन इति शेष-  
 शुना कुक्कुरेण समः कविभिर्विद्वद्भिः किं न विभाव्यते बुध्यते  
 अपितु बुध्यत एव सर्वथा सर्वदा सुपरिच्छदपरिजनेन राज्ञा  
 भाव्यमिति भावः ॥ ३७१ ॥

प्रकृतिभिर्नृपो गच्छेन्न नीचैस्तु कदाचन ॥ ३७२॥  
 मिथ्यासत्यसदाचारैर्नीचः साधुः क्रमात् स्मृतः ।  
 साधुभ्योऽतिस्वमृदुत्वं नीचाः सन्दर्शयन्ति हि ॥ ३७३  
 ग्रामान् पुराणि देशांश्च स्वयं संवीक्ष्य वत्सरे ।  
 अधिकारिगणैः काश्च रञ्जिताः काश्च कर्षिताः ॥ ३७४  
 प्रजास्ताः साधुभूतेन व्यवहारं विचिन्तयेत् ।  
 न भृत्यपक्षपाती स्यात् प्रजापक्षं समाश्रयेत् ॥ ३७५॥

अत इति । अतः कारणात् नृपः स्वस्य राज्ञ इत्यर्थः  
 साम्येन तुल्यतया प्रापितैः जनितैः गुणैः उपलक्षितैरित्यर्थः उप-  
 लक्षणे तृतीया । स्वबान्धवैः मित्रैः सुहृद्भिः तथा प्रकृतिभिः  
 सम्भ्रान्तवर्गैः सह गच्छेत् कदाचन नीचैः नतः सन् अपरि-  
 च्छेदपरिजनः सन्नित्यर्थः न गच्छेदित्यर्थः ॥ ३७२ ॥

मिथ्येति । मिथ्यासत्यसदाचारैः क्रमात् नीचः साधुश्च  
 स्मृतः कथितः मिथ्याभूतसदाचारैः नीचः सत्यभूतसदाचारैः  
 साधुर्भवतीति भावः । नीचाः साधुभ्यः अतिशयेन स्वमृदुत्वं  
 निजमार्दवं सन्दर्शयन्ति हिशब्दः अवधारणे ॥ ३७३ ॥

ग्रासानिति । प्रजा इति । राजा वत्सरे प्रतिवर्षं स्वयं  
 ग्रामान् पुराणि नगराणि देशांश्च संवीक्ष्य सम्यक् दृष्ट्वा तथा  
 अधिकारिगणैः राजपुरुषैः काः प्रजाः रञ्जिताः, काश्च कर्षिताः  
 पीडिताः, ताः संवीक्ष्य साधुभूतेन याथातथ्येन व्यवहारं विचि-  
 न्तयेत् कार्यदर्शनं कुर्यात् भृत्यानाम् अधिकारिणां पक्षपाती  
 न स्यात्, प्रजापक्षं समाश्रयेत् यथा प्रजानामनुरञ्जनं स्यात्  
 तथा कुर्यादित्यर्थः ॥ ३७४ ॥ ३७५ ॥

प्रजाशतेन संद्विष्टं संत्यजेदधिकारिणम् ।

अमात्यमपि संवीक्ष्य सकृदन्यायगामिनम् ॥ ३७६ ॥

एकान्ते दण्डयेत् स्पष्टमभ्यासापकृतं त्यजेत् ।

अन्यायवर्तिनां राज्यं सर्वस्वञ्च हरेन्नृपः ॥ ३७७ ॥

जितानां विषये स्थाप्यं धर्माधिकरणं सदा ।

भृतिं दद्यान्निर्जितानां तच्चरित्रानुरूपतः ॥ ३७८ ॥

खानुरक्तां सुरूपाञ्च सुवस्त्रां प्रियवादिनीम् ।

सुभूषणां सुसंशुद्धां प्रमदां शयने भजेत् ॥ ३७९ ॥

प्रजेति । एकान्तेति । प्रजाशतेन बहुभिः प्रजाभिरित्यर्थः सन्दिष्टं दत्तदोषमित्यर्थः अधिकारिणं स्वनियुक्तं राजकर्मचारिणं संत्यजेत् । तथा अमात्यमपि सचिवमपि सकृत् एकवारम् अन्यायकारिणं संवीक्ष्य एकान्ते निर्जने दण्डयेत् । प्रधानपुरुषस्य सर्वसमक्षमवमानस्य सामान्यापराधे अकर्तव्यत्वादिति भावः । अभ्यासापकृतं पुनः पुनरपराधिनं स्पष्टं प्रकाशं दण्डयेत् त्यजेच्च । किञ्च नृपः अन्यायवर्तिनान् अपदसंस्थितानां भृत्यानाम् अन्येषाञ्च राज्यं भूमिं सर्वस्वं सर्वमस्यावरं द्रव्यञ्च हरेत् ॥ ३७६ ॥ ३७७ ॥

जितानामिति । जितानां पराजितानां राज्ञां विषये राज्यं सदा धर्माधिकरणं विचारालयः स्थाप्यं, तेषां भाविदुर्नयदण्डनार्थमिति भावः । तथा निर्जितानां निःशेषेण पराजितानां सर्वस्वच्युतानामित्यर्थः तच्चरित्रानुरूपतः तेषां व्यवहारानुसारं भृतिं भरणोपयुक्तां वृत्तिं दद्यात् ॥ ३७८ ॥

खानुरक्तामिति । स्वस्मिन् अनुरक्ताम् अनुरागवतीं सुरूपा-

यामद्वयं शयानञ्च ह्यत्यन्तं सुखमश्नुते ।

न संत्यजेच्च स्वस्थानं नीत्या शत्रुगणं जयेत् ॥ ३८०

स्थानभ्रष्टा नो विभान्ति दन्ताः केशा नखा नृपाः ।

संश्रयेद् गिरिदुर्गाणि महापदि नृपः सदा ॥ ३८१ ॥

तदाश्रयाद् दस्युवृत्त्या स्वराज्यं तु समाहरेत् ।

विवाहदानयज्ञार्थं विनाप्यष्टांशशेषितम् ॥ ३८२ ॥

सर्वतस्तु हरेद् दस्युरसतामखिलं धनम् ।

नैकात् संवसेन्नित्यं विश्वसेन्नैव कां प्रति ॥ ३८३ ॥

सुन्दरीं सुवस्त्रां शोभनवसनां प्रियवादिनीं सुभूषणां भूषितां

तथा सुसंश्रुतां सुचरित्रामित्यर्थः, प्रमदां पत्नीं शयने शय्यायां

भजेत् नयेत् ॥ ३७८ ॥

यामद्वयमिति । यामद्वयं प्रहरद्वयपर्यन्तं शयानञ्च तथेति

भावः, अत्यन्तं सुखम् अश्नुते लभते हिशब्दोऽवधारणे । स्वस्थानं

निजस्थानं न संत्यजेत् स्थानस्थितः कापुरुषोऽपि सिंह इति

भावः । तथा नीत्या नीतिकौशलेन शत्रुगणं जयेत् वशं

नयेत् ॥ ३८० ॥

स्थानेति । दन्ताः केशाः नखाः तथा नृपाः स्थानभ्रष्टाः

स्थानच्युताः नो विभान्ति न राजन्ते । नृपः महापदि महत्यां

दुर्निवारायामित्यर्थः आपदि सदा गिरिदुर्गाणि पर्वतरूप-

दुर्गमस्थानानि संश्रयेत् ॥ ३८१ ॥

तदाश्रयादिति । सर्वत इति । तस्य गिरेः आश्रयात् गिरि-

माश्रित्येत्यर्थः दस्युवृत्त्या दस्युव्यवहारेण तु पुनः स्वराज्यं समा-

हरेत् आददीत, विवाहदानयज्ञार्थं वैवाहिकं दानीयं यज्ञीयञ्च

सदैव सावधानः स्यात् प्राणनाशं न चिन्तयेत् ।  
 क्रूरकर्मा सदोद्युक्तो निर्घृणो दस्युकर्मसु ॥ ३८४  
 विमुखः परदारामु कुलकन्याप्रदूषणे ।  
 पुत्रवत् पालिता भृत्याः समये शत्रुतां गताः ॥ ३८५  
 न दोषः स्यात् प्रयत्नस्य भागधेयं स्वयं हि तत् ।  
 दृष्ट्वा सुविफलं कर्म तपस्तप्त्वा दिवं व्रजेत् ॥ ३८६ ॥  
 उक्तं समासतो राजकृत्यं मिश्रेऽधिकं ब्रुवे ।

धनं विना दस्युः दस्युभूतो नृप इत्यर्थः अष्टांशावशेषितम् अष्ट-  
 मांशावशिष्टम् असताम् असाधूनाम् अखिलं समग्रं धनं सर्वतः  
 सर्वैः प्रकारैः हरेत्, अष्टमांशस्तु तेषां वृत्त्यर्थं रक्षणीय इति  
 भावः । नित्यम् एकत्र न संवसेत् तथा कं प्रति नैव विश्वसेत् ॥  
 ३८२ ॥ ३८३ ॥

सदैवेति । विमुख इति । सदैव सावधानः अवहितः  
 क्रूरकर्मा निष्ठुरव्यापारः सदा उद्युक्तः दस्युकर्मसु निर्घृणः  
 किन्तु परदारेषु परस्त्रीषु तथा कुलकन्यानां कुलकुमारीणां  
 प्रदूषणे बलात्कारादिकर्मणि विमुखः पराङ्मुखः भवेत् तथा  
 ये पुत्रवत् पालिताः भृत्याः समये दुःसमये शत्रुतां गताः, तेषां  
 प्राणनाशं न चिन्तयेत् अकर्तव्यतया न भावयेत् तेषां प्राण-  
 नाशोऽपि करणीय इति भावः ॥ ३८४ ॥ ३८५ ॥

नेति । प्रयत्नस्य उद्योगस्य न दोषः स्यात् विफलत्वे इति  
 भावः, हि यतः तत् स्वयं भागधेयं भाग्यमित्यर्थः भाग्यवशात्  
 उद्योगे विफले को दोष इति भावः । कर्म उद्योगमित्यर्थः सु-  
 विफलं सर्वथा विफलं दृष्ट्वा शेषे तपस्तप्त्वा दिवं स्वर्गं व्रजेत् ॥ ३८६ ॥

अध्यायः प्रथमः प्रोक्तो राजकार्यनिरूपकः ॥३८७॥

इति प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ।

द्वितीयोऽध्यायः ।

दद्याप्यल्पतरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।

पुरुषेणासहायेन किमु राज्यं महोदयम् ॥ १ ॥

सर्वविद्यासु कुशलो नृपो ह्यपि सुमन्त्रवित् ।

मन्त्रिभिस्तु विना मन्त्रं नैकोऽर्थं चिन्तयेत् क्वचित् २

सभ्याधिकारिप्रकृतिसभासत्सुमते स्थितः ।

सर्वदा स्यान्नृपः प्राज्ञः स्वमते न कदाचन ॥ ३ ॥

उक्तमिति । समासतः संचेपेण राजकृत्यम् उक्तम् । मित्रे  
अस्य ग्रन्थस्य मित्राख्ये चतुर्थाध्यायप्रकरणे अधिकम् अस्य  
विस्तारं ब्रुवे कथयामि । राजकार्यनिरूपकः राजकार्यप्रद-  
र्शकः प्रथमः अध्यायः प्रोक्तः कथितः ॥ ३८७ ॥

इति श्रीजीवानन्दविद्यासागरविरचिता

प्रथमाध्यायव्याख्या समाप्ता ।

यदीति । यद्यपि कर्म कार्यम् अल्पतरं सामान्यमित्यर्थः  
तदपि असहायेन एकेन पुरुषेण दुष्करं कर्तुमशक्यं महोदयं  
महोन्नतं राज्यं किमु किं वक्तव्यमित्यर्थः ॥ १ ॥

सर्वेति । सर्वविद्यासु कुशलः सुमन्त्रवित् शोभनमन्त्रविज्ञः  
अपि नृपः एकः एकाकी सन् मन्त्रिभिः विना क्वचित् मन्त्रं  
मन्त्ररूपम् अर्थं न चिन्तयेत् तुशब्दोऽवधारणे ॥ २ ॥

प्रभुः स्वातन्त्र्यमापन्नो ह्यनर्थायैव कल्पते ।  
 भिन्नराष्ट्रो भवेत् सद्यो भिन्नप्रकृतिरेव च ॥ ४ ॥  
 पुरुषे पुरुषे भिन्नं दृश्यते बुद्धिवैभवम् ।  
 आप्तवाक्यैरनुभवैरागमैरनुमानतः ॥ ५ ॥  
 प्रत्यक्षेण च सादृश्यैः साहसैश्च क्लैर्बलैः ।  
 वैचित्र्यं व्यवहाराणामौन्नत्यं गुरुलाघवैः ॥ ६ ॥  
 न हि तत् सकलं ज्ञातुं नरेणैकेन शक्यते ।  
 अतः सहायान् वरयेद्राजा राज्यविवृद्धये ॥ ७ ॥

सभ्येति । प्राज्ञः प्रकृष्टज्ञानवान् नृपः सभ्यानाम् अङ्गि-  
 कारिणां कर्मचारिणां प्रकृतीनां प्रधानपुरुषाणां सभासदा-  
 सुमते सुनिरूपितमन्त्रविषये सर्वदा स्थितः स्यात् कदाच-  
 स्वमते न तिष्ठेदिति शेषः ॥ ३ ॥

प्रभुरिति । स्वातन्त्र्यमापन्नः स्वेच्छाधीनः प्रभुः अनर्था-  
 एव कल्पते हि यतः भिन्नप्रकृतिः प्रकृतीनाम् अमतवर्त्तोत्पद्य-  
 प्रभुः सद्यः भटिति भिन्नराष्ट्रः राज्यच्युतः भवेत् ॥ ४ ॥

पुरुष इति । प्रत्यक्षेणेति । आप्तवाक्यैः विश्वस्तवचनैः अ-  
 भवैः आगमैः शास्त्रानुशीलनैः अनुमानतः अनुमानप्रमाणेन  
 पुरुषे पुरुषे प्रतिपुरुषमित्यर्थः बुद्धिवैभवं भिन्नं तथा प्रत्यक्ष-  
 प्रमाणेन सादृश्यैः साहसैः क्लैः बलैश्च व्यवहाराणाम् आ-  
 राणां वैचित्र्यं विभिन्नत्वं गुरुलाघवैः औन्नत्यञ्च कस्य वा गु-  
 उन्नतिः कस्य वा लघ्वीत्येवमित्यर्थः दृश्यते ॥ ५ ॥ ६ ॥

न हीत्यादि । तत् सकलं पूर्वोक्तं प्रतिपुरुषीयबुद्धिविभवार्था-  
 एकेन नरेण ज्ञातुं न शक्यते, अतः अस्मात् कारणात् राज-

कुलगुणशीलवृद्धान् शूरान् भक्तान् प्रियंवदान् ।  
 हितोपदेशकान् क्लेशसहान् धर्मरतान् सदा ॥८॥  
 कुमार्गं नृपमपि बुद्धोद्धर्तुं क्षमान् शुचीन् ।  
 निर्मत्सरान् कामक्रोधलोभहीनान्निरालसान् ॥९॥  
 हीयते कुसहायेन स्वधर्माद्राज्यतो नृपः ।  
 कुकर्मणा प्रनष्टास्तु दितिजाः कुसहायतः ॥१०॥  
 नष्टा दुर्योधनाद्यास्तु नृपाः शूरा बलाधिकाः ।  
 निरभिमानो नृपतिः सुसहायो भवेदतः ॥११॥

राज्यविवृद्धये राज्यस्य अभ्युदयाय कुलगुणशीलवृद्धान् कुली-  
 नान् गुणिनः सुशीलानित्यर्थः शूरान् बलिनः अभीरूनिनित्यर्थः  
 भक्तान् अनुरक्तान् प्रियंवदान् हितोपदेशकान् क्लेशसहान्  
 सहिष्णूनिनित्यर्थः सदा धर्मरतान् कुमार्गं कुपथप्रवृत्तमपि नृपं  
 बुद्ध्या उद्धर्तुं कुपथात् निवारयितुं क्षमान् शुचीन् शुद्धचरितान्  
 निर्मत्सरान् विद्वेषरहितान् कामक्रोधलोभहीनान् तथा निरा-  
 लसान् आलस्यरहितान् सहायान् वरयेत् नियुञ्ज्यात् ॥७॥८॥९॥

हीयते इति । कुसहायेन मन्दसचिवेन नृपः स्वधर्मात्  
 राज्यतः राज्याच्च हीयते भ्रश्यति । दितिजाः दैत्याः कुसहा-  
 यतः कुकर्मणा कुमन्त्रिपरामर्शेन कुकार्यकरणानित्यर्थः प्रनष्टाः  
 निधनं गताः तुशब्दोऽवधारणे ॥ १० ॥

नष्टा इति । शूराः विक्रमशीलाः बलाधिकाः समधिकबल-  
 सम्पन्नाः दुर्योधनाद्याः नृपाः नष्टाः कुसहायत इति शेषः । अतः  
 अस्मात् कारणात् नृपतिः निरभिमानः स्वयं सर्वं जानामीत्यभि-  
 मानवर्जितः सन् सुसहायः शोभनसहायसम्पन्नः भवेत् ॥ ११ ॥

युवराजोऽमात्यगणो भुजावेतौ महीभुजः ।

तावेव नयने कर्णौ दक्षसव्यौ क्रमात् स्मृतौ ॥ १२ ॥

बाहुकर्णाक्षिहीनः स्याद् विना ताभ्यामतो नृपः

योजयेच्चिन्तयित्वा तौ महानाशाय चान्यथा ॥ १३ ॥

मुद्रां विनाखिलं राजकृत्यं कर्तुं क्षमं सदा ।

कल्पयेद् युवराजार्थमौरसं धर्मपत्नीजम् ॥ १४ ॥

स्वकनिष्ठं पितृव्यं वानुजं वाग्रजसम्भवम् ।

पुत्रं पुत्रीकृतं दत्तं यौवराज्येऽभिषेचयेत् ॥ १५ ॥

युवेति । युवराजः राजकर्मणि अभिषिक्तः पुत्रादिः अमात्य-  
गणः सचिववर्गश्च एतौ महीभुजः राज्ञः भुजौ बाहुस्वरूपौ  
तौ एव क्रमात् दक्षसव्यौ दक्षिणवामौ नयने कर्णौ च स्मृतौ  
कथितौ राज्ञ इति शेषः ॥ १२ ॥

बाहु इति । ताभ्यां युवराजामात्याभ्यां विना नृपः बाहु-  
कर्णाक्षिहीनः भुजश्रोत्रनेत्ररहितः स्यात् अतः अस्मात्  
कारणात् चिन्तयित्वा विविच्य तौ युवराजामात्यौ योजयेद्  
अन्यथा महानाशाय भवतीति शेषः ॥ १३ ॥

मुद्रामिति । मुद्राम् आलस्यं विना परित्यज्य इत्यर्थः सदा  
अखिलं समग्रं राजकृत्यं कर्तुं क्षमं धर्मपत्नीजम् औरसं पुत्रं  
युवराजार्थं युवराजशब्दाभिधेयं कल्पयेत् ॥ १४ ॥

स्वेति । वा अथवा स्वकनिष्ठं भ्रातरम् अनुजं वयःकनिष्ठं  
पितृव्यम् अग्रजसम्भवं पुत्रं ज्येष्ठभ्रातृपुत्रं वा पुत्रीकृतं पुत्रप्रति-  
निधित्वेन परिगृहीतं दत्तं दत्तकपुत्रं यौवराज्ये अभिषेच-  
येत् ॥ १५ ॥

क्रमादभावे दौहित्रं स्वप्रियं वा नियोजयेत् ।  
 स्वहितायापि मनसा नैतान् सङ्कर्षयेत् क्वचित् ॥ १६ ॥  
 स्वधर्मनिरतान् शूरान् भक्तान् नीतिमतः सदा ।  
 संरक्षयेद्राजपुत्रान् बालानपि सुयत्नतः ॥ १७ ॥  
 लोलुभ्यमानास्तेऽर्थेषु हन्युरेनमरक्षिताः ।  
 रक्ष्यमाणा यदि छिद्रं कथञ्चित् प्राप्नुवन्ति ते ॥ १८ ॥  
 सिंहशावा इव घ्नन्ति रक्षितारं द्विपं द्रुतम् ।  
 राजपुत्रा मदोद्धूता गजा इव निरङ्कुशाः ॥ १९ ॥

क्रमादिति । अभावे पूर्वोक्तानामिति शेषः क्रमात् दौहित्रं  
 वा स्वप्रियम् आत्मनः प्रियं जनं यं कञ्चन जनं नियोजयेत्  
 क्वचित् कदाचित् स्वहिताय स्वस्य आत्मनः हिताय यदि हित-  
 मिच्छेत् तदेत्यर्थः एतान् यथोक्तान् युवराजान् मनसापि न  
 संकर्षयेत् न पीडयेत् ॥ १६ ॥

स्वधर्मेति । स्वधर्मनिरतान् आत्मधर्मस्थितान् शूरान्  
 विक्रान्तान् भक्तान् अनुरक्तान् नीतिमतः नयसम्पन्नान् राज-  
 पुत्रान् राजवंश्यान् बालान् अप्राप्तवयस्कानपि सुयत्नतः अति-  
 यत्नेन सदा संरक्षयेत् ॥ १७ ॥

लोलुभ्यमाना इति । ते राजपुत्राः अर्थेषु तदीयेषु धनेषु  
 लोलुभ्यमानाः राज्ञा इति शेषः तेषामर्थलोभादिति भावः,  
 अरक्षिताः सन्तः एनं नृपं हन्युः नाशयेयुः । किञ्च रक्ष्यमाणा  
 अपि ते यदि कथञ्चित् छिद्रं दोषं कथञ्चित् प्राप्नुवन्ति तदापि  
 एनं हन्युरित्यनेनान्वयः ॥ १८ ॥

सिंहशावा इति । सिंहशावाः द्विपं हस्तिनमिव मदोद्धूताः

पितरञ्चापि निघ्नन्ति भ्रातरं त्वितरं न किम् ।  
 मूर्खो बालोऽपीच्छतिस्म स्वाभ्यं किं नु पुनर्युवा ? ॥ २० ॥  
 स्वात्यन्तसन्निकर्षेण राजपुत्रांस्तु रक्षयेत् ।  
 सदभृत्यैश्चापि तत् स्वान्तं क्लृप्त्वा सदा स्वयम् ॥ २१ ॥  
 सुनीतिशास्त्रकुशलान् धनुर्वेदविशारदान् ।  
 क्लेशसहंश्च वाग्दण्डपारुष्यानुभवान् सदा ॥ २२ ॥  
 शौर्ययुद्धरतान् सर्वकलाविद्याविदोऽञ्जसः ।  
 सुविनीतान् प्रकुर्वीत ह्यमात्याद्यैर्नृपः सुतान् ॥ २३ ॥

मदमत्ताः निरङ्कुशाः गजाः इव राजपुत्राः रक्षितारम् अयम्  
 इति भावः, नृपं घ्नन्ति नाशयन्ति ॥ १९ ॥

पितरमिति । ते पितरं भ्रातरञ्चापि निघ्नन्ति इतरम् अयम्  
 किं नु वक्तव्यमित्यर्थः, नु वितर्के । मूर्खः बालः शिशुरपि स्वन  
 आत्मनः स्वाभ्यं स्वेच्छाचारित्वम् इच्छति, युवा किं पुनः ? ॥ २० ॥

स्वात्यन्तेति । सदा स्वयं सदभृत्यैश्च तत् स्वान्तं तेषां राज  
 पुत्राणां स्वान्तं मनः क्लृप्तेः कौशलैः ज्ञात्वा स्वात्यन्तसन्निकर्षेण  
 स्वस्य आत्मनः अत्यन्तः यः सन्निकर्षः सङ्गः तेन रक्षयेत् पान  
 येत् ॥ २१ ॥

सुनीतीति । शौर्येति । नृपः अमात्याद्यैः सुतान् सुनीति  
 शास्त्रकुशलान् धनुर्वेदविशारदान् संग्रामनिपुणान् सदा क्लेश  
 सहान् वाग्दण्डपारुष्यानुभवान् वाक्पारुष्यदण्डपारुष्याभिज्ञानं  
 शौर्ययुद्धरतान् विक्रमशालिनः सर्वकलाविद्याविदः सर्वासु कला  
 विद्यासु चतुःषष्टिप्रकारासु विद्यासु विज्ञानं अञ्जसः क्षिप्रकारिणः  
 तथा सुविनीतान् शोभनविनयसम्पन्नान् प्रकुर्वीत ॥ २२ ॥ २३ ॥

सुवस्त्राद्यैर्भूषयित्वा लालयित्वा सुक्रीडनैः ।  
 अर्हयित्वासनाद्यैश्च पालयित्वा सुभोजनैः ॥ २४ ॥  
 कृत्वा तु यौवराज्यार्हान् यौवराज्येऽभिषेचयेत् ।  
 अविनीतकुमारं हि कुलमाशु विनश्यति ॥ २५ ॥  
 राजपुत्रः सुदुर्वृत्तः परित्यागं हि नार्हति ।  
 क्लिश्यमानः स पितरं परानाश्रित्य हन्ति हि ॥ २६ ॥  
 व्यसने सज्जमानं तं क्लेशयेद् व्यसनाश्रयैः ।  
 दुष्टं गजमिवोद्वृत्तं कुर्वीत सुखबन्धनम् ॥ २७ ॥  
 सुदुर्वृत्तास्तु दायादा हन्तव्यास्ते प्रयत्नतः ।

सुवस्त्राद्यैरिति । कृत्वेति । सुवस्त्राद्यैः शोभनवसनादिभिः  
 भूषयित्वा सुक्रीडनैः शोभनक्रीडनद्रव्यैः लालयित्वा आनन्दि-  
 तान् कृत्वा आसनाद्यैः उपवेशनादिना अर्हयित्वा सम्मान्य,  
 सुभोजनैः पालयित्वा क्रमेण यौवराज्यार्हान् कृत्वा पुत्रानिति  
 शेषः यौवराज्ये अभिषेचयेत्, हि यतः अविनीतः अशिक्षितः  
 कुमारो यस्य तादृशं कुलम् आशु शीघ्रं विनश्यति विनाशं  
 प्राप्नोति ॥ २४ ॥ २५ ॥

राजपुत्र इति । राजपुत्रः सुदुर्वृत्तः अतिदुर्वृत्तः अपि परि-  
 त्यागं न अर्हति न परित्याज्यो भवतीत्यर्थः, स क्लिश्यमानः  
 परान् आश्रित्य पितरं हन्ति हि हन्त्येव ॥ २६ ॥

व्यसने इति । व्यसने स्त्रीमद्यादौ सज्जमानं तं पुत्रं व्यस-  
 नाश्रयैः तत्सङ्गिभिः क्लेशयेत् तत्सङ्गिनां असम्माननेन यथा पुत्र-  
 स्तदात्मकः न भवेत् तथा यत्नं कुर्यादित्यर्थः । दुष्टं गजमिव  
 उद्वृत्तम् उच्छृङ्खलं पुत्रं सुखबन्धनं सुखेन आयत्तं कुर्वीत ॥ २७ ॥

व्याघ्रादिभिः शत्रुभिर्वा क्लैः राष्ट्रविद्वद्भ्ये ॥ २८ ॥

अतोऽन्यथा विनाशाय प्रजाया भूपतेश्च ते ।

तोषयेयुर्नृपं नित्यं दायादाः स्वगुणैः परैः ॥ २९ ॥

भ्रष्टा भवन्त्यन्यथा ते स्वभागाज्जीवितादपि ।

स्वसापिण्डाविहीना ये ह्यन्योत्पन्ना नराः खलु ॥ ३० ॥

मनसापि न मन्तव्या दत्ताद्याः स्वसुता इति ।

ते दत्तकत्वमिच्छन्ति दृष्ट्वा यद् धनिकं नरम् ॥ ३१ ॥

स्वकुलोत्पन्नकन्यायाः पुत्रस्तेभ्यो वरो ह्यतः ।

अङ्गादङ्गात् सम्भवति पुत्रवद् दुहिता नृणाम् ॥ ३२ ॥

सुदुर्वृत्ता इति । दायादाः अपरे ज्ञातयः सुदुर्वृत्ताश्चेत् ते प्रयत्नतः व्याघ्रादिभिः शत्रुभिर्वा क्लैः कौशलैः राष्ट्रविद्वद्भ्ये राज्योन्नतये हन्तव्याः ॥ २८ ॥

अत इत्यादि । अतः अस्मात् बधरूपादुपायात् अन्यथा ते दायादाः प्रजायाः भूपतेश्च विनाशाय भवन्तीति शेषः । ततः दायादाः परैः केवलैः श्रेष्ठैर्वा स्वगुणैः निजगुणैः नृपं नित्यं सततं तोषयेयुः । अन्यथा ते दायादाः स्वभागात् स्वप्राप्यांशात् जीवितादपि जीवनाच्च भ्रष्टाः भवन्ति । ये नराः स्वस्य राष्ट्रसापिण्डाविहीनाः असपिण्डजाः अन्योत्पन्नाः अपरवंशजाः खलु निश्चितं, ते दत्ताद्याः दत्तकप्रभृतयः स्वसुता इति मनसा नैव मन्तव्याः, यत् यस्मात् ते धनिकं धनवन्तं नरं दृष्ट्वा दत्तकत्वम् इच्छन्ति दत्तकसुता भवितुमिच्छन्तीत्यर्थः ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

स्वकुलोत्पन्नेति । हि यतः दुहिता पुत्रवत् नृणाम् अङ्गात् अङ्गात् सम्भवति, अतः अस्मात् कारणात् स्वकुलोत्पन्नकन्यायाः

पिण्डदाने विशेषो न पुत्रदौहित्ययोस्त्वतः ।

भूप्रजापालनार्थं हि भूपो दत्तन्तु पालयेत् ॥३३॥

नृपः प्रजापालनार्थं सधनश्चेन्न चान्यथा ।

परोत्पन्ने स्वपुत्रत्वं मत्वा सर्वं ददाति तम् ॥३४॥

किमाश्चर्य्यमतो लोके न ददाति यजत्यपि ।

प्राप्यापि युवराजत्वं प्राप्नुयाद्विकृतिं न च ॥ ३५ ॥

स्वसम्पत्तिमदान्नैव मातरं पितरं गुरुम् ।

भ्रातरं भगिनीं वापि ह्यन्यान् वा राजवल्लभान् ॥३६॥

पुत्रः दौहित्त इत्यर्थः तेभ्यः दत्तकेभ्यः वरः श्रेष्ठः ॥ ३२ ॥

पिण्डदाने इति । अतस्तु अत एव पुत्रदौहित्ययोः पिण्डदाने विशेषः न अस्तीति शेषः । भूपः भूप्रजापालनार्थं भूमेः प्रजानाञ्च रक्षणार्थं दत्तं दत्तकपुत्रं दौहित्राभावे इति शेषः पालयेत्, हिशब्दः अवधारणे ॥ ३३ ॥

नृप इति । नृपः सधनश्चेत् समधिकधनशाली यदि, तदा प्रजापालनार्थं परोत्पन्ने पुत्रे स्वपुत्रत्वं मत्वा परपुत्रं दत्तकत्वेन परिगृह्येत्यर्थः तं दत्तकं सर्वं ददाति, तमिति आर्षप्रयोगः सम्प्रदाने चतुर्थीविधानात् । अन्यथा निर्धनत्वे न दत्तकपुत्रग्रहणमिति भावः ॥ ३४ ॥

किमिति । लोके जगति दत्तकाय सर्वं रक्षेत् तथापि न ददाति कस्मैचित् किमपीति शेषः नापि यजति देवान् अर्चयति किमाश्चर्य्यम् ? किञ्च युवराजत्वं प्राप्यापि विकृतिं न च प्राप्नुयात् न विकारं गच्छेत् ॥ ३५ ॥

स्वेति । मातरं पितरं गुरुं भ्रातरं भगिनीं वा अन्यान्

महाजनांस्तथा राष्ट्रे नावमन्येत पीडयेत् ।  
 प्राप्यापि महतीं वृद्धिं वर्त्तेत पितुराज्ञया ॥३७॥  
 पुत्रस्य पितुराज्ञाहि परमं भूषणं स्मृतम् ।  
 भार्गवेण हता माता राघवस्तु वनं गतः ॥ ३८ ॥  
 पितुस्तपोबलात् तौ तु मातरं राज्यमापतुः ।  
 शापानुग्रहयोः शक्तौ यस्तस्याज्ञा गरीयसी ॥३९॥  
 सोदरेषु च सर्वेषु स्वस्याधिक्यं न दर्शयेत् ।  
 भार्गवभ्रातृणां नष्टो ह्यवमानात् सुयोधनः ॥४०॥

राजवत्सलान् राजानुरक्तान् स्वसम्पत्तिं नैव, दद्यादित्यर्थः सम्प्र-  
 दानेषु कर्मविभक्तिरार्थेवेति बोध्यं, दाने धनक्षयात् प्रभुत्व-  
 हानिः स्यादिति भावः ॥ ३६ ॥

महाजनानिति । राष्ट्रे राज्ये महाजनान् भद्रवंशीयान् न  
 अवमन्येत तथा न पीडयेत् । किञ्च महतीम् वृद्धिम् ऐश्वर्यं  
 प्राप्यापि पितुराज्ञया वर्त्तेत तिष्ठेत् ॥ ३७ ॥

पुत्रस्येति । पितुराज्ञाहि पुत्रस्य परमं भूषणं स्मृतं कथितं,  
 तथाहि भार्गवेण परशुरामेण माता हता नाशिता, राघवस्तु  
 रामश्च वनं गतः पितुराज्ञयेति शेषः ॥ ३८ ॥

पितुरिति । तौ भार्गवराघवौ तु पितुस्तपोबलात् मातरं  
 राज्यम् आपतुः प्रापतुः भार्गवस्य माता पुनर्जीविता, रामस्य  
 च पुनः राज्यप्राप्तिरासीदित्यर्थः, अतः यः शापानुग्रहयोः अभि-  
 सम्पातप्रसादयोः शक्तः समर्थः, तस्य आज्ञा गरीयसी अति-  
 गुर्वीत्यर्थः ॥ ३९ ॥

सोदरेष्विति । सर्वेषु सोदरेषु भ्रातृषु स्वस्य आधिक्यम् आत्मनः,

पितुराज्ञोल्लङ्घनेन प्राप्यापि पदमुत्तमम् ।

तस्माद् भ्रष्टा भवन्तीह दासवद्राजपुत्रकाः ॥४१॥

ययातेश्च यथा पुत्रा विश्वामित्रसुता यथा ।

पितृसेवापरस्तिष्ठेत् कायवाङ्मानसैः सदा ॥ ४२ ॥

तत्कर्म नियतं कुर्याद् येन तुष्टो भवेत् पिता ।

तन्न कुर्याद् येन पिता मनागपि विषीदति ॥४३॥

यस्मिन् पितुर्भवेत् प्रीतिः स्वयं तस्मिन् प्रियञ्चरेत् ।

यस्मिन् द्वेषं पिता कुर्यात् स्वस्यापि द्वेष्य एव सः ४४

ऐश्वर्यम् आधिपत्यं वा न दर्शयेत्, हि यतः भागार्हाणां दायादानां

भ्रातृणाम् अवसानात् सुयोधनः नष्टः विनाशं गत इत्यर्थः ॥४०॥

पितुरिति । ययातेरिति । इह जगति राजपुत्रकाः उत्तमं

पदं प्राप्यापि पितुः आज्ञोल्लङ्घनेन तस्मात् उत्तमात् पदात्

भ्रष्टाः दासवत् भवन्ति, यथा ययातेः पुत्राः यदुप्रभृतयः,

[ विस्तरस्तु महाभारते आदिपर्वणि चतुरशीतितमाध्याये

द्रष्टव्यः । ] यथा वा विश्वामित्रस्य मुनेः, सुताः पुत्राः । पितु-

विश्वामित्रस्य शापात् तत्सुताः मधुच्छन्दादयः श्वमांसभोजिनः

संहृत्ताः । वाल्मीकिरामायणस्य बालकाण्डे द्विषष्टितमे अध्याये

आख्यायिका द्रष्टव्या । तस्मात् कायवाङ्मानसैः सदा पितृ-

सेवापरः पितृशुश्रूषानिरतः तिष्ठेत् ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

तदिति । येन कर्मणा पिता तुष्टो भवेत् नियतं तत् कर्म

कुर्यात्, येन कर्मणा पिता मनागपि अल्पमपि विषीदति

क्षोभमायाति तत् न कुर्यात् ॥ ४३ ॥

यस्मिन्निति । यस्मिन् जने पितुः प्रीतिः भवेत्, तस्मिन्

असम्मतं विरुद्धं वा पितुर्नैव समाचरेत् ।

चारसूचकदोषेण यदि स्यादन्यथा पिता ॥ ४५ ॥

प्रकृत्यनुमतं कृत्वा तमेकान्ते प्रबोधयेत् ।

अन्यथा सूचकान्नित्यं महद्दण्डेन दण्डयेत् ॥ ४६ ॥

प्रकृतीनाञ्च कपटस्वान्तं विद्यात् सदैव हि ।

प्रातर्नत्वा प्रतिदिनं पितरं मातरं गुरुम् ॥ ४७ ॥

राजानं स्वकृतं यद् यद् निवेद्यानुदिनं ततः ।

एवं गृहाविरोधेन राजपुत्रो वसेद् गृहे ॥ ४८ ॥

स्वयं प्रियं चरेत् कुर्यात् । पिता यस्मिन् द्वेषं कुर्यात् सः  
स्वस्यापि आत्मनोऽपि द्वेष्य एव ॥ ४४ ॥

असम्मतमिति । प्रकृत्यनुमतमिति । पितुः असम्मतम्  
अनभिमतं विरुद्धम् अप्रियं कार्यं वा नैव समाचरेत् । चाराणां  
गूढपुरुषाणां सूचकानां खलानां धूर्तानामित्यर्थः दोषेण यदि  
पिता अन्यथा स्यात् विपरीतमतिः भवेत् तदा प्रकृतीनां  
प्रधानपुरुषाणाम् अनुमतं कृत्वा परामर्शेनेत्यर्थः एकान्ते रहसि  
तं पितरं प्रबोधयेत् यथा पिता सन्तुष्येत् तथा प्रबोधनं कार्यं  
मिति भावः अन्यथा पितुरसन्तोषे इत्यर्थः सूचकान् धूर्तान् अप-  
राधिन इत्यर्थः महद्दण्डेन महता दण्डेन नित्यं दण्डयेत् ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

प्रकृतीनामिति । राजानमिति । सदैव प्रकृतीनां राज्य-  
स्थानां प्रधानपुरुषाणां कपटस्वान्तं कपटं मनः विद्यात् हि-  
शब्दोऽवधारणे । प्रकृतयः कापट्येन व्यवहरन्ति न वेति अव-  
धारयेदित्यर्थः । किञ्च राजपुत्रः युवराज इत्यर्थः प्रतिदिन-  
प्रातः पितरं मातरं तथा गुरुम् आचार्यं नत्वा, ततः अनन्तरं

विद्यया कर्मणा शीलैः प्रजाः संरञ्जयन् मुदा ।

त्यागी च सत्यसम्पन्नः सर्वान् कुर्याद्वशे स्वके ॥४६

शनैः शनैः प्रवर्द्धेत शुक्लपक्षमृगाङ्गवत् ।

एवं वृत्तो राजपुत्रो राज्यं प्राप्याप्यकण्टकम् ॥५०॥

सहायवान् सहामात्यश्चिरं भुङ्क्ते वसुन्धराम् ।

समासतः कार्य्यमुक्तं युवराजस्य यद्वितम् ॥५१॥

समासादुच्यते कृत्यममात्यादेश्च लक्षणम् ।

मृदुगुरुप्रमाणत्ववर्णशब्दादिभिः समम् ॥ ५२ ॥

यत् यत् कार्य्यं स्वकृतम् आत्मना निष्पन्नं तत्तत् अनुदिनं  
राजानं निवेद्य ज्ञापयित्वा एवम्प्रकारेण गृहस्य अविरोधेन  
सामञ्जस्येन गृहे वसेत् ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

विद्ययेति । त्यागी दानशीलः तथा सत्यसम्पन्नः उत्साहवान्  
राजपुत्रः विद्यया कर्मणा शीलैः दयादाक्षिण्यादिभिश्चरितैः  
प्रजाः संरञ्जयन् मुदा आनन्देन अनायासेनेत्यर्थः सर्वान् जनान्  
स्वके वशे आत्मनः वशे कुर्यात् ॥ ४६ ॥

शनैरिति । सहायवानिति । किञ्च शुक्लपक्षमृगाङ्गवत्  
वर्द्धमानचन्द्र इव शनैः शनैः क्रमेण प्रवर्द्धेत प्रकर्षेण वृद्धिं गच्छेत्  
राजपुत्र इति शेषः । अकण्टकं राज्यं प्राप्यापि एवं वृत्तः एवं  
सदाचारसम्पन्नः राजपुत्रः सहायवान् सहायसम्पन्नः सहामात्यः  
अमात्यवर्गसहितः चिरं वसुन्धरां पृथिवीं भुङ्क्ते । युवराजस्य  
यत् हितं हितजनकं कार्य्यं तत् समासतः संचेपतः उक्तं  
मयेति शेषः ॥ ५० ॥ ५१ ॥

समासादिति । इदानीम् अमात्यादेः कृत्यं कार्य्यं मृदुगुरु-

परीक्षकैर्द्रावयित्वा यथा स्वर्णं परीक्ष्यते ।

कर्मणा सहवासेन गुणैः शीलकुलादिभिः ॥ ५३ ॥

भृत्यं परीक्षयेन्नित्यं विश्वास्थ्यं विश्वसेत् तदा ।

नैव जातिर्न च कुलं केवलं लक्षयेदपि ॥ ५४ ॥

कर्मशीलगुणाः पूज्यास्तथा जातिकुलेन हि ।

न जात्या न कुलेनैव श्रेष्ठत्वं प्रतिपद्यते ॥ ५५ ॥

प्रमाणत्ववर्णशब्दादिभिः सृदुः, गुरुः गम्भीरप्रकृतिः, प्रमाणं महत्तया गणनीयः तेषां भावः सृदुगुरुप्रमाणत्वं वर्णः जातिः, शब्दः वाक्यम् एवमादिभिः समं सहितं लक्षणञ्च समासात् संज्ञेपात् उच्यते अयं भावः अमात्यः सृदुप्रकृतिः, वा गम्भीरस्वभावः वा कश्चित् सम्भ्रान्तः, अस्य च का जातिः कौटुम्भिकं वा वचनमित्यादि वेदितव्यमिति ॥ ५२ ॥

परीक्षकैरिति । भृत्यमिति । परीक्षकैः द्रावयित्वा गलयित्वा यथा स्वर्णं परीक्ष्यते, तथा कर्मणा, सहवासेन, शीलकुलादिभिः चरित्रसत्कुलजातत्वादिभिः गुणैः नित्यं भृत्यं परीक्षयेत्, तदा परीक्षिते सतीत्यर्थः विश्वास्थ्यं विश्वासयोग्यं जन् विश्वसेत् । केवलं जातिं न लक्षयेत् कुलं वंशं वा नैव लक्षयेत् नैव परीक्षयेत् गुणाः परीक्षणीया इति भावः ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

कर्मेति । कर्म शीलं चरित्रं गुणाः विद्यादयः पूज्याः जातिकुले तथा नहि नैव पूज्ये इत्यर्थः कर्मशीलगुणानामेव विशेषेण परीक्षा कार्य्येति भावः । जात्या केवलया इत्येवं कुलेन सहंशेन च नैव श्रेष्ठत्वं महत्त्वं प्रतिपद्यते प्राप्नोति जन् इति शेषः ॥ ५५ ॥

विवाहे भोजने नित्यं कुलजातिविवेचनम् ।

सत्यवाक् गुणसम्पन्नस्तथाभिजनवान् धनी ॥५६॥

सुकुलश्च सुशीलश्च सुकर्मा च निरालसः ।

यथा करोत्यात्मकार्यं स्वामिकार्यं ततोऽधिकम् ॥५७॥

चतुर्गुणेन यत्नेन कायवाङ्मानसेन च ।

भृत्यैव तुष्टो मृदुवाक् कार्यदक्षः शुचिर्दृढः ॥५८॥

परोपकरणे दक्षो ह्यपकारपराङ्मुखः ।

स्वाम्यागस्कारिणं पुत्रं पितरं वापि दर्शकः ॥५९॥

विवाहे इति । सुकुल इति । विवाहे उद्वाहकृत्ये भोजने च नित्यं सततं कुलजातिविवेचनं कुलजातिविचारः कार्यमिति शेषः । सत्यवाक् गुणसम्पन्नः अभिजनवान् महावंशप्रसूतः धनी धनसम्पन्नः सुकुलः निर्दोषवंशजातः सुशीलः सुकर्मा तथा निरालसः आलस्यरहितः जनः यथा आत्मकार्यं करोति, स्वामिकार्यं ततः तस्मात् आत्मकार्यात् अधिकं यथा तथा करोतीत्यन्वयः ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

चतुर्गुणेनेति । भृत्यः कायवाङ्मानसेन कायिकेन वाचिकेन मानसिकेन कर्मणा यत्नेन च चतुर्गुणेन चतुर्णां गुणानां समाहारः तेन तथा भृत्या वेतनेन च तुष्टः मृदुवाक् मधुरभाषी, कार्यदक्षः शुचिः शुद्धचेताः तथा दृढः कार्येषु निश्चलः भवेदिति शेषः ॥ ५८ ॥

परोपकरणे इति । किञ्च परोपकरणे परेषाम् उपकारविधाने दक्षः निपुणः, अपकारपराङ्मुखः तथा स्वाम्यागस्कारिणं स्वामिनि प्रभौ अपराधकारिणं पुत्रं स्वामिपुत्रं पितरञ्च

अन्यायगामिनि पत्न्यौ यतद्रूपः सुबोधकः ।

नाच्चेप्ता तद्गिरं काञ्चित् तन्नूनस्याप्रकाशकः ॥ ६० ॥

अदीर्घसूत्रः सत्कार्ये ह्यसत्कार्ये चिरक्रियः ।

न तज्जाय्यापुत्रमितृच्छिद्रदर्शी कदाचन ॥ ६१ ॥

तद्वत् बुद्धिस्तदीयेषु भार्यापुत्रादिवन्धुषु ।

न श्लाघते स्पर्द्धते न नाभ्यसूयति निन्दति ॥ ६२ ॥

स्वामिन इति शेषः दर्शकः यथा स्वामिनः पुत्रः पिता वा तस्य अपकारी न भवेत् तथा दर्शनकारी भवेदिति शेषः ॥ ५८ ॥

अन्यायेति । पुनश्च पत्न्यौ स्वामिनि अन्यायगामिनि अनौचित्यप्रवृत्ते सति यतद्रूपः यतत् रूपं यस्य स यत्नवानित्यर्थः सन् यतदिति यतधातोरात्मनेपदिनोऽपि शब्दप्रत्यय आर्षः सुबोधकः यत्नेन सत्यथप्रवर्तकः, काञ्चित् तद्गिरं तस्य स्वामिनः गिरं तस्य स्वामिनः गिरं वाचं न आच्चेप्ता न तद्वाक्योपावाक्प्रयोक्ता इत्यर्थः तथा तन्नूनस्य तन्नूनताया इत्यर्थः भावप्रधाननिर्देशः । अप्रकाशकः प्रभोर्यदि कुत्रचित् तृटिर्दृश्यते न प्रकाशकारी भवेदिति भावः ॥ ६० ॥

अदीर्घसूत्र इति । अपरञ्च सत्कार्ये शोभनकर्मणि दानादौ अदीर्घसूत्रः सत्वरः, असत्कार्ये मन्दकार्ये हिंसादिकर्मणीत्यर्थः चिरक्रियः कृतविलम्बः भवेत् । तथा कदाचन तस्य प्रभो भार्याणां पुत्राणां मित्राणाञ्च छिद्रदर्शी दोषानुसन्धायी न भवेत् ॥ ६१ ॥

तदिति । तदीयेषु स्वामिसम्बन्धिषु भार्यापुत्रादिवन्धुषु तद्वत् तादृशी स्वामिसदृशी बुद्धिर्यस्य तादृशः स्वामी यथा ते वृत्तते तथा वर्त्तमान इत्यर्थः भवेत्, किञ्च स्वयं न श्लाघते न

नेच्छत्यन्याधिकारं हि निष्पृहो मोदते सदा ।

तद्वत्तवस्त्रभूषादिधारकस्तत् पुरोऽनिशम् ॥ ६३ ॥

भृतितुल्यव्ययी दान्तो दयालुः शूर एव हि ।

तदकार्यस्य रहसि सूचको भृतको वरः ॥ ६४ ॥

विपरीतगुणैरेभिर्भृतको निन्द्य उच्यते ।

ये भृत्या हीनभृतिका ये दण्डेन प्रकर्षिताः ॥ ६५ ॥

स्नाघां कुर्यात्, न अभ्यसूयति न स्वामिनः तदीयानाञ्च गुणेषु  
दोषारोपं कुर्यात् न निन्दति न निन्दां कुर्याच्च ॥ ६२ ॥

नेति । अन्येषाम् अधिकारं न इच्छति अपरराजकर्म-  
चारिणां कार्यं लालसां न कुर्यात् द्विशब्दः अवधारणे ।  
निष्पृहः अलुब्धः सन् सदा मोदते आनन्दं प्रकाशयेदित्यर्थः तथा  
अनिशं सततं तद्वत्तान् स्वामिदत्तान् वस्त्रभूषादीन् वसनाल-  
ङ्कारादीन् धारयतीति तथोक्तः सन् तस्य प्रभोः पुरः अग्रे तिष्ठे-  
दिति शेषः ॥ ६३ ॥

भृतीति । अन्यच्च भृतितुल्यव्ययः वेतनानुसारेण व्ययकारी  
न तु वृथाव्ययकारीत्यर्थः दान्तः संयतेन्द्रियः दयालुः दयाशीलः  
शूरः अभीरुरित्यर्थः तथा रहसि एकान्ते केवलप्रभुसमक्षं न तु  
अन्यसन्निधावित्यर्थः तस्य प्रभोः यत् अकार्यम् अनुचितकार्यं  
तस्य सूचकः प्रकाशकः भवेत् । ईदृशो भृतकः भृत्यः वरः  
श्रेष्ठः ॥ ६४ ॥

विपरीतगुणैरित्यादि । एभिर्विपरीतगुणैः पूर्वोक्तविरुद्धगुणै-  
रित्यर्थः उपलक्षितः भृतकः निन्द्यः दूष्य उच्यते । ये भृत्याः  
हीना भृतिः येषां तथोक्ताः स्वल्पवेतना इत्यर्थः ये दण्डेन प्रक-  
र्षिताः प्रपीडिताः सततदोषकारित्वादिति भावः । ये शठाः

शठाश्च कातरा लुब्धाः समक्षं प्रियवादिनः ।  
 मत्ता व्यसनिनश्चार्ता उत्कोचेष्टाश्च देविनः ॥६६॥  
 नास्तिका दाम्भिकाश्चैवासत्यवाचोऽप्यसूयकाः ।  
 ये चापमानिता येऽसद्वाक्यैर्मर्मणि भेदिताः ॥६७॥  
 रिपोर्मित्राः सेवकाश्च पूर्ववैरानुबन्धिनः ।  
 चण्डाः साहसिका धर्महीना नैते सुसेवकाः ।  
 संचेपतस्तु कथितं सदसद् भृत्यलक्षणम् ॥ ६८ ॥  
 समासतः पुरोधादिलक्षणं यत् तदुच्यते ।  
 पुरोधाश्च प्रतिनिधिः प्रधानः सचिवस्तथा ॥६९॥

धूर्ताः कातराः भौरवः लुब्धाः लोभपरायणाः समक्षं प्रियवा-  
 दिनः मत्ताः मद्यरताः व्यसनिनः मृगयादिदोषसंस्पृष्टाः आर्ताः  
 रोगिणः उत्कोचेष्टाः उत्कोचे इष्टम् अभिलाषः येषां तथाभूताः  
 देविनः द्यूतरताः नास्तिकाः परलोकाद्यमानिनः दाम्भिकाः  
 वञ्चकाः तथा असत्यवाचः असत्यवादिनः असूयकाः दोष-  
 रूपाः । ये अपमानिताः कृतावमानाः, ये च असद्वाक्यैः  
 दुरुक्तिभिः मर्मणि भेदिताः कृतमर्माघाता इत्यर्थः, रिपो  
 शत्रोः मित्राः सुहृदः अत्र मित्रशब्दस्य पुलिङ्गप्रयोगः आर्ष इति  
 तथा रिपोः सेवकाः भृत्याः तथा ये च पूर्ववैरानुबन्धिनः पूर्व-  
 शत्रुतासम्बन्धविशिष्टा तथा चण्डाः कोपनाः साहसिकाः अवि-  
 मृथकारिणः तथा धर्महीनाः अधार्मिकाः, एते सुसेवकाः सुभृत्य-  
 न भवन्तीति शेषः । संचेपतस्तु संचेपेणैव सदसद्भृत्यलक्षण-  
 सताम् असताञ्च भृत्यानां लक्षणं स्वरूपं कथितम् ॥६५—६८॥

समासत इति । मन्त्री चेति । पुरोधादिलक्षणं यत् अस्तीति

मन्त्री च प्राङ्विवाकश्च पण्डितश्च सुमन्त्रकः ।  
 अमात्यो दूत इत्येता राज्ञः प्रकृतयो दश ॥७०॥  
 दशमांशाधिकाः पूर्वं दूतान्ताः क्रमशः स्मृताः ।  
 अष्टप्रकृतिभिर्युक्तो नृपः कैश्चित् स्मृतः सदा ॥७१॥  
 सुमन्त्रः पण्डितो मन्त्री प्रधानः सचिवस्तथा ।  
 अमात्यः प्राङ्विवाकश्च तथा प्रतिनिधिः स्मृतः ॥७२॥  
 एता भृतिसमाख्यष्टौ राज्ञः प्रकृतयः सदा ।  
 इङ्गिताकारतत्त्वज्ञो दूतस्तदनुगः स्मृतः ॥ ७३ ॥

शेषः तत् समासतः संक्षेपेण उच्यते । पुरोधाः पुरोहितः, प्रति-  
 निधिः प्रधानः सचिवः, मन्त्री प्राङ्विवाकः, पण्डितः सुम-  
 न्त्रकः, अमात्यः, दूतश्च एताः दश राज्ञः प्रकृतयः ॥६६—७०॥

दशेति । दूतान्ताः पुरोहितादिदूतपर्यन्ताः प्रकृतयः क्रमशः  
 दशमांशाधिकाः दशमेन अंशेन अधिकाः स्मृताः कथिताः अयं  
 भावः पुरोहितस्य या भृतिः, सा प्रतिनिधे दशमांशाधिका ज्ञेया  
 प्रतिनिधेर्या भृतिः, सा प्रधानस्य दशमांशाधिका, प्रधानस्य या  
 भृतिः, सा सचिवस्य दशमांशाधिका सचिवस्य या भृतिः सा  
 मन्त्रिणोदशमांशाधिका, मन्त्रिणो या भृतिः सा प्राङ्विवा-  
 कस्य दशमांशाधिका, प्राङ्विवाकस्य या भृतिः सा पण्डितस्य  
 दशमांशाधिका, पण्डितस्य या भृतिः सा सुमन्त्रस्य दश-  
 मांशाधिका, सुमन्त्रस्य या भृतिः सा अमात्यस्य दशमांशा-  
 धिका अमात्यस्य या भृतिः सा दूतस्य दशमांशाधिका इति ।  
 कैश्चित् पण्डितैः नृपः अष्टप्रकृतिभिः सदा युक्तः स्मृतः कथितः ॥७१॥  
 सुमन्त्र इति । एता इति । सुमन्त्रः, पण्डितः, मन्त्री, प्रधान-

पुरोधाः प्रथमं श्रेष्ठः सर्वेभ्यो राजराष्ट्रभृत् ।  
 तदनु स्यात् प्रतिनिधिः प्रधानस्तदनन्तरम् ॥ ७४ ॥  
 सचिवस्तु ततः प्रोक्तो मन्त्री तदनु चोच्यते ।  
 प्राड्विवाकस्ततः प्रोक्तः पण्डितस्तदनन्तरम् ॥ ७५ ॥  
 सुमन्त्रस्तु ततः ख्यातो ह्यमात्यस्तु ततः परम् ॥ ७६ ॥  
 दूतस्ततः क्रमादेते पूर्वश्रेष्ठा यथा गुणाः ॥ ७७ ॥

सचिवः, अमात्यः, प्राड्विवाकः, प्रतिनिधिः तथा इङ्गिताकारः  
 तत्त्वज्ञः इङ्गितं हृदगतो भाव इति कोषात् । आकारः शरीर-  
 क्रिया तयोस्तत्त्वज्ञः तदनुगः तेषः सुमन्त्रादीनां तस्य राज्ञः वा  
 अनुगामी स्मृतः कथितः दूतश्च एताः अष्टौ राज्ञः प्रकृतयः सदा  
 भृतिसमाः भृत्या वेतनेन समा तुल्याः तुल्यवेतना इत्यर्थः ।  
 इदञ्च मतभेदेनोक्तं पूर्वविरोधादिति विभाव्यम् ॥ ७२ ॥ ७३ ॥

पुरोधा इति । सचिव इति । सुमन्त्र इति । दूत इति ।  
 पुरोधाः पुरोहितः प्रथमम् अग्रतः सर्वेभ्यः प्रतिनिध्यादिभ्यः  
 श्रेष्ठः सन् राज्ञः राष्ट्रं विभर्त्तीति राजराष्ट्रभृत् राज्यरक्षणकारी-  
 त्यर्थः वैधक्रियया राष्ट्रविघ्ननाशादिति भावः । प्रतिनिधिः तदनु  
 तस्य पश्चात् तदपेक्षया न्यून इत्यर्थः स्यात् । तदनन्तरं प्रधान-  
 ततः सचिवः प्रोक्तः कथितः तदनु तत्पश्चात् मन्त्री उच्यते ।  
 ततो न्यूनतयेत्यर्थः । ततः प्राड्विवाकः विचारपतिः प्रोक्तः  
 कथितः । तदनन्तरं पण्डितः । ततः अनन्तरं सुमन्त्रः ख्यातः  
 कथितः, ततः परम् अमात्यः, ततः परं दूतः न्यूनतया कथित-  
 इति शेषः एते पुरोहितादयः क्रमात् यथाक्रमं यथागुणाः गुण-  
 नुसारेण पूर्वश्रेष्ठाः पूर्वः पूर्वः श्रेष्ठो येषां तथोक्ताः भवन्तीति  
 शेषः ॥ ७४—७७ ॥

मन्त्रानुष्ठानसम्पन्नस्त्रैविद्यः कर्मतत्परः ।

जितेन्द्रियो जितक्रोधो लोभमोहविवर्जितः ॥७८॥

षडङ्गवित् साङ्गधनुर्वेदविच्चार्थधर्मवित् ।

यत् कोपभीत्या राजापि धर्मनीतिरतो भवेत् ॥७९॥

नीतिशस्त्रास्त्रव्यूहादिकुशलस्तु पुरोहितः ।

सैवाचार्यः पुरोधा यः शापानुग्रहयोः क्षमः ॥८०॥

विना प्रकृतिसन्मन्त्राद्राज्यनाशो भवेद् ध्रुवम् ।

रोधनं न भवेत् तस्मात् राज्ञस्ते स्युः सुमन्त्रिणः ॥८१॥

पुरोहितलक्षणमाह मन्त्रेत्यादि । यः मन्त्रस्य अनुष्ठानेन यथाविधानेन सम्पन्नः यथाविहितमन्त्रानुरूपकार्यकारीत्यर्थः, त्रैविद्यः तिसृणां विद्यानां त्रिवेदानां पारदर्शीत्यर्थः, कर्मतत्परः कार्यानुष्ठाने त्वरावान् जितेन्द्रियः, जितक्रोधः, लोभमोहविवर्जितः, षडङ्गवित् षट् अङ्गानि वेदाङ्गानि व्याकरणशिद्धाकल्पनिरुक्तच्छन्दो ज्योतिषाख्यानि वेत्तीति तथाभूतः साङ्गान् अङ्गसहितान् धनुर्वेदान् वेत्तीति तादृशः तथा अर्थश्च धर्मश्च तौ वेत्तीति तथाभूतः धर्मशास्त्रार्थशास्त्रकुशल इत्यर्थः । यस्य कोपभीत्या क्रोधभयेन राजापि किमन्ये इति भावः धर्मनीतिरतः यथा धर्मनीतितत्परः भवेत् । यश्च नीतिशस्त्रास्त्रव्यूहादिकुशलः नीतिशास्त्रे शस्त्रविद्यायाम् अस्त्रविद्यायां तथा व्यूहादिकर्मणि सुनिपुण इत्यर्थः शापानुग्रहयोः अभिसम्पातप्रसादयोः क्षमः समर्थश्च सः पुरोहितः । यश्च पुरोधाः पुरोहितः स एव आचार्यः सैवाचार्य इति सन्धिरार्षः ॥ ७८—८० ॥

विनेति । प्रकृतीनां पूर्वोक्तानां पुरोहितादीनां सन्मन्त्रान्

न बिभेति नृपो येभ्यस्तैः स्यात् किं राज्यवर्द्धनम्  
 यथालङ्कारवस्त्राद्यैः स्त्रियो भूष्यास्तथा हि ते ॥८२॥  
 राज्यं प्रजा बलं कोशः सुनृपत्वं न वर्द्धितम् ।  
 यन्मन्वतोऽरिनाशस्तैर्मन्त्रिभिः किं प्रयोजनम् ॥८३॥  
 कार्याकार्यप्रविज्ञाता स्मृतः प्रतिनिधिस्तु सः ।  
 सर्वदर्शी प्रधानस्तु सेनावित् सचिवस्तथा ॥८४॥

सुनिश्चितात् मन्त्रणात् विना ध्रुवं निश्चितं राज्यनाशः भवेत्  
 एवं राज्ञः रोधनम् अपथात् निवर्त्तनं न भवेत्, तस्मात् ते पुरो-  
 हितादयः सुमन्त्रिणः स्युः भवेयुः ॥ ८१ ॥

नेति । येभ्यः पुरोहितादिभ्यः नृपः न बिभेति, तैः पुरो-  
 हितादिभिः किं राज्यस्य वर्द्धनं वृद्धिः अभ्युदय इत्यर्थः स्यात् ?  
 नैवेत्यर्थः । यथा अलङ्कारवस्त्राद्यैः स्त्रियः भूष्याः अलङ्कार्याः  
 ते पुरोहितादयः तथाहि तादृशा एव पुरोहितादयः केवलं  
 राज्ञः परिच्छेदाः न भवन्ति अपितु तादृशाः यादृशेभ्यः भयात्  
 राजापि न कुपथगामी भवेदिति भावः ॥ ८२ ॥

राज्यमिति । येषां मन्वतः मन्त्रणात् राज्यं प्रजा, बलं  
 सैन्यं कोशः धनं तथा सुनृपत्वं सौराज्यं न वर्द्धितं न वृद्धिं प्राप्तं  
 तथा अरिनाशश्च शत्रुक्षयश्च न भवतीति शेषः तैः मन्त्रिभिः  
 किं प्रयोजनम् ? न किमपीत्यर्थः ॥ ८३ ॥

प्रतिनिध्यादीनां लक्षणानि निरूपयति कार्याकार्यत्या-  
 दिना । यः कार्यस्य अकार्यस्य च परिज्ञाता प्रकर्षेण विज्ञान-  
 वान् सः प्रतिनिधिः स्मृतः कथितः । यः सर्वदर्शी सः प्रधानः  
 यस्य सेनावित् सैन्यविज्ञानवान् स सचिवः ॥ ८४ ॥

मन्त्री तु नीतिकुशलः पण्डितो धर्मतत्त्ववित् ।  
 लोकशास्त्रनयज्ञस्तु प्राड्विवाकः स्मृतः सदा ॥ ८५ ॥  
 देशकालप्रविज्ञाता ह्यमात्य इति कथ्यते ।  
 आयव्ययप्रविज्ञाता सुमन्त्रः स च कीर्तितः ॥ ८६ ॥  
 इङ्गिताकारचेष्टाज्ञः स्मृतिमान् देशकालवित् ।  
 षाड्गुण्यमन्त्रविद्वाग्मी वीतभीर्दूत इथ्यते ॥ ८७ ॥  
 अहितञ्चापि यत्कार्यं सद्यः कर्तुं यदोचितम् ।  
 अकर्तुं यद्वितमपि राज्ञः प्रतिनिधिः सदा ।

मन्त्रीति । यः नीतौ नीतिशास्त्रे तदनुष्ठाने च कुशलः स  
 मन्त्री । यः धर्मस्य तत्त्वं याथार्थ्यं वेत्तीति तथोक्तः सः पण्डितः ।  
 यश्च सदा लोकशास्त्रनयज्ञः लोकं लोकाचारं शास्त्रनयञ्च जाना-  
 तीति तथा भूतः प्राड्विवाकः स्मृतः कथितः ॥ ८५ ॥

देशेति । यश्च देशस्य कालस्य च प्रविज्ञाता अस्मिन् देशे  
 एवं व्यवहर्तव्यम् अस्मिन् काले च एवमिति अभिज्ञानवान्  
 सः हि अमात्य इति कथ्यते । यश्च आयस्य अर्थागमस्य व्ययस्य  
 अर्थक्षयस्य च प्रविज्ञाता विज्ञानवान् आयव्ययकर्मनिपुण  
 इत्यर्थः सः सुमन्त्रः कीर्तितः ॥ ८६ ॥

इङ्गितेति । यः इङ्गितम् अन्तर्भावम् आकारं चेष्टाञ्च  
 जानातीति तथोक्तः स्मृतिमान् मेधावी, देशकालवित् देश-  
 कालानुरूपकार्यवेत्ता, षाड्गुण्यानां सन्धिविग्रहयानासनद्वैधी-  
 भावसमाश्रयाणां मन्त्रज्ञानवान्, वाग्मी वचनपटुः तथा  
 वीतभीः निर्भयः सः दूतः इथ्यते ॥ ८७ ॥

सम्प्रति प्रतिनिध्यादिमन्त्रिपर्यन्तानां कार्याणि क्रमेणाह

बोधयेत् कारयेत् कुर्यान्न कुर्यान्न प्रबोधयेत् ॥८८॥

सत्यं वा यदि वासत्यं कार्यजातञ्च यत् किल ।

सर्वेषां राजकृत्येषु प्रधानस्तद्विचिन्तयेत् ॥ ८९ ॥

गजानाञ्च तथाश्वानां रथानां पदगामिनाम् ।

सुदृढानां तथोष्ट्राणां वृषाणां सद्य एव हि ॥९०॥

वाद्यभाषासु सङ्केतव्यूहाभ्यसनशालिनाम् ।

प्राक् प्रत्यग् गामिनां राज्यचिह्नशस्त्रास्त्रधारिणाम् ।

परिचारगणानां हीनमध्योत्तमकर्मणाम् ।

अस्त्राणामस्त्रजातीनां सङ्घः स्वतुरगीगणः ॥९२॥

अहितमित्यादि । प्रतिनिधिः सदा यत् कार्यम् अहितमपि  
सद्यः अविलम्बेनैवेत्यर्थः यदा कर्तुमुचितं यच्च हितमपि  
अकर्तुं यदा उचितं तत् राज्ञः बोधयेत् निवेदयेत् कारयेत्  
कुर्याच्च तथा न कुर्यात् न प्रबोधयेत् न निवेदयेच्च कर्तुमुचि-  
तस्य निवेदनं करणञ्च अनुचितस्य अनिवेदनम् अकरणञ्च विधे-  
प्रतिनिधेरिति फलितार्थः । प्रधानः सर्वेषां राजकृत्येषु मध्ये द-  
कार्यजातं सत्यं यदि वा असत्यं किल निश्चितं भवेत् सक-  
विचिन्तयेत् विशेषेण पर्यालोचयेत् । सचिवः गजान-  
अश्वानां रथानां पदगामिनां पदातीनां सुदृढानाम् उष्ट्रा-  
वृषाणां, वाद्यभाषासु अपरभाषासु यः सङ्केतः दृङ्गितबोध-  
व्यूहः बलरचना च तत्र अभ्यसनशालिनां कृताभ्यासानां प्राक्  
प्रत्यग्गामिनां पूर्वपश्चिमदेशगामिनां मध्यमोत्तमकर्मणां म-  
विधकर्मचारिणाम् उत्तमकर्मचारिणां राजचिह्नशस्त्रा-  
धारिणां राजचिह्नधारिणां शस्त्रास्त्रधारिणाञ्च परिचारगणान-

कार्यक्षमश्च प्राचीनः साद्यस्कः कति विद्यते ।

कार्यासमर्थः कत्यस्ति शस्त्रगोलाग्निचूर्णयुक् ॥८३॥

सांग्रामिकश्च कत्यस्ति सम्भारस्तान् विचिन्त्य च ।

सचिवश्चापि तत्कार्यं राज्ञे सम्यक् निवेदयेत् ॥८४॥

साम दानञ्च भेदश्च दण्डः केषु कदा कथम् ।

कर्त्तव्यः किं फलं तेभ्यो बहु मध्यं तथाल्पकम् ।

एतत् सञ्चिन्त्य निश्चित्य मन्त्री सर्वं निवेदयेत् ॥८५॥

साक्षिभिर्लिखितैर्भोगैश्चलैर्भूतैश्च मानुषान् ।

स्वेनोत्पादितसम्प्राप्तव्यवहारान् विचिन्त्य च ॥८६॥

भृत्यवर्गणाम् अस्त्राणाम् अस्त्रपातानाञ्च नियमानिति शेषः  
विचिन्त्य तथा कार्यक्षमः प्राचीनः पुरातनः साद्यस्कः नूतनो  
वा स्वतुरगीगणः अश्वारोहवर्गः कति विद्यते ? कार्यासमर्थः  
कार्यक्षमश्च कति अस्ति ? तथा शस्त्रगोलाग्निचूर्णयुक् शस्त्राणि  
गोलाग्नयः गोलाकाराग्निपिण्डाः चूर्णानि वारुदेति प्रसिद्धानि  
तैः युक् युक्तः सांग्रामिकः सम्भारः द्रव्यसमूहः कति अस्ति ?  
तान् एतान् पूर्वोक्तान् सर्वान् विचिन्त्य च राज्ञे एतत्कार्यं  
तत्तद्विषयकार्यजातं सद्यः सम्यक् याथातथ्येन निवेदयेत् ।  
मन्त्री केषु विषयेषु कदा कथं केन प्रकारेण साम सन्धिः दानं  
त्यागः, भेदः उपजापः तथा दण्डः विग्रहः कर्त्तव्यः प्रयोक्तव्यः  
तेभ्यश्च सामादिभ्यः किं फलं तच्च फलं बहु मध्यं वा अल्पकम्  
एतत्सर्वं संचिन्त्य निर्णय्य च निवेदयेत् राज्ञे इति शेषः ॥८८-८५॥

प्राड्विवाककार्यमाह साक्षिभिरित्यादि । सभास्थितः  
प्राड्विवाकः विचारपतिः ससभ्यः सभ्यैः परिवृतः सन् साक्षिभिः

दिव्यसंसाधनाद्वापि केषु किं साधनं परम् ।  
 युक्तिप्रत्यक्षानुमानोपमानैर्लोकशास्त्रतः ॥ ८७ ॥  
 बहुसम्मतसंसिद्धान् विनिश्चित्य सभास्थितः ।  
 ससभ्यः प्राङ्विवाकस्तु नृपं संबोधयेत् सदा ॥ ८८ ॥  
 वर्त्तमानाश्च प्राचीना धर्माः के लोकसंश्रिताः ।  
 शास्त्रेषु के समुद्दिष्टा विरुध्यन्ते च केऽधुना ॥ ८९ ॥  
 लोकशास्त्रविरुद्धाः के पण्डितस्तान् विचिन्त्य च ।  
 नृपं संबोधयेत् तैश्च परत्वेह सुखप्रदैः ॥ ९० ॥

लिखितैः भोगैः सत्यभूतैः क्लृप्तभूतैः अलीकैश्च मानुषान् स्वे-  
 स्वयं स्वेच्छयेत्यर्थः उत्पादिता वा सम्प्राप्ताः याथार्थ्येन उप-  
 स्थिताः व्यवहाराः विवादाः येषां तान् मिथ्याकल्पितविवादान्  
 सत्यविवादान् वा इत्यर्थः विचिन्त्य समालोच्य तेषु च कांश्चिद्  
 दिव्यसंसाधनान् दिव्यमात्रसाधनान् साक्षिलेख्यादिरहितत्वं  
 दिति भावः कांश्चिद् वा बहुसम्मतसिद्धान्तान् अनेकविधा-  
 सम्मतान् इत्यर्थः विनिश्चित्य केषु विवादेषु परं श्रेष्ठं साध-  
 नं प्रमाणं किम् एतत्सर्वं युक्त्या प्रत्यक्षतः अनुमानेन उपमानेन  
 दृष्टान्तेन लोकतः शास्त्रतश्च सुनिश्चित्य सदा नृपं संबोधये-  
 निवेदयेत् ॥ ८६ ॥ ८७ ॥ ८८ ॥

पण्डितकार्यमाह वर्त्तमाना इति । लोकेति च । पण्डित-  
 के प्राचीनाः के च वर्त्तमानाः धर्माः लोकेषु संश्रिताः, लोका-  
 कान् प्राचीनान् वा वर्त्तमानान् नव्यान् धर्मान् आश्रित्य व्यव-  
 हरन्तीत्यर्थः । के धर्माः शास्त्रेषु समुद्दिष्टाः विहिताः अधुना  
 इदानीं विरुध्यन्ते च शास्त्रनिर्दिष्टा अपि नाद्रियन्ते इत्यर्थः ।

इयच्च सञ्चितं द्रव्यं वत्सरेऽस्मिन् तृणादिकम् ।  
 व्ययीभूतमियच्चैव शेषं स्थावरजङ्गमम् ।  
 इयदस्तीति वै राज्ञे सुमन्तो विनिवेदयेत् ॥१०१॥  
 पुराणि च कति ग्रामा अरण्यानि च सन्ति हि ।  
 कर्षिता कति भूः केन प्राप्तो भागस्ततः कति ॥१०२॥  
 भागशेषं स्थितं कस्मिन् कल्यकृष्टा च भूमिका ।  
 भागद्रव्यं वत्सरेऽस्मिन् शुल्कदण्डादिजं कति ॥१०३॥  
 अकृष्टपच्यं कति च कति चारण्यसम्भवम् ।  
 कति चाकरसञ्जातं निधिप्राप्तं कतीति च ॥१०४॥  
 के च धर्माः लोके प्रचलिताः अथच शास्त्रविरुद्धाः तान् विचिन्त्य  
 परत्र इह च सुखप्रदैः तैः धर्मैः नृपं संबोधयेत् ॥ ८८ ॥ १०० ॥  
 सुमन्तामत्ययोः कार्याण्याह इयदित्यादि । सुमन्तः अस्मिन्  
 वत्सरे इयत् एतत्परिमितं तृणादिकं स्थावरजङ्गमं स्थायि अ-  
 स्थायि च द्रव्यं सञ्चितं संगृहीतम् इयत् एतत्परिमितं व्ययी-  
 भूतम् इयच्च शेषम् अवशिष्टम् अस्तीति राज्ञे विनिवेदयेत्  
 विशेषेण ज्ञापयेत् । अमात्यः कति पुराणि नगराणि, कति  
 ग्रामाः कति अरण्यानि सन्ति विद्यन्ते हि शब्दोऽवधारणे । कति  
 कियत्परिमिता भूः कर्षिता कृषीबलैः कृतकर्षणा केन ततः  
 अकृष्टभूमेः कति कियत्परिमाणो भागः शस्यानामिति भावः  
 प्राप्तः, कति वा तस्मिन् क्षेत्रे भागशेषं स्थितम्, अकृष्टा च  
 भूमिका भूखण्डं कति ? अस्मिन् विषये वत्सरे प्रतिवर्षमित्यर्थः  
 शुल्कदण्डादिजं शुल्कं राजप्राप्यांशः दण्डः दोषिणां शासनेन  
 द्रव्यं धनं तदादिजं तत्प्रभृतिजनितं भागद्रव्यं कति ? अकृष्ट-

अस्वामिकं कति प्राप्तं नाष्टिकं तत्स्कराहतम् ।  
 सञ्चितन्तु विनिश्चित्यामात्यो राज्ञे निवेदयेत् ॥ १०४ ॥  
 समासाल्लक्षणं कृत्यं प्रधानदशकस्य च ।  
 उक्तं तल्लिखितैः सर्वं विन्द्यात् तदनुदर्शिभिः ॥ १०५ ॥  
 परिवर्त्य नृपो ह्येतान् युञ्ज्यादन्योऽन्यकर्मणि ॥ १०६ ॥  
 न कुर्यात् स्वाधिकबलान् कदापि ह्यधिकारिणः  
 परस्परं समबलाः कार्य्याः प्रकृतयो दश ॥ १०८ ॥

पथं विना कर्षणेन क्षेत्रोत्पन्नशस्यादिकं कति ? अरख्यसम्पत्  
 वनजातं द्रव्यं कति ? आकरसञ्जातं खनिजं द्रव्यजातं कति ?  
 निधिप्राप्तं रथ्यादौ पतितादि अनिर्णीतस्वामिकं वस्तु कति ?  
 अस्वामिकं स्वामिहीनम् उत्तराधिकारिरहितञ्च द्रव्यं कति ?  
 नाष्टिकं नष्टप्राप्तं हारितद्रव्यमित्यर्थः तथा तत्स्करस्यः चौरस्य  
 आहतं तेषां दण्डनेन प्राप्तं वा कति ? एतत् सर्वं संचिन्तय  
 सस्यक् चिन्तयित्वा विनिश्चित्य विशेषेण निर्णीय च राज्ञे निवेद  
 दयेत् । समासात् संचिन्तेषात् प्रधानदशकस्य दशानां पुरोहिता  
 दीनां प्रकृतीनां प्रधानं प्रकृतिः स्त्रियामित्यमरः । लक्षणं ह्ये  
 कार्य्यञ्च उक्तं कथितम् । नृपः तदनुदर्शितैः तत्तल्लक्षणकार्य्यैः  
 दर्शितैः कथितैः तल्लिखितैः तेषां पुरोहितादीनां लिखितैः सर्वं  
 विन्द्यात् । एवम् एतान् परिवर्त्य अन्योऽन्यकर्मणि परस्परकार्य्यं  
 सुमन्त्रम् अमात्यकर्मणि अमात्यञ्च सुमन्त्रकर्मणि इत्येवं विनि  
 मये नियुञ्ज्याच्च ॥ १०१—१०७ ॥

न कुर्यादिति । अधिकारिणः कार्य्यकारिणः कदापि स्वा  
 धिकबलान् निजक्षमताधिकक्षमताशालिनः न कुर्यात् हि

एकस्मिन्नधिकारे तु पुरुषाणां त्वयं सदा ।  
नियुञ्जीत प्राज्ञतमं मुख्यमेकन्तु तेषु वै ॥ १०६ ॥  
द्वौ दर्शकौ तु तत्कार्ये हायनैस्तन्निवर्त्तयेत् ।  
त्रिभिर्वा पञ्चभिर्वापि सप्तभिर्दशभिश्च वा ॥ ११० ॥  
दृष्ट्वा तत्कार्यकौशल्ये तथा तौ परिवर्त्तयेत् ।  
नाधिकारं चिरं दद्याद्यस्मै कस्मै सदा नृपः ॥ १११ ॥  
अधिकारे क्षमं दृष्ट्वा ह्यधिकारे नियोजयेत् ।  
अधिकारमदं पीत्वा को न मुह्येत् पुनश्चिरम् ? ॥ ११२ ॥

शब्दोऽवधारणे । तथा दश प्रकृतयः पुरोहितादयः परस्परं  
समबलाः तुल्यक्षमताशालिनः कार्य्याः ॥ १०८ ॥

एकस्मिन्निति । एकस्मिन् अधिकारे कर्मणि विषये सदा  
पुरुषाणां त्वयं नियुञ्जीत, तेषु त्रिषु मध्ये एकं मुख्यतमम् अति-  
थेष्ठं प्राज्ञं प्रकृष्टज्ञानवन्तं नियुञ्जीत ॥ १०९ ॥

द्वाविति । तत्कार्ये तस्मिन् कर्मणि दर्शकौ नियुक्तव्याविति  
शेषः त्रिभिः पञ्चभिः वा सप्तभिर्वा दशभिः हायनैः वर्षैः तन्नि-  
वर्त्तनं तयोर्दर्शकयोः निवर्त्तनं परिवर्त्तनं कर्त्तव्यमिति शेषः ॥ ११० ॥

दृष्ट्वेति । तत्कार्यकौशल्ये तयोः कार्य्यं कौशलं नैपुण्यञ्च  
दृष्ट्वा तौ परिवर्त्तयेत् । नृपः सदा सततं यस्मै कस्मै अपि चिरम्  
अधिकारं न दद्यात् ॥ १११ ॥

अधिकार इति । अधिकारं क्षमं कार्य्यक्षमं दृष्ट्वा हि दृष्ट्वैव  
अधिकारे नियोजयेत् । कः पुनः चिरम् अधिकारजं मदं पीत्वा  
न मुह्येत् ? अपितु सर्व एव मुह्येदित्यर्थः अतश्चिरम् अधिकारो  
न दातव्य इति भावः ॥ ११२ ॥

अतः कार्य्यक्षमं दृष्ट्वा कार्य्येऽन्ये तं नियोजयेत् ।  
 तत्कार्य्ये कुशलं चान्यं तत्पदानुगतं खलु ॥११॥  
 नियोजयेद्वर्त्तने तु तदभावे तथापरम् ।  
 तद्गुणो यदि तत्पुत्रस्तत्कार्य्ये तं नियोजयेत् ॥११॥  
 यथा यथा श्रेष्ठपदे ह्यधिकारी यदा भवेत् ।  
 अनुक्रमेण संयोज्यो ह्यन्ते तं प्रकृतिं नयेत् ॥११॥  
 अधिकारिबलं दृष्ट्वा योजयेद्दर्शकान् बहून् ।  
 अधिकारिणमेकं वा योजयेद्दर्शकैर्विना ॥ ११६ ॥

अत इति । नियोजयेदिति । अतः अस्मात् कारणात् तं  
 कर्मकरं कार्य्यक्षमं दृष्ट्वा एकस्मात् कार्य्यात् अन्ये अन्यन्ति  
 अन्ये इति आर्षम् । कार्य्ये नियोजयेत् । वर्त्तने तु कार्य्यचक्षुः  
 सति तु अन्यच्च तत्पदानुगतं तत्पदस्थितं जनं तत्कार्य्ये कुशलं  
 परिवर्त्तितकार्य्यक्षमं नियोजयेत् खलु अवधारणे तदभावे  
 अशक्तौ तथा कार्य्यक्षममपरं नियोजयेत् । यदि तत्पुत्रः तत्  
 पूर्वकर्मचारिणः पुत्रः तद्गुणः पितृवत् गुणशाली विद्यते इति  
 शेषः तदा तत्कार्य्ये तं नियोजयेत् ॥ ११३ ॥ ११४ ॥

यथेति । यदा नवः कर्मचारी यथा यथा यादृशे यादृशे  
 श्रेष्ठपदे अधिकारी योग्यः भवेत् तादृशे तादृशे सः अनुक्रमेण  
 संयोज्यः उत्तरोत्तरं नियोज्यः, हिशब्दः अवधारणे । अतः  
 चरमे तं क्रमोन्नतं कर्मचारिणं प्रकृतिं स्वभावं प्रधानं वा स्वतः  
 दृक्पदमित्यर्थः नयेत् प्रापयेत् ॥ ११५ ॥

अधिकारबलमिति । अधिकारबलं कार्य्यबलं कार्य्यगौरव-  
 मित्यर्थः दृष्ट्वा विचार्य्य बहून् दर्शकान् कार्य्यदर्शिनः योजयेत्

ये चान्ये कर्मसचिवास्तान् सर्वान् विनियोजयेत् ।

गजाश्वरथपादातपशूङ्गमृगपक्षिणाम् ॥ ११७ ॥

सुवर्णरत्नरजतवस्त्राणामधिपान् पृथक् ।

वित्तानामधिपं धान्याधिपं पाकाधिपं तथा ॥ ११८ ॥

आरामाधिपतिञ्चैव सौधगेहाधिपं पृथक् ।

सम्भारपं देवतुष्टिपतिं दानपतिं सदा ॥ ११९ ॥

साहसाधिपतिञ्चैव ग्रामनेतारमेव च ।

भागहारं तृतीयन्तु लेखकञ्च चतुर्थकम् ।

शुल्कग्राहं पञ्चमञ्च प्रतिहारं तथैव च ॥ १२० ॥

षट्कमेतन्नियोक्तव्यं ग्रामे ग्रामे पुरे पुरे ॥ १२१ ॥

नियोजयेत् । वा अथवा दर्शकं विना एकं कार्यसमर्थं अधिकारिणं योजयेत् ॥ ११६ ॥

ये चेत्यादि । ये च अन्ये कर्मसचिवाः कर्मक्षमा पुरुषाः तान् सर्वान् यथायथं गजानाम् अश्वानां रथानां पादातानां पशूनां गवादीनाम् उद्गाणां मृगाणां पक्षिणां सुवर्णानां रत्नानां रजतानां तथा वस्त्राणाम् अधिपान् वित्ताधिपं धनाध्यक्षं धान्याधिपं पाकाधिपं पाकाध्यक्षम् आरामाधिपतिम् उद्यानाध्यक्षं सौधगेहाधिपं हर्म्याध्यक्षं सम्भारपं सामान्यद्रव्यसमूहाधिपतिं देवतुष्टिपतिं देवसेवाध्यक्षं दानपतिं दानाध्यक्षं साहसाधिपतिं संग्रामादिसाहसकर्मध्यक्षं ग्रामनेतारं ग्रामाध्यक्षं भागहारं प्रजाभ्यः राजग्राह्यांशदायिनं लेखकं लिपिकरं शुल्कग्राहं राजग्राह्यवाणिज्याद्यंशहरं तथा प्रतिहारं द्वारपालं पृथक् पृथक्

तपस्विनो दानशीलाः श्रुतिस्मृतिविशारदाः ।  
 पौराणिकाः शास्त्रविदो दैवज्ञा मान्त्रिकाश्च ये ॥१२॥  
 आयुर्वेदविदः कर्मकाण्डज्ञास्तान्त्रिकाश्च ये ।  
 ये चान्ये गुणिनः श्रेष्ठा बुद्धिमन्तोऽजितेन्द्रियाः ॥१२॥  
 तान् सर्वान् पोषयेद् भृत्या दानैर्मनैः सुपूजितान् ॥  
 हीयते चान्यथा राजा ह्यकीर्त्तिं चापि विन्दति ॥१२॥  
 बहुसाध्यानि कार्याणि तेषामप्यधिपांस्तथा ।  
 तत्तत्कार्येषु कुशलान् ज्ञात्वा तांस्तु नियोजयेत् ॥१२॥

योजयेत् तत्तदाधिपत्यकर्मणि नियोजयेत् । किञ्च साहसधि-  
 पतिप्रभृतिषट्कं ग्रामे ग्रामे प्रतिग्रामं पुरे पुरे प्रतिपुरं नियो-  
 क्तव्यम् ॥ ११७—१२१ ॥

तपस्विन इति । ये जना तपस्विनः तपोनिष्ठाः दानशीलाः  
 वदान्याः श्रुतिस्मृतिविशारदाः वैदिकाः स्मार्त्ताश्च पौराणिकाः  
 पुरावृत्तविदः शास्त्रविदः शास्त्रज्ञानरताः दैवज्ञाः गणकाः ये च  
 तान्त्रिकाः सर्पगारुडादिमन्त्रज्ञाः आयुर्वेदविदः वैद्यकशास्त्रज्ञाः,  
 कर्मकाण्डज्ञाः वेदस्मृतिविहितकर्मानुष्ठानविदः तथा तान्त्रिकाः  
 शैवधर्मशास्त्रपारगाः, ये च अन्ये अपरे गुणिनः गुणवन्तः, श्रेष्ठाः  
 महान्तः बुद्धिमन्तः प्रज्ञाशालिनः तथा जितेन्द्रियाः लोभ-  
 मोहादिभिरनभिभूताः तान् सर्वान् दानैः मानैश्च सुपूजितान्  
 कृत्वेति शेषः भृत्या मासिकादिवृत्तिविधानेन पोषयेत् पालयेत् ॥  
 अन्यथा एतेषामपालने राजा हीयते राज्यात् भ्रश्यति अकी-  
 र्त्तिम् अयशः विन्दति लभते च हिंशब्दः अवधारणे ॥१२२-१२४॥  
 बहुसाध्यानीति । कार्याणि बहुसाध्यानि बहुजननिर्बाह्यानि

अमन्त्रमक्षरं नास्ति नास्ति मूलमनौषधम् ।  
 अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः ॥१२६॥  
 प्रभद्रादिजातिभेदं गजानाञ्च चिकित्सितम् ।  
 शिक्षां व्याधिं पोषणञ्च तालुजिह्वानखैर्गुणान् ।  
 आरोहणं गतिं वेत्ति स योज्यो गजरक्षणे ॥१२७॥  
 तथाविधाधोरणस्तु हस्तिहृदयहारकः ॥ १२८ ॥

ज्ञात्वा तत् तत्कार्येषु कुशलान् तान् पूर्वोक्तान् जनान् तेषां  
 बहुसाध्यानां कार्याणाम् अधिपान् नियोजयेत् ॥ १२५ ॥

अमन्त्रमिति । अक्षरं वर्णः अमन्त्रम् अमन्त्रात्मकं नास्ति  
 वर्णमात्रस्य ब्रह्मरूपत्वात् सर्व एव वर्णः मन्त्र इत्यर्थः । मूलं  
 तरुगुल्मादीनामित्यर्थः अनौषधम् औषधव्यतिरिक्तं नास्ति सर्व-  
 मेव मूलम् औषधं किमपि भेषजमित्यर्थः । पुरुषः अयोग्यः  
 अक्षरः नास्ति यस्य कस्यचिदपि पुरुषस्य यस्मिन् कस्मिन्नपि  
 कार्यपाटवादिति भावः । तत्र तथा स्थिते योजकः यथायोग्य-  
 प्रयोक्ताः पुरुषः दुर्लभः अप्राप्यः सर्वस्य अक्षरस्य मन्त्रत्वेऽपि  
 सर्वस्य मूलस्य औषधत्वेऽपि सर्वस्य पुरुषस्य योग्यत्वेऽपि यथा-  
 यथप्रयोगस्य सर्वैरसुकरत्वादिति भावः ॥ १२६ ॥

प्रभद्रादीति । यः गजानां प्रभद्रादिजातिभेदं चिकित्सितं  
 शिक्षां व्याधिं पीडां पोषणं पालनं तालुजिह्वानखैः गुणान् ।  
 आरोहणं तथा गतिं वेत्ति जानाति सः गजरक्षणे योज्यः  
 नियोक्तव्यः । तथाविधः तादृशः आधोरणः हस्तिपालकस्तु  
 हस्तिनां हृदयहारकः मनोहरः हस्तिनियमने निपुण इत्यर्थः ॥  
 १२७ ॥ १२८ ॥

अश्वानां हृदयं वेत्ति जातिवर्णभ्रमैर्गुणान् ।  
 गतिं शिक्षां चिकित्साञ्च सत्त्वं सारं रुजं तथा ॥ १२८ ॥  
 हिताहितं पोषणञ्च मानं यानं दतो वयः ।  
 शूरश्च व्यूहवित् प्राज्ञः कार्य्योऽश्वधिपतिश्च सः ॥ १२९ ॥  
 एभिर्गुणैश्च संयुक्तो धुर्य्यान् युग्यांश्च वेत्ति यः ।  
 रथस्य सारं गमनं भ्रमणं परिवर्त्तनम् ॥ १३० ॥  
 समापतत् सुशस्त्रास्त्रलक्ष्यसन्धाननाशकः ।  
 रथगत्या स रथपो ह्यसंयोगगुप्तिवित् ॥ १३१ ॥

अश्वानामिति । यः अश्वानां हृदयं मनोभावं जातिः वं-  
 ज्ञापकधर्मविशेषः वर्णः श्वेतलोहित्यादिकं भ्रमाः रोम-  
 मावर्त्तादयः तैः गुणान् विशेषान् गतिं नियमं शिक्षां चिकित्सा-  
 सत्त्वं बलं सारं क्षमत्वं रुजं रोगं हिताहितं शुभाशुभकरं पो-  
 यालनं मानं परिमाणं यानं गमनं दतः दन्तान् वयः वयःक्र-  
 वेत्ति जानाति तथा शूरः बलवान् व्यूहवित् सैन्यविन्यासवि-  
 तथा प्राज्ञः प्रकष्टबुद्धिमान् भवति सः अश्वधिपतिः क-  
 ॥ १२८ ॥ १३० ॥

एभिरिति । यश्च एभिः उक्तैः अश्वहृदयादिज्ञानादि-  
 गुणैः संयुक्तः उपलक्षितः धुर्य्यान् भारवहनक्षमान् युग-  
 अश्वान् रथस्य सारं दार्ढ्यादिकं गमनं भ्रमणं परिवर्त्तनं वि-  
 मयश्च वेत्ति जानाति, यश्च रथगत्या रथस्य गतिवैचित्र्यं  
 समापततां समागच्छतां सुशस्त्रास्त्राणां प्रतिबलवीरा-  
 मित्यर्थः लक्ष्यस्य स्वरथस्थस्य वीरस्य कर्मभूतस्य यत् सन्-  
 शरव्यीकरणं तस्य नाशकः ध्वंसकः तथा हयानाम् अश्वानां

सादिनश्च तथा कार्य्याः शूरा व्यूहविशारदाः ।  
 वाजिगतिविदः प्राज्ञाः शस्त्रास्त्रैर्युद्धकोविदाः ॥ १३३ ॥  
 चक्रितं रेचितं वल्लितकं धौरितमाप्नुतम् ।  
 तुरं मन्दश्च कुटिलं सर्पणं परिवर्त्तनम् ॥ १३४ ॥  
 एकादशास्कन्दितश्च गतीरश्वस्य वेत्ति यः ।  
 यथाबलं यथार्थञ्च शिञ्चयेत् स च शिञ्चकः ॥ १३५ ॥  
 वाजिसेवासु कुशलः पल्याणादिनियोगवित् ।  
 दृढाङ्गश्च तथा शूरः स कार्य्यो वाजिसेवकः ॥ १३६ ॥

संयोगे प्रतिबलाश्चैः मेलने या गुप्तिः स्वहयरक्षणं तां वेत्तीति  
 तथोक्तः भवति स रथपः सारथिरित्यर्थः भवेदिति शेषः ॥  
 १३१ ॥ १३२ ॥

सादिन इति । शूराः बलवन्तः व्यूहविशारदाः बलरचना-  
 भिज्ञाः वाजिनाम् अश्वानां गतिविदः गतिज्ञाः प्राज्ञाः बुद्धि-  
 मन्तः तथा शस्त्रास्त्रैः युद्धकोविदाः रणपण्डिताः जनाः सादिनः  
 अश्वारोहिवीराः कार्य्याः ॥ १३३ ॥

चक्रितमिति । यः अश्वस्य चक्रितं चक्राकारेण भ्रमणं  
 रेचितं गतिविशेषं वल्लितम् उल्लम्फनरूपगतिं धौरितं गति-  
 भेदम् आप्नुतं लम्फनं तुरं त्वरितपातं मन्दं मृदुगतिं कुटिलं  
 वक्रगतिं सर्पणं गतिप्रभेदं परिवर्त्तनं प्रत्यावर्त्तनगतिं तथा  
 आस्कन्दितं शत्रून् प्रति आक्रमणम् इत्येकादश गतीः वेत्ति  
 जानाति तथा यथाबलं यथार्थञ्च शिञ्चयेत् विनयेत् सः च  
 शिञ्चकः अश्वशिञ्चकः भवेदिति शेषः ॥ १३४ ॥ १३५ ॥

वाजीति । यः वाजिसेवायाम् अश्वपरिचर्यायां कुशलः

नीतिशस्त्रास्त्रयूहादिनतिविद्याविशारदाः ।

अवाला मध्यवयसः शूरा दान्ता दृढाङ्गकाः ॥ १३३ ॥

स्वधर्मनिरता नित्यं स्वामिभक्ता रिपुद्विषः ।

शूद्रा वा क्षत्रिया वैश्या स्नेच्छा सङ्करसम्भवाः ॥ १३४ ॥

सेनाधिपाः सैनिकाश्च कार्य्या राज्ञा जयार्थिना १३५

पञ्चानामथवा षष्णामधिपः पदगामिनाम् ।

योज्यः स पत्तिपालः स्यात्त्रिंशतां गौलिम्बकः स्मृतः १३६

निपुणः पल्याणादीनाम् अश्वसज्जाविशेषाणां नियोगवित्  
प्रयोगज्ञः दृढाङ्गः कठिनशरीरः तथा शूरः बलवान् सः वाजि-  
सेवकः अश्वसेवकः कार्य्यः ॥ १३६ ॥

नीतीत्यादि । ये जनाः नीतिः कार्य्याकार्य्यविज्ञानं शस्त्रानि  
अक्षेपणीयाणि प्रहरणानि तलवारादीनि अस्त्राणि क्षेपणी-  
याणि शरादीनि व्यूहादयः बलरचनाप्रभृतयः तथा नतिविद्या  
शत्रुपराजयकौशलेषु विशारदाः दक्षाः अवालाः शैशवातीता  
मध्यवयसः तरुणाः शूराः बलवन्तः दान्ताः विनीताः दृढाङ्गकाः  
कठिनदेहाः स्वधर्मनिरताः निजधर्मपालननिष्ठाः नित्यं स्वामि-  
भक्ताः स्वामिषु प्रभुषु भक्ताः अनुरागिणः रिपुद्विषः शत्रुषु अन-  
नुरागिणः शूद्राः शूद्रजातीयाः क्षत्रियाः क्षत्रियजातीयाः वैश्या  
वैश्यजातीयाः वा सङ्करसम्भवाः सङ्कीर्णाः स्नेच्छाः हीनजातय-  
ते जयार्थिना विजिगीषुणा राज्ञा सेनाधिपाः सैनिकाश्च  
कार्य्याः । पञ्चानाम् अथवा षष्णां पदगामिनां पदातीनान्  
अधिपः पत्तिपालः पदातिगः योज्यः पदातिपालकत्वेन नियो-  
क्तव्यः । त्रिंशतां पत्तिपालानाम् अधिपः गौलिम्बकः स्मृतः

शतानान्तु शतानीकस्तथानुशतिको वरः ।

सेनानीर्लेखकश्चैते शतं प्रत्यधिपा इमे ॥ १४१ ॥

साहस्रिकस्तु संयोज्यस्तथा चायुतिको महान् ॥ १४२ ॥

व्यूहाभ्यासं शिचयेद्यः सायं प्रातश्च सैनिकान् ।

जानाति स शतानीकः सुयोद्धुं युद्धभूमिकाम् ॥ १४३ ॥

तथाविधोऽनुशातिकः शतानीकस्य साधकः ।

जानाति युद्धसम्भारं कार्य्ययोग्यञ्च सैनिकम् ॥ १४४ ॥

निदेशयति कार्य्याणि सेनानीर्यामिकांश्च सः ।

परिवृत्तिं यामिकानां करोति स च पत्तिपः ॥ १४५ ॥

कथितः शतानाम् गौल्लिकानाम् अधिपः शतानीकः अनु-  
शतिकः वरः सेनानीः तथा लेखकः एते नियोक्तव्या इति शेषः  
इमे च शतानीकादयः शतं प्रति अधिपाः विशेषविशेषकार्या-  
ध्यक्षा इत्यर्थः । किञ्च साहस्रिकः सहस्रपतिः तथा महान्  
अयुतपतिः दशसहस्रपतिः संयोज्यः नियोक्तव्यः ॥ १३७—१४२ ॥

ब्यूहेति । यः सायं प्रातश्च सैनिकान् व्यूहाभ्यासं बलरच-  
नाया अभ्यासं पाटवं शिचयेत् तथा सुयोद्धुं सम्यक् युद्धं कर्तुं  
युद्धभूमिकां रणसज्जाञ्च जानाति स शतानीकः ॥ १४३ ॥

तथेति । यश्च तथाविधः तादृशगुणसम्पन्नः शतानीकस्य  
साधकः साहाय्यकारकः युद्धसम्भारं युद्धोपयोगिद्रव्यसमूहं तथा  
कार्य्ययोग्यं सैनिकञ्च जानाति सः अनुशातिकः ॥ १४४ ॥

निदेशयतीति । यः कार्य्याणि तथा यामिकान् प्रहरिणश्च  
निदेशयति आदेशयति सः सेनानीः । यश्च यामिकानां प्रहरिणां  
परिवृत्तिं विनिमयं करोति स च पत्तिपः पदातिपतिः ॥ १४५ ॥

स्वावधानं यामिकानां विजानीयाच्च गुल्मपः ॥१४६॥  
 सैनिकाः कति सन्त्येतैः कति प्राप्तन्तु वेतनम् ।  
 प्राचीनाः के कुत्र गताश्चैतान् वेत्ति स लेखकः ।  
 गजाश्वानां विंशतिश्चाधिपो नायकसंज्ञकः ॥१४७॥  
 उक्तसंज्ञान् स्वस्वचिह्नैर्लाञ्छितांश्च नियोजयेत् १४८॥  
 अजाविगोमहिष्येण मृगाणामधिपाश्च ये ।  
 तद्वद्विपुष्टिकुशलास्तद्वात्सल्यनिपीडिताः ।  
 तथाविधा गजोष्ट्रादेर्योज्यास्तत् सेवका अपि ॥१४९॥

स्वावधानमिति । गुल्मपः यामिकानां स्वावधानं स्व-  
 कर्मणि सतर्कतां जानीयाच्च । सः लेखकः सैनिकाः कति  
 कियन्तः सन्ति । एतैश्च कति कियत्परिमाणं वेतनं प्राप्तम् ।  
 के च प्राचीनाः अक्षमा इत्यर्थः । के च कुत्र गताः एतान् वेत्ति  
 जानाति जानीयादित्यर्थः । किञ्च गजानाम् अश्वानाञ्च विंशति  
 विंशतिगजानां विंशत्यश्वानामित्यर्थः । अधिपः नायकसंज्ञक  
 नायक इति ख्यात इत्यर्थः ॥ १४६ ॥ १४७ ॥

उक्तसंज्ञानीत्यादि । उक्तसंज्ञान् कथितनाम्नः पत्तिपादीन्  
 स्वस्वचिह्नैः चिह्नितान् अङ्कितान् कृत्वा नियोजयेत् । ये च  
 अजानां छागानाम् अवीनां मेषाणां गवां महिषीणाम् एणानां  
 जन्तुविशेषाणां तथा मृगाणां तत्तद्वद्विपुष्टिकुशलाः तत्तदुन्नति  
 साधनपोषणनिपुणाः तद्वत्सल्येन तेषु अजादिषु वात्सल्येन  
 स्नेहेन निपीडिताः ते तदधिपाः तथा गजानाम् उष्ट्रादीनाञ्च  
 ये तथाविधाः पालकाः इत्यर्थः ते अपि तत् सेवकाः तेषां गजा-  
 दीनां सेवकाः योज्याः नियोक्तव्याः । किञ्च तित्तिरादेः पक्षि-

युद्धप्रवृत्तिकुशलास्तित्तिरादेश्च पोषकाः ।

शुकादेः पाठकाः सम्यक् श्येनादेः पातबोधकाः ।

तत्तद् हृदयविज्ञानकुशलाश्च सदा हि ते ॥१५०॥

मानाकृतिप्रभावरणजातिसाम्याच्च मौल्यवित् ।

रत्नानां स्वर्णरजतमुद्राणामधिपश्च सः ॥१५१॥

दान्तस्तु सधनो यस्तु व्यवहारविशारदः ।

धनप्राणोऽतिक्लपणः कोशाध्यक्षः स एव हि ॥१५२॥

देशभेदैर्जातिभेदैः स्थूलसूक्ष्मबलाबलैः ।

कौशेयादेर्मानमूल्यवेत्ता वस्त्रस्य वस्त्रपः ॥१५३॥

जातेः युद्धप्रवृत्तिकुशलाः पोषकाश्च, शुकादेः सम्यक् पाठकाः  
पाठनकारिणः तथा श्येनादेः पक्षिविशेषस्य पातबोधकाः  
पतनज्ञानवन्तः जनाः नियोक्तव्या इति अध्याहार्यं हि यतः  
ते जनाः सदा तत्तद् हृदयविज्ञानकुशलाः तेषां तेषां पक्षिणां  
हृदयविज्ञाने निपुणाः । यश्च रत्नानां स्वर्णरजतमुद्राणाञ्च मानं  
परिमाणम् आकृतिः आकारः प्रभा दीप्तिः वर्णः रक्तनीलत्वादि  
जातिः भेदज्ञापकधर्मविशेषः तथा साम्यम् औपम्यं तस्मात्  
मौल्यवित् मूल्यविज्ञः सः रत्नादीनामधिपः । यस्तु दान्तः  
विनीतः सधनः धनवान् व्यवहारविशारदः लोकाचारविज्ञः  
धनप्राणः धनेषु प्राणसमबुद्धिः तथा अतिक्लपणः अतिव्ययकुण्ठः  
स एव कोशाध्यक्षः धनाध्यक्षः । यश्च देशभेदैः जातिभेदैः स्थूल-  
सूक्ष्मबलाबलैः देशतः जात्या च विभिन्नैः स्थौल्यसौक्ष्मस्थायित्वा-  
स्थायित्वरूपैः कौशिकादेः कृमिकोशोत्थादेः वस्त्रस्य मानस्य

कुटीकञ्चुकनेपथ्यमण्डपादेः परिक्रियाम् ।

प्रमाणतः सौचिकेन रञ्जनानि च वेत्ति यः ॥१५॥

तथा शय्यादिसन्धानं वितानादेर्नियोजनम् ।

वस्त्रादीनाञ्च स प्रोक्तो वितानाद्यधिपः खलु ॥१५॥

जातिं तुलाञ्च मौल्यञ्च सारं भागं परिग्रहम् ।

सम्मार्जनञ्च धान्यानां विजानाति स धान्यपः ॥१५॥

धौताधौतविपाकज्ञो रससंयोगभेदवित् ।

क्रियासु कुशलो द्रव्यगुणवित् पाकनायकः ॥१५॥

परिमाणस्य मूल्यस्य च वेत्ता विशेषज्ञः सः वस्त्रपः । यच्च कुटी-  
कञ्चुकनेपथ्यमण्डपादेः कुट्याः कुटीरस्य कञ्चुकस्य वारवाणस्य  
नेपथ्यस्य परिच्छदस्य तथा मण्डपादेः गृहादेः परिक्रियाम् अनु-  
ष्ठानपरिपाटीं प्रमाणतः परिमाणेन, रञ्जनानि च सौचिकेन  
सूचीकर्मनैपुण्येन, तथा शय्यादिविधानं वितानादेः उल्लोचादे-  
वस्त्रादीनाञ्च नियोजनं वेत्ति जानाति सः खलु वितानाद्यधिप-  
प्रोक्तः कथितः ॥ १४८—१५५ ॥

जातिमिति । यः धान्यानां जातिं तुलां मौल्यं मूल्यं सारं भागं  
परिग्रहं ग्रहणोपायं सम्मार्जनञ्च विजानाति स धान्यपः ॥१५६॥

धौताधौतेति । धौतम् चालितम् अधौतम् अचालितं तयो-  
विपाकः विशेषेण पचनं तं जानातीति तथोक्तः । रसानां कटु-  
कषायतिक्ताम्ललवणमधुराणां संयोगे यः भेदः विशेषः तं वेत्तीति  
तथाभूतः क्रियासु पाकक्रियासु कुशलः निपुणः तथा द्रव्याणां  
गुणानाञ्च विभागवित् विभागज्ञः जनः पाकनायकः रन्धना-  
धिपः भवतीति शेषः ॥ १५७ ॥

फलपुष्पवृद्धिहेतुं रोपणं शोधनं तथा ।

पादपानां यथाकालं कर्तुं भूमिजलादिना ।

तद्भेषजञ्च संवेत्ति ह्यारामाधिपतिश्च सः ॥१५८॥

प्रासादं परिखां दुर्गं प्राकारं प्रतिमां तथा ।

यन्त्राणि सेतुबन्धञ्च वापीं कूपं तडागकम् ॥१५९॥

तथा पुष्करिणीं कुण्डं जलाद्युर्ध्वगतिक्रियाम् ।

सुशिल्पशास्त्रतः सम्यक् सुरम्यन्तु यथा भवेत् ॥१६०॥

कर्तुं जानाति यः सैव गृहाद्यधिपतिः स्मृतः ॥१६१॥

फलैति । यः पादपानां वृक्षाणां यथाकालं भूमिजलादिना  
श्रुतिकाप्रदानजलसेचनादिना फलपुष्पाणां वृद्धिहेतुं वर्द्धन-  
साधनं रोपणं शोधनं संस्करणं तथा तेषां भेषजं कौटादिरूप-  
रोगप्रतिकारं संवेत्ति सम्यक् जानाति स हि एव आरामाधि-  
पतिः ॥ १५८ ॥

प्रासादमित्यादि । यः सुशिल्पशास्त्रतः शोभनशिल्पशास्त्र-  
समालोचनया सम्यक् सुरम्यं यथा भवेत् तथा प्रासादं देवराज-  
भवनं परिखां दुर्गवेष्टनजलाशयं दुर्गं प्राकारं प्राचीरं प्रतिमां  
प्रतिमूर्तिं यन्त्राणि सेतुबन्धं वापीं दीर्घिकां कूपं तडागकं  
सरोवरं पुष्करिणीं कुण्डं तथा जलादीनाम् ऊर्ध्वं गतिक्रियां  
यन्त्रादिना ऊर्ध्वगमनं कर्तुं जानाति सैव स एव गृहादीनाम्  
अधिपतिः स्मृतः कथितः । सैवेति सन्धिः आर्षः प्रयोगः । यः  
तत्त्वतः याथार्थ्येन राजकार्योपयोग्यान् पदार्थान् वस्तूनि वेत्ति  
जानाति यथाकाले सञ्चिनोति च सः सम्भाराधिप उच्यते । यच्च  
सदा स्वधर्माचरणे दक्षः पत्यरः देवतानामाराधने परिचर्यायां

राजकार्योपयोग्यान् हि पदार्थान् वेत्ति तत्त्वतः ।

सञ्चिनोति यथाकाले सम्भाराधिप उच्यते ॥१६२॥

स्वधर्माचरणे दक्षो देवताराधने रतः ।

निष्पृहः स च कर्त्तव्यो देवतुष्टिपतिः सदा ॥१६३॥

याचकं विमुखं नैव करोति न च संग्रहम् ।

दानशीलश्च निर्लोभो गुणज्ञश्च निरालसः ॥१६४॥

दयालुर्मृदुवाक् दानपात्रविन्नतितत्परः ।

नित्यमेभिर्गुणैर्युक्तो दानाध्यक्षः प्रकीर्तितः ॥१६५॥

व्यवहारविदः प्राज्ञा वृत्तशीलगुणान्विताः ।

रिपौ मित्रे समा ये च धर्मज्ञाः सत्यवादिनः ॥१६६॥

निरालसा जितक्रोधकामलोभाः प्रियंवदाः ।

सभ्याः सभासदः कार्य्या वृद्धाः सर्वासु जातिषु ॥१६७॥

रतः आसक्तः तथा निष्पृहः निराकाङ्क्षः लोभरहित इत्यर्थः ।

देवतुष्टिपतिः देवार्चनाध्यक्षः कर्त्तव्यः । किञ्च यः दानशीलः

निर्लोभः गुणज्ञः निरालसः आलस्यरहितः दयालुः मृदुवाक्

मधुरभाषी दानपात्रवित् नतितत्परः विनतः सन् याचकं

विमुखं नैव करोति कदापि न करोतीत्येवशब्दात् प्रतीयते ।

संग्रहं स्वयं ग्रहणञ्च न करोति सः नित्यं सततम् एभिर्गुणैः

दानशीलत्वादिभिः युक्तः दानाध्यक्षः प्रकीर्तितः ॥१५८—१६७॥

व्यवहारेत्यादि । ये च सर्वासु जातिषु मध्ये व्यवहारविदः

ऋणादानाद्यष्टादशविवादज्ञा वा लौकिकाचारज्ञाः प्राज्ञाः

विद्वांसः वृत्तैः सदाचारैः शीलैः सौजन्यादिभिः गुणैः दया

सर्वभूतात्मतुल्यो यो निष्पृहोऽतिथिपूजकः ।  
दानशीलश्च यो नित्यं सैव सत्त्वाधिपः स्मृतः ॥ १६८ ॥  
परोपकारनिरतः परमर्माप्रकाशकः ।  
निर्मत्सरो गुणग्राही तद्विदुः स्यात् परीक्षकः ॥ १६९ ॥  
प्रजा नष्टा न हि भवेत् तथा दण्डविधायकः ।  
नातिक्रूरो नातिमृदुः साहसाधिपतिश्च सः ॥ १७० ॥  
आधर्षकेभ्यश्चोरेभ्यो ह्यधिकारिगणात् तथा ।  
प्रजासंरक्षणे दक्षो ग्रामपो मातृपितृवत् ॥ १७१ ॥

दाक्षिण्यादिभिः अन्विताः युक्ताः रिपौ शत्रौ मित्रे सुहृदि च  
समाः धर्मज्ञाः धार्मिकाः सत्यवादिनः निरालसाः आलस्य-  
वर्जिताः जितक्रोधकामलोभाः प्रियंवदाः प्रियभाषिणः वृद्धाः  
स्थविराः तथा सभ्याः सभासदः कार्य्याः ॥ १६६ ॥ १६७ ॥

सर्वभूतेति । यः सर्वभूतेषु सर्वप्राणिषु आत्मतुल्यः निष्पृहः  
निलोभः नित्यम् अतिथिपूजकः तथा दानशीलश्च सैव स एव  
सत्त्वाधिपः यज्ञाध्यक्षः स्मृतः । सैवेति पूर्ववदार्पम् ॥ १६८ ॥

परोपकारेति । यः परेषाम् उपकारे निरतः परेषां मर्मा-  
प्रकाशकः मर्मदारणदोषाप्रकाशी निर्मत्सरः अन्यशुभद्वेषरहितः  
गुणग्राही तथा तद्विदुः गुणज्ञः सः परीक्षकः स्यात् ॥ १६९ ॥

प्रजेति । यः प्रजा यथा नष्टा न भवेत् तथा दण्डविधायकः  
तादृशदण्डकरः नातिक्रूरः नातिनिष्ठुरः नातिमृदुः नात्यन्त-  
कोमलश्च सः साहसाधिपतिः चौथ्यादिशासनाध्यक्षः कर्त्तव्य  
इति शेषः ॥ १७० ॥

आधर्षकेभ्य इति । ग्रामपः ग्रामाधिपतिः आधर्षकेभ्यः

वृक्षान् संपुष्य यत्नेन फलं पुष्पं विचिन्वति ।  
 मालाकार इवात्यन्तं भागहारस्तथाविधः ॥१७२॥  
 गणनाकुशलो यस्तु देशभाषाप्रभेदवित् ।  
 असन्दिग्धमगूढार्थं विलिखित् स च लेखकः ॥१७३॥  
 शस्त्रास्त्रकुशलो यस्तु दृढाङ्गश्च निरालसः ।  
 यथायोग्यं समाह्वयात् प्रणम्रः प्रतिहारकः ॥१७४॥  
 यथा विक्रयिणां मूलधननाशो भवेन्न हि ।  
 तथा शुल्कान्तु हरति शौल्किकः स उदाहृतः ॥१७५॥

दस्युभ्यः चोरेभ्यः तथा अधिकारिगणात् दुर्हृत्तराज्यपुरुषवर्गाः  
 माह्वपितृवत् मातेव पितेव च प्रजानां संरक्षणे सम्यक् प्र-  
 पालने दक्षः यत्नवान् सन् यथा मालाकारः माली यत्नेन वृक्ष-  
 अत्यन्तं संपुष्य सम्यक् वर्धयित्वा फलं पुष्पञ्च विचिन्वति लभते  
 तथाविधः भागहारः तद्वद् भागहारीत्यर्थः भवेदिति शेषः प्रजाभ-  
 रक्षणमूल्यस्वरूपराजग्राह्यांशं गृह्णीयादिति यावत् ॥१७१॥१७२॥

गणनेति । यस्तु गणनायां संख्याने कुशलः तथा देशान-  
 भाषाणाञ्च प्रभेदविद् विशेषज्ञानवान् असन्दिग्धं सन्देहरहितं  
 तथा अगूढार्थं स्पष्टार्थं यथा तथा विलिखित् स च लेखकः ॥१७३॥

शस्त्रेति । यस्तु शस्त्रेषु अक्षेपणीयेषु प्रहरणेषु अस्त्रेषु क्षे-  
 णीयेषु प्रहरणेषु कुशलः निपुणः दृढाङ्गः कठिनशरीरः निरालस-  
 आलस्यहीनः तथा प्रणम्रः विनतः सन् यथायोग्यं समाह्वयात्  
 समाह्वानं कुर्यात् करोतीत्यर्थः सः प्रतिहारकः ॥ १७४ ॥

यथेति । विक्रयिणां व्यवसायिनां यथा मूलधननाशः न  
 हि नैव भवेत्, यः तथा शुल्कं तादृशं राजग्राह्यं हरति आदत्ते

जपोपवासनियमकर्मध्यानरतः सदा ।

दान्तः क्षमीः निष्पृहश्च तपोनिष्ठः स उच्यते ॥१७६॥

याचकेभ्यो ददात्यर्थं भार्यापुत्रादिकं त्वपि ।

न संगृह्णाति यत्किञ्चिद्दानशीलः स उच्यते ॥१७७॥

पठनं पाठनं कर्तुं क्षमास्त्वभ्यासशालिनः ।

श्रुतिस्मृतिपुराणानां श्रुतज्ञास्ते प्रकीर्त्तिताः ॥१७८॥

साहित्यशास्त्रनिपुणः सङ्गीतज्ञश्च सुस्वरः ।

सर्गादिपञ्चकज्ञाता स वै पौराणिकः स्मृतः ॥१७९॥

वणिग्भ्य इति शेषः सः शौल्किकः शुल्कग्राही उदाहृतः  
कथितः ॥ १७५ ॥

जपोपवासेति । यः सदा जपे उपवासे नियमे व्रतपालने  
कर्मणि तथा ध्याने समाधौ रतः दान्तः निगृहीतेन्द्रियः क्षमी  
क्षमावान् तथा निष्पृहः निर्लोभश्च सः तपोनिष्ठ उच्यते ॥१७६॥

याचकेभ्य इति । यः याचकेभ्यः अर्थिभ्यः अर्थं ददाति किन्तु  
भार्यापुत्रादिकं स्त्रीपुत्रादिनिमित्तमित्यर्थः अपि यत्किञ्चित् धन-  
मिति शेषः न संगृह्णाति सञ्चिनोति सः दानशीलः उच्यते ॥१७७॥

पठनमिति । ये श्रुतिस्मृतिपुराणानां पठनम् अध्ययनं  
पाठनम् अध्यापनञ्च कर्तुं क्षमाः तथा अभ्यासशालिनः  
अभ्याससमर्थाः ते श्रुतज्ञाः प्रकीर्त्तिताः ॥ १७८ ॥

साहित्येति । यः साहित्यशास्त्रेषु काव्यशास्त्रेषु निपुणः  
सङ्गीतज्ञः सुस्वरः मधुरवाक् तथा सर्गादिपञ्चकानां सर्गप्रति-  
सर्गवंशमन्वन्तर वंशानुचरितानां सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्व-  
न्तराणि च । वंशानुचरितञ्चैव पुराणं पञ्चलक्षणमित्युक्तेः ज्ञाता

मीमांसातर्कवेदान्तशब्दशासनतत्परः ।

ऊहवान् बोधितुं शक्तस्तत्त्वतः शास्त्रविच्च सः ॥ १८८

संहिताञ्च तथा होरां गणितं वेत्ति तत्त्वतः ।

ज्योतिर्विच्च स विज्ञेयो त्रिकालज्ञश्च यो भवेत् ॥ १८९

वीजानुपूर्व्यां मन्त्राणां गुणान् दोषांश्च वेत्ति यः ।

मन्त्रानुष्ठानसम्पन्नो मान्विकः सिद्धदैवतः ॥ १९०

हेतुलिङ्गीषधीभिर्यो व्याधीनां तत्त्वनिश्चयम् ।

साध्यासाध्यं विदित्वोपक्रमते स भिषक् स्मृतः ॥ १९१

वेत्ता स वै स एव पौराणिकः पुरावृत्तज्ञः स्मृतः कथितः ॥ १९२

मीमांसेति । यः मीमांसायां तर्कं वेदान्ते तथा शब्दशास्त्रं व्याकरणादिशब्दशास्त्रे तत्परः विज्ञः ऊहवान् तर्कविचारक्षमः तथा तत्त्वतः बोधितुं बोधयितुमित्यर्थः आर्षमिदम् । शब्दसमर्थः स शास्त्रवित् शास्त्रज्ञः ॥ १९० ॥

संहितामिति । यः होरां होरानिर्णायिकां संहितां शास्त्रं तथा गणितं तत्त्वतः याथार्थ्येन वेत्ति जानाति तथा त्रिकालज्ञः भूतभवद्भविष्यज्ञः भवेत् सः ज्योतिर्विदुः ज्योतिषिकः विज्ञेयः ॥ १८९

वीजेति । यः वीजानां वीजिभूतमन्त्राणाम् आनुपूर्व्यं पूर्वानुक्रमेण मन्त्राणां गुणान् दोषांश्च वेत्ति, तथा मन्त्रानुष्ठानसम्पन्नः सिद्धदैवतः देवतासिद्धश्च सः मान्विकः मन्त्राचार्यः ॥ १९०

हेत्विति । यः हेतुभिः कारणैः लिङ्गैः चिह्नैः औषधीभिश्च व्याधीनां रोगाणां तत्त्वनिश्चयं याथार्थ्यनिर्णयं साध्यासाध्यञ्च विदित्वा ज्ञात्वा, उपक्रमते चिकित्सामारभते सः भिषक् वैद्यः स्मृतः ॥ १९१ ॥

श्रुतिस्मृतीतरैर्मन्त्रानुष्ठानैर्देवतार्चनम् ।

कर्तुं हिततमं मत्वा यतते स च तान्त्रिकः ॥१८४॥

नपुंसकाः सत्यवाचः सुभाषाश्च प्रियंवदाः ।

सुकुलाश्च सुरूपाश्च योज्यास्त्वन्तःपुरे सदा ॥१८५॥

अनन्याः स्वाभिभक्ताश्च धर्मनिष्ठा दृढाङ्गकाः ।

अवाला मध्यवयसः सेवासु कुशलाः सदा ॥१८६॥

सर्वं यद्यत् कार्य्यजातं नीचं वा कर्तुमुद्यताः ।

निदेशकारिणो राज्ञा कर्त्तव्या परिचारकाः ॥१८७॥

शत्रुप्रजाभृत्यवृत्तं विज्ञातुं कुशलाश्च ये ।

श्रुतीति । यः श्रुत्या स्मृत्या इतरेण पुराणादिना विहितैः मन्त्रानुष्ठानैः देवतार्चनं हिततमं मत्वा कर्तुं यतते, स तान्त्रिकः ॥ १८४ ॥

नपुंसका इति । ये सत्यवाचः सत्यादिनः सुभूषाः शोभना-  
लङ्काराः प्रियंवदाः प्रियभाषिणः सुकुलाः सद्वंशजाः सुरूपाः  
नपुंसकाः क्लीवाः, ते सदा अन्तःपुरे योज्याः रक्षणीयाः ॥१८५॥

अनन्या इति । सर्वमिति । ये अनन्याः नापरसंक्रान्ता  
इत्यर्थः स्वाभिभक्ताः प्रभुपरायणाः धर्मनिष्ठाः धर्मपराः दृढा-  
ङ्गकाः कठिनशरीराः अवालाः शैशवातीताः मध्यवयसः तरुणाः  
सेवासु कुशलाः परिचर्याभिज्ञाः सर्वं यत् यत् कार्य्यजातं नीचं  
वा घृणितमपि मलमूत्रादिनिष्काशनादि कर्तुम् उद्यताः किं  
बहुना सदा निदेशकारिणः आज्ञाकारिणः, ते राज्ञा परि-  
चारकाः दासाः कर्त्तव्याः ॥ १८६ ॥ १८७ ॥

शत्रुप्रजेति । ये शत्रूणां प्रजानां भृत्यानाञ्च वृत्तं चरितं

ते गूढचाराः कर्त्तव्या यथार्थश्रुतबोधकाः ॥ १८८

राज्ञः समीपप्राप्तानां नतिस्थानविबोधकाः ।

दण्डधरा वेतधराः कर्त्तव्यास्ते सुशिक्षकाः ॥ १८९

तन्त्रीकण्ठोत्थितान् सप्त स्वरान् स्थानविभागतः

उत्पादयति संवेत्ति ससंयोगविभागिनः ॥ १९०

अनुरागं सुस्वरञ्च सतालञ्च प्रगायति ।

समृत्त्यं वा गायकानामधिपः स च कीर्त्तितः ॥ १९१

तथाविधा च पण्यस्त्री निर्लज्जा भावसंयुता ।

शृङ्गाररसतत्त्वज्ञा सुन्दराङ्गी मनोरमा ।

विज्ञातुं कुशलाः निपुणाः तथा यथार्थश्रुतस्य सत्यश्रुतस्य न  
मिथ्याभूतस्य बोधकाः निवेदकाः ते गूढचाराः गुप्तचार  
कर्त्तव्याः ॥ १८८ ॥

राज्ञ इति । ये राज्ञः समीपप्राप्तानां समीपोपस्थितानां  
जनानामिति शेषः नतिं प्रणामप्रकारं स्थानं स्थितिनियमं  
विशेषेण बोधयन्ति ज्ञापयन्ति बोधयितुं शक्नुवन्ति सुशिक्षका  
सुविनयशिक्षाविदश्च ते दण्डधराः वेतधराः वा कर्त्तव्याः ॥ १८९

तन्त्रीति । अनुरागमिति । यः तन्त्रीभ्य कण्ठेभ्यश्च उद्दि  
तान् सप्त सप्त स्वरान् निषादादीन् स्थानविभागतः उत्पादयति  
जनयति, ससंयोगविभागिनः संयुक्तान् विभक्तांश्च संवेत्ति सम्यक्  
जानाति तथा अनुरागम् अनुगतः रागो यस्मिन् तत्, सुस्वा  
मधुरस्वनं सतालं तालसहितं समृत्त्यं नृत्यसहितं वा यथा तद्य  
प्रगायति । सः गायकानाम् अधिपः कीर्त्तितः कथितः ॥ १९० ॥ १९१

तथाविधेति यथेति । नृपेण राज्ञा आत्महिताय आत्मनः

नवीनोत्तुङ्गकठिनकुचा सुस्मितदर्शिनी ॥१८२॥

ये चान्ये साधकास्ते च तथा चित्तविरञ्जकाः ।

सुभृत्यास्तेऽपि सन्धार्या नृपेणात्महिताय च ॥१८३॥

वैतालिकाः सुकवयो वेवदण्डधराश्च ये ।

शिल्पज्ञाश्च कलावन्तो ये सदाप्युपकारकाः ॥१८४॥

दुर्गुणासूचका भाणा नर्त्तका बहुरूपिणः ।

मनसः हिताय सन्तोषाय तथाविधा तादृशसङ्गीतचतुरा इत्यर्थः  
निर्लज्जा भावसंयुता अनुरागवती शृङ्गाररसस्य तत्त्वज्ञा सुवि-  
दितशृङ्गाररसा इत्यर्थः सुन्दराङ्गी सुरूपा मनोरमा चित्त-  
हारिणी नवीना नवयुवती उत्तुङ्गकठिनकुचा उन्नतकठिन-  
स्तनी तथा सुस्मितं यथा तथा पश्यतीति तथोक्ता सहास्य-  
दर्शना पश्यस्त्री वेश्या संधार्या रक्षणीया तथा ये च अन्ये  
साधकाः मनोनीतकार्यसाधनचतुराः चित्तविरञ्जकाः चित्त-  
तोषिणः सुभृत्याः तेऽपि संधार्याः रक्षणीयाः एकेन संधार्या  
इति पदेन उभयत्वान्वयः बहुवचनेऽपि विसर्गलोपादिति विभा-  
वनीयम् ॥ १८२ ॥ १८३ ॥

वैतालिका इत्यादि । एते वैतालिकादयः कार्यानुरूपतः  
कार्यानुसारेण योज्याः रक्षणीया इत्यर्थः, नृपेणेति शेषः इति  
उत्तरेणान्वयः । ये वैतालिकाः स्तुतिपाठकाः बोधकरा इति  
ख्याताः, सुकवयः उत्कृष्टकवयः, वेवदण्डधराः पुररक्षक-  
विशेषाः, शिल्पज्ञाः शिल्पकुशलाः, कलावन्तः चतुःषष्टिप्रकार-  
कामविद्याकुशलाः तथा सदा उपकारकाः हितैषिणः ॥ १८४ ॥

दुर्गुणासूचकाः दोषप्रकाशकाः भाणाः परिहासकुशलाः,  
नर्त्तकाः नटाः बहुरूपिणः, विविधरूपधारिणः, आरामस्य उप-

आरामकृत्रिमवनकारिणो दुर्गकारिणः ॥१८५॥

महानालिकयन्त्रस्थगोलैर्लक्ष्यविभेदिनः ।

लघुयन्त्राग्नेयचूर्णवाणगोलासिकारिणः ॥१८६॥

अनेकयन्त्रशस्त्रास्त्रधनुस्तूणादिकारकाः ।

स्वर्णरत्नाद्यलङ्कारघटका रथकारिणः ॥१८७॥

पाषाणघटका लोहकारा धातुविलेपकाः ।

कुम्भकाराः शैल्विकाश्च तक्षाणो मार्गकारकाः ॥१८८॥

वनस्य कृत्रिमवनस्य च कारिणः करणनिपुणः तथा दुर्गकारिणः, गुप्तिस्थाननिर्मातारः ॥ १८५ ॥

महानालिकं बृहन्नालीयुक्तं यत् यन्त्रं तत्रस्थैः गोलैः गोलाकारैः पिण्डैः लक्ष्यस्य रिपुपक्षस्य भेदिनः भेदनकुशलाः तदलघु क्षुद्रं यन्त्रं येषां तादृशानाम् आग्नेयचूर्णानां गुलीनि रथ्यातानां वाणानां शराणां गोलानां वर्तुलाकारपिण्डानां अस्तीनां तलवाराणाञ्च कारिणः निर्मातारः ॥ १८६ ॥

अनेकानि विविधानि यन्त्राणि येषां तादृशानां शस्त्राणां अस्त्राणां धनुषां तूणादीनाञ्च कारकाः करणक्षमाः, स्वर्णरत्नादिभिः अलङ्कारघटकाः भूषणकारिणः तथा रथकारिणः शकटादिनिर्माणकारिणः ॥ १८७ ॥

पाषाणानां प्रस्तराणां घटकाः प्रस्तरैर्गृहादिनिर्मातारः लोहकाराः कर्मकाराः, धातुभिः गौरिकादिभिः विलेपकाः गृहादिरञ्जनकारिणः, कुम्भकाराः, शैल्विकाः जातिभेदादितक्षाणः सूत्रधरजातिविशेषाः तथा मार्गकारकाः रथ्यावन्धिनः ॥ १८८ ॥

नापिता रजकाश्चैव वासिका मलहारकाः ।  
 वार्त्ताहराः सौचिकाश्च राजचिह्नाग्रधारिणः ॥ १६६ ॥  
 भेरीपटहगोपुच्छशङ्खवेण्वादिनिस्वनैः ।  
 ये व्यूहरचका यानव्यपयानादिबोधकाः ॥ २०० ॥  
 नाविकाः खनका व्याधाः किराता भारिका अपि ।  
 शस्त्रसम्मार्जनकरा जलधान्यप्रवाहकाः ॥ २०१ ॥  
 आपणिकाश्च गणिका वाद्यजायाप्रजीविनः ।  
 तन्तुवायाः शाकुनिकाश्चित्रकाराश्च चर्मकाः ॥ २०२ ॥

नापिताः रजकाः वासिकाः काष्ठच्छेदकजातिभेदाः  
 मलहारकाः पुरीषादिनिष्काशकाः वार्त्ताहराः संवादवाहिनः,  
 सौचिकाः सूचीकर्मकारिणः तथा राजचिह्नानि अग्रे धारय-  
 न्तीति तथोक्ताः ॥ १६६ ॥

ये व्यूहरचकाः सैनिकरचयितारः भेरीणां पटहानां गो-  
 पुच्छानां शङ्खानां वेण्वादीनाञ्च वाद्यानां निःस्वनैः ध्वनिभिः  
 यानस्य शत्रून् प्रति यात्रायाः व्यपयानस्य शत्रुभ्यः पराङ्मुखी-  
 भावस्य आदिपदेन आक्रमणादेश्च बोधका ज्ञापकाः ॥ २०० ॥

नाविकाः कर्णधाराः, खनकाः खननकारिणः, व्याधाः कि-  
 राताः भारिकाः भारवाहिनः शस्त्राणां सम्मार्जनकराः तीक्ष्णयि-  
 तारः तथा जलानां धान्यानाञ्च प्रवाहकाः वहनकारिणः ॥ २०१ ॥

आपणिकाः विपणिवासिनः गणिकाः वाराङ्गनाः वैदेशिक-  
 कर्मचारिणां स्थित्यर्थमिति भावः, वाद्यैः जायाभिः पत्नीभिर्वा  
 प्रकर्षेण जीवन्तीति तथोक्ताः, तन्तुवायाः प्रसिद्धाः शाकुनिकाः

गृहसम्मार्जकाः पात्रधान्यवस्त्रप्रमार्जकाः ।

शय्यावितानास्तरणकारकाः शासका अपि ॥२००॥

आमोदाखेदसङ्घूपकारास्ताम्बूलिकास्तथा ।

हीनाल्पकर्मिणश्चैते योज्याः कार्यानुरूपतः ॥२०१॥

प्रोक्तं पुण्यतमं सत्यं परोपकरणं तथा ।

आज्ञायुक्तांश्च भृतकान् सततं धारयेन्नृपः ॥२०५॥

पक्षिजीविनः चित्रकाराः अलेख्यव्यवसायिनः तथा चर्मक-  
चर्मकाराः ॥ २०२ ॥

गृहाणां सम्मार्जकाः शोधकाः, पात्राणां तैजसानां ध-  
न्यानां वस्त्राणाञ्च प्रमार्जकाः शुद्धिकारिणः, शय्यानां वितान-  
नाम् उत्तोचाख्यानाम् आच्छादनपटानाम् आस्तरणानां शय्य-  
परिपातनीयानां पटानां कारकाः निर्मातारः शासका अ-  
शिक्षकाश्च ॥ २०३ ॥

आमोदानां सुगन्धानाम् अखेदानां : खेदाजनकानां  
अनुष्णानामित्यर्थः सताम् उत्कृष्टानां धूपानां गन्धद्रव्यवि-  
षाणां काराः कारकाः ताम्बूलिकाः ताम्बूलप्रस्तोताराः त-  
हीनाल्पकर्मिणः हीनकर्मिणः निहृष्टकर्मकराः अल्पकर्मि-  
क्षुद्रकर्मकराश्च ॥ २०४ ॥

प्रोक्तमिति । सत्यं तथा परोपकरणं परोपकारकर-  
पुण्यतमम् अतिपुण्यकरं प्रोक्तं कथितम् अतः कारणात् नृ-  
पः आज्ञायुक्तान् आज्ञाकारिणः भृतकान् भृत्यान् सततं धारय-  
पालयेत् । आज्ञायुक्तानित्यत्र आभ्यां युक्तानिति पाठान्तरकद-  
आभ्यां सत्यपरोपकाराभ्यां युक्तानित्यर्थः ॥ २०५ ॥

हिंसा गरीयसी सर्वपापेभ्योऽनृतभाषणम् ।

गरीयस्तरमेताभ्यां युक्तान् भृत्यान् न धारयेत् २०६

यदा यदुचितं कर्तुं वक्तुं वा तत् प्रबोधयन् ।

तद्वक्ति कुरुते द्राक् तु स सदभृत्यः सुपूज्यते ॥ २०७

उत्थाय पश्चिमे यामे गृहकृत्यं विचिन्त्य च ।

कृत्वोत्सर्गन्तु विष्णुं हि स्मृत्वा स्नायादनन्तरम् ॥ २०८ ॥

प्रातःकृत्यन्तु निर्वर्त्य यावत् सार्द्धमुहूर्त्तकम् ।

गत्वा स्वकार्यशालां वा कार्याकार्यं विचिन्त्य च २०९

विनाज्ञया विशन्तन्तु द्वार्षः सम्यङ्निरोधयेत् ।

हिंसेति । हिंसा सर्वपापेभ्यः गरीयसी श्रेष्ठा, तथा अनृत-  
भाषणं मिथ्यावचनं गरीयस्तरम् अतिगुरुतरं तस्मात् नृपः  
एताभ्यां हिंसानृताभ्यां युक्तान् भृत्यान् न धारयेत् त्यजे-  
दित्यर्थः ॥ २०६ ॥

यदेति । यदा यत् कार्यं कर्तुं वा वक्तुम् उचितं तत्  
प्रबोधयन् राज्ञे बोधयन् सन् यः द्राक् भटिति तत् वक्ति कथ-  
यति कुरुते च सः सदभृत्यः सुपूज्यते सम्यक् प्रशस्यते ॥ २०७ ॥

उत्थायेति । प्रात इति । पश्चिमे यामे प्रहरे रात्रेरिति शेषः  
उत्थाय गृहकृत्यं गृहकार्यं विचिन्त्य उत्सर्गं मलमूत्रत्यागं  
कृत्वा विष्णुं स्मृत्वा इत्यं सार्द्धमुहूर्त्तकं दण्डित्यं यावत् प्रातः-  
कृत्यं निर्वर्त्य तु समाप्यैव स्वस्य कार्यशालां कर्मालयं गत्वा  
कार्याकार्यं कार्यम् अकार्यञ्च विचिन्त्य च अनन्तरं स्नायात्  
हिशब्दोऽवधारणे ॥ २०८ ॥ २०९ ॥

विनेति । द्वार्षः दैवारिकः आज्ञया आदेशेन विना विशन्तं

निदेशकार्यं विज्ञाप्य तेनाज्ञप्तः प्रमोचयेत् ॥ २० ॥  
 दृष्ट्वागतान् सभामध्ये राज्ञे दण्डधरः क्रमात् ।  
 निवेद्य तन्नतीः पश्चात् तेषां स्थानानि सूचयेत् ॥ २१ ॥  
 ततो राजगृहं गत्वाज्ञप्तो गच्छेच्च सन्निधिम् ।  
 नत्वा नृपं यथान्यायं विष्णुरूपमिवापरम् ॥ २२ ॥  
 प्रविश्य सानुरागस्य चित्तज्ञश्च समन्ततः ।  
 भर्तुं रक्षासने दृष्टिं कृत्वा नान्यत्र निक्षिपेत् ॥ २३ ॥  
 अग्निं दीप्तमिवासीदेद् राजानमुपशिक्षितः ।

प्रविशन्तं जनं गृहाभ्यन्तरमिति शेषः सम्यक् निरोधदे-  
 पश्चात् निदेशेन यथानिदेशमित्यर्थः कार्यं विज्ञाप्य राज्ञे ई-  
 शेषः तेन राज्ञा आज्ञप्तः सन् तं प्रविशन्तं प्रमोचयेत् त्यज-  
 प्रवेशाय अनुमन्येत इत्यर्थः ॥ २१० ॥

दृष्ट्वेति । दण्डधरः दैवारिकः सभामध्ये आगतान् दृ-  
 क्रमात् यथाक्रमं राज्ञे तन्नतीः तेषां प्रणामान् निवेद्य पश्चात्  
 तेषां स्थानानि उपवेशनार्थानि सूचयेत् प्रदर्शयेत् ॥ २११ ॥

तत इति । प्रविश्येति । ततः तेषां स्थाननिर्देशानन्तरं  
 राजगृहं गत्वा आज्ञप्तः प्राप्तराजनिदेशः सन् सन्निधिं राज-  
 इति शेषः गच्छेत् प्रविश्य च नृपं राजानम् अपरं विष्णुरूप-  
 नारायणावतारमिव यथान्यायं नत्वा प्रणम्य सानुरागस्य अ-  
 रागिणः चित्तज्ञस्य हृदयं विजानतः भर्तुः स्वामिनः अर्धाङ्ग-  
 आसनाद्धं दृष्टिं कृत्वा अन्यत्र समन्ततः चतुर्दिक्षु दृष्टिं न क्षिपे-  
 न दद्यात् ॥ २१२ ॥ २१३ ॥

अग्निमिति । उपशिक्षितः सम्यग् विनीतः सन् दी-  
 नं दद्यात् ॥ २१४ ॥

आशीविषमिव क्रुद्धं प्रभुं प्राणधनेश्वरम् ॥ २१४ ॥  
 यत्नेनोपचरेन्नित्यं नाहमस्मीति चिन्तयेत् ।  
 समर्थयन् च तत् पक्षं साधु भाषेत भाषितम् ।  
 तन्नियोगेन वा ब्रूयादर्थं सुपरिनिश्चितम् ॥ २१५ ॥  
 सुखप्रबन्धगोष्ठीषु विवादे वादिनां मतम् ।  
 विजानन्नपि नो ब्रूयाद्भर्तुः क्षिप्तोत्तरं वचः ॥ २१६ ॥  
 सदानुद्धतवेशः स्यान्नृपाहृतस्तु प्राञ्जलिः ।  
 तद्गतां कृतनतिः श्रुत्वा वस्त्रान्तरितसम्मुखः ॥ २१७ ॥

ज्वलन्तं अग्निमिव तथा क्रुद्धम् आशीविषं भुजङ्गमिव प्राणानां  
 धनानाञ्च ईश्वरं प्रभुं प्रभुं स्वामिनं राजानम् आसीदेत् राज-  
 समीपं गच्छेदित्यर्थः ॥ २१४ ॥

यत्नेनेति । नित्यं सततं यत्नेन उपचरेत् सेवेत राजानमिति  
 शेषः, अहम् अस्मि स्वाधीनः भवामीति न चिन्तयेत् न भाव-  
 येत् । तथा तत्पक्षं राजपक्षं समर्थयन् दृढीकुर्वन् साधु  
 सन्तोषकरं भाषितं वचनं भाषेत कथयेत् तस्य राज्ञः नियोगेन  
 आदेशेन वा सुपरिनिश्चितं सुनिश्चितम् अर्थं ब्रूयात् ॥ २१५ ॥

सुखेति । सुखप्रबन्धगोष्ठीषु विहारसमाजेषु वादिनां पर-  
 स्परतर्कवतां विवादे तर्कव्यवहारे मतं सिद्धान्तं विजानन्नपि  
 भर्तुः स्वामिनः उत्तरं सिद्धान्तं क्षिप्त्वा आक्षिप्य आच्छाद्य  
 इत्यर्थः वचः वचनं नो ब्रूयात् न कथयेत् ॥ २१६ ॥

सपेति । नृपेण आहृतः सन् सदा अनुद्धतवेशः विनीत-  
 परिच्छदः प्राञ्जलिः स्यात् तथा कृतनतिः प्रणतः वस्त्रान्तरित-  
 सम्मुखः आच्छादितपुरोभागः सन् आदौ अग्रतः तस्य प्रभोः

तदाज्ञां धारयित्वादौ स्वकर्माणि निवेदयेत् ।

नत्वाऽऽसीताऽऽसने प्रह्वो न तत्पार्श्वे न सम्मुखे ॥ २१८ ॥

उच्चैः प्रहसनं कासं छीवनं कुत्सनं तथा ।

जृम्भणं गात्रभङ्गञ्च पर्वास्फोटञ्च वर्जयेत् ॥ २१९ ॥

राज्ञादिष्टन्तु यत् स्थानं तत्र तिष्ठेन्मुदान्वितः ।

प्रवीणोचितमेधावी वर्जयेदभिमानताम् ॥ २२० ॥

आपद्युन्मार्गगमने कार्य्यकालात्ययेषु च ।

अपृष्टोऽपि हितान्वेषी ब्रूयात् कल्याणभाषितम् ॥ २२१ ॥

गां वाचं श्रुत्वा तस्य आज्ञाम् आदेशं धारयित्वा गृहीत्वा पश्य

प्रह्वः नस्त्रः सन् स्वकर्माणि निजागमनप्रयोजनानि निवेदयेत्

तस्य प्रभोः पार्श्वे सम्मुखे वा प्रभोराज्ञयापीत्यर्थः आसने न

आसीत नैव उपविशेत् आज्ञापालनार्थम् आसनं स्पृशेदिति

भावः ॥ २१७ ॥ २१८ ॥

उच्चैरिति । उच्चैः प्रहसनम् उच्चहासं कासं कफादिनिःसार

शब्दविशेषं छीवनं युत्कारं कुत्सनं कुत्सितकर्मकरणम् अथ

कस्यापि निन्दनं जृम्भणं गात्रभङ्गं तथा पर्वणां शरीरग्रन्थीनां

आस्फोटं कण्डूयनं वर्जयेत् प्रभुसमक्षमिति शेषः ॥ २१९ ॥

राज्ञेति । राज्ञा आदिष्टं प्रदर्शितं यत् स्थानं, मुदान्वितः

सहर्षः सन् तत्र तिष्ठेत् तथा प्रवीणोचितमेधावी हृद्बोचितप्रह्व

वान् सन् अभिमानतां मानितां वर्जयेत् प्रभुसमीपे माना

मानबुद्धिर्नाद्रियते इति भावः ॥ २२० ॥

आपदीति । हितान्वेषी हितकामी जनः अपृष्टोऽपि

अजिज्ञासितोऽपि आपदि, उन्मार्गगमने तथा कार्य्यकालात्यये

प्रियं तथ्यञ्च पथ्यञ्च वदेद्धर्मार्थकं वचः ।

समानवार्त्तया चापि तद्धितं बोधयेत् सदा ॥२२२॥

कीर्त्तिमन्यनृपाणां वा वदेन्नीतिफलं तथा ।

दाता त्वं धार्मिकः शूरो नीतिमानसि भूपते ! २२३

अनीतिस्ते तु मनसि वर्त्तते न कदाचन ।

ये ये भ्रष्टा अनीत्या तान् तदग्रे कीर्त्तयेत् सदा ॥२२४॥

नृपेभ्यो ह्यधिकोऽसीति सर्वेभ्यो न विशेषयेत् ।

परार्थं देशकालज्ञो देशे काले च साधयेत् ॥२२५॥

कार्यसमयातिक्रमेषु प्रभोरिति शेषः कल्याणभाषितं हितवाक्यं  
ब्रूयात् कथयेत् ॥ २२१ ॥

प्रियमिति । प्रियं प्रीतिकरं तथ्यं यथार्थं पथ्यं हितं धर्मा-  
र्थकं धर्मार्थयुक्तञ्च वचः वदेत् समानवार्त्तया मानयुक्तसमा-  
चारेण च सदा तस्य प्रभोः हितं बोधयेदपि ज्ञापयेच्च ॥ २२२ ॥

कीर्त्तिमिति । अन्येषां नृपाणां कीर्त्तिं यशस्करकार्यं  
नीतिफलं वा वदेत् । किञ्च हे भूपते ! त्वं दाता, धार्मिकः, शूरः  
वीरः तथा नीतिमान् नयसम्पन्नः असि, कदाचन ते तव मनसि  
अनीतिः दुर्णयः न तु नैव वर्त्तते । ये ये नृपाः अनीत्या दुर्णयेन  
भ्रष्टाः तान् तदग्रे तस्य प्रभोरग्रे सदा कीर्त्तयेत् ॥ २२३ ॥ २२४ ॥

नृपेभ्य इति । सर्वेभ्यः नृपेभ्यः अधिकः श्रेष्ठः असीति न  
विशेषयेत् विशिष्य ब्रूयात् तथा देशकालज्ञः अस्मिन् देशे इदं  
कर्त्तव्यमस्मिन् काले एवं व्यवहर्त्तव्यमिति जानन् सन् देशे  
यथास्थाने काले यथासमये परार्थं परेषामन्येषाम् अर्थं कार्यं  
श्रेष्ठकार्यं वा साधयेत् ॥ २२५ ॥

परार्थनाशनं न स्यात् तथा ब्रूयात् सदैव हि ।  
 न कर्षयेत् प्रजाकार्यमिषतश्च नृपं सदा ॥२२६॥  
 अपि स्थाणुवदासीत शुष्यन् परिगतः क्षुधा ।  
 न त्वेवानर्थसम्पन्नां वृत्तिमीहेत पण्डितः ॥२२७॥  
 यत्कार्यं यो नियुक्तः स भूयात् तत्कार्यतत्परः ।  
 नान्याधिकारमन्विच्छेन्नाभ्यसूयेच्च केनचित् ॥२२८॥  
 न न्यूनं लक्षयेत् कस्य पूरयीत स्वशक्तितः ।  
 परोपकरणादन्यन्न स्थान्निवकरं सदा ॥२२९॥

परार्थेति । यथा परार्थनाशनं परेषां प्रजादीनां कार्य-  
 हानिः न स्यात् तथा सदैव ब्रूयात् तथा प्रजाकार्यमिषतः  
 प्रजानां कार्यानुरोधेनेत्यर्थः नृपं स्वामिनं सदा न कर्षयेत् न  
 विरक्तीकुर्यात् हिशब्दोऽवधारणे ॥ २२६ ॥

अपीति । पण्डितः प्राज्ञो जनः क्षुधा परिगतः क्षुधात्तं  
 अत एव शुष्यन् शोषं गच्छन्नपि स्थाणुवत् शाखापक्ष्मवादिहीन  
 शुष्कतरुरिव आसीत् तिष्ठेत् अनर्थसम्पन्नां विपत्सङ्कुलान्  
 असाध्वीमित्यर्थः वृत्तिं जीविकां नत्वेव ईहेत चेष्टेत नैवा-  
 लम्बेतेत्यर्थः ॥ २२७ ॥

यत्कार्यं इति । यः यस्मिन् कार्ये नियुक्तः, सः तत्कार्य-  
 तत्परः भूयात् भवेत्, अन्यस्य अधिकारं न अन्विच्छेत् तद-  
 केनचित् न अभ्यसूयेच्च नासूयां कुर्याच्च ॥ २२८ ॥

नेति । कस्य जनस्य अपीति शेषः न्यूनं तुष्टिमित्यर्थः न  
 लक्षयेत् स पश्येत् प्रत्युत स्वशक्तितः निजशक्त्या पूरयीत न्यूनं  
 पूरयेत् । सदा सर्वस्मिन् काले परेषामुपकारकरणात् अन्यत्

करिष्यामीति ते कार्य्यं न कुर्यात् कार्य्यलम्बनम् ।  
 द्राक् कुर्यात्तुं समर्थश्चेत् साशं दीर्घं न रक्षयेत् ॥ २३० ॥  
 गुह्यं कर्म च मन्त्रञ्च न भर्तुः सम्प्रकाशयेत् ।  
 विद्वेषञ्च विनाशञ्च मनसापि न चिन्तयेत् ॥ २३१ ॥  
 राजा परममित्रोऽस्ति न कामं विचरेदिति ।  
 स्त्रीभिस्तदर्थिभिः पापैर्वैरिभूतैर्निराकृतैः ॥ २३२ ॥  
 एकार्थचर्यां साहित्यं संसर्गञ्च विवर्जयेत् ।  
 वेशभाषानुकरणं न कुर्यात् पृथिवीपतेः ॥ २३३ ॥  
 सम्पन्नोऽपि च मेधावी न स्पर्धेत च तद्गुणैः ।  
 रागापरागौ जानीयाद्भर्तुः कुशलकर्मवित् ।  
 इङ्गिताकारचेष्टाभ्यस्तदभिप्रायतां तथा ॥ २३४ ॥

किमपीत्यर्थः मित्रकरं मैत्रीविधायकं न स्यात् न विद्यते, अतः  
 परेषां न्यूनतापूरणं सर्वथा कर्त्तव्यमिति भावः ॥ २२८ ॥

करिष्यामीति । ते तव कार्य्यं करिष्यामीति प्रतिश्रुत्येति  
 शेषः कार्य्यस्य लम्बनं विलम्बनं न कुर्यात् समर्थः शक्तश्चेत् द्राक्  
 भटिति कुर्यात् साशम् आशासहितम् आशां दत्त्वेति भावः  
 दीर्घं कालं न रक्षयेत् न कार्य्यमावृत्य तिष्ठेदित्यर्थः ॥ २३० ॥

गुह्यमिति । भर्तुः स्वामिनः गुह्यं गोपनीयं कर्म मन्त्रं  
 परामर्शञ्च न सम्प्रकाशयेत् विद्वेषं विनाशञ्च मनसापि न चिन्त-  
 येत् न भावयेत् ॥ २३१ ॥

राज्येत्यादि । राजा मम परममित्रः अस्ति वर्त्तते इति  
 कामं सम्यक् न विचरेत् न भावयेत् मित्र इति पुंलिङ्गः आर्षः ।

त्यजेद्विरक्तं नृपतिं रक्ते वृत्तिन्तु कारयेत् ॥ २३५ ॥

विरक्तः कारयेन्नाशं विपक्षाभ्युदयं तथा ॥ २३६ ॥

आशावर्द्धनकं कृत्वा फलनाशं करोति च ।

अकोपोऽपि सकोपाभः प्रसन्नोऽपि च निष्फलः ।

वाक्यञ्च समदं वक्ति वृत्तिच्छेदं करोति च ॥ २३७ ॥

लक्ष्यते विमुखश्चैव गुणसङ्कीर्त्तने कृते ।

दृष्टिं क्षिपत्यथान्यत्र क्रियमाणे च कर्मणि ॥ २३८ ॥

तदर्थिभिः तस्य प्रभोः अर्थिभिः अभिलाषिणीभिरित्यर्थः तदर्थिभिरिति आर्षम् । स्त्रीभिः तथा पापैः पापाचारैः अत एव निराकृतैः वैरिभूतैः शत्रुभिः प्रभोरिति शेषः एकार्थचर्यां सम्भूय व्यवहारम् । साहित्यं एकक्रियाकरणं संसर्गञ्च विवर्जयेत् त्यजेत् किञ्च पृथिवीपतेः वेशस्य भाषायाश्च अनुकरणं न कुर्यात् तथा सम्पन्नोऽपि समृद्धोऽपि मेधावी अपि तस्य प्रभोः गुणैः न स्पृहते । अपि च कुशलकर्मवित् शुभकार्यज्ञः सन् भर्तुः स्वामिनः रागापरागौ अनुरागविरागौ जानीयाम् केन कर्मणा अनुरागः केन वा विरागो भवेदिति तथा इङ्गितेन आकारेण चेष्टया च तस्य प्रभोः अभिप्रायतां मनोभावं जानीयात् बुध्येत ॥ २३२-२३४ ॥

त्यजेदिति । विरक्तं नृपतिं त्यजेत् रक्ते अनुरक्ते नृपे वृत्तिं वर्त्तनं स्थितिमित्यर्थः कारयेत् कुर्यादित्यर्थः स्वार्थं जगन्तोऽयं कृधातुः । विरक्तः नृपः नाशं विपदं तथा विपक्षाणां शत्रूणां अभ्युदयम् उन्नतिं कारयेत् जनयेत् ॥ २३५ ॥ २३६ ॥

विरक्तरक्तलक्षणमाह आग्नेत्यादि । यः प्रभुः आशावर्द्धनकम् आशावृद्धिं कृत्वा फलनाशं करोति आशां दत्वा फले वञ्चयती-

विरक्तलक्षणं ह्येतद्रक्तस्य लक्षणं ब्रुवे ॥२३६॥

दृष्ट्वा प्रसन्नो भवति वाक्यं गृह्णाति चादरात् ।

कुशलादिपरिप्रश्नी प्रदापयति चासनम् ॥२४०॥

विविक्तदर्शनं चास्य रहस्येनं न शङ्कते ।

ज्ञायेत हृष्टवदनः श्रुत्वा तस्य च तत्कथाम् ॥२४१॥

अप्रियाण्यपि चान्यानि तद्युक्तान्यभिमन्यते ।

उपायनञ्च गृह्णाति स्लोकसम्पादनैस्तथा ।

कथान्तरेषु स्मरति प्रहृष्टवदनस्तथा ॥२४२॥

इति रक्तस्य वै लक्ष्यं कर्तव्यं तस्य सेवनम् ॥२४३॥

त्यर्थः, अकोपः अक्रोधः अपि सकोपाभः सकोप इव तथा प्रसन्नः

अपि निष्फलः फलदानविमुखः भवति । किञ्च समदं सगर्वं

वाक्यं वक्ति वृत्तिच्छेदं जीविकाव्याघातं करोति च अपि च

गुणसङ्कीर्तने कृतेऽपि विमुख एव लक्ष्यते तथा अन्यत्र क्रियमाणे

कर्मणि दृष्टिं क्षिपति ददाति न गुणसंकीर्तके इति भावः ।

एतत् विरक्तस्य लक्षणं चिह्नमुक्तमिति शेषः । इदानीं रक्तस्य

लक्षणं ब्रुवे कथयामि । दृष्ट्वा प्रसन्नः भवति, आदरात् वाक्यं

गृह्णाति, कुशलादिपरिप्रश्नी सन् कुशलादिजिज्ञासानन्तरमि-

त्यर्थः आसनम् अस्य सेवकस्य विविक्तदर्शनम् एकान्ते दर्शनञ्च

प्रददाति, रहसि एकान्ते स्थित इति शेषः एनं सेवकं न शङ्कते

तस्य सेवकस्य तत्कथां श्रुत्वा हृष्टवदनः प्रसन्नमुखः ज्ञायते

लक्ष्यते प्रभुरिति शेषः, तेन सेवकेन युक्तानि अप्रियाणि अपि

अन्यानि अभिमन्यते अनुमोदते, उपायनम् उपढौकनं गृह्णाति

तथा स्लोकसम्पादनैः यत् किञ्चन कार्यसम्पादनैरपि कथान्तरेषु

तद्वत्तवस्त्रभूषादिचिह्नं सन्धारयेत् सदा ।

न्यूनाधिक्यं स्वाधिकारकार्ये नित्यं निवेदयेत् ।

तदर्थीं तत् कृतां वार्त्तां शृणुयाद्वापि कीर्त्तयेत् २४४

चारसूचकदोषेण त्वन्यथा यद्वदेन्नृपः ।

शृणुयान्मौनमाश्रित्य तथ्यवन्नानुमोदयेत् ॥२४५॥

आपन्नतं सुभर्त्तारं कदापि न परित्यजेत् ॥२४६॥

एकवारमप्यशितं यस्यान्नं ह्यादरेण च ।

तदिष्टं चिन्तयेन्नित्यं पालकस्याञ्जसा न किम्? २४७

विविधालापेषु मध्ये प्रहृष्टवदनः प्रसन्नमुखः सन् स्मरति आह्वयति च । रक्तस्य अनुरागिणः प्रभोः इति उक्तप्रकारं लक्ष्यं चिह्नं तस्य अनुरक्तस्य प्रभोः सेवनं कर्त्तव्यम् ॥ २३७—२४३ ॥

तद्वत्तेति । तेन प्रभुणा दत्तं वस्त्रभूषादि वसनभूषणादि चिह्नं सदा सन्धारयेत् तथा स्वाधिकारकार्ये निजाधिकारकर्मणि न्यूनाधिकां न्यूनताम् आधिक्यञ्च नित्यं निवेदयेत् स्वामिने इति शेषः । किञ्च तदर्थीं प्रभुसम्बद्धां वा तत्कृतां प्रभुकथितां वार्त्तां शृणुयात् कीर्त्तयेच्च ॥ २४४ ॥

चारिति । चाराणां सूचकानां दुर्जनानां दोषेण नृपः यत् अन्यथा विरुद्धमित्यर्थः वदेत् कथयेत् मौनं तुष्णीभावम् आश्रित्य तत् शृणुयात् किन्तु तथ्यवत् सत्यवत् न अनुमोदयेत् न स्वीकुर्यात् ॥ २४५ ॥

आपन्नतमिति । आपन्नतं विपद्ग्रस्तं सुभर्त्तारम् अनुरक्तं प्रभुं कदापि न परित्यजेत्, यस्य अन्नम् एकवारमपि आदरेण अशितं भक्षितं, तस्य इष्टं प्रियं हितमित्यर्थः नित्यं चिन्तयेत्

अप्रधानः प्रधानः स्यात् काले चात्यन्तसेवनात् ।

प्रधानोऽप्यप्रधानः स्यात् सेवालस्यादिना यतः॥२४८

नित्यं संसेवनरतो भृत्यो राज्ञः प्रियो भवेत् ।

स्वस्वाधिकारकार्यं यद्वाक् कुर्यात् सुमना यतः २४९

न कुर्यात् सहसा कार्यं नीचं राजापि नो दिशेत् ।

तत्कार्यकारकाभावे राज्ञः कार्यं सदैव हि ॥२५०॥

काले यदुचितं कर्तुं नीचमप्युत्तमोऽर्हति ।

यस्मिन् प्रीतो भवेद्राजा तदनिष्टं न चिन्तयेत् ॥२५१

तस्य पालकस्य अञ्जसा बलेन किं न भवति अपितु सर्वमेव  
कार्यं सिद्ध्यतीति भावः ॥ २४६ ॥ २४७ ॥

अप्रधान इति । अत्यन्तसेवनात् प्रभोरिति शेषः सेवकः  
अप्रधानोऽपि प्रधानः स्यात् यतः प्रधानोऽपि सेवायाम् आल-  
स्यादिना अप्रधानः स्यात् ॥ २४८ ॥

नित्यमिति । नित्यं सततं संसेवनरतः सेवातत्परः भृत्यः  
राज्ञः प्रियो भवेत् यत् यस्मात् भृत्यः द्राक् भटिति स्वस्वाधि-  
कारकार्यं कुर्यात् करोति अतः राजा सुमनाः भवतीत्यर्थः  
सुमना यत इति विसर्गस्थाने यादेशः ॥ २४९ ॥

नेति । सहसा अविविचेत्यर्थः कार्यं न कुर्यात् भृत्य इति  
शेषः राजापि नीचं कार्यं कर्म नो दिशेत् कर्तुं नाज्ञापयेदि-  
त्यर्थः । राज्ञः तत्कार्यस्य नीचकार्यस्य मलमूत्रादिपरिष्कार-  
रूपस्य कारकाभावे सदैव तत्कार्यं कार्यं हि कर्तव्यमेव ॥२५०॥

काले इति । काले समये यत् कर्तुमुचितं तत् नीचमपि  
निष्कृष्टमपि उत्तमः उत्कृष्टः भृत्यः अर्हति कर्तुमधिकरोति

न दर्शयेत् स्वाधिकारगौरवन्तु कदाचन ॥२५२॥  
 परस्परं नाभ्यसूयुर्न भेदं प्राप्नुयुः कदा ।  
 राज्ञा चाधिकृताः सन्तो स्वस्वाधिकारगुप्तये ॥२५३॥  
 अधिकारिगणो राजा सद्वृत्तौ यत्र तिष्ठतः ।  
 उभौ तत्र स्थिरा लक्ष्मीर्विपुला सम्मुखी भवेत् ॥२५४॥  
 अन्याधिकारवृत्तन्तु न ब्रूयाच्छ्रुतमप्युत ।  
 राजा न शृणुयादन्यमुखतस्तु कदाचन ॥२५५॥  
 न बोधयन्ति च हितमहितं चाधिकारिणः ।

यस्मिन् कर्मणि राजा प्रीतः भवेत् । किञ्च तस्य राज्ञः अनिष्टं  
 न चिन्तयेत् ॥ २५१ ॥

नेति । कदाचन स्वाधिकारस्य निजकार्यस्य गौरवं गुरुत्वं  
 दुःसाध्यत्वं न दर्शयेत् न प्रकाशयेत् भृत्य इति शेषः ॥ २५२ ॥

परस्परमिवि । राज्ञा अधिकृताः सन्तः साधवः भृत्याः स्वस्वा-  
 धिकारगुप्तये निजनिजाधिकाररक्षणाय परस्परं न अभ्यसूयुः न  
 दोषं दर्शयेयुः तथा कदापि भेदं मनोभङ्गरूपं न प्राप्नुयुः ॥२५३॥

अधिकारौति । यत्र अधिकारिगणः भृत्यवर्गः राजा च  
 उभौ सद्वृत्तौ सद्व्यवहाररतौ परस्परानुकुलावित्यर्थः तिष्ठतः  
 वर्त्तन्ते, तत्र लक्ष्मीः स्थिरा अनपायिनी विपुला महती तथा  
 सम्मुखी अनुकूलवर्त्तिनी भवेत् ॥ २५४ ॥

अन्येति । अन्यस्य अपरस्य भृत्यस्य अधिकारे वृत्तं ज्ञातं  
 दोषमिति शेषः, श्रुतमपि ज्ञातमपि न ब्रूयात् राज्ञे इति शेषः,  
 राजापि कदाचन अन्यमुखतः अपरमुखात् अपरकथां न शृणु-  
 यात् ॥ २५५ ॥

प्रच्छन्नवैरिणस्ते तु दास्यरूपमुपाश्रिताः ॥ २५६ ॥

हिताहितं न शृणोति राजा मन्त्रिमुखाच्च यः ।

स दस्यू राजरूपेण प्रजानां धनहारकः ॥ २५७ ॥

सुपृष्टव्यवहारा ये राजपुत्रैश्च मन्त्रिणः ।

विरुध्यन्ति च तैः साकं ते तु प्रच्छन्नतस्कराः ॥ २५८ ॥

बाला ह्यपि राजपुत्रा नावमान्यास्तु मन्त्रिभिः ।

सदा सुबहुवचनैः सम्बोध्यास्ते प्रयत्नतः ॥ २५९ ॥

असदाचरितं तेषां क्वचिद्राज्ञे न दर्शयेत् ।

नेति । ये अधिकारिणः हितम् अहितञ्च न बोधयन्ति न ज्ञापयन्ति राज्ञे इति शेषः ते तु दास्यरूपं दासत्वम् उपाश्रिताः प्रच्छन्नवैरिणः गूढशत्रवः दासरूपेण प्रच्छन्नं वैरं साधयन्तीत्यर्थः ॥ २५६ ॥

हिताहितमिति । यश्च राजा मन्त्रिमुखात् हिताहितं न शृणोति, सः राजरूपेण प्रजानां धनहारकः दस्युः दस्युर्यथा प्रजानां धनहारकस्तथा स इत्यर्थः ॥ २५७ ॥

सुपृष्टेति । ये मन्त्रिणः राजपुत्रैः सुपृष्टः व्यवहारः येभ्यः तथोक्ताः सन्तः तैः राजपुत्रैः साकं सह विरुध्यन्ति विरोधं कुर्वन्ति ते तु प्रच्छन्नतस्कराः गूढचौराः ॥ २५८ ॥

बाला इति । राजपुत्राः बालाः शिशवोऽपि हि मन्त्रिभिः न अवमान्याः नावज्ञेयाः, परं सदा सततं सुबहुवचनैः शोभनैः बहुभिः वाक्यैः ते राजपुत्राः प्रयत्नतः अतियत्नेन संबोध्याः सम्यक् बोधनीयाः ॥ २५९ ॥

असदाचरितमिति । क्वचित् कदाचित् तेषां राजपुत्राणाम्

स्त्रीपुत्रमोहो बलवान् न निन्दा श्रेयसे तयोः ॥२६०॥

राज्ञोऽवश्यतरं कार्यं प्राणसंशयितञ्च यत् ।

आज्ञापयाग्रतश्चाहं करिष्ये तत् निश्चितम् ।

इति विज्ञाप्य द्राक् कर्तुं प्रयतेत स्वशक्तिः ॥२६१॥

प्राणानपि च सन्दद्यान्महत्कार्यं नृपाय च ।

भृत्यः कुटुम्बपुष्ट्यर्थं नान्यथा तु कदाचन ॥२६२॥

भृत्या धनहराः सर्वे युक्त्या प्राणहरो नृपः ॥२६३॥

असत् मन्दम् आचरितं कार्यं राज्ञे न दर्शयेत् भृत्य इति शेषः । स्त्रीपुत्रमोहः स्त्रियां पुत्रे च मोहः ममतारूपाज्ञानं बलवान् अतिप्रबलः भवतीति शेषः तस्मात् तयोः स्त्रीपुत्रयोः निन्दा कुत्सनं न श्रेयसे मङ्गलाय भवतीति शेषः स्त्रीपुत्रेषु ममतातिशयात् तन्निन्दा न कौरपि सद्भवेति इति भावः ॥२६०॥

राज्ञ इति । भृत्यः राज्ञः अग्रतः अवश्यतरं सुनिश्चितं प्राणसंशयितं जीवनसंशयकरं यत् कार्यं तत् निश्चितं करिष्ये इति विज्ञाप्य प्रतिश्रुत्य द्राक् भटिति स्वशक्तिः निजसामर्थ्यानुसारेण कर्तुं प्रयतेत ॥ २६१ ॥

प्राणानिति । भृत्यः कुटुम्बपुष्ट्यर्थं परिजनभरणार्थं महत्कार्यं महति सङ्कटे कार्यं आपतिते इति शेषः । नृपाय प्राणानपि सन्दद्यात् प्राणव्ययेऽपि नृपकार्यं अपराङ्मुखो भवेदिति भावः । अन्यथा कुटुम्बभरणाभावे तु कदाचन न प्राणान् दद्यादिति शेषः ॥ २६२ ॥

भृत्या इति । सर्वे भृत्याः युक्त्या युक्तिमाश्रित्य हेतुमवलम्ब्य इत्यर्थः धनहराः राज्ञ इति शेषः नृपोऽपि प्राणहरः भृत्याना-

युद्धादौ सुमहत्कार्ये भृत्या प्राणान् हरेन्नृपः ।  
 नान्यथा भृतिरूपेण भृत्यो राजधनं हरेत् ॥२६४॥  
 अन्यथा हरतस्तौ तु भवतश्च स्वनाशकौ ॥ २६५ ॥  
 राजानु युवराजस्तु मान्योऽमात्यादिकैः सदा ।  
 तन्न्यूनामात्यनवकं तन्न्यूनाधिकृतो गणः ।  
 मन्त्रितुल्यश्चायुतिको न्यूनः साहसिको मतः ॥२६६॥  
 मिति शेषः युक्तिमाश्रित्य परस्परं धनप्राणहरौ भृत्यप्रभू इति  
 भावः ॥ २६३ ॥

युक्तिमाह युद्धादाविति । युद्धादौ सुमहत्कार्ये उपस्थिते  
 नृपः भृत्या वेतनेन भृतिरूपनिष्कुर्येणेत्यर्थः प्राणान् भृत्याना-  
 मिति शेषः हरेत् भृतिलोभेन भृत्याः युद्धादौ प्रभुजयार्थिनः  
 प्राणां त्यजन्तीति भावः । अन्यथा न युद्धादिव्यतिरिक्तविषये  
 तु न हरेदिति शेषः । भृत्यश्च भृतिरूपेण राजधनं हरेत्  
 अन्यथा न हरेदिति निष्कर्षः । अन्यथा अन्यप्रकारेण तौ राज-  
 भृत्यौ यदि हरतः प्राणधने इति शेषः तदा स्वनाशकौ आत्म-  
 क्षयकरौ भवतः तथात्वे उभयविरागादुभयनाशोऽवश्यं भविष्य-  
 तीति भावः ॥ २६४ ॥ २६५ ॥

राजेति । राजा अमात्यादिकैः सदा मान्यः युवराजस्तु अनु  
 राजापेक्षया न्यूनतया मान्य इत्यर्थः, अमात्यनवकम् अमात्या-  
 दयः बव प्रकृतयः तन्न्यूनाः युवराजापेक्षया न्यूनतया मान्याः  
 अनुजीविभिरिति शेषः । तन्न्यूनाधिकृतो गणः अधिकारिवर्गः  
 तदपेक्षया न्यूनतया मान्य इत्यर्थः । आयुतिकः दशसहस्रसेना-  
 पतिः मन्त्रितुल्यो मन्त्रिसमो मान्यः तथा साहसिकः सहस्र-  
 सेनाध्यक्षः मन्त्रिन्यूनो मान्यः ज्ञेयः ॥ २६६ ॥

न क्रीडयेद्राजसमं क्रीडिते तं विशेषयेत् ।

नावमान्या राजपत्नी कन्या ह्यपि च मन्त्रिभिः ॥२६७॥

राजसम्बन्धिनः पूज्याः सुहृदश्च यथार्हतः ।

नृपाहृतस्तुरं गच्छेत् त्यक्त्वा कार्य्यशतं महत् ॥२६८॥

मित्रायापि न वक्तव्यं राजकार्य्यं सुमन्त्रितम् ।

भृतिं विना राजद्रव्यमदत्तं नाभिलाषयेत् ॥२६९॥

राजाज्ञया विना नेच्छेत् कार्य्यमाध्यस्थिकीं भृतिम् ।

न निहन्याद्द्रव्यलोभात् सत्कार्य्यं यस्य कस्यचित् ॥२७०॥

नेति । राजसमं राज्ञा सहितं न क्रीडयेत् न विहरेत्  
क्रीडिते सति तं राजानं विशेषयेत् न पराजितं कुर्यात् तेन  
सह क्रीडने तदवमाननं न कुर्यादिति भावः । राजपत्नी कन्या  
च राज्ञ इति शेषः मन्त्रिभिः न अवमान्या नावज्ञेया ॥ २६७ ॥

राजेति । राजसम्बन्धिनः सुहृदश्च राज्ञ इति शेषः यथा-  
र्हतः यथायोग्यं पूज्याः भृत्यैरिति शेषः । नृपाहृतः राज्ञा आहृ-  
तस्तु शृत्यः महत् कार्य्यशतमपि त्यक्त्वा तुरं सत्वरं गच्छेत् ॥२६८॥

मित्रायेति । सुमन्त्रितं कृतमन्त्रणं राजकार्य्यं मित्राय  
सुहृदेऽपि न वक्तव्यं किञ्च भृतिं वेतनं विना अदत्तम् अन्यत्  
राजद्रव्यं न अभिलाषयेत् नेच्छेत् । स्वार्थं जगन्तोऽयं लप-  
धातुः ॥ २६९ ॥

राजेति । राजाज्ञया विना कार्य्यमाध्यस्थिकीं भृतिं कार्य्यस्य  
मध्यवर्तिनीं भृतिं वेतनं कार्य्यमसमाप्य भृतिमित्यर्थः न इच्छेत्  
न गृह्णीयात् तथा द्रव्यलोभात् धनलोभात् यस्य कस्यचित्  
सत्कार्य्यं न निहन्यात् न नाशयेत् ॥ २७० ॥

स्वस्त्रीपुत्रधनप्राणैः काले संरक्षयेन्नृपम् ।  
 उत्कोचं नैव गृह्णीयान्नान्यथा बोधयेन्नृपम् ॥२७१॥  
 अन्यथा दण्डकं भूपं नित्यं प्रबलदण्डकम् ।  
 निगृह्य बोधयेत् सम्यगेकान्ते राज्यगुप्तये ॥२७२॥  
 हितं राज्ञश्चाहितं यल्लोकानां तन्न कारयेत् ।  
 नवीनकरशुल्काद्यैर्लोकं उद्विजते ततः ॥ २७३ ॥  
 गुणनीतिबलद्वेषी कुलभूतोऽप्यधार्मिकः ।  
 नृपो यदि भवेत् तन्तु त्यजेद्राष्ट्रविनाशकम् ॥२७४॥  
 तत्पदे तस्य कुलजं गुणयुक्तं पुरोहितः ।

स्वेति । काले स्वस्त्रीपुत्रधनप्राणैः स्वकीयैः स्त्रीपुत्रधनप्राणैः  
 नृपं संरक्षयेत्, उत्कोचं नैव गृह्णीयात् तथा नृपम् अन्यथा न  
 बोधयेत् ॥ २७१ ॥

अन्यथेति । अन्यथा अयथाविधि दण्डकं दण्डयितारं नित्यं  
 सततं प्रबलदण्डकं तीक्ष्णदण्डञ्च भूपं निगृह्य राज्यगुप्तये राज्य-  
 रक्षणाय एकान्ते रहसि सम्यक् बोधयेत् शिष्ये ॥ २७२ ॥

हितमिति । यत् राज्ञः हितं किन्तु लोकानां प्रजानाम्  
 अहितं तत् न कारयेत् यस्मात् नवीनैः नूतनैः करैः राजस्वैः  
 शुल्काद्यैश्च लोकः प्रजा ततः तस्मात् नृपात् उद्विजते विरज्यते  
 अतस्तादृशं राजहितं न कर्त्तव्यमिति भावः ॥ २७३ ॥

गुणेति । कुलभूतः महाकुलप्रसूतोऽपि नृपः यदि गुणनीति-  
 बलद्वेषी गुणद्वेषी नीतिद्वेषी बलद्वेषी तथा अधार्मिकः भवेत्  
 राष्ट्रस्य राज्यस्य विनाशकं क्षयकारकं तं तु त्यजेत् ॥ २७४ ॥

तत्पदे इति । पुरोहितः प्रकृतीनां प्रधानपुरुषाणामनुमतिं

प्रकृत्यनुमतिं कृत्वा स्थापयेद्राज्यगुप्तये ॥ २७५ ॥  
 सास्त्रो दूरं नृपात् तिष्ठेदस्त्रपाताद् बहिः सदा ।  
 सशस्त्रो दशहस्तन्तु यथादिष्टं नृपप्रियाः ॥ २७६ ॥  
 पञ्चहस्तं वसेयुर्वै मन्त्रिणो लेखकाः सदा ।  
 सेनपैस्तु विना नैव सशस्त्रास्त्रो विशेत् सभाम् ॥ २७७ ॥  
 पुरोहितः श्रेष्ठतरः श्रेष्ठः सेनापतिः स्मृतः ।  
 समः सुहृच्च सम्बन्धी ह्युत्तमा मन्त्रिणः स्मृताः ॥ २७८ ॥  
 अधिकारिगणो मध्योऽधमौ दर्शकलेखकौ ।  
 ज्ञेयोऽधमतमो भृत्यः परिचारकगणः सदा ।

कृत्वा गृहीत्वा गुणयुक्तं गुणवन्तं तस्य कुनृपस्य कुलजं वंशभवं  
 तत्पदे तस्य राज्ञः पदे राज्यगुप्तये राज्यस्य रक्षणाय स्थापयेत्  
 अभिषिञ्चेत् ॥ २७५ ॥

सास्त्र इत्यादि । सास्त्रः क्षेपणीयास्त्रसहितः नृपात् दूरम्  
 अस्त्रपाताद् बहिः बाह्यदेशे सदा तिष्ठेत्, सशस्त्रः शस्त्रसहि-  
 तस्तु दशहस्तं तु दूरं तिष्ठेदिति शेषः । नृपप्रियाः राजप्रणयिनः  
 मन्त्रिणः लेखकाश्च सदा यथादिष्टम् आदेशक्रमेण पञ्चहस्तं  
 दूरं वै निश्चितं वसेयुः । राजा तु सेनपैः सेनापतिभिः विना  
 सशस्त्रास्त्रः अस्त्रशस्त्रसहितः सन् सभां नैव विशेत् ॥ २७६-२७७

पुरोहित इति । पुरोहितः श्रेष्ठतरः सर्वेभ्यः श्रेष्ठ इत्यर्थः  
 सेनापतिः श्रेष्ठः स्मृतः कथितः सुहृच्च सम्बन्धी च समः तुल्यः  
 मन्त्रिणस्तु उत्तमाः उत्कृष्टाः स्मृताः ॥ २७८ ॥

अधिकारिण इति । अधिकारिगणः अपरकर्मचारिवर्गः  
 मध्यमः, दर्शकलेखकौ अधमौ निक्षेपौ भृत्यः परिचारकगणः

परिचारगणाञ्चू नो विज्ञेयो नीचसाधकः ॥२७६॥  
 पुरोगमनमुत्थानं स्वासने सन्निवेशनम् ।  
 कुर्यात् सकुशलप्रश्नं क्रमात् सुस्मितदर्शनम् २८०  
 राजापुरोहितादीनां त्वन्येषां स्नेहदर्शनम् ।  
 अधिकारिगणादीनां सभास्थश्च निरालसः ॥२८१॥  
 विद्यावत्सु शरच्चन्द्रो निदाघार्को द्विषत्सु च ।  
 प्रजासु च वसन्तार्क इव स्यात् त्रिविधो नृपः २८२  
 यदि ब्राह्मणभिन्नेषु मृदुत्वं धारयेन्नृपः ।  
 परिभवन्तितं नीचा यथा हस्तिपका गजम् ॥२८३॥

सदा अधमतमः अतिनिक्लष्टः ज्ञेयः । परिचारगणात् नीच-  
 साधकः नीचकर्मकारकः न्यूनः निक्लष्टतमः विज्ञेयः ॥ २७६ ॥

पुरोगमनमिति । स राजा पुरोहितादीनां क्रमात् यथा-  
 क्रमं पुरोऽग्रे गमनम् उत्थानम् आसनात् गात्रोत्थानं स्वस्थ निजस्य  
 आसने सन्निवेशनं कुशलप्रश्नं तथा सुस्मितदर्शनं सहास्यदर्शनम्  
 अन्येषान्तु अधिकारिगणादीनां सभास्थः सभायां स्थितः न तु  
 उल्लिख्य इत्यर्थः तथा निरालसः आलस्यरहितश्च सन् स्नेहदर्शनं  
 सस्नेहमवलोकनं कुर्यात् ॥ २८० ॥ २८१ ॥

विद्यावत्स्विति । नृपः त्रिविधः त्रिप्रकारः स्यात् भवेत् यथा  
 विद्यावत्सु पण्डितेषु शरच्चन्द्र इव, द्विषत्सु शत्रुषु निदाघार्कः  
 ग्रीष्मकालसूर्य इव तथा प्रजासु वसन्तार्कः वसन्तकालिकः  
 सूर्य इव । एक इव शब्दः सर्वत्र सम्बध्यते ॥ २८२ ॥

यदीति । नृपः यदि ब्राह्मणभिन्नेषु ब्राह्मणशब्दोऽत्र द्वि-  
 जाति परः । ब्राह्मणक्षत्रवैश्यव्यतिरिक्तेषु शूद्रेष्वित्यर्थः मृदुत्वं

भृत्याद्यैर्यन्न कर्त्तव्याः परिहासाश्च क्रीडनम् ।  
 अपमानास्पदे ते तु राज्ञो नित्यं भयावहे ॥२८४॥  
 पृथक् पृथक् व्यापयन्ति स्वार्थसिद्धौ नृपाय ते ।  
 स्वकार्यं गुणवत् कृत्वा सर्वे स्वार्थपरा यतः ॥२८५॥  
 विकल्पन्तेऽवमन्यन्ति लङ्घयन्ति च तद्वचः ।  
 राजभोज्यानि भुञ्जन्ति न तिष्ठन्ति स्वके पदे ॥२८६॥  
 विस्रंसयन्ति तन्मन्त्रं विवृण्वन्ति च दुष्कृतम् ।  
 भवन्ति नृपवेशा हि वञ्चयन्ति नृपं सदा ॥२८७॥  
 तत् स्त्रियं सज्जयन्ति स्म राज्ञि क्रुद्धे हसन्ति च ।  
 व्याहरन्ति च निर्लज्जा हेलयन्ति नृपं क्षणात् ॥२८८॥

धारयेत् मार्दवेन व्यवहरेदित्यर्थः तदा नीचाः शूद्राः हस्ति-  
 पकाः गजमिव तं नृपं परिभवन्ति । इतरेषु स्यर्द्धा न दातव्येति  
 भावः ॥ २८३ ॥

भृत्याद्यैरिति । भृत्याद्यैः अधीनस्थजनैरित्यर्थः क्रीडनं  
 परिहासाश्च न कर्त्तव्याः यत् यस्मात् ते परिहासक्रीडने राज्ञः  
 अपमानास्पदे अपमानजनके नित्यं सततं भयावहे भयजनकं  
 च भवत इति शेषः ॥ २८४ ॥

पृथगिति । यतः ते सहक्रीडनादिकारिणः भृत्याः स्वार्थ-  
 पराः सन्तः स्वार्थस्य स्वकार्यस्य सिद्धौ साधनाय स्वकार्यं  
 निजकार्यमेव गुणवत् नान्यकार्यमिति भावः इति कृत्वा नृपा  
 पृथक् पृथक् व्यापयन्ति बोधयितुं यतन्ते इत्यर्थः ॥ २८५ ॥

विकल्पन्ते इत्यादि । नृपे राजनि विषये यः परिहासः यः

आज्ञामुल्लङ्घयन्ति स्म न भयं यान्त्यकर्मणि ।  
 एते दोषाः परीहासचमाक्रीडोद्भवा नृपे ॥२८६॥  
 न कार्यं भृतकः कुर्व्यान्नृपलेखादिना क्वचित् ।  
 नाज्ञापयेल्लेखनेन विनाल्पं वा महन्नृपः ॥२८७॥  
 भ्रान्तेः पुरुषधर्मत्वाल्लेख्यं निर्णायकं परम् ।  
 अलेख्यमाज्ञापयति ह्यलेख्यं यत् करोति यः ।

चमा या च क्रीडा तदुद्भवाः एते दोषाः भवन्तीति शेषः यथा  
 तादृशाः भृत्याः तस्य राज्ञः वचः वाक्यं विकल्पन्ते तर्केण परि-  
 हरन्ति अवमन्यन्ति कुत्सयन्ति लङ्घयन्ति च तथा राज-  
 भोज्यानि वस्तूनि भुञ्जन्ति राजाज्ञां विना भक्षयन्ति, स्वके-  
 निजे पदे न तिष्ठन्ति च न स्वपदोचितं व्यवहरन्ति चेत्यर्थः ।  
 किञ्च तस्य राज्ञः मन्त्रं विस्रंसयन्ति प्रकाशयन्ति, दुष्कृतं मन्द-  
 कार्यं विवृण्वन्ति प्रकटयन्ति, नृपवेशाः राजपरिच्छेदधारिणः  
 भवन्ति (किं बहुना) सदा नृपं वञ्चयन्ति प्रतारयन्ति । अपि च  
 तस्य राज्ञः स्त्रियं राजमहिषीयित्यर्थः सज्जयन्ति अनुरोधयन्ति  
 स्वार्थायेति भावः, राज्ञि क्रुद्धे सत्यपि हसन्ति, निर्लज्जाः सन्तः  
 व्याहरन्ति कथयन्ति क्षणात् अल्पेनैव क्षणेन नृपं हेलयन्ति  
 नमयन्ति, आज्ञाम् उल्लङ्घयन्ति तथा अकर्मणि मन्दकार्ये  
 कृतेऽपीत्यर्थः भयं न यान्ति न प्राप्नुवन्ति च स्मद्वयं पादपूर-  
 णार्थम् ॥ २८६—२८८ ॥

नेति । भृतकः भृत्यः क्वचित् नृपलेखाद् विना राजलिपि-  
 मन्तरेण कार्यं न कुर्यात् । नृपः वा राजा च लेखनेन विना  
 अल्पं वा महत् कार्यं न आज्ञापयेत् ॥ २८७ ॥

भ्रान्तेरिति । भ्रान्तेः भ्रमस्य पुरुषधर्मत्वात् सर्वपुरुषेषु

राजकृत्यमुभौ चोरौ तौ भृत्यनृपतौ सदा ॥२६॥  
 नृपसंचिह्नितं लेख्यं नृपस्तन्न नृपो नृपः ॥२६२॥  
 समुद्रलिखितं राज्ञा लेख्यं तच्चोत्तमोत्तमम् ।  
 उत्तमं राजलिखितं मध्यं मन्त्रादिभिः कृतम् ।  
 पौरलेख्यं कनिष्ठं स्यात् सर्वं संसाधनक्षमम् ॥२६३॥  
 यस्मिन् यस्मिन् हि कृत्ये तु राज्ञा योऽधिकृतो नरः  
 सामात्ययुवराजादिर्यथानुक्रमतश्च सः ॥ २६४ ॥  
 दैनिकं मासिकं वृत्तं वार्षिकं बहुवार्षिकम् ।  
 तत्कार्यजातलेख्यन्तु राज्ञे सम्यङ्निवेदयेत् ॥२६५॥

सम्भाव्यमानत्वादित्यर्थः लेख्यं लिपिः परं प्रधानं निर्णायकं  
 प्रमापकम् । यः राजा अलेख्यं लेख्यं विना आज्ञापयति । यः  
 भृत्यः यत् अलेख्यं लेख्यं विना राजकृत्यं करोति तौ उभौ भृत्य  
 नृपतौ सदा चौरौ विज्ञेयाविति शेषः ॥ २६१ ॥

नृपेति । नृपसंचिह्नितं राजचिह्नितं तत् लेख्यम् एव नृपः  
 नृपः नृपः न लिपेरेव राजकार्यकारित्वादिति भावः ॥ २६२ ॥

समुद्रेति । यत् लेख्यं समुद्रं मुद्रासहितं राज्ञा लिखितं  
 तच्च तदेव उत्तमोत्तमम् अत्युत्तमं, राजलिखितं लेख्यं मुद्रा  
 हीनमिति शेषः उत्तमं मन्त्रादिभिः कृतं लेख्यं मध्यं, पौर  
 पुरवासिभिः लेख्यं कनिष्ठम् अधमं स्यात् । सर्वम् अत्युत्तमाति  
 लेख्यं संसाधने सम्यक् साधने कार्यस्येति शेषः क्षमं समं  
 सर्वैरेव कार्यं साध्यते परम् अत्युत्तमत्वादिभेदेनेति भावः ॥२६३॥

यस्मिन्निति । दैनिकमिति । यस्मिन् यस्मिन् कृत्ये यः  
 सामात्ययुवराजादिः अमात्यसहितः युवराजादिः नरः राज्ञः

राजाद्यङ्कितलेख्यस्य धारयेत् स्मृतिपत्रकम् ।

कालेऽतीते विस्मृतिर्वा भ्रान्तिः सञ्जायते नृणाम् ॥२८६॥

अनुभूतस्य स्मृत्यर्थं लिखितं निर्मितं पुरा ।

यन्नाच्च ब्रह्मणा वाचां वर्णस्वरविचिह्नितम् ॥२८७॥

वृत्तलेख्यं तथा चायव्ययलेख्यमिति द्विधा ।

व्यवहारक्रियाभेदादुभयं बहुतां गतम् ॥२८८॥

यथोपन्यस्तसाध्यार्थसंयुक्तं सोत्तरक्रियम् ।

सावधारणकञ्चैव जयपत्रकमुच्यते ॥२८९॥

अधिकृतः नियुक्तः सः सः यथानुक्रमतश्च यथाक्रमेणैव दैनिकं  
प्रात्यहिकं मासिकं वार्षिकं बहुवार्षिकं वा वृत्तं निष्पन्नं तत्तत्  
कार्यजातलेख्यं राज्ञे सम्यक् निवेदयेत् ॥ २८४ ॥ २८५ ॥

राजेति । राजादिभिः अङ्कितस्य चिह्नितस्य लेख्यस्य स्मृति-  
पत्रकं स्मरणलिपिं धारयेत् रक्षेत् भृत्य इति शेषः । यतः काले  
अतीते गते सति नृणां विस्मृतिः भ्रान्तिः वा सञ्जायते ॥२८६॥

अनुभूतस्येति । पुरा पूर्वस्मिन् काले ब्रह्मणा अनुभूतस्य  
कृतस्य स्मृत्यर्थं स्मरणार्थं यन्नात् वाचां वर्णैः व्यङ्ग्यैः स्वरैश्च  
विचिह्नितं विशेषेण अङ्कितं लिखितं लेख्यं निर्मितम् ॥२८७॥

वृत्तलेख्यमिति । लेख्यं द्विधा वृत्तलेख्यं तथा आयव्यय-  
लेख्यञ्च । तदुभयं व्यवहारक्रियाभेदात् बहुतां गतं बहुविधत्वं  
प्राप्तम् ॥ २८८ ॥

यथेति । यथोपन्यस्तेन यथायथकथितेन साध्येन अभि-  
योज्येन अर्थेन विषयेण संयुक्तम् उत्तरक्रियया सहितं साव-  
धारणं सिद्धान्तसहितं लेख्यं जयपत्रकम् उच्यते कथ्यते ॥२८९॥

सामन्तेष्वथ भृत्येषु राष्ट्रपालादिकेषु यत् ।  
 कार्यमादिश्यते येन तदाज्ञापत्रमुच्यते ॥३००॥  
 ऋत्विक् पुरोहिताचार्य्यमन्येष्वभ्यर्चितेषु च ।  
 कार्यं निवेद्यते येन पत्रं प्रज्ञापनाय तत् ॥३०१॥  
 सर्वे शृणुत कर्त्तव्यमाज्ञया मम निश्चितम् ।  
 सहस्तकालसम्पन्नं शासनं पत्रमेव तत् ॥३०२॥  
 देशाधिकं यस्य राजा लिखितेन प्रयच्छति ।  
 सेवाशौर्य्यादिभिस्तुष्टः प्रसादलिखितं हि तत् ॥३०३॥  
 भोगपत्रन्तु करद्वीकृतं चोपायनीकृतम् ।

सामन्तेष्विति । येन लेख्येन सामन्तेषु अधीननृपतिषु अथ  
 वा राष्ट्रपालादिकेषु भृत्येषु यत् कार्यम् आदिश्यते आज्ञाप्यते  
 तत् आज्ञापत्रम् उच्यते ॥ ३०० ॥

ऋत्विगिति । येन ऋत्विक् पुरोहिताचार्य्येषु अन्येषु  
 अभ्यर्चितेषु पूज्येषु च कार्यं निवेद्यते तत् प्रज्ञापनाय पत्रं  
 प्रज्ञापनपत्रमित्यर्थः ॥ ३०१ ॥

सर्वे इति । सर्वे यूयं मम आज्ञया निश्चितं कर्त्तव्यं शृणुत  
 एवमुक्तेति शेषः यत् सहस्तेन स्वाक्षरेण कालेन च संयुक्तं  
 लेख्यं तदेव शासनं पत्रं शासनलेख्यमित्यर्थः ॥ ३०२ ॥

देशादिकमिति । राजा सेवया परिचर्य्यया शौर्य्यादिभिः  
 वीरत्वप्रकटनादिभिश्च तुष्टः सन् यस्य लेख्यस्य लिखितेन लेख-  
 नेन देशादिकं प्रयच्छति पुरस्काररूपेणेति भावः तत् हि  
 प्रसादलिखितम् ॥ ३०३ ॥

भोगपत्रमिति । त्वया एतत् भुज्यतामिति कृत्वा यत्

पुरुषावधिकं तत्तु कालावधिकमेव वा ॥३०४॥

विभक्ता ये च भ्रात्राद्याः स्वरुच्या तु परस्परम् ।

विभागपत्रं कुर्वन्ति भागलेख्यं तदुच्यते ॥३०५॥

गृहभूम्यादिकं दत्त्वा पत्रं कुर्यात् प्रकाशकम् ।

अनुच्छेदमनाहार्यं दानलेख्यं तदुच्यते ॥३०६॥

गृहक्षेत्रादिकं क्रीत्वा तुल्यमूल्यप्रमाणयुक् ।

पत्रं कारयते यत्तु क्रयलेख्यं तदुच्यते ॥३०७॥

लेख्यं दीयते तत् भोगपत्रम् । अस्य एतत् राजस्वमिति कृत्वा  
यत् लेख्यं दीयते तत् करदीकृतं करदपत्रमित्यर्थः । उपायनम्  
उपढौकनं तद्रूपेण द्रव्यं दत्त्वा यत् लेख्यं दीयते तत् उपा-  
यनीकृतम् उपायनपत्रमित्यर्थः । इदं वस्तु एकेन द्वाभ्यां त्रि-  
भिर्वा पुरुषैर्भोक्तव्यमिति कृत्वा यत् लेख्यं दीयते तत् पुरुषा-  
वधिकम् । यच्च कालमुल्लिख्य लेख्यं दीयते तत् कालावधिकं  
लेख्यमिति शेषः ॥ ३०४ ॥

विभक्ता इति । ये च भ्रात्राद्याः स्वरुच्या स्वेच्छया परस्परं  
विभक्ताः सन्तः विभागपत्रं वण्टनलेख्यं कुर्वन्ति तत् भाग-  
लेख्यम् उच्यते ॥ ३०५ ॥

गृहेति । गृहं भूम्यादिकञ्च दत्त्वा यत् अनुच्छेदम् अखण्ड-  
नीयम् अनाहार्यम् अलीकवादरहितं प्रकाशकं जनसमक्षं पत्रं  
कुर्यात् तत् दानलेख्यम् उच्यते ॥ ३०६ ॥

गृहेति । तुल्येन योग्येन मूल्येन प्रमाणेन परिमाणेन च  
युक्तं गृहक्षेत्रादिकं क्रीत्वा यत्तु पत्रं कारयते तत् क्रयपत्रम्  
उच्यते ॥ ३०७ ॥

जङ्गमस्थावरं बन्धं कृत्वा लेख्यं करोति यत् ।  
 गोप्यभोग्यक्रियायुक्तं सादिलेख्यं तदुच्यते ॥३०८॥  
 ग्रामो देशश्च यत् कुर्यात् सत्यलेख्यं परस्परम् ।  
 राजविरोधिधर्मार्थं संवित्पत्रं तदुच्यते ॥३०९॥  
 वृद्धैः धनं गृहीत्वा तु कृतं वा कारितञ्च यत् ।  
 सुसाक्षिमञ्च तत् प्रोक्तमृणलेख्यं मनीषिभिः ॥३१०॥  
 अभिशापे समुत्तीर्णे प्रायश्चित्ते कृते बुधैः ।  
 दत्तं लेख्यं साक्षिमद्यच्छुद्धिपत्रं तदुच्यते ॥३११॥  
 मेलयित्वा स्वधनांशान् व्यवहाराय साधकाः ।

जङ्गमेति । जङ्गमं स्वर्णरजतादि, स्थावरं गृहभूम्यादि बन्धं  
 बन्धकं कृत्वा यत् गोप्यभोग्यक्रियायुतं लेख्यं करोति तत्  
 सादिलेख्यम् उच्यते ॥ ३०८ ॥

ग्राम इति । ग्रामः अल्पजनवासभूमिः देशः बहुलोका-  
 लयपूर्णजनपदश्च परस्परं राजविरोधिधर्मार्थं नृपविरुद्धधर्मरक्ष-  
 णार्थं यत् सत्यलेख्यं कुर्यात् तत् संवित्पत्रम् उच्यते ॥३०९॥

वृद्धैः इति । वृद्धिं दास्यामि इति प्रतिश्रुत्य धनं  
 गृहीत्वा सुसाक्षिमत् शोभनैः निर्दोषैरित्यर्थः साक्षिभिर्युक्त-  
 मित्यर्थः यत् लेख्यं कृतं कारितं वा तत् मनीषिभिः विद्वद्भिः  
 ऋणलेख्यं प्रोक्तम् कथितम् ॥ ३१० ॥

अभिशापे इति । अभिशापे अभियोगे अपवादे इत्यर्थः  
 समुत्तीर्णे अप्रमाणतादिभिः क्षालिते तथा प्रायश्चित्ते पापशोधक-  
 व्यापारे कृते सति यत् साक्षिमत् ससाक्षिकं लेख्यं दत्तं, बुधैः  
 तत् शुद्धिपत्रम् उच्यते ॥ ३११ ॥

कुर्वन्ति लेख्यपत्रं यत् तच्च सामयिकं स्मृतम् ॥३१२॥

सभ्याधिकारिप्रकृतिसभासङ्गिर्न यः कृतः ।

तत्पत्रं वादिमान्यं चेज्ज्ञेयं सम्मतिसंज्ञिकम् ॥३१३॥

स्वकीयवृत्तज्ञानार्थं लिख्यते यत् परस्परम् ।

श्रीमङ्गलपदाब्धं वा सपूर्वोत्तरपक्षकम् ॥३१४॥

असन्दिग्धमगूढार्थं स्पष्टाक्षरपदं सदा ।

अन्यव्यावर्त्तकस्वात्मपरपित्वादिनामयुक् ॥३१५॥

एकद्विवहुवचनैर्यथार्हस्तुतिसंयुतम् ।

समामासतदर्द्वाहर्नामजात्यादिचिह्नितम् ॥३१६॥

मेलयित्वेति । साधकाः सम्भूयसमुत्थायिनः व्यवसायिनः  
स्वधनांशान् व्यवहाराय मेलयित्वा मिश्रयित्वा यत् लेख्यपत्रं  
कुर्वन्ति तत् सामयिकं समयकृतं लेख्यं स्मृतम् ॥ ३१२ ॥

सभ्येति । सभ्यैः अधिकारिभिः राजपुरुषैः प्रकृतिभिः अमा-  
त्यादिभिः सभासङ्गिः व्यवहारदर्शिभिरित्यर्थः यत् न कृतं तत्  
पत्रं चेत् यदि वादिभिः प्रतिपक्षैः मान्यं ग्राह्यं भवति तदा  
तत् सम्मतिसंज्ञकं सम्मतिपत्रमित्यर्थः ज्ञेयम् ॥ ३१३ ॥

स्वकीयेत्यादि । स्वकीयस्य निजस्य वृत्तस्य चरितस्य  
ज्ञानार्थं बोधनार्थं श्रीमङ्गलपदैः आब्धं युक्तं सपूर्वोत्तरपक्षकं  
पूर्वोपक्षोत्तरपक्षसहितम् असन्दिग्धं सन्देहरहितम् अगूढार्थम्  
अगुप्तविषयं सदा स्पष्टानि सुबोधानि अक्षरपदानि यस्मिन्  
तथोक्तम् अन्येषां व्यावर्त्तकैः बोधनिवारकैः स्वात्मनः निजस्य  
परस्य च पित्वादिनामभिः युक्तम् एकेन द्वाभ्यां वा बहुभिः  
वचनैः यथार्हया यथायोग्यया स्तुत्या प्रशंसावादेन संयुक्तं समा-

कार्यबोधि सुसम्बन्धं नत्याशीर्वादपूर्वकम् ।  
 स्वाम्यसेवकसेव्यार्थं क्षेमपत्रं तु तत् स्मृतम् ॥३१७॥  
 एभिरेव गुणैर्युक्तं स्वाधर्षकविवोधकम् ।  
 भाषापत्रं तु तज्ज्ञेयमथवा वेदनार्थकम् ॥३१८॥  
 प्रदर्शितं वृत्तलेख्यं समासाल्लक्षणान्वितम् ।  
 समासात् कथ्यते चान्यच्छेषायव्ययबोधकम् ॥३१९॥  
 व्याप्यव्यापकभेदैश्च मूल्यमानादिभिः पृथक् ।  
 विशिष्टसंज्ञितैस्तद्धि यथार्थैर्बहुभेदयुक् ॥३२०॥

मासतदर्द्धाहर्नामजात्यादिचिह्नितं वत्सरमासपक्षदिननाम जा-  
 त्यादिभिरङ्कितं कार्यबोधि कार्यज्ञापकं सुसम्बन्धं सुसङ्गतं  
 नत्याशीर्वादपूर्वकं प्रणत्या आशिषा च युक्तं स्वाम्यसेवकसेव्यार्थं  
 प्रभु भृत्यसेवासम्बलितं तत् परस्परं लिख्यते तत् क्षेमपत्रं मङ्गल-  
 लेख्यं स्मृतं कथितम् ॥ ३१४—३१७ ॥

एभिरिति । एभिः क्षेमपत्रीयैरेव गुणैः धर्मैः युक्तं स्व-  
 आत्मनः आधर्षणस्य पीडनस्य विवोधकं विशेषणज्ञापकं यत्  
 लेख्यं तत् भाषापत्रम् अभियोगपत्रम् अथवा वेदनार्थकं पत्रं  
 ज्ञेयम् ॥ ३१८ ॥

प्रदर्शितमिति । समासात् संक्षेपात् लक्षणान्वितं लक्षणयुक्तं  
 वृत्तलेख्यं प्रदर्शितम् । इदानीम् अन्यत् शेषम् अवशिष्टम्  
 आयव्ययबोधकं लेख्यं समासात् संक्षेपात् कथ्यते ॥ ३१९ ॥

व्याप्येति । तत् आयव्ययपत्रं व्याप्यानाम् अल्पविषयाणां  
 व्यापकानां बहुविषयाणां भेदैः वैशिष्ट्यैः विशिष्टसंज्ञितैः बहु-

वत्सरे वत्सरे वापि मासि मासि दिने दिने ।

हिरण्यपशुधान्यादि स्वाधीनं त्वायसंज्ञकम् ।

पराधीनं कृतं यत्तु व्ययसंज्ञं धनं च तत् ॥३२१॥

साद्यस्कश्चैव प्राचीन आयः सञ्चितसंज्ञकः ।

व्ययो द्विधा चोपभुक्तस्तथा विनिमयात्मकः ॥३२२॥

निश्चितान्यस्वामिकं चानिश्चितस्वामिकं तथा ।

स्वस्वत्वनिश्चितं चेति त्रिविधं सञ्चितं मतम् ॥३२३॥

निश्चितान्यस्वामिकां यद्धनं तु त्रिविधं हि तत् ।

स्वल्पैः पृथक् यथार्थैः मूल्यमानादिभिश्च बहुभेदयुक् त्रिविधं  
भवति ॥ ३२० ॥

वत्सरे इति । वत्सरे वत्सरे प्रतिवत्सरं मासि मासि प्रतिमासं  
दिने दिने प्रतिदिनं यत् हिरण्यपशुधान्यादि स्वाधीनं निजायत्तं  
भवति तत् तु तदेव आयसंज्ञकम् । यच्च धनं हिरण्यादि परा-  
धीनं परस्वामिकं कृतं तत् व्ययसंज्ञकम् ॥ ३२१ ॥

साद्यस्क इति । आयः साद्यस्कः सद्यो भवः प्राचीनश्च  
भवति तत्र प्राचीनः आयः सञ्चितमिति संज्ञा यस्य तादृशः  
सञ्चितनामा इत्यर्थः । व्ययश्च द्विधा उपभुक्तः तथा विनिमया-  
त्मकः परिवर्त्तरूपः ॥ ३२२ ॥

निश्चितेति । सञ्चितं सञ्चितनामा आयः त्रिविधं मतं कथितं  
निश्चितः अन्यः स्वामी यस्य तथोक्तम् एकम् । अनिश्चितः स्वामी  
यस्य तादृशं द्वितीयम् । तथा स्वस्य स्वत्वं निश्चितं यस्मिन्  
तथाभूतं तृतीयम् ॥ ३२३ ॥

निश्चितेति । निश्चितान्यस्वामिकं यत् धनं सञ्चितमित्यर्थः

औपनिध्यं याचितकमौत्तमर्णिकमेव च ॥३२४॥  
 विश्वम्भान्निहितं सद्भिर्यदौपनिधिकं हि तत् ।  
 अष्टद्विकं गृहीतान्यालङ्कारादि च याचितम् ॥३२५॥  
 सष्टद्विकं गृहीतं यदृणं तच्चौत्तमर्णिकम् ।  
 निध्यादिकं च मार्गादौ प्राप्तमज्ञातस्वामिकम् ॥३२६॥  
 साहजिकं चाधिकं च द्विधा स्वस्वविनिश्चितम् ॥३२७॥  
 उत्पद्यते यो नियतो दिने मासि च वत्सरे ।  
 आयः साहजिकः सैव दायादयश्च स्ववृत्तितः ॥३२८॥

तत् त्रिविधं हि विप्रकारमेव । औपनिध्यम् एकम्, याचितकं  
 द्वितीयम्, औत्तमर्णिकं तृतीयम् ॥ ३२४ ॥

विश्वम्भादिति । विश्वम्भात् विश्वम्भात् सद्भिः साधुभिः यत्  
 धनं निहितं गच्छितं तत् हि तदेव औपनिधिकम् औपनिध्यम् ।  
 यच्च अष्टद्विकं वृद्धिं विना गृहीतं प्रार्थनयेति भावः, अन्यस्व  
 अलङ्कारादि तत् याचितम् ॥ ३२५ ॥

सष्टद्विकमिति । सष्टद्विकं वृद्धिं दास्यामीति प्रतिश्रुत्य यत्  
 ऋणं गृहीतं तत् औत्तमर्णिकम् । मार्गादौ रथ्यादिस्थाने यत्  
 निध्यादिकं धनं प्राप्तं तत् अज्ञातस्वामिकम् अनिश्चितस्वामि-  
 कम् ॥ ३२६ ॥

साहजिकमिति । स्वस्वविनिश्चितं निश्चितस्वस्वत्वं धनं द्विधा  
 साहजिकम् अधिकञ्च ॥ ३२७ ॥

उत्पद्यते इति । दिने मासि वत्सरे वा दायात् पैतृकात्  
 धनात् स्ववृत्तितः स्वव्यवसायाच्च यः नियतः नियतः निर्धारितः  
 आयः उत्पद्यते स एव साहजिकः ॥ ३२८ ॥

दायः परिग्रहो यत्तु प्रकृष्टं तत् स्वभावजम् ।  
 मौल्याधिक्यं कुसीदञ्च गृहीतं याजनादिभिः ॥३२८॥  
 पारितोष्यं भृतिप्राप्तं विजिताद्यं धनञ्च यत् ।  
 स्वस्वत्वेऽधिकसंज्ञं तदन्यत् साहजिकं स्मृतम् ॥३३०॥  
 पूर्ववत्सरशेषञ्च वर्त्तमानाब्दसम्भवम् ।  
 स्वाधीनं सञ्चितं द्वेधा धनं सर्वं प्रकीर्तितम् ॥३३१॥  
 द्वेधाधिकं साहजिकं पार्थिवेतरभेदतः ।  
 भूमिभागसमुद्भूत आयः पार्थिव उच्यते ॥३३२॥  
 स देवकृत्विमजलैर्देशग्रामपुरैः पृथक् ।

दाय इति । यस्तु दायः पैतृकं धनं परिग्रहः दानग्रहणात्  
 लब्धश्च आयः, तत् प्रकृष्टम् अक्षोशसाध्यत्वात् उत्तमं स्वभावजं  
 साहजिकं धनमिति शेषः । यत् मौल्याधिक्यं यथायथमूल्यात्  
 अधिकत्वेन प्राप्तं, कुसीदं वृद्ध्या प्राप्तं, याजनादिभिः करणैः  
 गृहीतं पारितोष्यं पुरस्काररूपेण लब्धं भृतिप्राप्तं वेतनलब्धं  
 तथा विजितं युद्धजयादिना लब्धं धनं तत् स्वस्वत्वे स्वस्वत्व-  
 निश्चिते धने अधिकसंज्ञम् अधिकमिति प्रसिद्धमित्यर्थः, अन्यत्  
 सर्वं साहजिकं स्मृतं कथितम् ॥ ३२८ ॥ ३३० ॥

पूर्वेति । स्वाधीनं सञ्चितं सर्वं धनं द्वेधा द्विविधं प्रकीर्तितं,  
 पूर्ववत्सरशेषं वर्त्तमानाब्दसम्भवं वर्त्तमानवर्षजातञ्च ॥ ३३१ ॥

द्वेधेति । अधिकं साहजिकञ्च पूर्वोक्तं द्विविधं धनं पार्थिवे-  
 तरभेदतः पार्थिवं स्थावरम् इतरम् अस्थावरं जङ्गममिति भेदा  
 द्वेधा द्विविधम् । तत्र भूमिभागेभ्यः समुद्भूतः आयः पार्थिव  
 उच्यते ॥ ३३२ ॥

बहुमध्याल्पफलतो भिद्यते भूविभागतः ॥३३३॥

शुल्कदण्डाकरकरभाटकोपायनादिभिः ।

इतर कीर्तितस्तज्ज्ञैरायो लेखविशारदैः ॥३३४॥

यन्निमित्तो भवेदायो व्ययस्तन्नामपूर्वकः ।

व्ययश्चैवं समुद्दिष्टो व्याप्यव्यापकसंयुतः ॥३३५॥

पुनरावर्त्तकः स्वत्वनिवर्त्तक इति द्विधा ।

व्ययो यन्निध्युपनिधीकृतो विनिमयीकृतः ।

सकुसीदाकुसीदाधमर्णिकश्चावृत्तः स्मृतः ॥३३६॥

स इति । सः पार्थिव आयः देवकृत्रिमजलैः देवालयादिभिः  
कृत्रिमैः कल्पितैः वस्तुभिः जलैः देशग्रामपुरैः पृथक् विभिन्नैः  
भूविभागतः पृथ्वीविभागैः बहुमध्याल्पफलतः बहुभिः मध्ये  
अल्पैश्च फलैः भिद्यते भेदं गच्छति ॥ ३३३ ॥

शुल्केति । शुल्कैः बणिजादिभ्यः लब्धैः राजग्राह्यांशैः दण्डैः  
दुष्टदमनोत्थैः आकरैः खन्युत्पन्नैः करैः राजस्वैः भाटकैः भाडैति  
प्रसिद्धैः तथा उपायनैः उपदाभिः इत्येवमादिभिः आयः तज्ज्ञैः  
आयज्ञानवद्भिः लेखविशारदैः लेखकैः इतरः पार्थिवभिन्न  
कीर्तितः ॥ ३३४ ॥

यन्निमित्त इति । आयः यन्निमित्तः येन निमित्तेन भवेत्  
व्ययोऽपि तन्नामपूर्वकः तन्नाम पूर्वं यस्य तादृशः तन्निमित्तसमु-  
द्भव इत्यर्थः भवेत् । व्ययश्च एवम् आयवदित्यर्थः व्याप्यव्यापक-  
संयुतः स्वल्पबहुविषयगोचरः समुद्दिष्ट कथितः ॥ ३३५ ॥

पुनरिति । स व्ययश्च द्विधा, पुनरावर्त्तकः, स्वत्वनिवर्त्तकश्च  
इति । यः व्ययः निधिः कृतः, उपनिधिः कृतः, विनिमयीकृतः

निधिर्भूमौ विनिहितोऽन्यस्मिन्नुपनिधिः स्थितः ।

दत्तमूल्यादिसंप्राप्तः सैव विनिमयीकृतः ॥३३७॥

वृद्ध्यावृद्ध्या च यो दत्तः स वै स्यादाधमर्णिकः ।

सहृदिकमृणं दत्तमकुसीदं तु याचितम् ॥३३८॥

स्वत्वनिवर्त्तको द्वेधा त्वैहिकः पारलौकिकः ॥३३९॥

प्रतिदानं पारितोष्यं वेतनं भोग्यमैहिकः ।

चतुर्विधस्तथा पारलौकिकोऽनन्तभेदभाक् ३४०॥

शेषं संयोजयेन्नित्यं पुनरावर्त्तको व्ययः ।

सकुसीदः सहृदिकः अकुसीदः अहृदिक इति द्वेधा आधमर्णिकश्च आवृत्तः पुनरावर्त्तकः स्मृतः ॥ ३३६ ॥

निधिरिति । भूमौ विनिहितः निखातः निधिः तस्य कष्टातिपातेऽप्यग्रहणीयत्वात् व्ययव्यपदेशः । अन्यस्मिन् जने स्थितः गच्छित इत्यर्थः उपनिधिः । दत्तेन मूल्यादिना संप्राप्तः सैव स एव आपर्णोऽयं सन्धिः, विनिमयीकृतः परिवर्त्तितः एकवस्तुप्रदानेन अपरवस्तुग्रहणमित्यर्थः ॥ ३३७ ॥

वृद्धेति । यश्च वृद्ध्या अवृद्ध्या च दत्तः स वै एव आधमर्णिकः स्यात् । तत्र सहृदिकं यत् दत्तं तत् ऋणम्, अकुसीदम् अहृदिकन्तु याचितं भवति ॥ ३३८ ॥

स्वत्वनिवर्त्तक इत्यादि । स्वत्वनिवर्त्तकः व्ययस्तु द्वेधा द्विविधः, ऐहिकः पारलौकिकश्च । तत्र प्रतिदानं पारितोष्यं वेतनं भोग्यञ्चेति चतुर्विधः ऐहिकः । तथा पारलौकिकः अनन्तभेदभाक् बहुविध इत्यर्थः ॥ ३३९ ॥ ३४० ॥

शेषमिति । पुनरावर्त्तकः व्ययः नित्यं शेषं संयोजयेत् ।

मूल्यत्वेन च यद् दत्तं प्रतिदानं स्मृतं हि तत् ॥३८०॥  
 सेवाशौर्यादिसन्तुष्टैर्दत्तं तत् पारितोषिकम् ।  
 भृतिरूपेण सन्दत्तं वेतनं तत् प्रकीर्तितम् ॥३८१॥  
 धान्यवस्त्रगृहारामगोगजादिरथार्थकम् ।  
 विद्याराज्याद्यर्जनार्थं धनाद्यर्थं तथैव च ।  
 व्ययीकृतं रक्षणार्थमुपभोग्यं तदुच्यते ॥३८२॥  
 सुवर्णरत्नरजतनिष्कशालास्तथैव च ।  
 रथाश्वगोगजोष्ट्राजावीनशालाः पृथक् पृथक् ॥३८३॥  
 वाद्यशस्त्रास्त्रवस्त्राणां धान्यसम्भारयोस्तथा ।

यच्च मूल्यत्वेन दत्तं तत् हि प्रतिदानं स्मृतम् ॥ ३८१ ॥

सेवेति । सेवया शौर्यादिना च सन्तुष्टेः प्रभुभिः यत् दत्तं  
 तत् पारितोषिकं पारितोष्यम् । यच्च भृतिरूपेण सन्दत्तं तत्  
 वेतनं प्रकीर्तितं कथितम् ॥ ३८२ ॥

धान्येति । धान्यानि वस्त्राणि गृहाणि आरामाः उद्यानानि  
 गावः गजाश्च आदयो येषां ते रथाश्च अर्थाः प्रयोजनानि वा  
 तादृशं विद्याराज्याद्यर्जनार्थं धनाद्यर्थं रक्षणार्थञ्च यत् व्ययीकृतं  
 तत् उपभोग्यम् उच्यते ॥ ३८३ ॥

सुवर्णेत्यादि । सुवर्णानां रत्नानां रजतानां निष्काणां मोह  
 इति प्रसिद्धानां याः शालाः स्थानानि, पृथक् पृथक् रथानां  
 अश्वानां गवां गजानाम् उष्ट्राणाम् अजानां छागानाम् अवीन  
 मेषाणाम् इनानाञ्च याः शालाः, वाद्यानां शस्त्राणाम् अस्त्रा  
 वस्त्राणाञ्च याः शालाः, धान्यस्य सम्भारस्य द्रव्यसमूहस्य च

मन्त्रिशिल्पनाट्यवैद्यमृगाणां पाकपक्षिणाम् ।

शाला भोग्ये निविष्टास्तु तद्व्ययो भोग्य उच्यते ३४५

जपहोमार्चनैर्दानैश्चतुर्धा पारलौकिकः ।

पुनर्यातो निवृत्तश्च विशेषायव्ययौ च तौ ।

आवर्त्तको निवर्त्ती च व्ययायौ तु पृथग् द्विधा ॥ ३४६

आवर्त्तकविहीनौ तु व्ययायौ लेखको लिखेत् ॥ ३४७

क्रयाधमर्णघटनान्यस्थलाप्तो विवर्त्तकः ।

द्रव्यं लिखित्वा दद्यात्तु गृहीत्वा विलिखेत् स्वयम् ३४८

हीयते वर्द्धते नैवमायव्ययविलेखकः ॥ ३४९ ॥

शालाः तथा मन्त्रिणां शिल्पानां नाट्यानां वैद्यानां मृगाणां

पाकानां पक्षिणाञ्च याः शालाः भोग्ये निविष्टाः भोग्यान्तर्भताः,

तद्व्ययः तासां व्ययः भोग्य उच्यते ॥ ३४४—३४५ ॥

जपेति । पारलौकिकः व्ययः जपहोमार्चनदानभेदेन चतुर्धा ।

तौ च विशेषायव्ययौ पुनर्यातः निवृत्तश्चेति द्वौ तु व्ययायौ व्यय

आयश्च पृथक् द्विधा, आवर्त्तकः निवर्त्ती चेति ॥ ३४६ ॥

आवर्त्तकेति । लेखकः आवर्त्तकविहीनौ आवर्त्तकनिव-

र्त्तिनौ व्ययायौ तु व्ययम् आयश्च लिखेत् ॥ ३४७ ॥

क्रयेति । क्रयेषु अधमर्णघटनासु ऋणादिव्यवहारेषु अन्य-

स्थलेषु अन्येषु विषयेषु च प्राप्तः विश्वस्तः विवर्त्तकः लेखकः

स्वयं द्रव्यं लिखित्वा दद्यात् गृहीत्वा च द्रव्यमिति शेषः विलि-

खेच्च ॥ ३४८ ॥

हीयते इति । एवम् आयव्ययविलेखकः न हीयते वर्द्धते च

लिखित आयः व्ययश्च न अल्पः नाप्यधिकः भवतीत्यर्थः ॥ ३४९ ॥

हेतुप्रमाणसम्बन्धकार्याङ्गव्याप्यव्यापकैः ।

आयाश्च बहुधा भिन्ना व्ययाः शेषं पृथक् पृथक् ।

मानेन संख्यया चैवोन्मानेन परिमाणकैः ॥३५०॥

क्वचित् संख्या क्वचिन्मानमुन्मानं परिमाणकम् ।

समाहारः क्वचिच्चेष्टो व्यवहाराय तद्विदाम् ॥३५१॥

अङ्गुलाद्यं स्मृतं मानमुन्मानं तु तुला स्मृता ।

परिमाणं पात्रमानं संख्यैकद्वयादिसंज्ञिका ॥३५२॥

यत्र यादृग् व्यवहारस्तत्र तादृक् प्रकल्पयेत् ॥३५३॥

हेत्विति । शेषमित्यव्ययम् अवशिष्टा इत्यर्थः आयाः व्ययाश्च पृथक् पृथक् हेतुभिः कारणैः प्रमाणैः परिमाणैः सम्बन्धैः संयोगैः कार्याङ्गैः कार्याणामवान्तरव्यापारैः व्याप्यैः अल्पविषयैः व्यापकैः बहुविषयैश्च तथा मानेन संख्यया गणनेन उन्मानेन ऊर्ध्वमानेन परिमाणकैः प्रमाणैश्च बहुधा भिन्नाः भेदं गताः ॥ ३५० ॥

क्वचिदिति । क्वचित् प्रदेशे तद्विदां मानादिज्ञानवतां व्यवहाराय सङ्ख्या गणना, क्वचित् मानं, क्वचित् उन्मानं, क्वचित् परिमाणकं, क्वचिच्च समाहारः सङ्ख्यादिसमुदायः इष्टः अभिलषितः ॥ ३५१ ॥

अङ्गुलाद्यमिति । अङ्गुलाद्यम् आद्यपदेन हस्तादीनां ग्रहणम् अङ्गुलादिपरिमाणं मानं स्मृतम् । तुला तु उन्मानं स्मृता । पात्राणां मानन्तु परिमाणम् । एकद्वित्रिप्रभृतिसंज्ञा संख्या स्मृतेति शेषः ॥ ३५२ ॥

यत्रेति । यत्र यस्मिन् देशे यादृक् व्यवहारः चलनं तत्र तादृक् प्रकल्पयेत् व्यवहारयेत् राजेति कर्तृपदमध्याहार्यम् ॥ ३५३ ॥

रजतस्वर्णताम्रादि व्यवहारार्थमुद्रितम् ।

व्यवहार्यं वराटाद्यं रत्नान्तं द्रव्यमीरितम् ।

सपशुधान्यवस्त्रादितृणान्तं धनसंज्ञिकम् ॥ ३५४ ॥

व्यवहारे चाधिकृतं स्वर्णाद्यं मूल्यतामियात् ॥ ३५५ ॥

कारणादिसमायोगात् पदार्थस्तु भवेद्भुवि ।

येन व्ययेन संसिद्धस्तद्द्रव्यस्तस्य मूल्यकम् ॥ ३५६ ॥

सुलभासुलभत्वाच्चागुणत्वगुणसंश्रयैः ।

यथाकामात् पदार्थानामर्घं हीनाधिकं भवेत् ॥ ३५७ ॥

न हीनं मणिधातूनां क्वचिन्मूल्यं प्रकल्पयेत् ।

रजतेति । व्यवहारार्थमुद्रितं लोकव्यवहाराय कृतमुद्रणं रजतस्वर्णताम्रादिव्यवहार्यं लोकैरिति शेषः । वराटाद्यं वराटकप्रसृतिरत्नान्तं रत्नपर्यन्तं वस्तु द्रव्यम् ईरितं कथितम् । तथा सपशु पशुसहितं धान्यवस्त्रादितृणान्तं तृणपर्यन्तं वस्तु धनसंज्ञिकं धनमिति नाम्ना प्रसिद्धम् ॥ ३५४ ॥

व्यवहारे इति । व्यवहारे च अधिकृतं व्यवहारार्थं निर्धारितं स्वर्णाद्यं मूल्यतामियात् मूल्यत्वं प्राप्नुयात् ॥ ३५५ ॥

कारणादिति । भुवि पृथिव्यां कारणादिसमायोगात् कारणादीनां संयोगात् येन व्ययेन पदार्थः द्रव्यं संसिद्धः निर्मितः, तद्द्रव्यस्तु तस्य द्रव्यस्य मूल्यकम् ॥ ३५६ ॥

सुलभेति । पदार्थानां वस्तूनां सुलभासुलभत्वात् सुलभत्वात् दुर्लभत्वाच्च तथा अगुणत्वगुणसंश्रयैः सगुणत्वात् निर्गुणत्वाच्च अर्घं मूल्यं यथाकामात् यथेच्छं हीनाधिकम् अल्पं बहु च भवेत् ॥ ३५७ ॥

नेति । क्वचित् प्रदेशे मणीनां रत्नानां धातूनां स्वर्णरजता-

मूल्यहानिस्तु चैतेषां राजदौर्ध्येन जायते ॥३५८॥  
 दीर्घे चतुर्भागभूतपत्रे तिर्य्यग्गताबलिः ।  
 त्र्यंशगाभ्यन्तरगता चार्द्धगा पादगापि वा ।  
 कार्या व्यापकव्याप्यानां लेखने पदसंज्ञिका ॥३५९॥  
 श्रेष्ठाभ्यन्तरगा तासु वामतः त्र्यंशगाप्यनु ।  
 दक्षत्र्यंशगता चानु ह्यर्द्धगा पादगा ततः ॥३६०॥  
 स्वभ्यन्तरे स्वभेदाः स्युः सदृशाः सदृशे पदे ।

दीनाञ्च मूल्यं हीनम् अल्पं न प्रकल्पयेत् नावधारयेत् राजेति  
 शेषः । एतेषां मणिधातूनाञ्च मूल्यहानिः मूल्याल्पता राज्ञः  
 दौर्ध्येन दोषेण जायते ॥ ३५८ ॥

सम्प्रति लेखनप्रकारमाह दीर्घे इत्यादिसमासत इत्यन्तेन ।  
 दीर्घे इति । व्याप्यव्यापकानाम् अल्पाधिकानां विषयाणां लेखने  
 दीर्घे प्रशस्ते चतुर्भागपत्रे विभागचतुष्टयीकृतपत्रे त्र्यंशगा तृती-  
 यांशव्यापिनी अर्द्धगा अर्द्धव्यापिनी वा पादपा चतुर्थांशव्यापिनी  
 अभ्यन्तरगता तिर्य्यग्गता तिर्य्यग्भावेन विन्यस्ता पदसंज्ञिका  
 आबलिः पदाबलिरित्यर्थः कार्या लेख्या इत्यर्थः ॥ ३५९ ॥

श्रेष्ठेति । तासु त्रिविधासु पदाबलिषु वामतः वामभागे  
 अभ्यन्तरगता त्र्यंशगा तृतीयांशगामिनी पदाबलिः श्रेष्ठा ।  
 दक्षत्र्यंशगता दक्षिणभागे तृतीयांशव्यापिनी अनु तत्पश्चात्  
 तदपेक्षया न्यूना इत्यर्थः अप्रशस्तेति यावत् । अर्द्धगा ततः अनु  
 न्यूना इत्यर्थः पादगा चतुर्थांशगामिनी ततः तदपेक्षया हीनाः  
 अप्रशस्ता इत्यर्थः ॥ ३६० ॥

स्वभ्यन्तरे इति । शोभनम् अभ्यन्तरं यस्य तादृशे सदृशे

स्वारम्भपूर्त्तिसदृशे पदगे स्तः सदैव हि ॥ ३६१ ॥  
 राजा स्वलेख्यचिह्नं तु यथाभिलषितं तथा ।  
 लेखानुपूर्वं कुर्याद्वि दृष्ट्वा लेख्यं विचार्य च ॥ ३६२ ॥  
 मन्त्री च प्राङ्विवाकश्च पण्डितो दूतसंज्ञकः ।  
 स्वाविरुद्धं लेख्यमिदं लिखेयुः प्रथमं त्विमे ॥ ३६३ ॥  
 अमात्यः साधु लिखनमस्येतत् प्राग्लिखेदयम् ।  
 सम्यग्विचारितमिति सुमन्त्रो विलिखेत् ततः ॥ ३६४ ॥  
 सत्यं यथार्थमिति च प्रधानश्च लिखेत् स्वयम् ।

समविन्यस्तपदे सुप्तिङन्तरूपे वर्णा इति अध्याहर्तव्यम् ।  
 स्वभेदाः सुष्ठु अभेदः येषां तथोक्ताः अत एव सदृशाः समानाः  
 तुल्याकाराः स्युः भवेयुः । किञ्च पदं गच्छतीति पदगं पत्र-  
 मित्यर्थः सदैव स्वस्य लेख्यस्य यः आरम्भः कार्य्यं विषय इत्यर्थः  
 तस्य या पूर्त्तिः पूरणं तत्सदृशं स्यात् हिशब्दः पादपूरणार्थः ॥ ३६१ ॥  
 राजेति । राजा लेख्यं दृष्ट्वा विचार्य च लेखानुपूर्वं यथा  
 तथा लिखनानुसारेणेत्यर्थः यथाभिलषितं यथेच्छं यथा तथा  
 स्वस्य आत्मनः लेख्यचिह्नम् अक्षराङ्कितं कुर्यात् ॥ ३६२ ॥

मन्त्री चेति । मन्त्री प्राङ्विवाकः विचारपतिः पण्डितः  
 दूतसंज्ञकः दूतश्च इमे तु प्रथमं राजदर्शनार्थमित्यर्थः स्वाविरुद्धं  
 स्वाधिकाराविरोधि इदं लेख्यं लिखेयुः ॥ ३६३ ॥

अमात्य इति । अयम् अमात्यः एतत् साधु लिखनम् अस्ति  
 इति प्राक् लिखेत् । ततः सुमन्त्रः सम्यक् विचारितं दृष्टमेतत्  
 इति विलिखेत् ॥ ३६४ ॥

सत्यमिति । प्रधानश्च प्रधानाख्यः राजपुरुष इत्यर्थः सत्यं

अङ्गीकर्तुं योग्यमिति ततः प्रतिनिधिर्लिखेत् ॥३६५॥  
 अङ्गीकर्तव्यमिति च युवराजो लिखेत् स्वयम् ।  
 लेख्यं स्वाभिमतं चैतद् विलिखेच्च पुरोहितः ॥३६६॥  
 स्वस्वमुद्राचिह्नितं च लेख्यान्ते कुर्युरेव हि ।  
 अङ्गीकृतमिति लिखेन्मुद्रयेच्च ततो नृपः ॥३६७॥  
 कार्यान्तरस्याकुलत्वात् सम्यग्द्रष्टुं न शक्यते ।  
 युवाराजादिभिर्लेख्यं तदनेन च दर्शितम् ॥३६८॥  
 समुद्रं विलिखेयुर्वै सर्वं मन्त्रिगणास्ततः ।

यथार्थम् अर्थानुगतमिदम् इति स्वयम् आत्मना लिखेत् । ततः  
 प्रतिनिधिः राज्ञ इति शेषः अङ्गीकर्तुं ग्रहीतुं योग्यमिदम् इति  
 लिखेत् ॥ ३६५ ॥

अङ्गीकर्तव्यमिति । युवराजश्च इदम् अङ्गीकर्तव्यं ग्राह्य-  
 मिति स्वयं लिखेत् । पुरोहितस्य एतत् लेख्यं स्वाभिमतम्  
 आत्मनः सम्मतमिति विलिखेच्च ॥ ३६६ ॥

स्वेति । लेख्यान्ते लेख्यस्य अन्ते शेषे स्वस्वमुद्राभिः चिह्नितं  
 कुर्युरेव मन्त्रादय इति शेषः । हिशब्दः पादपूरणार्थः । ततः  
 नृपः अङ्गीकृतं स्वीकृतम् इति लिखेत् मुद्रयेच्च स्वनामाङ्कितं  
 कुर्याच्च ॥ ३६७ ॥

कार्यान्तरस्येति । युवाराजादिभिः कार्यान्तरस्य कार्या-  
 न्तरेणेत्यर्थः सम्यग्द्रष्टव्यं करणे षष्ठी । आकुलत्वात् व्यस्त-  
 त्वात् सम्यक् द्रष्टुं न शक्यते, तत् तस्मात् तैः अनेन जनेन  
 दर्शितं सम्यक् विवेचितमिति च लेख्यम् ॥ ३६८ ॥

समुद्रमिति । सर्वे मन्त्रिगणाः समुद्रं मुद्रया सहितं मुद्रा-

राजा दृष्टमिति लिखेद् द्राक् सम्यग्दर्शनाक्षमः॥३६६  
 आयमादौ लिखेत् सम्यग् व्ययं पश्चात् तथागतम् ।  
 वामे वायं व्ययं दक्षे पत्रभागे च लेखयेत् ॥३७०॥  
 यत्रोभौ व्यापकव्याप्यौ वामोर्ध्वभागौ क्रमात् ।  
 आधाराधेयरूपौ वा कालार्थं गणितं हि तत् ॥३७१  
 अधोऽधश्च क्रमात् तत्र व्यापकं वामतो लिखेत् ।  
 व्याप्यानां मूल्यमानादि तत्पङ्क्त्यां विनिवेशयेत् ३७२  
 उर्ध्वगानां तु गणितमधःपङ्क्त्यां प्रजायते ।

ङ्कितमित्यर्थः यथा तथा विलिखेयुः वैशब्दः अवधारणे । ततः  
 सम्यग्दर्शनाक्षमः बहुकार्यव्यापृतत्वादिति भावः, राजा द्राक्  
 ऋटिति दृष्टमिति लिखेत् मन्त्रादिषु विश्वासादिति भावः ॥३६८

आयमिति । आदौ सम्यक् समग्रम् आयं, पश्चात् यथागतं  
 व्ययं लिखेत् । वामे पत्रभागे वा एव वाशब्दोऽवधारणे । आयं  
 दक्षे पत्रभागे च व्ययं लेखयेत् ॥ ३७० ॥

यत्रेति । यत्र उभौ लेखनीयौ विषयौ व्यापकव्याप्यौ अधि-  
 काल्यौ वा आधाराधेयरूपौ आश्रयाश्रयिणौ स्यातामिति शेषः  
 तत्र तौ क्रमात् यथाक्रमेण वामोर्ध्वभागौ पत्रस्य वामभागी-  
 योर्ध्वस्थानविन्यस्तौ कार्यौ इति शेषः । तत् गणितं संख्यानं  
 ध्ववस्थापनमित्यर्थं कालार्थं समयार्थं नियमार्थमिति यावत्  
 हिशब्दोऽवधारणार्थः ॥ ३७१ ॥

अध इति । तत्र व्यापकं क्रमात् वामतः वामभागस्य अधः  
 अधः लिखेत् । व्याप्यानाञ्च मूल्यं मानादि च तत्पङ्क्त्यां तेषां  
 व्याप्यानां श्रेण्याञ्च विनिवेशयेत् लिखेत् ॥ ३७२ ॥

यत्रोभौ व्यापकव्याप्यौ व्यापकत्वेन संस्थितौ ॥३७३॥

व्यापकं बहुवृत्तित्वं व्याप्यं स्थानान्नवृत्तिकम् ।

व्याप्याश्चावयवाः प्रोक्ता व्यापकोऽवयवी स्मृतः ॥३७४॥

सजातीनां च लिखनं कुर्याच्च समुदायतः ।

यथाप्राप्तं तु लिखनमाद्यन्तसमुदायतः ॥ ३७५ ॥

व्यापकाश्च पदार्था वा यत्र सन्ति स्थलानि हि ।

व्याप्यमायव्ययं तत्र कुर्यात् कालेन सर्वदा ॥३७६॥

स्थानटिप्पनिका चैषा ततोऽन्यत् सङ्घटिप्पनम् ।

ऊर्ध्वगानामिति । यत्र उभौ व्यापकव्याप्यौ व्यापकत्वेन बहु-  
त्वेन संस्थितौ बहुसंख्यकावित्यर्थः । तत्र ऊर्ध्वगानाम् उपरिस्थि-  
तानां तेषां गणितं संख्यानम् अधःपङ्क्त्यां प्रजायते भवति ॥३७३॥

व्यापकमिति । बहुवृत्तित्वं व्यापकं व्यापकधर्म इत्यर्थः,  
न्यूनवृत्तिकम् अल्पदेशव्यापि व्याप्यं स्यात् अवयवा व्याप्याः  
प्रोक्ताः कथिताः, अवयवी व्यापकः स्मृतः ॥ ३७४ ॥

सजातीनामिति । समाना जातिर्येषां तादृशानाम् एक-  
विधानामित्यर्थः विषयाणां लिखनं समुदायतः साकत्वेन  
कुर्यात् एकस्मिन्नेव स्थाने इति अध्याहार्यम् । आद्यन्तसमु-  
दायतः आदौ अन्ते समुदायतः सर्वत्र च यथाप्राप्तं यद्योपस्थितं  
यथा तथा लिखनं कर्त्तव्यमिति नानाविधानां विषयाणामिति  
च शेषः ॥ ३७५ ॥

व्यापकाश्चेति । यत्र पदार्थाः वस्थूनि व्यापकाः बहवः,  
स्थलानि स्थानानि च बह्वनीत्यर्थः सन्ति हि वर्त्तन्त एव तत्र  
सर्वदा आयव्ययं कालेन व्याप्यं कुर्यात् ॥ ३७६ ॥

विशिष्टसंज्ञितं तत्र व्यापकं लेख्यभाषितम् ॥३७७॥

आयाः कति व्ययाः कस्य शेषं द्रव्यस्य चास्ति वै ।

विशिष्टसंज्ञकैरेषां संविज्ञानं प्रजायते ॥ ३७८ ॥

आदौ लेख्यं यथा प्राप्तं पश्चात् तद्गणितं लिखेत् ।

यथा द्रव्यं च स्थानं चाधिकसंज्ञं च टिप्पनैः ॥३७९॥

शेषायव्ययविज्ञानं क्रमाल्लेख्यैः प्रजायते ।

स्थलायव्ययविज्ञानं व्यापकं स्थलतो भवेत् ॥३८०॥

पदार्थस्य स्थलानि स्युः पदार्थाश्च स्थलस्य तु ।

स्थानेति । एषा स्थानानां टिप्पनिका विवरणम् अन्या  
इति शेषः, सङ्गानां वस्तुसमूहानाञ्च टिप्पनं विवरणं ततः  
स्थानटिप्पनिकायाः अन्यत् । तत्र लेख्यभाषितं लेख्योक्तं व्यापकं  
विशिष्टसंज्ञितं विशिष्टमिति संज्ञया प्रसिद्धमित्यर्थः ॥ ३७७ ॥

आया इति । आयाः कति, व्ययाश्च कति, कस्य द्रव्यस्य  
शेषम् अवशेषं वक्त्रीत्यर्थः अस्ति वैशब्दोऽवधारणार्थः । विशिष्ट-  
संज्ञकैः व्यापकलेख्यविशेषैः एषाम् आयादीनां संविज्ञानं सम्यक्  
ज्ञानं प्रजायते ॥ ३७८ ॥

आदाविति । आदौ प्रथमतः यथा प्राप्तं पश्चात् तदनन्तरं  
तस्य प्राप्तस्य गणितं संख्या लेख्यम् । ततश्च टिप्पनैः विवरणैः सह  
यथा यादृशं द्रव्यं स्थानम् अधिकसंज्ञञ्च तथा लिखेत् ॥ ३७९ ॥

शेषेति । शेषायव्यययोः अवशिष्टस्य आयस्य व्ययस्य च  
क्रमात् लेख्यैः प्रजायते भवति । किञ्च व्यापकं बहुलस्थलस्य  
आयव्ययविज्ञानं स्थलतः स्थलभागज्ञानादेवेत्यर्थः भवेत् ॥३८०॥

पदार्थस्येति । स्थलानि पदार्थस्य द्रव्यस्य पदार्थाश्च द्रव्याणि

व्याप्यास्तित्यादयश्चापि यथेष्टा लेखने नृणाम् ॥३८॥  
 निश्चितान्यस्वामिकाद्या आया ये इतरान्तगाः ।  
 विशिष्टसंज्ञिका ये च पुनरावर्त्तकादयः ।  
 व्ययाश्च परलेखान्ता अन्तिमव्यापकाश्च ते ॥३८॥  
 इच्छया ताडितं कृत्वादी प्रमाणफलं ततः ।  
 प्रमाणभक्तं तल्लब्धं भवेदिच्छाफलं नृणाम् ॥३८॥  
 समासतो लेख्यमुक्तं सर्वेषां स्मृतिसाधनम् ॥३८॥

च स्थलस्य व्याप्याः स्युः भवेयुः । तित्यादयश्च नृणां लेखने यथा  
 इष्टाः इच्छानुसारेण निवेष्ट्याः ॥ ३८१ ॥

निश्चितेति । निश्चिताः अन्ये स्वामिनः येषां तत्प्रभृतयः  
 तथा इतरान्तगाः अपरसमीपस्थिताः ये आयाः, ये च विशिष्ट  
 संज्ञकाः विशिष्टनामानः पुनरावर्त्तकादयः व्ययाः ते पर  
 लेखान्ताः परेषां लेखः लेखनम् अन्ते येषां तथोक्ताः तदा  
 अन्तिमव्यापकाश्च शेषबहवः ॥ ३८२ ॥

सम्प्रति । त्रैराशिकविधिना आयव्ययान् निरूपयति इच्छ  
 येति । आदौ प्रमाणफलं सिद्धं वस्तु इच्छया साध्यवस्तुना ताडि  
 तम् हतं गुणितमित्यर्थः कृत्वा प्रमाणेन भक्तं सत् यत् लब्धं तत्  
 नृणाम् इच्छाफलं भवेत् । उक्तं लीलावत्यां भास्करेण, प्रमा  
 मिच्छा च समानजाती आद्यन्तयोः स्तः फलमन्यजातिः ।  
 मध्ये तदिच्छाहतमाद्यहृत् स्यादिच्छाफलं व्यस्तविधिर्विलो  
 इति ॥ ३८३ ॥

समासत इति । समासतः संक्षेपेण सर्वेषां स्मृतिसाधन  
 स्मरणकारणं लेख्यम् उक्तम् ॥ ३८४ ॥

गुञ्जा माषस्तथा कर्षः पदार्धः प्रस्थ एव हि ।  
यथोत्तरा दशगुणाः पञ्च प्रस्थस्य चादृक्काः ॥ ३८५ ॥  
ततश्चाष्टादृक्कः प्रोक्तो ह्यर्मणस्ते तु विंशतिः ।  
खारिका स्याद्भिद्यते तद् देशे देशे प्रमाणकम् ॥ ३८६ ॥  
पञ्चाङ्गुलावटं पात्रं चतुरङ्गुलविस्तृतम् ।  
प्रस्थपादं तु तज्ज्ञेयं परिमाणे सदा बुधैः ॥ ३८७ ॥  
ऊर्ध्वाङ्गश्च यथासंज्ञस्तदधःस्थाश्च वामगाः ।  
क्रमात् स्वदशगुणिताः परार्धान्ताः प्रकीर्तिताः ३८८

सम्प्रति मानान्याह गुञ्जेति । गुञ्जा, माषः, कर्षः, पदार्धः ।  
तथा प्रस्थः एते यथोत्तराः दशगुणाः द्विशब्दोऽवधारणार्थः ।  
अयमर्थः गुञ्जा प्रसिद्धा । दश गुञ्जाः माषः । दश माषाः कर्षः ।  
दश कर्षाः पदार्धः । पदार्धाः प्रस्थ इति । प्रस्थस्य पञ्च पञ्चक-  
मित्यर्थः पञ्च प्रस्था इति यावत् आदृक्काः ॥ ३८५ ॥

तत इति । ततश्च अष्टादृक्कः अष्टौ आदृक्का इत्यर्थः अर्मणः  
प्रोक्तः कथितः द्विशब्दोऽवधारणार्थः । ते विंशतिः अर्मणाः  
खारिका स्यात् । देशे देशे देशभेदेनेत्यर्थः तत् प्रमाणकं परि-  
माणं भिद्यते विभिन्नं भवति ॥ ३८६ ॥

पञ्चेति । पञ्चाङ्गुलावटं पञ्चाङ्गुलदीर्घं चतुरङ्गुलविस्तृतं यत्  
पात्रं बुधैः पण्डितैः सदा परिमाणे तत् प्रस्थपादं ज्ञेयं तुशब्दो-  
ऽवधारणार्थः ॥ ३८७ ॥

ऊर्ध्वाङ्ग इति । ऊर्ध्वाङ्गः उपरिस्थितः अङ्गः यथासंज्ञः संज्ञा-  
परिमितः । तदधःस्थाः तस्य ऊर्ध्वाङ्गस्य अधःस्थिताः वामगाः  
वामभागवर्तिनः अङ्गा इति शेषः क्रमात् स्वदशगुणिताः स्वैः

न कर्तुं शक्यते संख्यासंज्ञा कालस्य दुर्गमात् ।  
 ब्रह्मणो द्विपराङ्गं तु आयुरुक्तं मनौषिभिः ॥३८६॥  
 एको दश शतं चैव सहस्रं चायुतं क्रमात् ।  
 नियुतं प्रयुतं कोटिरर्बुदं चाञ्जखर्वकौ ।  
 निखर्वपद्मशङ्खाब्धिमध्यमान्तपराङ्गकाः ॥ ३८७ ॥  
 कालमानं त्रिधा ज्ञेयं चान्द्रं सौरं च सावनम् ।  
 भृतिदाने सदा सौरं चान्द्रं कौसीदहद्विषु ।  
 कल्पयेत् सावनं नित्यं दिनभृत्येऽवधौ सदा ॥३८८॥

दशभिः गुणिताः सन्तः पराङ्गान्ताः पराङ्गपर्यन्ताः प्रकीर्तिताः  
 ॥ ३८८ ॥

नेति । कालस्य दुर्गमात् दुरवसानात् संख्यानां संज्ञा परा-  
 ङ्गधिका इत्यर्थः कर्तुं न शक्यते । तथाहि मनौषिभिः विद्वद्भिः  
 ब्रह्मणः विधातुः द्विपराङ्गं पराङ्गद्वयपरिमितम् आयुः जीवन-  
 कालः उक्तं पराङ्गतिरिक्तायाः संख्यासंज्ञाया अभावादिति  
 भावः ॥ ३८६ ॥

एक इति । एकः, दश, शतं, सहस्रम्, अयुतं, नियुतं प्रयुतं  
 लक्षमित्यर्थः, कोटिः, अर्बुदम्, अञ्जं, खर्वः, निखर्वः, पद्मं,  
 शङ्खः, अब्धिः, मध्यम्, अन्तः, पराङ्गम् इति संख्यासंज्ञका इति  
 शेषः ॥ ३८७ ॥

कालमानमिति । कालस्य मानं परिमाणं त्रिधा ज्ञेयं  
 चान्द्रं चन्द्रवृद्ध्यावधिकं शुक्लप्रतिपदादिरूपमित्यर्थः, सौरं  
 संक्रमणदिनावधिकं, सावनम् उत्पत्तिदिनावधिकम् । भृत्य-  
 वेतनस्य दाने सदा सौरं, कौसीदहद्विषु ऋणव्यवहारेष्वित्यर्थः

कार्यमाना कालमाना कार्यकालमितिस्त्रिधा ।

भृतिरुक्ता तु तद्विज्ञैः सा देया भाषिता यथा ॥३८२

अयं भारस्त्वया तत्र स्थाप्यस्त्वैतावतीं भृतिम् ।

दास्यामि कार्यमाना सा कौर्त्तिता तन्निदेशकैः ॥३८३

वत्सरे वत्सरे वापि मासि मासि दिने दिने ।

एतावतीं भृतिं तेऽहं दास्यामीति च कालिका ॥३८४

एतावता कार्यमिदं कालेनापि त्वया कृतम् ।

भृतिमेतावतीं दास्ये कार्यकालमिता च सा ॥३८५॥

नित्यं चान्द्रं, दिनभृत्ये दैनिकपरिचारके अवधौ च सदा सावनं  
कल्पयेत् व्यवहरेत् ॥ ३८१ ॥

कार्यमानेति । कार्यमाना कार्यपरिमिता, कालमाना  
कालपरिमिता, तथा कार्यकालमितिः कार्यकालोभयपरि-  
मिता इत्यर्थः त्रिधा त्रिविधा भृतिः तज्ज्ञैः पण्डितैः उक्ता,  
यथा भाषिता उक्ता, सा भृतिः देया ॥ ३८२ ॥

अयमिति । त्वया तत्र अयं भारः स्थाप्यः रक्षितव्यः, मया  
एतावतीं भृतिं वेतनं दास्यामि तुभ्यमिति शेषः इत्येवं या परि-  
भाषिता इति अध्याहार्यं तन्निदेशकैः तन्निर्देशकारिभिः विद्वद्भिः  
सा भृतिः कार्यमाना कौर्त्तिता ॥ ३८३ ॥

वत्सर इति । वत्सरे वत्सरे प्रतिवत्सरं मासि मासि प्रतिमासं  
वा दिने दिने प्रतिदिनं ते तुभ्यम् एतावतीं भृतिं दास्यामीति  
या परिभाषितेति शेषः सा कालिका कालमाना भृतिः ॥३८४॥

एतावतेति । त्वया एतावता कालेन इदं कार्यं कृतं यद्वैति

न कुर्याद् भृतिलोपं तु तथा भृतिविलम्बनम् ।  
 अवश्यपोष्यभरणा भृतिर्मध्या प्रकीर्त्तिता ॥३८६॥  
 परिपोष्या भृतिः श्रेष्ठा समान्नाच्छादनार्थिका ।  
 भवेदेकस्य भरणं यया सा हीनसंज्ञिका ॥३८७॥  
 यथा यथा तु गुणवान् भृतकस्तद्भृतिस्तथा ।  
 संयोज्या तु प्रयत्नेन नृपेणात्महिताय वै ॥३८८॥  
 अवश्यपोष्यवर्गस्य भरणं भृतकाद्भवेत् ।  
 तथा भृतिस्तु संयोज्या तद्योग्यभृतकाय वै ॥३८९॥  
 ये भृत्या हीनभृतिकाः शत्रवस्ते स्वयं कृताः ।  
 अध्याहार्यं तदा एतावतीं भृतिं दास्ये इत्येवं परिभाषिता या  
 भृतिः सा कार्यकालमिता ॥ ३८५ ॥

नेत्यादि । भृतिलोपं वेतनच्छेदं भृतिविलम्बनञ्च न कुर्यात् ।  
 अवश्यपोष्याणां मातापित्रादीनां भरणं यया सा भृतिः मध्या,  
 परिपोष्या अवश्यपोष्यव्यतिरिक्तानामपि पोषणकारिणी भृतिः  
 श्रेष्ठा तथा अन्नाच्छादनार्थिका अन्नवस्त्रमात्रपर्याप्ता भृतिः  
 समा प्रकीर्त्तिता, किञ्च यया एकस्य जनस्य भरणं भवेत् सा  
 हीनसंज्ञिका हीना नाम भृतिः भवेत् ॥ ३८६ ॥ ३८७ ॥

यथेति । भृतकः भृत्यः यथा यथा गुणवान्, तथा तथा तस्य  
 भृतिः नृपेण आत्महिताय प्रयत्नेन संयोज्या कल्पनीया वैशब्दो-  
 ऽवधारणार्थः ॥ ३८८ ॥

अवश्येति । भृतकात् अवश्यपोष्यवर्गस्य तन्मातापित्रादेः  
 यथा भरणं भवेत् सम्पद्येत, तद्योग्यभृतकाय तथा भृतिस्तु  
 संयोज्या देया, वैशब्दोऽवधारणार्थः ॥ ३८९ ॥

परस्य साधकास्ते तु छिद्रकोशप्रजाहराः ॥४००॥  
 अन्नाच्छादनमात्रा हि भृतिः शूद्रादिषु स्मृता ।  
 तत्पापभागन्यथा स्यात् पोषको मांसभोजिषु ॥४०१॥  
 यद् ब्राह्मणेनापहृतं धनं तत् परलोकदम् ।  
 शूद्राय दत्तमपि यन्नरकायैव केवलम् ॥४०२॥  
 मन्दो मध्यस्तथा शीघ्रस्त्रिविधो भृत्य उच्यते ।  
 समा मध्या च श्रेष्ठा च भृतिस्तेषां क्रमात् स्मृता ४०३  
 भृत्यानां गृहकृत्यार्थं दिवा यामं समुत्सृजेत् ।

ये इति । ये भृत्याः हीनभृतिकाः अत्यल्पवेतनाः ते स्वयं  
 प्रभुणेति शेषः शत्रवः कृताः ते तु परस्य अन्यस्य साधकाः कार्य-  
 कारिणः प्रभुकार्यं परिहृत्येति भावः तथा छिद्रकोशप्रजाहराः  
 छिद्रान्वेषिणः प्रभुधनापहारकाः प्रजानाञ्च पीडका इत्यर्थः ॥४००॥

अत्रेति । शूद्रादिषु नीचजातिषु भृतिः अन्नाच्छादनमात्रा  
 आसाच्छादनमात्रपर्याप्ता स्मृता कथिता, अन्यथा अन्येन प्रका-  
 रेण अतिरिक्तभृतिदानेनेत्यर्थः मांसभोजिषु नीचजातिषु पोषकः  
 नीचजातिपोषणकारीत्यर्थः प्रभुः तेषां पापभाक् स्यात् भवेत् ४०१

यदिति । ब्राह्मणेन यद् धनम् अपहृतं चोरितं तदपि पर-  
 लोकदं शुभदमित्यर्थः, यत्तु धनं शूद्राय दत्तमपि केवलं नर-  
 काय भवतीति शेषः ॥ ४०२ ॥

मन्द इति । भृत्यः त्रिविध उच्यते, मन्दः चिरक्रियः, मध्यः  
 तथा शीघ्रः क्षिप्रकारीत्यर्थः । तेषां भृतिश्च समा मध्या तथा  
 श्रेष्ठा क्रमात् स्मृता निरूपिता ॥ ४०३ ॥

भृत्यानामिति । भृत्यानां गृहकृत्यार्थं गृहकार्यनिमित्तं

निशि यामत्रयं नित्यं दिनभृत्येऽर्द्धयामकम् ॥४०४॥

तेभ्यः कार्यं कारयेत् ह्युत्सवाद्यैर्विना नृपः ।

अत्यावश्यं तूत्सवेऽपि हित्वा आह्वदिनं सदा ॥४०५॥

पादहीनां भृतिं त्वात्ते दद्यात् त्रैमासिकीं ततः ।

पञ्चवत्सरभृत्ये तु न्यूनाधिक्यं यथा तथा ४०६॥

षाण्मासिकीं तु दीर्घात्ते तद्रूढं न च कल्पयेत् ।

नैव पक्षाह्नमार्त्तस्य हातव्याल्पापि वै भृतिः ॥४०७॥

दिवा दिवसे यामं प्रहरमेकं तथा निशि रात्रौ यामत्रयं प्रहर-  
त्रयं नित्यं प्रतिदिनं समुत्सृजेत् अवकाशं दद्यादित्यर्थः, दिनभृत्ये  
दैनिकभृत्ये अर्द्धयामकम् अवकाशदानमिति शेषः ॥ ४०४ ॥

तेभ्य इति । नृपः उत्सवाद्यैः विना उत्सवदिवसव्यतिरेकेण  
तेभ्यः भृत्येभ्यः कार्यं कारयेत् तेभ्य इति अपादानविवक्षायां  
करणे पञ्चमी । कारयेतेति आर्षः प्रयोगः । किञ्च उत्सवेऽपि  
आह्वदिनं हित्वा अत्यावश्यं कार्यं सदा कारयेदिति शेषः ॥४०५॥

पादहीनामिति । भृत्ये आर्त्ते पीडिते तु पादहीनां चतु-  
र्थांशन्यूनां भृतिं दद्यात् एतच्च पञ्चवर्षभृत्यस्योपादानात् । वत्स-  
रावधिपीडिते तु त्रैमासिकीं भृतिं भृतेश्चतुर्थांशमित्यर्थः दद्यात् ।  
पञ्चवत्सरभृत्ये तु पीडिते इति शेषः न्यूनाधिक्यं यथा पीडादी-  
नामिति शेषः तथा भृतिं दद्यादिति निष्कर्षः ॥ ४०६ ॥

षाण्मासिकीमिति । दीर्घात्ते दीर्घकालपीडिते संवत्सरादूर्द्ध-  
मपीति शेषः षाण्मासिकीं भृतिं दद्यात् । तद्रूढं न च कल्पयेत्  
नैव दद्यादित्यर्थः । किञ्च पक्षाह्नं सप्ताहमित्यर्थः आर्त्तस्य अ-  
ल्पापि भृतिः नैव हातव्या नैव क्लेशव्या इत्यर्थः ॥ ४०७ ॥

संवत्सरोषितस्यापि ग्राह्यः प्रतिनिधिस्ततः ।

सुमहद्गुणिनं त्वार्त्तं भृत्यर्द्धं कल्पयेत् सदा ॥४०८

सेवां विना नृपः पक्षं दद्याद् भृत्याय वत्सरे ॥४०९

चत्वारिंशत् समा नीताः सेवया येन वै नृपः ।

ततः सेवां विना तस्मै भृत्यर्द्धं कल्पयेत् सदा ॥४१०॥

यावज्जीवं तु तत्पुत्रेऽक्षमे बाले तदर्द्धकम् ।

भार्यायां वा सुशीलायां कन्यायां वा स्वश्रेयसे ॥४११

संवत्सरोषितस्येति । संवत्सरोषितः वर्षं यावत् रोगार्त्तस्य इत्यर्थः प्रतिनिधिः ततः तस्मादेव भृत्यात् ग्राह्यः । किञ्च सुमहद्गुणिनम् अति गुणवन्तम् आर्षप्रयोग एषः । आर्त्तं भृत्यं प्रतीति शेषः सदा भृतेः अर्द्धं कल्पयेत् व्यवस्थापयेत् ॥ ४०८ ॥

सेवामिति । नृपः सेवां विना वत्सरे पक्षं पक्षीयवेतनं दद्यात् ॥ ४०९ ॥

चत्वारिंशदिति । येन भृत्येन सेवया चत्वारिंशत् समा वत्सराः नीताः वैशब्दोऽवधारणार्थः । नृपः ततः तदनन्तरं सेवां विना सदा तस्मै भृत्याय भृत्यर्द्धं वेतनार्द्धं कल्पयेत् दद्यात् ॥ ४१० ॥

यावज्जीवमिति । यावज्जीवम् अक्षमे कार्याक्षमे तस्य भृत्यस्य पुत्रे बाले अप्राप्तव्यवहारे च तत्पुत्रे बाल्यपर्यन्तमिति भावः सुशीलायां सुचरित्रायां तस्य भार्यायां वा एतच्च यावज्जीवपर्यन्तमिति भावः कन्यायाम् अनूढायां दुहितरि च स्वस्य आत्मनः श्रेयसे कल्याणाय तदर्द्धकं तस्य वेतनार्द्धस्य अर्द्धकं दद्यादिति शेषः ॥ ४११ ॥

अष्टमांशं पारितोष्यं दद्याद् भृत्याय वत्सरे ।  
 कार्याष्टमांशं वा दद्यात् कार्य्यं द्रागधिकं कृतम् ॥ ४११ ॥  
 स्वामिकार्य्ये विनष्टो यस्तत्पुत्रे तद्भृतिं वहेत् ।  
 यावद् बालोऽन्यथा पुत्रगुणान् दृष्ट्वा भृतिं वहेत् ॥ ४१२ ॥  
 षष्ठांशं वा चतुर्थांशं भृतेर्भृत्यस्य पालयेत् ।  
 दद्यात् तद्वर्द्धं भृत्याय द्वित्रिवर्षेऽखिलं तु वा ॥ ४१३ ॥  
 वाक्पारुष्यान्नूनभृत्या स्वामी प्रबलदण्डतः ।  
 भृत्यं प्रशिक्तयेन्नित्यं शत्रुत्वं त्वपमानतः ॥ ४१४ ॥

अष्टमांशमिति । वत्सरे प्रविवर्षं भृत्याय अष्टमांशं भृतेरिति  
 शेषः पारितोष्यं पुरस्कारं दद्यात्, किञ्च द्राक् भृतिरधिकं  
 कार्य्यं कृतं यदीति शेषः, तदा कार्य्यस्य अष्टमांशं पारितोष्यं  
 दद्यात् वाशब्दः अवधारणार्थः ॥ ४१२ ॥

स्वामिकार्य्य इति । यः भृत्यः स्वामिनः कार्य्ये विनष्टः भवे-  
 दिति शेषः तस्य पुत्रः यावद्बालः यावत्पर्य्यन्तं शिशुः तावत्-  
 कालपर्य्यन्तं तस्य भृतिं वहेत् प्राप्नुयात् । अन्यथा शैशवापगमे  
 इत्यर्थः पुत्रस्य गुणान् दृष्ट्वा भृतिं वहेत् दद्यादित्यर्थः ॥ ४१३ ॥

षष्ठांशमिति । भृत्यस्य भृतेः षष्ठांशं वा चतुर्थांशं पालयेत्  
 रक्षेत् दद्यादित्यर्थः एतच्च यथायथम् आर्त्तिविशेषे कालविशेषे  
 बोद्धव्यम् । द्वित्रिवर्षे पीडिते भृत्याय तद्वर्द्धं वा अखिलं समग्रं  
 दद्यात् एतच्च गुणवत्त्वातिगुणवत्त्वाभ्यां व्यवस्थेयम् ॥ ४१४ ॥

वाक्पारुष्यादिति । स्वामी वाक्पारुष्यात् निर्भर्त्सनात्  
 न्यूनभृत्या वेतनखण्डनेन प्रबलदण्डतः गुरुदण्डात्, अपमानतः  
 अन्यस्मादपि मानखण्डनादित्यर्थः भृत्यं नित्यं सततं शत्रुत्वं

भृतिदानेन सन्तुष्टा मानेन परिवर्द्धिताः ।

सान्विता मृदुवाचा ये न त्यजन्त्वधिपं हिते ॥४१६॥

अधमा धनमिच्छन्ति धनमानौ तु मध्यमाः ।

उत्तमा मानमिच्छन्ति मानो हि महतां धनम् ॥४१७॥

यथागुणान् स्वभृत्यांश्च प्रजाः संरञ्जयेन्नृपः ।

शाखाप्रदानतः कांश्चिदपरान् फलदानतः ॥४१८॥

अन्यान् सुचक्षुषा हास्यैस्तथा कोमलया गिरा ।

सुभोजनैः सुवसनैस्ताम्बूलैश्च धनैरपि ॥४१९॥

कांश्चित् सुकुशलप्रश्नैरधिकारप्रदानतः ।

वाहनानां प्रदानेन योग्याभरणदानतः ॥४२०॥

क्ष्वातपत्रचमरदीपिकानां प्रदानतः ।

प्रशिक्षयेत् शिक्षयति भृत्यमनसि शत्रुभावमुपदिशतीत्यर्थः  
तादृशव्यवहारेण भृत्याः शत्रवो भवन्तीति भावः ॥ ४१५ ॥

भृतिदानेनेति । ये भृत्याः भृतिदानेन सन्तुष्टाः मानेन परिवर्द्धिताः तथा मृदुवाचा मधुरवचसा सान्विताः, ते हि निश्चितम् अधिपं स्वामिनं न त्यजन्ति ॥ ४१६ ॥

अधमा इति । अधमाः जनाः धनम् इच्छन्ति, मध्यमाः धनमानौ, उत्तमास्तु केवलं मानम् इच्छन्ति हि यतः मानः महतां धनम् ॥ ४१७ ॥

यथेत्यादि । नृपः यथागुणं गुणानुसारेण स्वभृत्यान् प्रजाश्च संरञ्जयेत् सन्तोषयेत् तथाच कांश्चित् जनान् शाखाप्रदानतः शाखाप्रदानेन यत्किञ्चनदानेनेत्यर्थः, अपरान् जनान् फलदानेन

क्षमया प्रणिपातेन मानेनाभिगमेन च ॥४२१॥

सत्कारेण च ज्ञानेन ह्यादरेण शमेन च ।

प्रेम्णा समीपवासेन स्वार्द्धासनप्रदानतः ।

सम्पूर्णसदनदानेन स्तुत्योपकारकीर्तनात् ॥४२२॥

यत्कार्यं विनियुक्ता ये कार्य्याङ्कैरङ्कयेच्च तान् ।

लोहजैस्ताम्रजै रीतिभवै रजतसम्भवैः ॥४२३॥

ततोऽप्यधिकदानेनेत्यर्थः, अन्यान् जनान् सुचक्षुषा शोभनदर्शनेन, हास्यैः कोमलया मधुरया गिरा वाचा, सुभोजनैः सुमिष्टाहारदानैः, सुवसनैः शोभनवस्त्रदानैः ताम्बूलैः ताम्बूलदानैः तथा धनैरपि, काञ्चित् जनान् सुकुशलप्रश्नैः सुमङ्गलवार्तापृच्छाभिः, अधिकारप्रदानतः कार्य्यभारप्रदानैः, वाहनानां हस्त्यश्वादीनां, प्रदानेन, योग्यानाम् आभरणानां प्रदानतः प्रदानेन, कृत्राणां पत्रनिर्मितवृष्टिरौद्रादिनिवारकाणाम् आतपत्राणां वस्त्रनिर्मितवृष्ट्यादिनिवारकाणां चमराणां चामराणामित्यर्थः, तथा दीपिकानां प्रदानतः प्रदानेन, क्षमया दोषमार्जनेन, प्रणिपातेन गुरुजनप्रणामेन, मानेन अभिगमेन सम्भिव्याहारगमनेन, सत्कारेण पूजनेन, ज्ञानेन शास्त्रीयप्रसङ्गेन, आदरेण यत्नेन, शमेन शान्त्या, प्रेम्णा स्नेहेन, समीपवासेन सन्निधिस्थित्या, स्वस्य अर्द्धासनस्य आसनार्द्धस्य प्रदानतः प्रदानेन सम्पूर्णस्य आसनस्य स्वोपवेशनीयस्य दानेन, स्तुत्या गुणकीर्तनेन तथा उपकारकीर्तनात् कृतज्ञतयेत्यर्थः सर्वान् जनान् यथायोग्यं रञ्जयेदिति समुदायार्थः ॥ ४१८—४२२ ॥

यत्कार्यं इति । सौवर्णेति । ये भृत्याः यत्कार्यं यस्मिन् कार्य्यं विनियुक्ताः, तान् दूरात् प्रविज्ञानाय अस्मिन् कार्य्ये अयं

सौवर्णे रत्नजैर्वापि यथायोग्यैः स्वलाञ्छनैः ।  
 प्रविज्ञानाय दूरात् तु वस्त्रैश्च मुकुटैरपि ॥४२४॥  
 वाद्यवाहनभेदैश्च भृत्यान् कुर्यात् पृथक् पृथक् ।  
 स्वविशिष्टं च यच्चिह्नं न दद्याद् कस्यचिन्नृपः ॥४२५॥  
 दश प्रोक्ताः पुरोधाद्या ब्राह्मणाः सर्व एव ते ।  
 अभावे क्षत्रिया योज्यास्तदभावे तथोरुजाः ॥४२६॥  
 नैव शूद्रास्तु संयोज्या गुणवन्तोऽपि पार्थिवैः ॥४२७॥

नियुक्त इति भटिति परिज्ञानाय लोहजैः ताम्रजैः रीतिभवैः  
 पित्तलजैरित्यर्थः रजतसम्भवैः रौप्यनिर्मितैः सौवर्णैः सुवर्णजैः  
 रत्नजैः वापि यथायोग्यैः स्वलाञ्छनैः स्वज्ञापकैः वस्त्रैः मुकुटैश्च  
 कार्याङ्गैः कार्यचिह्नैः अङ्कयेत् चिह्नितान् कुर्यात् ॥४२३-४२४॥

वाद्येति । किञ्चेति चार्थः । नृपः भृत्यान् वाद्यानां वाहना-  
 नाञ्च भेदैः अस्य भृत्यस्य गमनागमनादिषु वाद्यं स्यात् अयञ्च  
 वाहनेन गतायातं कुर्यादित्येवंरूपैः विशेषैश्च भृत्यान् विशिष्टान्  
 अधिकारिण इत्यर्थः पृथक् पृथक् विशेषचिह्नितान् इत्यर्थः  
 कुर्यात् । तथा स्वस्य विशिष्टं यत् चिह्नं कृत्रचामरादिकं तत्  
 कस्यचित् न दद्यात् ॥ ४२५ ॥

दशेति । पुरोधाद्याः पुरोहितप्रभृतयः सन्धिरार्षः । ये दश प्रकृ-  
 तय इत्यर्थः प्रोक्ताः कथिताः, ते सर्वे एव ब्राह्मणाः भवेयुरित्यर्थः,  
 अभावे ब्राह्मणानामिति शेषः क्षत्रियाः, तदभावे क्षत्रियाभावे  
 ऊरुजाः वैश्या इत्यर्थः योज्याः तत्तत्कर्मणीति शेषः ॥ ४२६ ॥

नैवेति । शूद्रास्तु गुणवन्तोऽपि पार्थिवैः नैव संयोज्याः  
 तत्तत्प्रकृतिकर्मणीति शेषः ॥ ४२७ ॥

भागग्राही क्षत्रियस्तु साहसाधिपतिश्च सः ।

ग्रामपो ब्राह्मणो योज्यः कायस्थो लेखकस्तथा ॥४२८॥

शुल्कग्राही तु वैश्यो हि प्रतिहारश्च पादजः ।

सेनाधिपः क्षत्रियस्तु ब्राह्मणस्तदभावतः ॥४२९॥

न वैश्यो न च वै शूद्रः कातरश्च कदाचन ।

सेनापतिः शूर एव योज्यः सर्वासु जातिषु ४३०॥

ससङ्करचतुर्वर्णधर्मोऽयं नैव पावनः ।

यस्य वर्णस्य यो राजा स वर्णः सुखमेधते ॥४३१॥

भागग्राहीति । क्षत्रियः भागग्राही राजकरग्रहणे नियुक्तः ।  
तथा साहसाधिपतिः साहसकार्यदत्तपारुष्यादिरूपकार्याणाम्  
अधिपतिः शासनाधिकारीत्यर्थः, ब्राह्मणः ग्रामपः ग्रामाध्यक्षः  
तथा कायस्थः लेखकः योज्यः नियोक्तव्यः ॥ ४२८ ॥

शुल्कग्राहीति । वैश्यः शुल्कानां बाणिज्यादिषु राजकराणां  
ग्राही, पादजः शूद्रः प्रतिहारः द्वारपालः क्षत्रियः सेनाधिपः  
तदभावे क्षत्रियाभावे ब्राह्मणश्च सेनाधिपः नियोक्तव्य इति  
शेषः ॥ ४२९ ॥

नेति । कदाचन वैश्यः सेनापतिर्न, शूद्रः न, कातरः भीतः  
न भवेदिति शेषः । सर्वासु जातिषु शूर एव बलवानेव सेना-  
पतिः योज्यः ॥ ४३० ॥

ससङ्करेति । अयं ससङ्कराणां मूर्द्धाभिसिक्तास्वष्टप्रभृतिसत्ति-  
तानां चतुर्णां वर्णानां ब्राह्मणादीनां धर्मः राजधर्मः न पावनः  
पापान्त्रयादिति भावः । यस्य वर्णस्य जातेरित्यर्थः यः राजा  
राजा यद्वर्णीय इत्यर्थः स वर्णः सुखम् एधते प्राप्नोति ॥ ४३१ ॥

नोपकृतं मन्यते स्म न तुष्यति सुसेवनैः ।

कथान्तरे न स्मरति शङ्कते प्रलपत्यपि ।

क्षुब्धस्तनोति मर्माणि तं नृपं भृतकस्त्यजेत् ॥४३२॥

लक्षणं युवराजादेः कृत्यमुक्तं समासतः ॥४३३॥

इति शुक्रनीतौ युवराजादिलक्षणं नाम

द्वितीयोऽध्यायः ।

तृतीयोऽध्यायः ।

अथ साधारणं नीतिशास्त्रं सर्वेषु चोच्यते ।

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥१॥

नेति । यः नृपतिः उपकृतम् उपकारं न मन्यते न स्वी-  
करोति, सुसेवनैः सुपरिचर्याभिश्च न तुष्यति न तुष्टो भवति,  
कथान्तरे प्रसङ्गविशेषे न स्मरति प्रत्युत शङ्कते तथा प्रलपति  
व्या वाक्यं कथयति तथा क्षुब्धः सन् मर्माणि तनोति पीड-  
यति च, भृतकः भृत्यः तं नृपं त्यजेत् ॥ ४३२ ॥

लक्षणमिति । युवराजादेः लक्षणं कृत्यञ्च समासतः संचेषेण  
उक्तम् ॥ ४३३ ॥

इति श्रीजवानन्दविद्यासागरविरचिता द्वितीयाध्याय-  
व्याख्या समाप्ता ।

अथेति । अथ युवराजलक्षणादिनिरूपणानन्तरमित्यर्थः  
सर्वेषु राजप्रजासाधारणेषु नीतिशास्त्रम् उच्यते । सर्वभूतानां

सुखं च न विना धर्मात् तस्माद् धर्मपरो भवेत् ।

त्रिवर्गशून्यं नारम्भं भजेत् तं चाविरोधयन् ।

अनुयायात् प्रतिपदं सर्वधर्मेषु मध्यमः ॥ २ ॥

नीचरोमनखश्मश्रुनिर्मलाङ्घ्रिमलायनः ।

स्नानशीलः सुसुरभिः सुवेशोऽनुल्वणोज्ज्वलः ।

धारयेत् सततं रत्नसिद्धमन्त्रमहौषधीः ॥ ३ ॥

सातपत्रपदत्राणो विचरेद् युगमावटक् ।

निशि चात्ययिके कार्य्ये दण्डी मौली सहायवान् ॥ ४ ॥

सर्वेषां प्राणिनां सर्वाः प्रवृत्तयः कार्य्येषु समुद्योगाः सुखार्थाः

सुखमात्रप्रयोजनसाधनाः मताः ॥ १ ॥

सुखमिति । धर्मात् विना सुखं न भवति, तस्मात् धर्म-  
परः धर्मनिष्ठः भवेत् । त्रयाणां धर्मकामार्थानां वर्गः त्रिवर्गः  
तेन शून्यम् आरम्भं कर्म न भजेत् न कुर्यात् । तच्च त्रिवर्गम्  
अविरोधयन् अत्यजन् मध्यमः मध्यवर्ती सन् सर्वधर्मेषु सर्वेषु  
कार्य्येषु प्रतिपदम् अनुयायात् अनुगच्छेत् ॥ २ ॥

नीचेति । नीचाः खर्वाः कर्त्तनादिति भावः रोमाणि नखाः  
श्मश्रुवश्च यस्य तथोक्तः निर्मलानि परिशोधितानि अङ्घ्रौ पादौ  
मलायनानि मलस्थानानि इन्द्रियद्वाराणीत्यर्थः तथाभूतः स्नान-  
शीलः कृतस्नानः सुसुरभिः गन्धद्रव्यानुलिप्तः सुवेशः शोभन-  
परिच्छदः तथा अनुल्वणः अनुद्धतः उज्ज्वलश्च सन् रत्नानि  
सिद्धमन्त्राणि महौषधीश्च सततं धारयेत् ॥ ३ ॥

सातपत्रेति । आतपत्रेण कृत्रेण पदत्राणाभ्यां पादुकाभ्याञ्च  
सहितः तथा युगमः ढटक् युगमात्रे युगाख्यरथकाष्ठपरिमिते

न वेगितोऽन्यकार्ये स्थान्न वेगान् धारयेत् बलात् ।  
 भक्त्या कल्याणमित्राणि सेवेतेतरदूरगः ॥ ५ ॥  
 हिंसास्तेयान्यथाकामपैशुन्यं परुषानृतम् ।  
 संभिन्नालापव्यापादममिथ्यादृग्विपर्ययम् ।  
 पापकर्मेति दशधा कायवाङ्मानसैस्त्यजेत् ॥ ६ ॥  
 धर्मकार्यं यतन् शक्त्या नो चेत् प्राप्नोति मानवः ।  
 प्राप्तो भवति तत्पुण्यमत वै नास्ति संशयः ॥ ७ ॥

भूभागे दृक् दृष्टिर्यस्य तथोक्तः सन् बहुदूरदर्शने पदस्खलन-  
 सन्भवादिति भावः विचरेत् एतच्च दिवारात्रसाधारणविषयम् ।  
 निशि रात्रौ आत्ययिके अमङ्गलजनके कार्ये व्यापारे उपस्थिते  
 इति शेषः दण्डी यष्टिपाणिः मौली उष्णीषादिना बह्वशिराः  
 तथा सहायवान् ससहायः विचरेदिति शेषः ॥ ४ ॥

नेति । वेगितः मलमूत्रादिवेगवान् अन्यकार्ये अन्य-  
 स्मिन् कर्मणि तत्परः न स्यात् । वेगान् बलाच्च न धारयेत् वेग-  
 सन्धारणं न कुर्यात् । किञ्च इतरदूरगः निकटगः दूरगश्च भक्त्या  
 कल्याणानि मित्राणि च सेवेत ॥ ५ ॥

हिंसेति । हिंसा प्राणिहत्या, स्तेयं चौर्यम्, अन्यथाकामः  
 अवैधरतिरित्यर्थः, पैशुन्यं खलता, परुषं निष्ठुरता, अनृतं  
 मिथ्या सन्भिन्नेन सम्यक् विभिन्नेन आलापेन व्यापः मनोभङ्गा-  
 पादनम्, अदमः अविनयः, मिथ्यादृक् नास्तिकता, मिथ्या-  
 दृष्टिर्नास्तिकता इत्यमरः । विपर्ययः अवैधाचरणम् इत्येवं  
 कायवाङ्मानसैः कृतं दशधा पापकर्म त्यजेत् ॥ ६ ॥

धर्मकार्यमिति । चेत् यदि मानवः शक्त्या यतन् यतमानः

मनसा चिन्तयन् पापं कर्मणा नाभिरोचयेत् ।  
 तत् प्राप्नोति फलं तस्येत्येवं धर्मविदो विदुः ॥८॥  
 अवृत्तिव्याधिशोकार्ताननुवर्त्तेत शक्तितः ।  
 आत्मवत् सततं पश्येदपि कौटपिपीलिकम् ॥९॥  
 उपकारप्रधानः स्यादपकारपरेऽप्यरौ ।

सम्पद्विपत्स्वेकमना हेतावीर्षेत् फले न तु ॥१०॥  
 आर्षोऽयं प्रयोगः । धर्मकार्यं न प्राप्नोति अन्तराविघ्नापाता-  
 दिति भावः, तदा सः अत्र इह लोके तत्पुण्यं तस्य धर्मकार्यस्य  
 पुण्यम् अनुष्ठानजनितमित्यर्थः प्राप्तः भवति, वैशब्दोऽवधारणे ।  
 संशयः नास्ति निश्चितमेव प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

मनसेति । मनसा पापं चिन्तयन् कर्मणा न अभिरोचयेत्  
 न इच्छेत् । एवं सति पापकर्मणि कृते सतीत्यर्थः तस्य कर्मणः  
 तत् फलं प्राप्नोति इति धर्मविदः धर्मज्ञाः पण्डिताः विदुः  
 जानन्ति ॥ ८ ॥

अवृत्तीति । अवृत्तीन् वृत्तिरहितान् जीविकाशून्यानित्यर्थः  
 तथा व्याधिशोकार्तान् रोगार्तान् शोकार्त्तांश्च शक्तितः यथा-  
 शक्ति अनुवर्त्तेत साहाय्यदानेन उपकुर्व्यादित्यर्थः । किञ्च कौट-  
 पिपीलिकमपि कौटान् पिपीलिकाश्च क्षुद्रजीवानपि सततम्  
 आत्मवत् पश्येत् ॥ ९ ॥

उपकारेति । अपकारपरेऽपि अरौ शत्रौ उपकारप्रधानः  
 उपकारपरः तथा सम्पद्विपत्सु सम्पत्सु विपत्सु च एक-  
 मनाः अविचलितचित्तः स्यात् । किञ्च हेतौ कारणे सति ईर्ष्येत्  
 विद्विष्यात् परमिति शेषः तु किन्तु फले न, न विद्विष्यादित्यर्थः  
 विद्वेषेण फलहानिर्न कर्त्तव्येति भावः ॥ १० ॥

काले हितं मितं ब्रूयादविसंवादि पेशलम् ।

पूर्वाभिभाषी सुमुखः सुशीलः करुणामृदुः ॥११॥

नैकः सुखी न सर्वत्र विश्रब्धो न च शङ्कितः ॥१२॥

न कञ्चिदात्मनः शत्रुं नात्मानं कस्यचिद्रिपुम् ।

प्रकाशयेन्नापमानं न च निस्नेहतां प्रभोः ॥१३॥

जनस्याशयमालक्ष्य यो यथा परितुष्यति ।

तं तथैवानुवर्त्तत पराराधनपण्डितः ॥१४॥

न पीडयेदिन्द्रियाणि न चैतान्यतिलालयेत् ।

इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥१५॥

काले इति । पूर्वाभिभाषी पूर्वालापकारी निरहङ्कारत्वा-  
दिति भावः सुमुखः प्रसन्नवदनः सुशीलः सच्चरित्रः करुणामृदुः  
दयाशीलः सन् काले योग्ये काले हितं मितं परिमितं न तु  
व्यावहुलमित्यर्थः अविसंवादि सुसङ्गतं पेशलं मधुरञ्च वचः  
ब्रूयात् ॥ ११ ॥

नेति । एकः एकाकी न सुखी सुखासक्तः न, सर्वत्र सर्वस्मिन्  
जने विश्रब्धः विश्वासी न, तथा शङ्कितश्च न भवेदिति शेषः ॥१२॥

नेति । कञ्चित् जनम् आत्मनः शत्रुं न, आत्मानञ्च कस्य-  
चित् रिपुं शत्रुं न, प्रभोः सकाशात् अपमानं न, निस्नेहतां  
स्नेहशून्यताञ्च न प्रकाशयेत् ॥ १३ ॥

जनस्येति । पराराधनपण्डितः पररञ्जकः जनः जनस्य  
आशयम् अभिप्रायम् आलक्ष्य विविच्य यः जनः यथा येन प्रका-  
रेण परितुष्यति, तं जनं तथैव तेनैव प्रकारेण अनुवर्त्तत ॥१४॥

नेति । इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि न पीडयेत्, तत् तद-

एणो गजः पतङ्गश्च भृङ्गो मीनस्तु पञ्चमः ।

शब्दस्पर्शरूपगन्धरसैरेते हताः खलु ॥१६॥

एषु स्पर्शो वरस्त्रीणां स्वान्तहारी मुनेरपि ।

अतोऽप्रमत्तः सेवेत विषयांस्तु यथोचितान् ॥१७॥

मात्रा स्वस्वा दुहित्रा वा नात्यन्तैकान्तिकं वसेत् ।

यथा सम्बन्धमाह्वयादाभाष्याश्लास्य वै स्त्रियम् ।

विषयभोगव्यावर्त्तनेन न क्लिष्यात् । एतानि इन्द्रियाणि न च अतिलालयेत् स्वस्वविषयेषु नातिसक्तानि कुर्व्यात् । यथायथं वैधभावेन इन्द्रियवृत्तिः कार्य्येति भावः । इन्द्रियाणि प्रमाथीनि प्रमथ्यनसमर्थानि अतिप्रबलानि चेत् मनः प्रसभं बलात् हरन्ति वशीकुर्वन्तीत्यर्थः, अतस्तानि दमनीयानीति भावः ॥ १५ ॥

एण इति । एणः हरिणः, गजः हस्ती, पतङ्गः क्षुद्रपक्षि-  
विशेषः, भृङ्गः भ्रमरः, पञ्चमः मीनः मत्स्यः एते शब्दस्पर्श-  
रूपगन्धरसैः इन्द्रियभोग्यैः विषयैः यथाक्रमं हताः खलु हता एव  
तथाहि एणः सुस्वरगानश्रवणासक्तोऽपलायमानः मृगयुभि-  
र्बध्यते । गजः करिणीस्पर्शसुखासक्तोऽपलायमानः तद्ग्राहिभि-  
र्बध्यते । पतङ्गः प्रदीपशिखायाः रूपदर्शनोन्मत्तस्तत्रैव पतनात्  
म्रियते । भृङ्गः गन्धलोभेन पद्मोत्पलयोरभ्यन्तरवर्त्ती भवति ।  
मत्स्यश्च आमिषरसास्वादलोभेन वडिशविद्धो भवतीति ॥ १६ ॥

एष्विति । एषु शब्दादिषु मध्ये वरस्त्रीणाम् उत्तमाङ्गनानां  
स्पर्शः मुनेरपि स्वान्तहारी मनोहारी, अतः अप्रमत्तः सावधानः  
सन् यथोचितान् विषयान् सेवेत ॥ १७ ॥

मात्रेति । मात्रा जनन्या, स्वस्वा भगिन्या, दुहित्रा कन्यया  
वा सह अत्यन्तैकान्तिकम् अतिनिर्जनं यथा तथा न वसेत् ।

स्त्रीयां तु परकीयां च सुभगे ! भगिनीति च ॥ १८ ॥

सहवासोऽन्यपुरुषैः प्रकाशमपि भाषणम् ।

स्वातन्त्र्यं न क्षणमपि ह्यावासोऽन्यगृहे तथा ॥ १९ ॥

भर्ता पित्रायवा राज्ञा पुत्रश्चशुरवान्धवैः ।

स्त्रीणां नैव तु देयः स्याद् गृहकृत्यैर्विना क्षणः ॥ २० ॥

चण्डं षण्डं दण्डशीलमकामं सुप्रवासिनम् ।

सुदरिद्रं रोगिणं च ह्यन्यस्त्रीनिरतं सदा ॥ २१ ॥

पतिं दृष्ट्वा विरक्ता स्यान्नारी वान्यं समाश्रयेत् ।

त्यक्तैतान् दुर्गुणान् यत्नादतो रक्ष्याः स्त्रियो नरैः ॥ २२ ॥

किञ्च स्त्रीयां स्वसम्पर्कीयां परकीयाश्च नारीं यथासम्बन्धं सन्ध-  
नानुसारेण सुभगे ! भगिनि ! इति च आभाष्य आश्वास्य च  
आह्वयात् आह्वयेत् ॥ १८ ॥

सहवास इति । अन्यपुरुषैः सहवासः तथा प्रकाशमपि का-  
कया विजने इति भावः, भाषणं कथोपकथनं क्षणमपि स्वा-  
तन्त्र्यं स्वाधीनता तथा अन्यगृहे परगृहे आवासः स्त्रीणां  
दूषणमिति शेषः ॥ १९ ॥

भर्तेति । भर्ता स्वामिना, पित्रा, राज्ञा, तथा पुत्रश्चशुर-  
वान्धवैः स्त्रीणां गृहकृत्यैः गार्हस्थ्यकार्यैः विना क्षणः अल्पोऽपि  
समयः नैव देयः स्यात् ॥ २० ॥

चण्डमिति । पतिमिति । नारी पतिं चण्डम् उग्रं षण्डं  
क्लीवं दण्डशीलं दण्डकरम् अकामम् अननुरक्तं सुप्रवासिनं  
दौर्घप्रवासरतं सुदरिद्रम् अतिनिर्धनं रोगिणं नित्यरोगिणं तथा  
सदा अन्यस्त्रीरतं दृष्ट्वा विरक्ता स्यात् भवेत् वा अथवा अन्यं

वस्त्रान्नभूषणप्रेममृदुवाग्भिश्च शक्तितः ।

स्वात्यन्तसन्निकर्षेण स्त्रियं पुत्रं च रक्षयेत् ॥२३॥

चैत्यपूज्यध्वजाशस्तच्छायाभस्मतुषाशुचीन् ।

नाक्रामेच्छर्करालोष्टबलिस्नानभुवोऽपि च ॥ २४ ॥

नदीं तरेन्न बाहुभ्यां नाग्निं कृन्नमभिव्रजेत् ।

सन्दिग्धनावं वृक्षं च नारोहेद् दुष्टयानकम् ॥२५॥

नासिकां न विहृणीयाद्नाकस्माद् विलिखेद् भुवम् ।

समाश्रयेत् । अतः कारणात् एतान् दुर्गुणान् उग्रत्वादिकान्  
त्यक्त्वा परित्यज्य नरैः यन्नात् स्त्रियः नार्थः रक्ष्याः ॥ २१ ॥ २२ ॥

वस्त्रेति । वस्त्रान्नभूषणदानेन प्रेम्णा स्नेहेन मृदुभिः मधु-  
राभिः वाग्भिः तथा स्वस्य आत्मनः अत्यन्तसन्निकर्षेण अति-  
सान्निध्येन शक्तितः यथाशक्ति स्त्रियं पुत्रञ्च रक्षयेत् ॥ २३ ॥

कैत्येति । चैत्यान् रथ्यावृक्षविशेषान्, पूज्यान् पूजनीयान्  
गुरुजनानित्यर्थः, ध्वजान् पताकादण्डान् अशस्तानाम् अप्र-  
शस्तवस्तूनां छायाः भस्मानि तुषान् अशुचीन् अपवित्रान्,  
शर्कराः लोष्टान्, बलीन् पूजाद्रव्याणि तथा स्नानभूमौश्च न  
आक्रमेत् न अतिक्रमेत् ॥ २४ ॥

नदीमिति । बाहुभ्यां नदीं न तरेत् । कृन्नं आच्छादितम्  
अग्निं न अभिव्रजेत् आच्छादिताग्न्यभिमुखं न गच्छेत् । तथा  
दुष्टयानकम् दुष्टं यानं वाहनम् अश्वादिकं सन्दिग्धनावं  
तरणे शक्ता वा अशक्तेति सन्देहयुक्तां नावं नौकां भारधारणे  
क्षमो वा अक्षमो इति सन्देहयुक्तं वृक्षञ्च न आरोहेत् ॥ २५ ॥

नासिकामिति । नासिकां न विहृणीयात् न विशेषेण

न संहताभ्यां पाणिभ्यां कण्डूयेदात्मनः शिरः ॥२६॥  
 नाङ्गैश्चेत विगुणं नासीतोत्कटुकश्चिरम् ।  
 देहवाक् चेतसां चेष्टाः प्राक् श्रमाद् विनिवर्त्तयेत् ॥२७॥  
 नोङ्घ्रिजानुश्चिरं तिष्ठेन्नक्तं सेवेत न द्रुमम् ।  
 तथा चत्वरचैत्यं न चतुष्पथसुरालयान् ॥ २८ ॥  
 शून्याटवीशून्यगृहश्मशानानि दिवापि न ।  
 सर्वथेचेत नादित्यं न भारं शिरसा वहेत् ॥२९॥

आकर्षेत् । अकस्मात् विना हेतुं भुवं भूमिं न विलिखेत् । तथा  
 संहताभ्यां युक्ताभ्यां पाणिभ्याम् आत्मनः शिरः न कण्डूयेत् ॥२६॥

नेति । अङ्गैः अवयवैः विगुणं विरुद्धं न चेष्टेत, उत्कटुकः  
 उत्कण्ठितः चिरं न आसीत् नावतिष्ठेत् तथा श्रमात् प्राक्  
 परिश्रमात् पूर्वम् आर्त्तितः पूर्वमित्यर्थः देहवाक्चेतसां शरीर-  
 वाङ्मनसां चेष्टाः विनिवर्त्तयेत् यथा क्लान्तिर्न भवेत् तथा शरी-  
 रादिव्यापारान् कुर्यादिति भावः ॥ २७ ॥

नेति । ऊङ्घ्रिजानुः उत्क्षिप्तजानुकः सन् चिरं बहुक्षणं न  
 तिष्ठेत् तथात्वे जान्वचलनसम्भवादिति भावः नक्तं वातान्दोलितं  
 द्रुमं तथा चत्वरचैत्यं प्राङ्गणस्थितं वनस्पतिविशेषं तथा चतु-  
 ष्पथेषु ये सुरालयाः देवालयाः तान् न सेवेत न आश्रयेत् ॥२८॥

शून्येति । दिवापि का कथा रात्रौ इति शून्याटवीं शून्य-  
 काननं शून्यगृहाणि श्मशानानि च न, तथा सर्वथा सर्वैः  
 प्रकारैः सम्यगित्यर्थः आदित्यञ्च न ईचेत न पश्येत् । किञ्च  
 शिरसा मस्तकेन भारं न वहेत् ॥ २९ ॥

नेचेतेति । सततं सूक्ष्मं पदार्थमिति शेषः दीप्तं दीप्तियुक्तं

नेक्षेत सततं सूक्ष्मं दीप्तामेध्याप्रियाणि च ॥३०॥

सन्ध्यास्वभ्यवहारस्त्रीस्वप्नाध्ययनचिन्तनम् ।

मद्यविक्रयसन्धानदानादानानि नाचरेत् ॥ ३१ ॥

आचार्यः सर्वचेष्टासु लोक एव हि धीमतः ।

अनुकुर्यात् तमेवातो लौकिकार्थे परीक्षकः ॥३२॥

राजदेशकुलज्ञातिसङ्गमं नैव दूषयेत् ।

शक्तोऽपि लौकिकाचारं मनसापि न लङ्घयेत् ॥३३॥

अयुक्तं यत् कृतं चोक्तं न बलाद्धेतुनोद्धरेत् ॥३४॥

पदार्थम् अमेध्यानि अपवित्राणि अप्रियाणि च द्रव्याणि न  
ईक्षेत न पश्येत् ॥ ३० ॥

सन्ध्यास्विति । सन्ध्यासु अभ्यवहारम् आहारं स्त्रीं स्त्रीसङ्गं  
स्वप्नं निद्राम् अध्ययनं शास्त्रपठनं चिन्तनं विषयभावनं मद्य  
सुरापानं विक्रयं सन्धानं दानम् आदानं ग्रहणञ्च न आचरेत्  
नानुतिष्ठेत् ॥ ३१ ॥

आचार्य इति । धीमतः बुद्धिमतः जनस्य सर्वचेष्टासु सर्व  
क्रियासु लोकः समाजस्थजन एव आचार्यः गुरुः उपदेशकः  
इत्यर्थः अतः कारणात् परीक्षकः विवेचकः जनः लौकिकार्थे  
सामाजिकविषये तं समाजस्थजनमेव अनुकुर्यात् अनुसरति  
लोकव्यवहारो लोकादेव शिक्षणीय इति भावः ॥ ३२ ॥

राजेति । राजधर्मान् देशधर्मान् कुलधर्मान् ज्ञातिधर्मान्  
सङ्गमं साधुधर्मान् नैव दूषयेत् । किञ्च शक्तोऽपि समर्थोऽपि  
मनसापि लौकिकाचारं न लङ्घयेत् ॥ ३३ ॥

अयुक्तमिति । यत् अयुक्तं कृतम् उक्तञ्च तत् बलात् वर

दुर्गुणस्य च वक्तारः प्रत्यक्षं विरला जनाः ।  
 लोकतः शास्त्रतो ज्ञात्वा ह्यतस्त्याज्यांस्त्यजेत् सुधीः ।  
 अनयं नयसङ्काशं मनसापि न चिन्तयेत् ॥ ३५ ॥  
 अयं सहस्रापराधी किमेकेन भवेन्मम ।  
 मत्वा नाधं स्मरेद्दोषविन्दुना पूर्यते घटः ॥ ३६ ॥  
 नक्तं दिनानि मे यान्ति कथञ्भूतस्य सम्प्रति ।  
 दुःखभाङ्गं भवेदेवं नित्यं सन्निहितस्मृतिः ॥ ३७ ॥  
 समासव्यूहहेत्वादिक्लृतेच्छायं विहाय च ।

माश्रित्य हेतुना वा न उद्धरेत् न अपलपेत् ॥ ३४ ॥

दुर्गुणस्येति । प्रत्यक्षं समक्षं दुर्गुणस्य वक्तारः जनाः विरलाः  
 अल्पाः, अतः अस्मात् कारणात् लोकतः शास्त्रतश्च ज्ञात्वा  
 सत्यासत्यं निश्चित्य इति यावत् सुधीः पण्डितो जनः त्याज्यान्  
 त्यागयोग्यांश्चेत् तादृशान् दुर्भाषिणः त्यजेत् । किञ्च मनसापि  
 अनयं दुर्नयं नयसङ्काशं नीतितुल्यं न चिन्तयेत् ॥ ३५ ॥

अहमिति । अयं जनः अपरो लोकः सहस्रापराधी सहस्र-  
 दोषी, मम एकेन दोषेण किं भवेत् इति मत्वा ईषत् अल्पमपि  
 अयं पापं न स्मरेत् न कर्तुं चिन्तयेदित्यर्थः यतः विन्दुना  
 क्रमशः पतितेन इत्यर्थः घटः पूर्यते ॥ ३६ ॥

नक्तमिति । सम्प्रति इदानीं कथञ्भूतस्य किंरूपमाचरतः  
 मे मम नक्तं रात्रयः दिनानि च यान्ति सुखेनेति भावः, एवं  
 नित्यं सततं सन्निहितस्मृतिः पर्यालोचयन् जनः दुःखभाक् न  
 भवेत् ॥ ३७ ॥

समासेति । धर्मतत्त्वमिति । विचक्षणः नरः श्रुतिस्मृति-

स्तुत्यर्थवादान् सन्त्यज्य सारं संगृह्य यत्नतः ॥३८॥  
 धर्मतत्त्वं हि गहनमतः सत्सेवितं नरः ।  
 श्रुतिस्मृतिपुराणानां कर्म कुर्याद् विचक्षणः ॥३९॥  
 न गोपयेद् वासयेच्च राजा मित्रं सुतं गुरुम् ।  
 अधर्मनिरतं स्तेनमाततायिनमप्युत ॥ ४० ॥  
 अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रोन्मत्तो धनापहः ।  
 क्षेत्रदारहरश्चैतान् षड्विद्यादाततायिनः ॥४१॥  
 नोपेक्षेत स्त्रियं बालं रोगं दासं पशुं धनम् ।  
 विद्याभ्यासं क्षणमपि सत्सेवां बुद्धिमान् नरः ॥४२॥

पुराणानां समासेन तत्पुरुषबहुव्रीह्यादिरूपपदैक्यकरणेन ब्रू-  
 हेन विशिष्टतर्केण हेत्वादिना च कृतम् इच्छार्थं स्वाभिमत-  
 पोषकार्यं विहाय त्यक्त्वा स्तुत्यर्थवादान् प्रशंसावादांश्च सन्त्यज्य  
 यत्नतः सारं संगृह्य च हि यतः सर्वतत्त्वं गहनम् अतिदुर्बोधम्  
 अतः सत्सेवितं तेन धर्मतत्त्वेन समन्वितं कर्म कुर्यात् ॥३८॥३९॥

नेति । राजा मित्रं सुतं गुरुमपि अधर्मनितं स्तेनं चोरम्  
 आततायिनं वधोद्यतम् उत चेत् न गोपयेत् न रक्षेत् न वास-  
 येच्च क्षीपान्तरं प्रेषयेदिति शेषः ॥ ४० ॥

अग्निद इति । अग्निदः गृहे अग्निदाता, गरदः वि-  
 प्रयोक्ता, शस्त्रेण उन्मत्तः मारणोद्यतः, धनापहः मूलधनहारः  
 क्षेत्रहारी भूमिहरः तथा दारहरः भार्याहारी एतान् षड्वि-  
 द्यादाततायिनः विद्यात् ॥ ४१ ॥

नेति । बुद्धिमान् नरः स्त्रियं बालं शिशुं रोगं दासं पशुं

विरुद्धो यत्र नृपतिर्धनिकः श्रोत्रियो भिषक् ।  
 आचारश्च तथा देशो न तत्र दिवसं वसेत् ॥४३॥  
 नपुंसकश्च स्त्री बालश्चण्डो मूर्खश्च साहसी ।  
 यत्राधिकारिणश्चैते न तत्र दिवसं वसेत् ॥४४॥  
 अविवेकी यत्र राजा सभ्या यत्र तु पाक्षिकाः ।  
 सन्मार्गोज्झितविद्वांसः साक्षिणोऽनृतवादिनः ॥४५॥  
 दुरात्मनां च प्राबल्यं स्त्रीणां नीचजनस्य च ।  
 तत्र नेच्छेद् धनं मानं वसतिञ्चापि जीवितम् ॥४६॥

पशुं धनं विद्याभ्यासं तथा सत्सेवां साधुसेवां क्षणमपि न उपे-  
 क्षेत ॥ ४२ ॥

विरुद्ध इति । यत्र देशे नृपतिः राजा, धनिकः, श्रोत्रियः  
 वेदज्ञब्राह्मणः, भिषक् वैद्यः तथा आचारो देशश्च विरुद्धः, तत्र  
 दिवसमपि न वसेत् ॥ ४३ ॥

नपुंसक इति । यत्र नपुंसकः स्त्री, बालः, चण्डः  
 कोपनः, मूर्खः वा साहसी अविवेकी एते अधिकारिणः  
 स्वामिनः, तत्र दिवसं न वसेत् ॥ ४४ ॥

अविवेकीत्यादि । यत्र राजा अविवेकी अविमृशकारी  
 यथेच्छाचारीत्यर्थः यत्र तु सभ्याः राजसभासदः पाक्षिकाः पक्ष-  
 पातिनः, सन्मार्गेण सदाचारेण उज्झिताः त्यक्ताः विद्वांसः तथा  
 साक्षिणः अनृतवादिनः मिथ्यावादरताः, यत्र च दुरात्मनां  
 स्त्रीणां तथा नीचजनस्य प्राबल्यं वृद्धिः, तत्र धनं मानं वसतिं  
 जीवितञ्चापि न इच्छेत् ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

माता न पालयेद् बाल्ये पिता साधु न शिद्येत् ।  
 राजा यदि हरेद् वित्तं का तत्र परिदेवना ? ॥४७॥  
 सुसेविताः प्रकुप्यन्ति मित्रस्वजनपार्थिवाः ।  
 गृहमग्न्यग्निहतं का तत्र परिदेवना ? ॥ ४८ ॥  
 आप्तवाक्यमनादृत्य दर्पेणाचरितं यदि ।  
 फलितं विपरीतं तत् का तत्र परिदेवना ? ॥४९॥  
 सावधानमना नित्यं राजानं देवतां गुरुम् ।  
 अग्निं तपस्विनं धर्मज्ञानवृद्धं सुसेवयेत् ॥५०॥  
 मातृपितृगुरुस्वामिभ्रातृपुत्रसखिष्वपि ।

मातेति । यदि बाल्ये शैशवे माता न पालयेत्, पिता न  
 शिद्येत् न विद्यामभ्यासयेत्, तथा राजा वित्तं धनं हरेत्,  
 तत्र परिदेवना विलापः का ? ॥ ४७ ॥

सुसेविता इति । यत्र मित्राणि सुहृदः स्वजनाः बन्धवः तथा  
 पार्थिवाः राजानः सुसेविता अपि प्रकुप्यन्ति, गृहञ्च अग्निना  
 वज्रेण वा हतं तत्र का परिदेवना ? ॥ ४८ ॥

आप्तवाक्यमिति । यदि आप्तानां विश्वस्तानां हितैषिणां  
 वा वाक्यम् अनादृत्य अवज्ञाय दर्पेण आचरितं व्यवहृतं विपरीतं  
 यथा तथा फलितं, भवेदिति शेषः तत्र का परिदेवना ? ॥४९॥

सावधानमना इति । सावधानमनाः सन् राजानं देवतां  
 गुरुम् अग्निं तपस्विनं धर्मज्ञानवृद्धं धर्मवृद्धं ज्ञानवृद्धञ्च जनं  
 सुसेवयेत् ॥ ५० ॥

मात्रेति । मातृपितृगुरुस्वामिभ्रातृपुत्रसखिषु कचिदपि

न विरुध्येन्नापकुर्व्यान्मनसापि क्षणं क्वचित् ॥५१॥

स्वजनैर्न विरुध्येत न स्पर्द्धेत बलीयसा ।

न कुर्व्यात् स्त्रीबालवृद्धमूर्खेषु च विवादनम् ॥५२॥

एकः स्वादु न भुञ्जीत एकश्चार्थान्न चिन्तयेत् ।

एको न गच्छेदध्वानं नैकः सुप्तेषु जागृत्यात् ॥५३॥

नान्यधर्मं हि सेवेत न द्रुह्याद् वै कदाचन ।

हीनकर्मगुणैः स्त्रीभिर्नासीतैकासने क्वचित् ॥५४॥

षड् दोषा पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता ।

निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ।

कदाचिदपि मनसापि का कथा कार्य्येणेति भावः क्षणं न विरु-  
ध्येत् न विरोधमाचरेत् नापि अपकुर्व्यात् ॥ ५१ ॥

स्वजनैरिति । स्वजनैः बान्धवैः सह न विरुध्येत न विरोधमाच-  
रेत्, बलीयसा प्रबलेन जनेन न स्पर्द्धेत न स्पर्द्धां कुर्व्यात्, तथा  
स्त्रीषु बालकेषु मूर्खेषु च विवादनं विवादं न कुर्व्यात् ॥ ५२ ॥

एक इति । एकः एकाकी जनः स्वादु सुस्वादुद्रव्यं न  
भुञ्जीत । एकश्च अर्थान् कार्य्याणि न चिन्तयेत् । एकः अध्वानं  
न गच्छेत् । एकः सुप्तेषु जनेषु मध्ये न जागृत्यात् ॥ ५३ ॥

नेति । अन्यधर्मम् अपरधर्मं न सेवेत नाश्रयेत्, कदाचन  
न द्रुह्येत् कस्मैचिदपीति शेषः । क्वचित् कुत्रापि स्थाने हीन-  
कर्मगुणैः दुर्जनैरित्यर्थः स्त्रीभिश्च सह एकासने न आसीत  
नोपविशेत् ॥ ५४ ॥

षडिति । भूतिं सम्पदम् इच्छता अभिलषता जनेन इह  
संसारे निद्रा, तन्द्रा अनुत्साहः, भयं, क्रोधः, आलस्यं तथा

प्रभवन्ति विधाताय कार्य्यस्यैते न संशयः ॥ ५५ ॥  
 उपायज्ञश्च योगज्ञस्तत्त्वज्ञः प्रतिभानवान् ।  
 स्वधर्मनिरतो नित्यं परस्त्रीषु पराङ्मुखः ।  
 वक्तोहवांश्चित्कथः स्यादकुण्ठितवाक् सदा ॥ ५६ ॥  
 चिरं संश्रुणुयान्नित्यं जानीयात् क्षिप्रमेव च ।  
 विज्ञाय प्रभजेदर्थान् न कामं प्रभजेत् क्वचित् ॥ ५७ ॥  
 क्रयविक्रयातिलिप्सां स्वदैन्यं दर्शयेन्न हि ।  
 कार्य्यं विनान्यगेहे न नाज्ञातः प्रविशेदपि ॥ ५८ ॥

दीर्घसूत्रता चिरक्रियता एते षट् दोषाः हातव्याः त्यक्तव्याः ।  
 एते दोषाः कार्य्यस्य विधाताय प्रभवन्ति समर्था भवन्ति न  
 संशयः सन्देहो नास्तीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

उपायज्ञ इति । उपायज्ञः योगज्ञः कर्मकौशली तत्त्वज्ञः  
 सारज्ञः प्रतिभानवान् प्रतिभान्वितः नित्यं स्वधर्मनिरतः, पर-  
 स्त्रीषु पराङ्मुखः वक्ता वाक्पटुः ऊहवान् तर्कनिपुणः सदा  
 चित्कथः मधुरवाक् तथा अकुण्ठितवाक् स्यात् भवेत् ॥ ५६ ॥

चिरमिति । चिरं बहुक्षणं साभिनिवेशं यथा तथा इत्यर्थः  
 अर्थान् नित्यं सततं संश्रुणुयात्, क्षिप्रं शीघ्रमेव जानीयात्  
 बुध्येत, तथा विज्ञाय विशेषेण प्रभजेत् सेवेत, क्वचिदपि कामं  
 न प्रभजेत् कामवशो न भवेदित्यर्थः ॥ ५७ ॥

क्रयेति । क्रयविक्रयेषु अतिलिप्साम् अत्याग्रहं स्वस्य आत्मनः  
 दैन्यं कातरताञ्च न हि दर्शयेत् नैव प्रकाशयेत् तथात्वे स्वस्य  
 लाभहानिर्लाघवश्च भवेदिति भावः । किञ्चेति अपिशब्दार्थः  
 कार्य्यं विना न, अज्ञातश्च न अन्यगेहे प्रविशेत् ॥ ५८ ॥

अपृष्टो नैव कथयेद् गृहकृत्यं तु कं प्रति ।  
 वद्वर्थाल्पाक्षरं कुर्यात् सल्लापं कार्यसाधकम् ॥ ५८ ॥  
 न दर्शयेत् स्वाभिमतमनुभूताद् विना सदा ।  
 ज्ञात्वा परमतं सम्यक् तेनाज्ञातोत्तरं वदेत् ॥ ६० ॥  
 दम्पत्योः कलहे साक्ष्यं न कुर्यात् पितृपुत्रयोः ।  
 सुगुप्तकृत्यमन्त्रः स्यान्न त्यजेच्छरणागतम् ॥ ६१ ॥  
 यथाशक्ति चिकीर्षेत कुर्वन् मुह्येच्च नापदि ।  
 कस्यचिन्न स्पृशेन्मर्म मिथ्यावादं न कस्यचित् ॥ ६२ ॥  
 नाश्लीलं कीर्तयेत् कश्चित् प्रलापं न च कारयेत् ॥ ६३ ॥

अपृष्ट इति । अपृष्टः सन् कं तु कंमपि प्रति गृहकृत्यं नैव  
 कथयेत्, किञ्च वद्वर्थं बहुप्रयोजनं किन्तु अल्पाक्षरं कार्य-  
 साधकं सल्लापं सदालापं कुर्यात् ॥ ५८ ॥

नेति । अनुभूताद् तथ्यज्ञानात् विना सदा स्वस्य अभिमतं  
 न दर्शयेत्, तथा परमतं सम्यक्त्वेन सम्यग्रूपेणेत्यर्थः ज्ञात्वा  
 अज्ञातोत्तरम् अविदितसिद्धान्तञ्च न वदेदिति एकेन नञा  
 उभयत्र सम्बन्धः ॥ ६० ॥

दम्पत्योरिति । दम्पत्योः भार्यापत्योः पितृपुत्रयोश्च कलहे  
 साक्ष्यं न कुर्यात् । किञ्च सुगुप्तौ कृत्यमन्त्रौ येन तथोक्तः कार्य-  
 मन्त्रगोपकः स्यात् । शरणागतञ्च न त्यजेत् ॥ ६१ ॥

यथाशक्तीति । यथाशक्ति चिकीर्षेत कर्तुमिच्छेत् कार्य-  
 मिति शेषः, कुर्वन् आपदि न मुह्येत् न विचलेत् । कस्यचित्  
 मर्मं न स्पृशेत् न पीडयेत्, मिथ्यावादञ्च कस्यचित् न स्पृशेत्  
 न कथयेदित्यर्थः ॥ ६२ ॥

अस्वर्ग्यं स्याद्वर्ग्यमपि लोकविद्वेषितं तु यत् ।  
 स्वहेतुभिर्न हन्येत कस्य वाक्यं कदाचन ॥ ६४ ॥  
 प्रविचार्योत्तरं देयं सहसा न वदेत् क्वचित् ।  
 शत्रोरपि गुणा ग्राह्या गुरोस्त्याज्यास्तु दुर्गुणाः ॥ ६५ ॥  
 उत्कर्षो नैव नित्यः स्यान्नापकर्षस्तथैव च ।  
 प्राक्कर्मवशतो नित्यं सधनो निर्धनो भवेत् ॥ ६६ ॥  
 तस्मात् सर्वेषु भूतेषु मैत्रीं नैव च हापयेत् ॥ ६७ ॥  
 दीर्घदर्शी सदा च स्यात् प्रत्युत्पन्नमतिः क्वचित् ।

नेति । अश्लीलं घृणालज्जाकुत्साजनकं वाक्यं न कौर्त्तयेत्,  
 कश्चित् प्रलापम् अनर्थकं वाक्यञ्च न कारयेत् ॥ ६३ ॥

अस्वर्ग्यमिति । यत् कार्यं लोकविद्वेषितं लोकनिन्दितं तत्  
 धर्म्यं धर्मयुक्तमपि अस्वर्ग्यं स्यात्, अतस्तत् न कुर्यादिति भावः ।  
 कदाचन कस्यापि वाक्यं स्वस्य आत्मनः हेतुभिः न हन्येत ॥ ६४ ॥

प्रविचार्येति । प्रविचार्य प्रकर्षेण विचारं कृत्वा उत्तरं  
 देयं सहसा क्वचित् न वदेत् । शत्रोः अपि गुणाः ग्राह्याः, गुरो-  
 र्दुर्गुणास्तु त्याज्याः न ग्राह्याः इत्यर्थः ॥ ६५ ॥

उत्कर्ष इति । नित्यः सततः उत्कर्षः सुखावस्था तथा अप-  
 कर्षः दुःखावस्था च नैव स्यात् । प्राक्कर्मवशतः पूर्वजन्मकर्म-  
 वशात् नित्यं सधनः निर्धनश्च भवेत् ॥ ६६ ॥

तस्मादिति । तस्मात् सततसमावस्थाविरहात् सर्वेषु भूतेषु  
 प्राणिषु मैत्रीं सद्भावं नैव हापयेत् नैव त्यजेत्, सर्वेषु सन्तुष्टेषु  
 नितरां क्लेशो न भवतीति भावः ॥ ६७ ॥

दीर्घदर्शीति । सदा दीर्घदर्शी विमृश्यकारौ प्रत्युत्पन्नमतिः

साहसौ सालसौ चैव चिरकारी भवेन्न हि ॥६८॥

यः सुदुर्निष्फलं कर्म ज्ञात्वा कर्तुं व्यवस्यति ।

द्रागादौ दीर्घदर्शी स्यात् स चिरं सुखमश्नुते ॥६९॥

प्रत्युत्पन्नमतिः प्राप्तां क्रियां कर्तुं व्यवस्यति ।

सिद्धिः सांशयिकी तत्र चापल्यात् कार्य्यगौरवात् ७०

यतते नैव कालेऽपि क्रियां कर्तुं च सालसः ।

न सिद्धिस्तस्य कुत्रापि स नश्यति च सान्वयः ॥७१॥

क्रियाफलमविज्ञाय यतते साहसौ च सः ।

दुःखभागी भवत्येव क्रियया तत्फलेन वा ॥७२॥

उपस्थितबुद्धिश्च स्यात्, कचिदपि साहसौ अविमृश्यकारी साल-  
सौ आलस्यपरतन्त्रः चिरकारी दीर्घसूत्रश्च न हि भवेत् ॥ ६८ ॥

य इति । यः सुदुर्निष्फलम् अतिविफलम् अशक्यसाधन-  
मित्यर्थः कर्म ज्ञात्वा कर्तुं व्यवस्यति चेष्टते स आदौ द्राक् भ-  
टिति दीर्घदर्शी सुविविच्यकारी स्यात् तदा सः चिरं सुखम्  
अश्नुते प्राप्नोति तेन कर्मणेति भावः ॥ ६९ ॥

प्रत्युत्पन्नमतिरिति । यः प्रत्युत्पन्नमतिः प्राप्ताम् उपस्थितां  
क्रियां कर्तुम् सहसेति भावः व्यवस्यति चेष्टते, तत्र क्रियायां  
चापल्यात् कार्य्यगौरवात् कार्य्यस्य गुरुत्वाच्च सिद्धिः सांशयिकी  
भवेत् कार्य्यसिद्धिर्भवति न वेति संशयः स्वादिति निष्कर्षः ॥७०॥

यतते इति । यः सालसः आलस्ययुक्तः कालेऽपि क्रियां  
कर्तुं नैव यतते, कुत्रापि तस्य न सिद्धिर्भवति, सः सान्वयः  
सर्वशः नश्यति च ॥ ७१ ॥

क्रियेति । यः क्रियाफलम् अविज्ञाय यतते चेष्टते, स

महत्कालेनाल्पकर्म चिरकारी करोति च ।  
 स शोचत्यल्पफलतो दीर्घदर्शी भवेदतः ॥ ७३ ॥  
 सुफलं तु भवेत् कर्म कदाचित् सहसा कृतम् ।  
 निष्फलं वापि प्रभवेत् कदाचित् सुविचारितम् ॥ ७४ ॥  
 तथापि नैव कुर्वीत सहसानर्थकारि तत् ।  
 कदाचिदपि सञ्जातमकार्य्यादिष्टसाधनम् ॥ ७५ ॥  
 यदनिष्टं तु सत्कार्य्यान्नाकार्य्यप्रेरकं हि तत् ॥ ७६ ॥

साहसौ अविवेकी कियया कर्मणा तत्फलेन वा दुःखभागी  
 भवत्येव ॥ ७२ ॥

महदिति । यः चिरकारी दीर्घसूत्रः महत्कालेन महता  
 कालेन आर्षोऽयं प्रयोगः । अल्पकर्म यत् किञ्चित् कार्य्यं करोति  
 सः अल्पफलतः कार्य्यस्य अल्पफलात् शोचति अनुतपति अतः  
 अस्मात् कारणात् दीर्घदर्शी विविच्यकारी भवेत् ॥ ७३ ॥

सुफलमिति । सहसा कृतं कर्म कदाचित् सुफलं भवेत्,  
 सुविचारितञ्च कर्म कदाचित् निष्फलं प्रभवेत् न तु सर्वदेति  
 भावः ॥ ७४ ॥

तथापीति । तथापि कदाचित् साफल्येऽति सहसा कार्य्यं  
 नैव कुर्वीत, तत् सहसाकरणम् अनर्थकारि अनिष्टजनकम् ।  
 कदाचिदपि, अकार्य्यात् इष्टसाधनं सञ्जातं दृश्यते इति विविच्य  
 अकार्य्यं न कर्त्तव्यमिति भावः ॥ ७५ ॥

यदिति । सत्कार्य्यात् यत् अनिष्टं जायते इति शेषः तत् न  
 अकार्य्यप्रेरकम् अकार्य्यसाधकं हि काकतालीयवत् तत्पतना-  
 दिति भावः ॥ ७६ ॥

भृत्यो भ्रातापि वा पुत्रः पत्नी कुर्यान्न चैव यत् ।  
विधास्यन्ति च मित्राणि तत्कार्यमविशङ्कितम् ॥७७॥  
यो हि मित्रमविज्ञाय याथातथ्येन मन्दधीः ।  
मित्रार्थं योजयत्येनं तस्य सोऽर्थोऽवसीदति ॥७८॥  
न हि मानसिको धर्मः कस्यचिज्ज्ञायतेऽञ्जसा ।  
अतो यतेत तत्प्राप्तौ मित्रलब्धिर्वरा नृणाम् ॥७९॥  
नात्यन्तं विश्वसेत् कश्चिद् विश्वस्तमपि सर्वदा ।  
पुत्रं वा भ्रातरं भार्याममात्यमधिकारिणम् ॥८०॥

भृत्य इति । भृत्यः भ्राता पुत्रः पत्नी वा यत् कार्यं नैव  
कुर्यात् नैव करोति किन्तु मित्राणि तत् कार्यम् अविशङ्कितं  
निःशङ्कं यथा तथा विधास्यन्ति करिष्यन्ति कार्यम् । मित्रोत्-  
कर्षार्थमिदमिति बोध्यम् ॥ ७७ ॥

य इति । यः मन्दधीः मूढमतिः याथातथ्येन मित्रम् अवि-  
ज्ञाय मित्रस्य अभिप्रायमवुद्धेत्यर्थः मित्रार्थं एनम् अर्थं कार्यं  
योजयति घटयति तस्य सः अर्थः अवसीदति नश्यति, अभि-  
प्रायमज्ञात्वा कस्यापि अर्थं न यतितव्यमिति भावः ॥ ७८ ॥

न हीति । कस्यचित् जनस्य मानसिकः धर्मः अञ्जसा  
तत्त्वतः न हि ज्ञायते, केवलं मित्रस्य ज्ञायते इत्याशयेनाह अत  
इति । अतः तस्य मित्रस्य प्राप्तौ प्राप्तिनिमित्तं यतेत, अतः नृणां  
मानवानां मित्रलब्धिः मित्रलाभः वरा श्रेष्ठा अन्यलाभेभ्य इति  
शेषः ॥ ७९ ॥

नेति । विश्वस्तमपि कश्चित् जनं किं बहुना पुत्रं भ्रातरं

धनस्त्रीराज्यलोभो हि सर्वेषामधिको यतः ।  
 प्रामाणिकञ्चानुभूतमाप्तं सर्वत्र विश्वसेत् ॥ ८१ ॥  
 विश्वसित्वात्मवद् गूढस्तत्कार्यं विमृशेत् स्वयम् ।  
 तद्वाक्यं तर्कतोऽनर्थं विपरीतं न चिन्तयेत् ॥ ८२ ॥  
 चतुःषष्टितमांशं तन्नाशितं क्षमयेद्य ।  
 स्वधर्मनीतिबलवांस्तेन मैत्रीं प्रधारयेत् ॥ ८३ ॥  
 दानैर्मानैश्च सत्कारैः सुपूज्यान् पूजयेत् सदा ॥ ८४ ॥

भार्याम् अमात्यम् अधिकारिणं कर्मचारिणमपि सर्वदा अत्यन्तं  
 न विश्वसेत् ॥ ८० ॥

धनेति । यतः यस्मात् सर्वेषां जनानां धनस्त्रीराज्येषु लोभः  
 हि निश्चयेन अधिकः प्रबलः, अतः सर्वत्र प्रामाणिकं विश्वस्त-  
 त्वेन प्रमाणसिद्धम् अनुभूतं सुपरिचितम् आप्तं हितैषिणं जनं  
 विश्वसेत् ॥ ८१ ॥

विश्वसित्वेति । आत्मवत् आत्मानमिव विश्वसित्वा गूढ-  
 सन् स्वयं तत्कार्यं विमृशेत् विविच्य पश्येत्, तद्वाक्यं तस्य  
 विश्वस्तस्य वाक्यञ्च तर्कतः तर्केण अनर्थविपरीतम् अनर्थेन  
 विरुद्धं यथा तथा न चिन्तयेत् ॥ ८२ ॥

चतुःषष्टीति । यदि स्वधर्मनीतिषु बलवान् भवेदिति शेषः  
 तदा तेन विश्वस्तेन नाशितं क्षयीकृतं चतुःषष्टितमांशं कार्यस्य  
 चतुःषष्टिभागैकभागं क्षमयेत् न गणयेदित्यर्थः । तेन मैत्रीञ्च  
 प्रधारयेत् रक्षेत् ॥ ८३ ॥

दानैरिति । दानैः मानैः सत्कारैः सेवाभिश्च सुपूज्यान् सदा  
 पूजयेत् ॥ ८४ ॥

कदापि नोग्रदण्डः स्यात् कटुभाषणतत्परः ।  
 भार्या पुत्रोऽप्युद्विजते कटुवाक्यात् प्रदण्डतः ॥८५॥  
 पशवोऽपि वशं यान्ति दानैश्च मृदुभाषणैः ॥८६॥  
 न विद्यया न शौर्येण धनेनाभिजनेन च ।  
 न बलेन प्रमत्तः स्याच्चातिमानी कदाचन ॥८७॥  
 नाप्तोपदेशं संवेत्तिः विद्यामत्तः स्वहेतुभिः ।  
 अनर्थमप्यभिप्रेतं मन्यते परमार्थवत् ॥ ८८ ॥  
 महाजनैर्धृतः पन्था येन सन्त्यज्यते बलात् ।  
 शौर्यमत्तस्तु सहसा युद्धं कृत्वा जहात्यसून् ।  
 व्यूहादियुद्धकौशल्यं तिरस्कात्य च शस्त्रवान् ॥८९॥

कदापीति । कदापि उग्रदण्डः तीक्ष्णदण्डः कटुभाषण-  
 तत्परश्च न स्यात् । कटुवाक्यात् प्रदण्डतः तीक्ष्णदण्डाच्च भार्या  
 पुत्रोऽपि किमन्ये इति भावः उद्विजते विरज्यते ॥ ८५ ॥

पशव इति । पशवः अपि दानैः शय्यादिप्रदानैः मृदुभाष-  
 णैश्च वशं यान्ति वशीभूता भवन्ति ॥ ८६ ॥

नेति । विद्यया न, शौर्येण न, धनेन न, अभिजनेन अन्व-  
 येन न, बलेन च न प्रमत्तः अतिमानी च कदाचन स्यात् ॥८७॥

नेति । विद्यया मत्तः उद्धतः जनः स्वहेतुभिः निजतर्कैः  
 आप्तस्य विश्वस्तस्य गुरुजनस्य उपदेशं न संवेत्ति नावबुध्यते ।  
 अनर्थमपि अभिप्रेतं स्वाभिमतं परमार्थवत् परमार्थतुल्यं  
 मन्यते ॥ ८८ ॥

महाजनैरिति । येन महाजनैः साधुभिः धृतः सेवितः

श्रीमत्तः पुरुषो वेत्ति न दुष्क्रीर्त्तिमजो यथा ।  
 स्वमूत्रगन्धं मूत्रेण मुखमासिञ्चते स्वकम् ॥ ६० ॥  
 तथाभिजनमत्तस्तु सर्वानेवावमन्यते ।  
 श्रेष्ठानपीतरान् सम्यगकार्यं कुरुते मतिम् ॥ ६१ ॥  
 बलमत्तस्तु सहसा युद्धे विदधते मनः ।  
 बलेन बाधते सर्वान् पश्वादीनपि ह्यन्यथा ॥ ६२ ॥  
 मानमत्तो मन्यते स्म तृणवच्चाखिलं जगत् ।  
 अनर्होऽपि च सर्वेभ्यस्त्वत्यर्घासनमिच्छति ॥ ६३ ॥

पत्न्याः आचारः बलात् बलमाश्रित्य त्यज्यते सः, तथा शीर्ष्यं  
 बलेन मत्तः व्यूहादियुद्धेषु कौशल्यं नैपुण्यं तिरस्कृत्य भ्रमण-  
 यित्वा शस्त्रवान् शस्त्रधारी जनः सहसा युद्धं कृत्वा असू-  
 प्राणान् जहाति त्यजति ॥ ६० ॥

श्रीमत्त इति । श्रीमत्तः ऐश्वर्यमत्तः पुरुषः अजः क्षागः  
 स्वस्य मूत्रगन्धं यथा दुष्क्रीर्त्तिम् अख्यातिं न वेत्ति न जानाति  
 प्रत्युत मूत्रेण अन्यत्र अक्रीर्त्या स्वकं निजं मुखम् आसिञ्चते  
 विलिम्पति अन्यत्र अवनमयति ॥ ६० ॥

तथेति । तथा अभिजनेन कौलीन्येन मत्तः जनः सर्वानपि  
 श्रेष्ठान् गुरून् इतरान् अन्यांश्च अवमन्यते, अकार्यं सम्यक्  
 मतिं कुरुते च ॥ ६१ ॥

बलमत्त इति । बलेन मत्तस्तु जनः सहसा युद्धे मनः विदधते  
 तथा सर्वदा पश्वादीनपि सर्वान् बलेन बाधते पीडयति ॥ ६२ ॥

मानमत्त इति । मानेन अभिमानेन गर्वेणेत्यर्थः मत्तः  
 जनः अखिलं समग्रं जगत् तृणवत् मन्यते स्म, तथा अनर्हो-

मदा एतेऽवलिप्तानां सतामेते दमाः स्मृताः ॥८४॥

विद्यायाश्च फलं ज्ञानं विनयश्च फलं श्रियः ।

यज्ञदाने बलफलं सद्रक्षणमुदाहृतम् ॥ ८५ ॥

नामिताः शत्रवः शौर्य्यफलं च करदौकृताः ।

शमो दमश्चार्जवं चाभिजनस्य फलं त्विदम् ।

मानस्य तु फलं चैतत् सर्वे स्वसदृशा इति ॥८६॥

सुविद्यामन्त्रभैषज्यस्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ।

गृह्णीयात् सुप्रयत्नेन मानमुत्सृज्य साधकः ॥८७॥

उपेक्षेत प्रनष्टं यत् प्राप्तं यत् तदुपाहरेत् ।

ऽपि अयोग्योऽपि सर्वेभ्यः जनेभ्यः अत्यर्घासनम् अतिश्रेष्ठासनम्  
इच्छति ॥ ८३ ॥

मदा इति । अवलिप्तानां गर्वितानाम् एते मानादयः  
मदाः मत्तताजनकाः, सतां साधूनाम् एते मानादयः दमाः  
विनयजनकाः स्मृता उक्ताः ॥ ८४ ॥

विद्याया इति । विद्यायाः फलं ज्ञानं विनयश्च, श्रियः  
सम्पदः फलं यज्ञः दानश्च, बलस्य फलं सतां साधूनां रक्षणम्  
उदाहृतं कथितम् ॥ ८५ ॥

नामिता इति । शौर्य्यस्य फलं शत्रवः नामिताः करदौ-  
कृताश्च । अभिजनस्य च फलमिदं शमः, शान्तिः दमः विनयः,  
आर्जवञ्च मानस्य च एतत् फलं यथा सर्वे स्वस्य सदृशा इति ॥८६॥

सुविद्येति । साधकः कार्यार्थी जनः मानम् उत्सृज्य त्यक्त्वा  
दुष्कुलादपि सुविद्यां मन्त्रं भैषज्यम् औषधं स्त्रीरत्नञ्च सुप्रयत्नेन  
गृह्णीयात् आहरेत् ॥ ८७ ॥

न बालं न स्त्रियं चातिलालयेत् ताडयेन्न च ।  
 विद्याभ्यासे गृह्यकृत्ये तावुभौ योजयेत् क्रमात् ॥ ९८ ॥  
 परद्रव्यं क्षुद्रमपि नादत्तं संहरेदणु ।  
 नोच्चारयेदघं कस्य स्त्रियं नैव च दूषयेत् ॥ ९९ ॥  
 न ब्रूयादनृतं साक्ष्यं कृतं साक्ष्यं न लोपयेत् ।  
 प्राणाल्ययेऽनृतं ब्रूयात् सुमहत्कार्यसाधने ॥ १०० ॥  
 कन्यादात्रे तु ह्यधनं दस्यवे सधनं नरम् ।  
 गुप्तं जिघांसवे नैव विज्ञातमपि दर्शयेत् ॥ १०१ ॥  
 जायापत्योश्च पित्रोश्च भ्रात्रोश्च स्वामिभृत्ययोः ।

उपेक्षेतेति । यत् द्रव्यं प्रनष्टं तत् उपेक्षेत, यत् प्राप्तं तत्  
 उपाहरेत् गृह्णीयात् । किञ्च बालं शिशुं न स्त्रियञ्च न अति-  
 लालयेत् स्पर्शयेत्, न च अतिताडयेत्, विद्याभ्यासे गृह्यकृत्ये  
 च तौ उभौ क्रमात् योजयेत् नियुञ्ज्यात् ॥ ९८ ॥

परद्रव्यमिति । क्षुद्रम् अल्पमपि परद्रव्यम् अदत्तं न संहरेत्  
 न गृह्णीयात्, कस्यापि अणु अल्पमपि अघं पापं न उच्चारयेत्  
 न कीर्तयेत् तथा स्त्रियमपि नैव दूषयेत् ॥ ९९ ॥

नेति । अनृतं मिथ्यासाक्ष्यं न ब्रूयात्, कृतं दत्तञ्च साक्ष्यं न  
 लोपयेत् नान्यथयेत् । प्राणाल्यये तथा सुमहत्कार्यसाधनेऽपि  
 अनृतं ब्रूयादिति अनृतवचनप्रतिप्रसवोऽयम् ॥ १०० ॥

कन्यादात्रे इति । कन्यादात्रे अधनं निर्धनं नरं जामा-  
 त्वेन अभिप्रेतमित्यर्थः, दस्यवे सधनं नरं तथा जिघांसवे हन्-  
 मिच्छवे जनाय गुप्तं जनं विज्ञातमपि न दर्शयेत् ॥ १०१ ॥

जायापत्योरिति । नेति । जायापत्योः दम्पत्योः पित्रोः मात-

भगिन्योर्मित्रयोर्भेदं न कुर्याद् गुरुशिष्ययोः ॥१०२॥

न मध्याद् गमनं भाषाशालिनोः स्थितयोरपि ।

सुहृदं भ्रातरं बन्धुमुपचर्यात् सदात्मवत् ॥१०३॥

गृहागतं क्षुद्रमपि यथाहं पूजयेत् सदा ।

तदीयकुशलप्रश्नैः शक्त्या दानैर्जलादिभिः ॥१०४॥

सपुत्रस्तु गृहे कन्यां सपुत्रां वासयेन्न हि ।

समर्तृकां च भगिनीमनाथे ते तु पालयेत् ॥१०५॥

सर्पोऽग्निर्दुर्जनो राजा जामाता भगिनीसुतः ।

रोगः शत्रुर्नावमान्योऽप्यल्प इत्युपचारतः ॥१०६॥

पित्रोः भ्रात्रोः स्वामिभृत्ययोः भगिन्योः मित्रयोश्च भेदं मनो-  
भङ्गं न कुर्यात् । तथा भाषाशालिनोः परस्परं कथोपकथनं  
कुर्वतोः स्थितयोः द्वयोः मध्यात् गमनञ्च न कुर्यात् । किञ्च  
सुहृदं भ्रातरं बन्धुं स्वजनं सदा आत्मवत् उपचर्यात् व्यवहरेत्  
॥ १०२ ॥ १०३ ॥

गृहागतमिति । गृहागतं क्षुद्रमपि नीचमपि जनं सदा  
यथाहं यथायोग्यं तदीयकुशलप्रश्नैः शक्त्या यथाशक्ति जलादि-  
भिः दानैश्च पूजयेत् ॥ १०४ ॥

सपुत्र इति । सपुत्रः पुत्रवान् जनः गृहे सपुत्रां पुत्रवतीं  
कन्यां समर्तृकां भगिनीञ्च न हि वासयेत् सर्वदा कलहसम्भवा-  
दिति भावः । ते कन्याभगिन्यौ अनाथे अनाश्रये तु पालयेत्  
रचेत् ॥ १०५ ॥

सर्प इति । सर्पः, अग्निः, दुर्जनः, राजा, जामाता भगिनी-

क्रौर्यात्तैक्ष्णप्रादुःस्वभावात् स्वामित्वात्पुत्रिकाभय  
 स्वपूर्वजपिण्डदत्वाद् वृद्धिभीभ्यामुपाचरेत् ॥१०७॥  
 ऋणशेषं रोगशेषं शत्रुशेषं न रक्षयेत् ।  
 याचकाद्यैः प्रार्थितः सन्न तीक्ष्णं चोत्तरं वदेत् ।  
 तत्कार्यं तु समर्थश्चेत् कुर्याद् वा कारयीत च ॥१०८॥  
 दातृणां धार्मिकाणां च शूराणां कीर्तनं सदा ।  
 शृणुयात् तु प्रयत्नेन तच्छिद्रं नैव लक्षयेत् ॥१०९॥  
 काले हितमिताहारविहारी विघसाशनः ।

सुतः रोगः, शत्रुश्च अल्पः क्षुद्रः बालको वा उपचारतः सेवार्थं  
 नावमान्यः ॥ १०६ ॥

क्रौर्यादिति । क्रौर्यात् हेतोः सर्पं, तैक्ष्णप्रात् दाहकत्वात्  
 अग्निं, दुःस्वभावात् दुर्जनं, स्वामित्वात् राजानं, पुत्रिकाभयात्  
 कन्यायाः क्लेशभयात्, जामातरं, स्वस्य पूर्वजभ्यः पित्रादिभ्यः  
 पिण्डदत्वात् भगिनीसुतं वृद्धेः रोगं भियाः शत्रुश्च उपाचरेत्  
 सेवेत ॥ १०७ ॥

ऋणशेषमिति । ऋणशेषं रोगशेषं तथा शत्रुशेषं न रक्षयेत्  
 किञ्च याचकाद्यैः भिक्षुप्रभृतिभिः प्रार्थितः सन् तीक्ष्णं कर्कशम्  
 उत्तरं न वदेत् । समर्थः शक्तश्चेत् तत्कार्यं याचककार्यं कुर्यात्  
 वा कारयीत च कारयीत इति आर्षोऽयं प्रयोगः कारयेद् वा  
 ॥ १०८ ॥

दातृणामिति । सदा दातृणां धार्मिकाणां शूराणाञ्च कीर्तनं  
 प्रयत्नेन शृणुयात् तेषां क्षिद्रं दोषन्तु न लक्षयेत् ॥ १०९ ॥

काले इति । नरः काले यथासमये हितः पथः मितः

अदीनात्मा च सुखप्रः शुचिः स्यात् सर्वदा नरः ११०

कुर्याद् विहारमाहारं निर्हारं विजने सदा ।

व्यवसायी सदा च स्यात् सुखं व्यायाममभ्यसेत् १११

अन्नं न निन्द्यात् सुखस्थः स्त्रीकुर्यात् प्रीतिभोजनम्

आहारं प्रवरं विद्यात् षड्रसं मधुरोत्तरम् ॥११२॥

विहारं चैव स्वस्त्रीभिर्वेश्याभिर्न कदाचन ।

नियुक्तं कुशलैः सार्द्धं व्यायामं नतिभिर्वरम् ॥११३॥

परिमितः आहारः विहारश्च विद्यते अस्थेति तथाभूतः, विघ-  
साशनः देवादिनिवेदितान्नभोजी अदीनात्मा अकातरस्वभावः  
सुखप्रः सुनिद्रः सर्वदा शुचिश्च स्यात् ॥ ११० ॥

कुर्यादिति । सदा सर्वस्मिन् समये विजने निर्जने विहारं  
स्त्रीसम्भोगम् आहारं निर्हारं मलमूत्रादित्यागश्च कुर्यात् ।  
सदा व्यवसायी उद्योगी स्यात् सुखं यथा तथा व्यायामम्  
अभ्यसेच्च ॥ १११ ॥

अन्नमिति । अन्नं न निन्द्यात् न कुत्सयेत् । सुखस्थः सन्  
प्रीतिभोजनं प्रणयभोजनं निमन्त्रणाहारमित्यर्थः स्त्रीकुर्यात्  
गृहीयात् तादृशाहारस्य गुरुत्वादिति भावः । षड्रसं षट्  
तिक्तकटुलवणास्त्वक्पायमधुराः रसाः यस्मिन् तादृशं मधुरोत्तरं  
मधुररसभूयिष्ठम् आहारं प्रवरं श्रेष्ठं विद्यात् ॥ ११२ ॥

विहारमिति । स्वस्त्रीभिः स्वकीयाभिः स्त्रीभिश्च विहारं  
कुर्यादिति अध्याहार्यम् । वेश्याभिः कदाचन न । किञ्च  
कुशलैः निपुणैः जनैः सार्द्धं सह नतिभिः प्रणतिभिः वरं श्रेष्ठं  
व्यायामरूपं नियुक्तं युद्धविशेषश्च कुर्यादिति शेषः ॥ ११३ ॥

हित्वा प्राक्पश्चिमौ यामौ निशि स्वापो वरो मतः ।  
 दीनान्धपङ्गुबधिरा नोपहास्याः कदाचन ॥ ११४ ॥  
 नाकार्ये तु मतिं कुर्याद् द्राक् स्वकार्यं प्रसाधयेत् ।  
 उद्योगेन बलेनैव बुद्ध्या धैर्येण साहसात् ।

पराक्रमेणार्जवेन मानमुत्सृज्य साधकः ॥ ११५ ॥  
 यदि सिध्यति येनार्थः कलहेन वरस्तु सः ।

अन्यथायुर्धनसुहृद्यशःसुखहरः स्मृतः ॥ ११६ ॥  
 नानिष्टं प्रवदेत् कस्मिन् न छिद्रं कस्य लक्षयेत् ।  
 आज्ञाभङ्गस्तु महतां राज्ञः कार्यो न वै क्वचित् ॥ ११७ ॥

हित्वेति । प्राक्पश्चिमौ प्रथमशेषौ यामौ ग्रहरो हित्वा  
 मध्यमग्रहरद्वयं यावदित्यर्थः निशि रात्रौ स्वापः निद्राः वरः  
 श्रेष्ठः मतः कथितः । दीनाः दरिद्राः अन्धाः पङ्गवः पदहय-  
 हीनाः बधिराः श्रोत्रेन्द्रियहीनाश्च कदाचन न उपहास्याः ॥ ११४ ॥

नाकार्यं इति । अकार्यं मतिं न कुर्यात् । किञ्च साधकः  
 कार्यार्थी मानमुत्सृज्य त्यक्त्वा उद्योगेन बलेन बुद्ध्या धैर्येण  
 पराक्रमेण अर्जवेन सारल्येन वा साहसात् साहसम् अव-  
 लम्बेत्यर्थः द्राक् भटिति स्वकार्यं प्रसाधयेत् ॥ ११५ ॥

यदीति । यदि येन कलहेन अर्थः सिध्यति सः कलहः  
 वरः श्रेष्ठः अभिमतः कार्यसिद्धिकरत्वादिति भावः अन्यथा  
 कार्यसिद्धौ कलहः जीवनक्षयकरः धनहरः सुहृद्विच्छेदकरः  
 यशःक्षयकरः सुखहरश्च स्मृतः ॥ ११६ ॥

नानिष्टमिति । कस्मिन् अपि जने अनिष्टं दुर्वचनं न  
 प्रवदेत् तथा कस्य अपि छिद्रं दोषं न लक्षयेत् । महतां

असत्कार्यनियोक्तारं गुरुं वापि प्रबोधयेत् ।

नातिक्रामेदपि लघुं क्वचित् सत्कार्यबोधकम् ॥ ११८

कृत्वा स्वतन्त्रां तरुणीं स्त्रियं गच्छेन्न वै क्वचित् ।

स्त्रियो मूलमनर्थस्य तरुण्यः किं परैः सह ॥ ११९ ॥

न प्रमाद्येन्मदद्रव्यैर्न विमुह्येत् कुसन्ततौ ॥ १२० ॥

साध्वी भार्या पितृपत्नी माता बाला पिता सुषा ।

अभर्तृकानपत्या या साध्वी कन्या स्वसापि च ॥ १२१

जनानां विशेषतः राज्ञः आज्ञाभङ्गः क्वचित् कदाचिदपि न वै  
नैव कार्यः ॥ ११७ ॥

असदिति । असति कुक्षिते कार्यं नियोक्तारं गुरुमपि  
प्रबोधयेत् तथा क्वचित् कदाचिदपि लघुं क्षुद्रं जनमपि सत्-  
कार्यबोधकं सदुपदेशकं न अतिक्रामेत् ॥ ११८ ॥

कृत्वेति । तरुणीं युवतीं स्त्रियं भार्यां स्वतन्त्रां स्वाधीनाम्  
अरक्षितामित्यर्थः कृत्वा क्वचिदपि न वै नैव गच्छेत्, स्त्रियः  
अनर्थस्य मूलं कारणं परैः परपुरुषैः सह वर्त्तमाना इति शेषः  
तरुण्यः किम् ? तादृश्यस्तरुण्यः अनर्थमूलमिति किं वक्तव्य-  
मित्यर्थः ॥ ११९ ॥

नेति । मदद्रव्यैः मादकैर्द्रव्यैरैश्वर्यैरित्यर्थः न प्रमाद्येत् तथा  
कुसन्ततौ कुक्षिते सन्ताने कुपुत्रे इत्यर्थः न विमुह्यात् पुत्र इति  
समतां न कुर्व्यादित्यर्थः ॥ १२० ॥

साध्वीत्यादि । साध्वी सुशीला भार्या, पितृपत्नी विमाता  
माता जननी, बाला अविवाहिता कन्या, पिता, सुषा पुत्र-  
वधूः, अभर्तृका अनपत्या अपुत्रा साध्वी कन्या, स्वसा च

मातुलानी भ्रातृभार्या पितृमातृस्वसा तथा ।

मातामहोऽनपत्यश्च गुरुश्चश्वशुरमातुलाः ॥ १२२ ॥

बालोऽपिता च दौहित्रो भ्राता च भगिनीसुतः ।

एतेऽवश्यं पालनीयाः प्रयत्नेन स्वशक्तितः ॥ १२३ ॥

अविभवेऽपि विभवे पितृमातृकुलं सुहृत् ।

पत्न्याः कुलं दासदासीभृत्यवर्गांश्च पोषयेत् ॥ १२४ ॥

विकलाङ्गान् प्रव्रजितान् दीनानाथांश्च पालयेत् ॥ १२५ ॥

कुटुम्बभरणार्थेषु यत्नवान् न भवेच्च यः ।

तस्य सर्वगुणैः किन्तु जीवन्नेव मृतश्च सः ॥ १२६ ॥

भगिनी, मातुलानी, भ्रातृभार्या, पितुःस्वसा, मातुःस्वसा,

अनपत्यः मातामहः, गुरुः, श्वशुरः, मातुलः, अपिता पितृ-

हीनः बालकः दौहित्रः, भ्राता, भगिनीसुतश्च एते प्रयत्नेन स्व-

शक्तितः निजशक्त्यनुसारेण अवश्यं पालनीयाः रक्षणीयाः ॥

१२१ ॥ १२२ ॥ १२३ ॥

अविभवे इति । अविभवे असम्पदि अपि एते पूर्वोक्ताः

पालनीयाः विभवे सम्पदि तु सुहृत् सङ्गावसम्पन्नं पितृमातृ-

कुलं पत्न्याः कुलं श्वशुरकुलमित्यर्थः तथा दासदासीभृत्य-

वर्गांश्च पोषयेत् ॥ १२४ ॥

विकलाङ्गानिति । विकलाङ्गान् काणखञ्जादीन् प्रव्रजितान्

सन्ध्यासिनः दीनान् दरिद्रान् अनाथांश्च पालयेत् ॥ १२५ ॥

कुटुम्बेति । यः कुटुम्बानां पोष्याणां भरणार्थेषु भरण-

विषयेषु यत्नवान् न भवेत् तस्य सर्वैः गुणैः विद्यादिभिः किम् ?

स तु जीवन्नेव मृतश्च ॥ १२६ ॥

न कुटुम्बं भृतं येन नाशिताः शत्रवोऽपि न ।  
 प्राप्तं संरक्षितं नैव तस्य किं जीवितेन वै ? ॥१२७॥  
 स्त्रीभिर्जितो ऋणी नित्यं सुदरिद्रश्च याचकः ।  
 गुणहीनोऽर्थहीनः सन् मृता एते सजीवकाः ॥१२८॥  
 आयुर्वित्तं गृहच्छिद्रं मन्दमैथुनभेषजम् ।  
 दानमानापमानं च नवैतानि सुगोपयेत् ॥१२९॥  
 देशाटनं राजसभावेशनं शास्त्रचिन्तनम् ।  
 वेश्यादिदर्शनं विद्वन्मैत्रीं कुर्यादतन्द्रितः ॥१३०॥  
 अनेकाश्च तथा धर्माः पदार्थाः पशवो नराः ।

नेति । येन कुटुम्बं न भृतं न पालितं शत्रवः रिपवश्च  
 न नाशिताः, तथा प्राप्तं वस्तु नैव संरक्षितम् अपव्ययादिना  
 क्षयितमित्यर्थः, तस्य जीवितेन किम् ? ॥ १२७ ॥

स्त्रीभिरिति । स्त्रीभिः जितः वशीकृतः स्त्रेण इत्यर्थः,  
 नित्यम् ऋणी सुदरिद्रः याचकः गुणहीनः अर्थहीनश्च एते  
 जनाः सजीवका जीवन्तोऽपि मृताः ॥ १२८ ॥

आयुरिति । आयुर्जीवनकालं, वित्तं धनं, गृहच्छिद्रं, मन्दं,  
 मैथुनम्, औषधं, दानं, मानम्, अपमानञ्च एतानि नव सुगो-  
 पयेत् न प्रकाशयेदित्यर्थः ॥ १२९ ॥

देशाटनमिति । अतन्द्रितः अनलसः सन् देशाटनं देश-  
 पर्यटनं, राजसभासु वेशनं प्रवेशनं, शास्त्रचिन्तनं शास्त्राणां  
 बहूनां चिन्तनं, वेश्यादीनां दर्शनं तथा विद्वद्भिः मैत्रीं प्रणयं  
 कुर्यात् ॥ १३० ॥

देशाटनफलमाह अनेका इति । देशाटनात् अनेके बहवः

देशाटनात् खानुभूताः प्रभवन्ति च पर्वताः ॥१३०॥  
 कीदृशा राजपुरुषा न्यायान्यायं च कीदृशम् ।  
 मिथ्याविवादिनः के च के वै सत्यविवादिनः ॥१३१॥  
 कीदृशी व्यवहारस्य प्रवृत्तिः शास्त्रलोकतः ।  
 सभागमनशीलस्य तद्विज्ञानं प्रजायते ॥ १३२ ॥  
 नाहङ्कारी च धर्मान्धः शास्त्राणां तत्त्वचिन्तनैः ।  
 एकं शास्त्रमधीयानो न विद्यात् कार्यनिर्णयम् १३३  
 स्याद् बहुभागमसन्दर्शी व्यवहारो महानतः ।  
 बुद्धिमानभ्यसेन्नित्यं बहुशास्त्राण्यतन्द्रितः ॥१३४॥  
 धर्माः सम्प्रदायानां बाहुल्यादिति भावः पदार्थाः वस्तूनि,  
 पशवः नराः पर्वताश्च खानुभूताः स्वस्य अनुभवविषयाः सम्यक्  
 विदिता इत्यर्थः प्रभवन्ति ॥ १३१ ॥

सभागमनफलमाह कीदृशाः इत्यादि । सभागमनशीलस्य  
 राजसभाप्रविष्टस्य जनस्य राजपुरुषाः कीदृशा, न्यायान्यायं  
 विचाराविचाररूपं कीदृशं, के जनाः मिथ्याविवादिनः, के च  
 सत्यविवादिनः, शास्त्रतः शास्त्रानुसारेण लोकतः लौकिक  
 चाराच्च व्यवहारस्य ऋणदानादिरूपस्य विवादविषयस्य प्रवृत्ति  
 निष्पत्तिश्च कीदृशी इत्येतत् विज्ञानं प्रजायते ॥ १३२ ॥ १३३ ॥

शास्त्रचिन्तनफलमाह नेति । शास्त्राणां बहूनां तत्त्व  
 चिन्तनैः अहङ्कारी धर्मान्धश्च न भवेत् । एकं शास्त्रमधीयानो  
 जनः कार्यस्य निर्णयं तत्त्वनिश्चयं न विद्यात् ॥ १३४ ॥

स्यादिति । बहून् आगमान् शास्त्राणि संदृष्टवान् इति  
 तथोक्तः जनः महान् व्यवहारः लोकतत्त्वदर्शीत्यर्थः स्यात् अतः

तदर्थं गृहीत्वापि तदधीना न जायते ।

वेश्या तथाविधा वापि वशीकर्तुं नरं क्षमा ।

नेयात् कस्य वशं तद्वत् स्वाधीनं कारयेज्जगत् ॥ १३६ ॥

श्रुतिस्मृतिपुराणानामर्थविज्ञानमेव च ।

सहवासात् पण्डितानां बुद्धिः पण्डा प्रजायते ॥ १३७ ॥

देवपितृतिथिभ्योऽन्नमदत्त्वा नास्मीयात् क्वचित् ।

आत्मार्यं यः पचेन्मोहान्नरकार्यं स जीवति ॥ १३८ ॥

मार्गं गुरुभ्यो बलिने व्याधिताय शवाय च ।

बुद्धिमान् मानवः अतन्द्रितः अनलसः सन् नित्यं बह्वनि  
शास्त्राणि अभ्यसेत् ॥ १३५ ॥

वेश्यादिदर्शनफलमाह तदर्थमिति । वेश्या तस्य अर्थं गृही-  
त्वापि तस्य अधीना न जायते, तथाविधा तादृशी अपि नरं  
वशीकर्तुं क्षमा शक्ता, किन्तु कस्यापि वशं न इयात् न  
गच्छेत् । तद्वत् वेश्यावत् जगत् स्वाधीनं निजायतं कारयेत्  
कुर्यात् स्वार्थं जगन्तोऽयं कृधातुः ॥ १३६ ॥

विद्वन्मैत्रोफन्नमाह श्रुतीति । पण्डितानां विदुषां सहवासात्  
सहवाससंसर्गात् श्रुतिस्मृतिपुराणानाम् अर्थविज्ञानं पण्डा  
उज्ज्वला बुद्धिश्च प्रजायते ॥ १३७ ॥

देवेति । देवेभ्यः पितृभ्यः अतिथिभ्यश्च अन्नम् अदत्त्वा  
क्वचित् न अस्मीयात् । यः मोहात् अज्ञानात् आत्मार्यं स्वार्थं  
पचेत् पाकं कुर्यात् सः नरकार्यं जीवति ॥ १३८ ॥

मार्गमिति । गुरुभ्यः गुरुजनेभ्यः, बलिने बलवते, व्याधि-  
ताय रोगिणे, शवाय मृतदेहोद्धटनायेत्यर्थः राज्ञे श्रेष्ठाय मान्य-

राज्ञे श्रेष्ठाय व्रतिने यानगाय समुत्सृजेत् ॥ १३६ ॥

शकटात् पञ्चहस्तं तु दशहस्तं तु वाजिनः ।

दूरतः शतहस्तं च तिष्ठेन्नागाद् वृषाद् दश ॥ १४० ॥

शृङ्गिणां च नखिनां च दंष्ट्रिणां दुर्जनस्य च ।

नदीनां वसतौ स्त्रीणां विश्वासं नैव कारयेत् ॥ १४१ ॥

खादन् न गच्छेदध्वानं न च हास्येन भाषणम् ।

शोकं न कुर्यान्नष्टस्य स्वकृतेरपि जल्पनम् ॥ १४२ ॥

स्वशङ्कितानां सामीप्यं त्यजेद् वै नीचसेवनम् ।

संलापं नैव शृणुयाद् गुप्तः कस्यापि सर्वदा ॥ १४३ ॥

जनाय व्रतिने शास्त्रीयकार्ये नियुक्ताय, तथा यानगाय वाह-  
नाधिरूढाय जनाय मार्गं पन्थानं समुत्सृजेत् त्यजेत् नावरन्ध्या-  
दिति भावः ॥ १३६ ॥

शकटादिति । शकटात् अश्वादियुक्तवाहनात् पञ्चहस्तं,  
वाजिनः अश्वाद् दशहस्तं, नागात् हस्तिनः शतहस्तं तथा  
वृषात् दशहस्तं दूरतः तिष्ठेद् ॥ १४० ॥

शृङ्गिणामिति । शृङ्गिणां वृषादीनां नखिनां नखायुधानां  
श्वापदानां दंष्ट्रिणां वराहादीनां दुर्जनस्यः नदीनां स्रोतःस्वतीनां  
स्त्रीणाञ्च वसतौ समीपे विश्वासं नैव कारयेत् ॥ १४१ ॥

खादन्निति । खादन् भक्षयन् सन् अध्वानं पन्थानं न  
गच्छेत् किञ्च हास्येन सह भाषणं कथनं न, नष्टस्य गतस्य  
शोकं न, तथा स्वकृतेः निजकार्यस्य जल्पनं व्याख्यानञ्च न  
कुर्यात् ॥ १४२ ॥

स्वशङ्कितानामिति । स्वेन आत्मना शङ्कितानां जनानां

उत्तमैरननुज्ञातं कार्यं नेच्छेच्च तैः सह ।

देवैः साकं सुधापानाद्राहोष्किन्नं शिरो यतः ॥१४४

महतोऽसत्कृतमपि भवेत् तद्भूषणाय वै ।

विषपानं शिवस्यैव त्वन्येषां मृत्युकारकम् ॥१४५॥

तेजस्वी क्षमते सर्वं भोक्तुं वङ्गिरिवानघः ।

न सामुख्ये गुरोः स्थेयं राज्ञः श्रेष्ठस्य कस्यचित् ॥१४६

राजा मित्रमिति ज्ञात्वा न कार्यं मानसेप्सितम् ।

नेच्छेन्मूर्खस्य स्वामित्वं दास्यमिच्छेन्महात्मनाम् ।

सामौष्यं नीचसेवनञ्च त्यजेत् वैशब्दोऽवधारणे । किञ्च गुप्तः सन्  
सर्वदा कस्यापि जनस्य संलपं परस्परकथोपकथनं न संशृणु-  
यात् ॥ १४३ ॥

उत्तमैरिति । उत्तमैः साधुभिः श्रेष्ठैर्वा अननुज्ञातं प्रति-  
षिद्धं कार्यं तैः उत्तमैः सह न इच्छेत् न अभिलषेत् यतः देवैः  
साकं सह सुधापानात् अननुज्ञातादिति भावः राहोरसुर-  
भेदस्य शिरः छिन्नम् ॥ १४४ ॥

महत इति । असत्कृतमपि सज्जनानाचरितमपि तत्  
प्रसिद्धमित्यर्थः कर्म तच्छब्दस्य प्रसिद्धार्थत्वात् न यच्छब्दा-  
पेक्षेति बोध्यम् । महतः जनस्य भूषणाय भवतीति शेषः, यथा  
विषपानं शिवस्य भूषणम् अन्येषान्तु मृत्युकारकम् ॥ १४५ ॥

तेजस्वीति । तेजस्वी जनः अनघः अपापः वङ्गिरिव सर्वं  
भोक्तुं क्षमते शक्नोति । किञ्च गुरोः राज्ञः कस्यचित् श्रेष्ठस्य वा  
सामुख्ये न स्थेयम् ॥ १४६ ॥

राजेति । राजा मित्रं मम बन्धुरिति ज्ञात्वा मानसेप्सितं

विरोधं न ज्ञानलवदुर्विदग्धस्य रञ्जनम् ॥१४७॥  
 अत्यावश्यमनावश्यं क्रमात् कार्य्यं समाचरेत् ।  
 प्राक् पश्चाद्द्राग्विलम्बेन प्राप्तं कार्य्यं तु बुद्धिमान् ॥१४८॥  
 पित्राज्ञप्तेनापि मातृवधरूपे सुपूजिता ।  
 धृता गोतमपुत्रेण ह्यकार्य्ये चिरकारिता ॥१४९॥  
 प्रेम्णा समीपवासेन स्तुत्या नत्या च सेवया ।  
 कौशल्येन कलाभिश्च कथाभिर्ज्ञानतोऽपि च ॥१५०॥

यथेष्टितं मानसमित्यर्थः न कार्य्यम् । किञ्च मूर्खस्य स्वामित्वं  
 प्रभुत्वं दास्यञ्च, महात्मनां विरोधं महात्मभिर्विरोधमित्यर्थः  
 तथा ज्ञानलवेन ज्ञानविन्दुना स्वल्पेन ज्ञानेनेत्यर्थः दुर्विदग्धस्य  
 दुष्टस्य जनस्य रञ्जनं तोषणं न इच्छेत् ॥ १४७ ॥

अत्यावश्यमिति । बुद्धिमान् जनः अत्यावश्यम् अनावश्यं,  
 क्रमात् कार्य्यं तथा प्राप्तं हस्तगतं कार्य्यं प्राक् पश्चात् द्राक्  
 विलम्बेन समाचरेत् तथाच अत्यावश्यं प्राक् प्रथमम् अनावश्यं  
 पश्चात् परतः, क्रमात् कार्य्यं द्राक् भटिति, प्राप्तं विलम्बेनेति  
 यथायथं वेदितव्यम् ॥ १४८ ॥

पित्रेति । पित्राज्ञप्तेन अपि गोतमपुत्रेण शतानन्देन मातुः  
 अहल्यायाः देवराजकृतव्यभिचारजनितदोषात् बधरूपे अकार्य्ये  
 या चिरकारिता धृता विलम्बः कृत इत्यर्थः सा सुपूजिता  
 विलम्बात् तस्यां क्रोधोपशमात् गोतमस्य क्षमा आसीदिति  
 भावः ॥ १४९ ॥

प्रेम्णेत्यादि । सदा प्रेम्णा स्नेहेन, समीपवासेन, स्तुत्या  
 गुणकीर्तनेन, नत्या प्रणामेन, सेवया, कौशल्येन नैपुण्येन,

आदरेणार्जवेनैव शौर्याद् दानेन विद्यया ।

प्रत्युत्थानाभिगमनैरानन्दस्मितभाषणैः ।

उपकारैः स्वाशयेन वशीकुर्याज्जगत् सदा ॥१५१॥

एते वश्यकरोपाया दुर्जने निष्फलाः स्मृताः ।

तत्सन्निधिं त्यजेत् प्राज्ञः शक्तस्तं दण्डतो जयेत् ।

कलभूतैस्तु तद्रूपैरुपायैरेभिरेव वा ॥ १५२ ॥

श्रुतिस्मृतिपुराणानामभ्यासः सर्वदा हितः ।

साङ्गानां सोपवेदानां सकलानां नरस्य हि ॥१५३॥

मृगयाक्षाः स्त्रियः पानं व्यसनानि नृणां सदा ।

कलाभिः गीतवादित्रादिचतुःषष्टिप्रकाराभिः विद्याभिः, क-  
याभिः ज्ञानतः ज्ञानोपदेशेन, आदरेण, आर्जवेन सारल्येन,  
शौर्यात्, दानेन, विद्यया, प्रत्युत्थानेन, अभिगमनेन, आनन्द-  
स्मितसहितभाषणेन, उपकारैः, स्वाशयेन सुष्ठु चिन्तानुवर्तनेन  
च जगत् वशीकुर्यात् ॥ १५० ॥ १५१ ॥

एते इति । एते वश्यकरोपायाः वशीकरणोपायाः प्रेमादयः  
दुर्जने निष्फलाः स्मृताः, दुर्जनस्य एतैरपि अवश्यत्वादिति भावः ।  
प्राज्ञः जनः तस्य दुर्जनस्य सन्निधिं त्यजेत् । किञ्च शक्तः समर्थ-  
श्चेत् दण्डतः दण्डैः कलभूतैः तद्रूपैः प्रेमादिरूपैः एभिरुपायैः  
कौशलैश्च तं दुर्जनं जयेत् ॥ १५२ ॥

श्रुतीति । साङ्गानां व्याकरणादिषडङ्गसहितानां श्रुतिस्मृति-  
पुराणानां सकलानाम् उपवेदानां धनुर्वेदायुर्वेदादीनाञ्च सर्वदा  
अभ्यासः अनुशीलनं नरस्य हितः हिशब्दोऽवधारणार्थः ॥१५३॥

मृगयेति । मृगया अक्षाः द्यूतानि, स्त्रियः स्त्रीसम्भोगाः

चत्वार्येतानि सन्त्यज्य युक्त्या संयोजयेत् क्वचित् १५

कूटेन व्यवहारं तु वृत्तिलोपं न कस्यचित् ।

न कुर्याच्चिन्तयेत् कस्य मनसाप्यहितं क्वचित् ॥ १५५ ॥

तत्कार्यं तु सुखं यस्माद् भवेत् द्वैकालिकं दृढम् ।

मृते स्वर्गं जीवति च विन्द्यात्कीर्त्तिं दृढां शुभाम् १५६

जागर्त्ति च सचिन्तो य आधिव्याधिनिपीडितः ।

जारश्चोरो बलिद्विष्टो विषयी धनलोलुपः ॥ १५७ ॥

कुसहायी कुन्टपतिभिर्ज्ञामात्यसुहृत्प्रजः ।

कुर्याद्यथा समीक्ष्यैतत् सुखं स्वप्याच्चिरं नरः ॥ १५८ ॥

पानञ्च एतानि सदा सन्ततानि नृणां व्यसनानि दोषाः । कदा-  
चित् करणे न व्यसनमिति भावः । एतानि चत्वारि संत्यज्य  
सातत्येन त्यक्त्वा युक्त्या क्वचित् संयोजयेत् व्यवहरेदित्यर्थः मृग-  
यादिकमिति शेषः ॥ १५४ ॥

कूटेनेति । कूटेन कपटेन व्यवहारं कस्यचित् । वृत्तिलोपं  
जीविकाच्छेदं कस्यापि अहितञ्च क्वचिदपि मनसापि न  
कुर्यात् नापि चिन्तयेत् ॥ १५५ ॥

तदिति । यस्मात् कार्यात् द्वैकालिकम् ऐहिकं पारत्रिकहे-  
त्यर्थः दृढं स्थिरं सुखं भवेत् यथा मृते स्वर्गं जीवति च दृढां  
स्थिरां शुभां कीर्त्तिं विन्द्यात् लभेत तत् कार्यं कर्त्तव्यम् ॥ १५६ ॥

जागर्त्तीति । कुसहायीति । यः सचिन्तः चिन्तायुक्तः आधिना  
मानस्या व्यथया व्याधिना रोगेण वा निपीडितः जारः उप-  
पतिः, चोरः बलिद्विष्टः बलिना प्रबलेन शत्रुणा द्विष्टः विद्वेष-  
गतः प्रबलशत्रुरित्यर्थः, विषयी ऐश्वर्यवान्, तथा धनलोलुपः

राज्ञो नानुकृतिं कुर्यान्न च श्रेष्ठस्य कस्यचित् ।  
 नैको गच्छेद् व्यालव्याघ्रचौरेषु च प्रबाधितुम् ॥ १५६  
 जिघांसन्तं जिघांसीयाद् गुरुमप्याततायिनम् ।  
 कलहे न सहायः स्यात् संरक्षेद् बहुनायकम् ॥ १६०  
 गुरूणां पुरतो राज्ञो न चासीत् महासने ।  
 प्रौढपादो न तद्वाक्यं हेतुभिर्विकृतिं नयेत् ॥ १६१ ॥  
 यत् कर्तव्यं न जानाति कृतं जानाति चेतरेः ।

यश्च कुसहायौ कुत्सितसहायवान् भिन्नामात्यसुहृत्प्रजः विरक्ता-  
 मात्यबन्धुप्रजः कुट्टपतिः सः जागर्त्ति नैव निद्रां लभते इत्यर्थः ।  
 अतः समीक्ष्य विचार्य नरः तथा कुर्यात् यथा चिरं सुखं यथा  
 तथा स्वप्यात् निद्रां लभेत ॥ १५७ ॥ १५८ ॥

राज्ञ इति । राज्ञः तथा श्रेष्ठस्य कस्यचित् जनस्य अनुकृतिं  
 तुल्यव्यहारं न कुर्यात् । एकः एकाकी च व्यालेषु हिंसेषु सर्पा-  
 दिषु व्याघ्रेषु चौरेषु च आपतितेषु तान् प्रबाधितुं न गच्छेत् ॥ १५६ ॥

जिघांसन्तमिति । जिघांसन्तं हन्तुमिच्छन्तम् आततायिनं  
 गुरुमपि जिघांसीयात् । कलहे विवादे सति सहायः एकपक्षा-  
 वलम्बी न स्यात् । बहुनायकश्च बहूनां नायकं स्वामिनं भर्तार-  
 मित्यर्थः संरक्षेत् ॥ १६० ॥

गुरूणामिति । गुरूणां पित्रादीनां राज्ञश्च पुरतः अग्रतः  
 महासने उन्नतासने न आसीत् नोपविशेत् । तथा प्रौढपादः  
 उत्क्षिप्तचरणः सन् तेषां वाक्यं हेतुभिः तर्कवादैः न विकृतिं  
 नयेत् न खण्डयेदित्यर्थः ॥ १६१ ॥

यदिति । इतरः नीचः कर्तव्यं यत् तत् न जानाति केवलं

नैव वक्ति च कर्त्तव्यं कृतं यश्चोत्तमो नरः ॥१६२॥

न प्रियाकथितं सम्यङ्मन्येतानुभवं विना ।

अपराधं मातृसुषाम्भातृपत्नीसपत्निजम् ॥ १६३ ॥

अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभता ।

अशौचं निर्दया दर्पः स्त्रीणामष्टौ स्वदुर्गुणाः ॥१६४॥

षोडशाब्दात् परं पुत्रं द्वादशाब्दात् परं स्त्रियम् ।

न ताडयेद् दुष्टवाक्यैः पीडयेन्न सुषादिकम् ॥१६५॥

पुत्राधिकाश्च दौहित्रा भागिनेयाश्च भ्रातरः ।

कन्याधिकाः पालनीया मातृभार्या सुषा स्वसा १६६

कृतं जानाति च । यश्च नरः उत्तमः, सः कर्त्तव्यं कृतञ्च न वक्ति  
न कथयति ॥ १६२ ॥

नेति । प्रियया भार्यया कथितं मातृसुषाम्भातृपत्नीसपत्नीञ्च  
अपराधम् अनुभवं विना निजानुभवमन्तरेण सम्यक् सत्यं न  
मन्येत सपत्निजम् इति आर्षःप्रयोगः ॥ १६३ ॥

अनृतमिति । स्त्रीणाम् अष्टौ स्वदुर्गुणाः निजदोषाः यथा  
अनृतं मिथ्या १, साहसं २, माया कापव्यं ३, मूर्खत्वं निर्बो-  
धता ४, अतिलोभता ५, अशौचम् अपवित्रता ६, निर्दया  
दयाराहित्यं ७, दर्पः ८ ॥ १६४ ॥

षोडशाब्दादिति । षोडशाब्दात् षोडशवत्सरात् परं पुत्रं  
द्वादशाब्दात् परं स्त्रियं न ताडयेत् न शासयेत् । सुषादिकं  
पुत्रबधूप्रभृतिकं दुष्टवाक्यैः न पीडयेच्च ॥ १६५ ॥

पुत्राधिका इति । दौहित्राः भागिनेयाः भ्रातरश्च पुत्रा-

आगमार्थं हि यतते रक्षणार्थं हि सर्वदा ।  
 कुटुम्बपोषणे स्वामी तदन्ये तत्करा इव ॥ १६७ ॥  
 अनृतं साहसं मौर्ख्यं कामाधिक्यं स्त्रियां यतः ।  
 कामाद् विनैकशयने नैव सुप्यात् स्त्रिया सह ॥ १६८ ॥  
 दृष्ट्वा धनं कुलं शीलं रूपं विद्यां बलं वयः ।  
 कन्यां दद्यादुत्तमं चेन्मैत्रीं कुर्यादथात्मनः ॥ १६९ ॥  
 भार्यार्थिनं वयोविद्यारूपिणं निर्धनं त्वपि ।  
 न केवलेन रूपेण वयसा न धनेन च ॥ १७० ॥

धिकाः, भ्रातृभार्या सुषा स्वसा भगिनी च कन्याधिकाः यथा  
 तथा पालनीयाः ॥ १६६ ॥

आगमार्थमिति । स्वामी कुटुम्बपोषणे आगमार्थं धनागम-  
 निमित्तं रक्षणार्थञ्च सर्वदा यतते हि । तदन्ये स्वामिव्यतिरिक्ताः  
 तत्करा इव चौरा इव यतन्ते इति शेषः ॥ १६७ ॥

अनृतमिति । यतः स्त्रियाम् अनृतं, साहसं अविविच्यका-  
 रित्वं, मौर्ख्यं निर्बोधता, तथा कामाधिक्यं विद्यते इति शेषः  
 अतः कामात् विना स्त्रिया सह एकशयने एकशय्यायां नैव  
 सुप्यात् ॥ १६८ ॥

दृष्टेति । धनं कुलं शीलं रूपं विद्यां बलं वयश्च दृष्ट्वा कन्यां  
 दद्यात्, उत्तमं सर्वाङ्गसुन्दरं चेत् भवति तदा आत्मनः मैत्रीं  
 कुर्यात् ॥ १६९ ॥

भार्यार्थिनमिति । भार्यार्थिनं वयोविद्यारूपिणम् अल्प-  
 वयसं विद्यावन्तं रूपवन्तञ्च निर्धनमपि आह्वय कन्यां दद्या-

आदौ कुलं परीक्षेत ततो विद्यां ततो वयः ।

शीलं धनं ततो रूपं देशं पश्चाद् विवाहयेत् ॥ १७१ ॥

कन्या वरयते रूपं माता वित्तं पिता श्रुतम् ।

बान्धवाः कुलमिच्छन्ति मिष्टान्नमितरे जनाः ॥ १७२ ॥

भार्य्यार्थं वरयेत् कन्यामसमानर्षिगोत्रजाम् ।

भाटमतीं सुकुलां च योनिदोषविवर्जिताम् ॥ १७३ ॥

क्षणशः कणशश्चैव विद्यामर्थं च साधयेत् ।

न त्याज्यौ तु क्षणकणौ नित्यं विद्याधनार्थिना ॥ १७४ ॥

सुभार्य्यापुत्रमितार्थं हितं नित्यं धनार्जनम् ।

दिति पदत्रयमूह्यं, केवलेन रूपेण न, केवलेन वयसा न, तथा केवलेन धनेन च न दद्यादिति शेषः ॥ १७० ॥

आदाविति । आदौ प्रथमतः कुलं, ततः विद्यां, ततः वयः, ततः शीलं, ततः धनं, ततः रूपं, ततश्च देशं परीक्षेत, पश्चात् विवाहयेत् कन्यां दद्यादित्यर्थः ॥ १७१ ॥

कन्येति । कन्या रूपं वरयते, प्रार्थयते माता वित्तं धनं, पिता श्रुतं विद्यां, बान्धवाः भ्रात्रादयः कुलम्, इतरे जनाः मिष्टान्नम् इच्छन्ति ॥ १७२ ॥

भार्य्यार्थमिति । भार्य्यार्थम् असमानर्षिगोत्रजाम् असमानार्थ्यीम् असमानगोत्रां भाटमतीं सुकुलां सत्कुलोत्पन्नां योनिदोषविवर्जितां भाटदोषशून्यां कन्यां वरयेत् ॥ १७३ ॥

क्षणश इति । क्षणशः क्षणे क्षणे कणशः अल्पशः विद्याम् अर्थश्च साधयेत् अर्जयेत्, विद्याधनार्थिना जनेन नित्यं सततं क्षणकणौ न त्याज्यौ न हातव्यौ ॥ १७४ ॥

दानार्थं च विना त्वेतैः किं धनैश्च जनैश्च किम् ? ॥ १७५ ॥

भाविस्संरक्षणक्षमं धनं यत्नेन रक्षयेत् ।

जीवामि शतवर्षं तु नन्दामि च धनेन वै ॥ १७६ ॥

इति बुद्ध्या सञ्चिनुयाद्धनं विद्यादिकं सदा ।

पञ्चविंशत्यब्दपूरं तदर्द्धं वा तदर्द्धकम् ॥ १७७ ॥

विद्याधनं श्रेष्ठतरं तन्मूलमितरद्भनम् ।

दानेन वर्द्धते नित्यं न भाराय न नीयते ॥ १७८ ॥

अस्ति यावत् तु सधनस्तावत् सर्वैस्तु सेव्यते ।

निर्धनस्त्यज्यते भार्यापुत्राद्यैः सगुणोऽप्यतः ॥ १७९ ॥

सुभार्येति । सुभार्यार्थं पुत्रार्थं मित्रार्थं दानार्थञ्च नित्यं सततं धनार्जनं हितम् । एतैः सुभार्यादिभिः विना तु धनैश्च जनैः अपरैः मृत्यवर्गेश्च किम् ? न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः ॥ १७५ ॥

भावी । इतीति । भाविनां भविष्यतां विषयाणां संरक्षणक्षमं धनं यत्नेन रक्षयेत् । शतवर्षं जीवामि, धनेन च नन्दामि आनन्दं लभे इति बुद्ध्या पञ्चविंशत्यब्दपूरं पञ्चविंशतिवर्षं तदर्द्धं सार्द्धद्वादशाब्दं वा तदर्द्धकं सपादपङ्कर्वर्षं यावत् विद्यादिकं धनं सदा सञ्चिनुयात् संगृह्णीयात् ॥ १७६ ॥ १७७ ॥

विद्याधनमिति । विद्याधनं विद्यारूपं धनं श्रेष्ठतरं सर्वधनेभ्यः श्रेष्ठम् इतरत् अन्यत् धनं तन्मूलं विद्यामूलं विद्ययैव अन्यत् धनमुपाज्यते इति भावः । एतच्च दानेन नित्यं सततं वर्द्धते, न भाराय भवति, नापि अन्यैः नीयते नाप्यपङ्घियते इत्यर्थः ॥ १७८ ॥

अस्तीति । संसृताविति । यावत् सधनः अस्ति, तावत् सर्वैः

संसृतौ व्यवहाराय सारभूतं धनं स्मृतम् ।

अतो यतेत तत्प्राप्तौ नरो ह्युपायसाहसैः ॥१८०॥

सुविद्यया सुसेवाभिः शौर्य्येण कृषिभिस्तथा ।

कौसीदवृद्ध्या पण्येन कलाभिश्च प्रतिग्रहैः ।

यथा कथा चापि वृत्त्या धनवान् स्यात्तथाचरेत् ॥१८१॥

तिष्ठन्ति सधनद्वारे गुणिनः किङ्करा इव ॥१८२॥

दोषा अपि गुणायन्ते दोषायन्ते गुणा अपि ।

धनवतो निर्धनस्य निन्द्यते निर्धनोऽखिलैः ॥१८३॥

जनैः सेव्यते आद्रियते, निर्धनस्तु सगुणोऽपि गुणवानपि भार्या-  
पुत्राद्यैः त्यज्यते । अतः अस्मात् कारणात् संसृतौ संसारव्यव-  
हाराय धनं सारभूतं स्मृतम् । अतो हि नरः मानवः उपायैः  
साहसैः प्राणसंशयकरैः कार्यैरपि तस्य धनस्य प्राप्त्यै प्राप्ति-  
निमित्तं यतेत चेष्टेत ॥ १७८ ॥ १८० ॥

सुविद्ययेति । तिष्ठन्तीति । सुविद्यया शोभनविद्योपार्जनेन,  
सुसेवाभिः अनीचदासभावैः, शौर्य्येण, कृषिभिः कौसीदवृद्ध्या  
दत्तानाम् ऋणानां लाभेन, पण्येन विक्रेयदव्येण, कलाभिः  
सङ्गीतादिभिः, प्रतिग्रहैः दानग्रहणैः, किं बहुना । यथा  
कथापि वृत्त्या यथा धनवान् भवेत् तथा आचरेत् । यतः गुणिनः  
गुणवन्तः जनाः सधनानां धनिनां द्वारे किङ्करा इव तिष्ठन्ति ॥  
१८१ ॥ १८२ ॥

दोषा इति । धनवतः दोषा अपि गुणायन्ते, निर्धनस्य तु  
गुणा अपि दोषायन्ते । तस्मात् निर्धनः जनः अखिलैः सर्वैः  
निन्द्यते ॥ १८३ ॥

सुनिर्धनत्वं प्राप्यैके मरणं भेजिरे जनाः ।

ग्रामायैकेऽचलायैके नाशायैके प्रवव्रजुः ॥ १८४ ॥

उन्मादमेके पुष्यन्ति यान्त्यन्ये द्विषतां वशम् ।

दास्यमेके च गच्छन्ति परेषामर्थहेतुना ॥ १८५ ॥

यथा न जानन्ति धनं सञ्चितं कति कुत्र वै ।

आत्मस्त्रीपुत्रमित्राणि सलेखं धारयेत् तथा ॥ १८६ ॥

नैवास्ति लिखितादन्यत् स्मारकं व्यवहारिणाम् ।

न लेख्येन विना कुर्याद् व्यवहारं सदा बुधः ॥ १८७ ॥

निलोभे धनिके राक्षि विश्वस्ते क्षमिणां वरे ।

सुनिर्धनत्वमिति । एके केचित् जनाः सुनिर्धनत्वं सुदारिद्र्यं प्राप्य मरणं भेजिरे मृता इत्यर्थः, एके जनाः ग्रामाय देशान्तराय, एके अपरे जनाः अचलाय पर्वताय, एके अन्ये जनाः नाशाय आत्महत्यायै प्रवव्रजुः गता इत्यर्थः ॥ १८४ ॥

उन्मादमिति । अर्थहेतुना धनार्थम् एके उन्मादं पुष्यन्ति चिन्तया उन्मादग्रस्ता भवन्तीत्यर्थः, अन्ये द्विषतां शत्रूणां वशं यान्ति प्राप्नुवन्ति एके अपरे च शत्रूणां दास्यं गच्छन्ति ॥ १८५ ॥

यथेति । यथा आत्मनः स्त्रीपुत्रमित्राणि धनं कति कियत् कुत्र सञ्चितं न जानन्ति वैशब्दोऽवधारणार्थः । तथा सलेखं लेखसहितं धारयेत् ऋणं दद्यात् वर्धनार्थमिति भावः, स्त्रीपुत्रादिज्ञाने तु धनरक्षाया दुष्करत्वमिति बोध्यम् ॥ १८६ ॥

नैवेति । व्यवहारिणां व्यवसायिनां लिखितात् अन्यत् स्मारकं स्मरणचिह्नं नैव अस्ति, तस्मात् लेख्येन विना बुधः पण्डितो जनः सदा कदाचिदपीत्यर्थः न व्यवहारं कुर्यात् ॥ १८७ ॥

सुसञ्चितं धनं धार्यं गृहीतलिखितं तु वा ॥१८८॥

मैत्रार्थे याचितं दद्यादकुसीदं धनं सदा ।

तस्मिन् स्थितं चेन्न बहु हानिकृच्च तथाविधम् ॥१८९॥

दृष्टाधमर्णं वृद्ध्यापि व्यवहारक्षमं सदा ।

सबन्धं सप्रतिभुवं धनं दद्याच्च साक्षिमत् ॥१९०॥

गृहीतलिखितं योग्यमानं प्रत्यागमे सुखम् ।

न दद्याद् वृद्धिलोभेन नष्टं मूलधनं भवेत् ॥ १९१॥

आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्जः सुखी भवेत् ।

निर्लोभे इति । निर्लोभे लोभरहिते धनिके धनवति, विश्वस्ते क्षमिणां वरे श्रेष्ठे राज्ञि च सुसञ्चितं धनं धार्यं रक्षणीयं, वा गृहीतं लिखितं यस्य तथाभूतं कृत्वा यत्र कुत्रापि धार्यमित्यर्थः ॥ १८८ ॥

मैत्रार्थे इति । मैत्रार्थे मित्रतानिमित्तं सदा अकुसीदम् अहृदिकं याचितं मित्रेणेति शेषः दद्यात्, चेत् यदि तस्मिन् मित्रे तथाविधं याचितं बहु धनं स्थितं तदा तत् न हानिकृत् हानिकरं भवतीत्यर्थः ॥ १८९ ॥

दृष्टेति । गृहीतेति । अधमर्णं खातकम् ऋणग्रहीतारमित्यर्थः वृद्ध्या वृद्धिदानेन व्यवहारक्षमं वृद्धिदाने शक्तमित्यर्थः दृष्ट्वा सदा सबन्धं बन्धकसहितं सप्रतिभुवं प्रतिभूसहितं वा साक्षिमत् साक्षियुक्तं गृहीतं लिखितं यस्य तत् योग्यमानं सुयोग्यपरिमितं प्रत्यागमे आदाये च सुखं सुखकरं कृत्वा धनं दद्यात् । वृद्धिलोभेन यथाकथञ्चिदपि न दद्यात् तथा सति मूलधनं नष्टं भवेत् ॥ १९० ॥ १९१ ॥

धनं मैत्रीकारं दाने चादाने शत्रुकारणम् ॥ १८२ ॥  
 कृत्वा स्वान्ते तथौदार्यं कार्पण्यं वहिरेव च ।  
 उचितं तु व्ययं काले नरः कुर्यान्न चान्यथा ॥ १८३ ॥  
 सुभार्यापुत्रमित्राणि शक्त्या संरक्षयेद्धनैः ।  
 नात्मा पुनरतो त्मानं सर्वैः सर्वं पुनर्भवेत् ॥ १८४ ॥  
 पश्यति स्म सजीवश्चेनरो भद्रशतानि च ।  
 सदारप्रौढपुत्रान् द्राक् श्रेयोऽर्थी विभजेत् पिता १८५

आहार इति । आहारे व्यवहारे ऋणदानादिकर्मणि च  
 त्यक्तलज्जः जनः सुखी भवेत् । धनं दाने मैत्रीकरम् आदाने  
 च शत्रुकारकं भवति ॥ १८२ ॥

कृत्वेति । नरः स्वान्ते मनसि औदार्यं तथा वहिः बाह्ये  
 कार्पण्यं कृत्वा काले उपयुक्तकाले उचितं व्ययं कुर्यात् अन्यथा  
 न ॥ १८३ ॥

सुभार्येति । शक्त्या यथाशक्ति धनैः सुभार्यापुत्रमित्राणि  
 संरक्षयेत्, आत्मा पुनर्न भवेत् अतः कारणात् आत्मानं सर्वैः  
 भार्यादिभिरपि संरक्षयेत् यतः सर्वं भार्यादिकं पुनर्भवेत् ।  
 अतः आत्मानं सततं गोपायीतेति श्रुतिः । आत्मानम् इति  
 सन्धिरच्चार्ष इति बोध्यम् ॥ १८४ ॥

पश्यतीति । सजीवः जीवन् नरः चेत् यदि भद्राणां मङ्ग-  
 लानां शतानि पश्यति स्म तदा पिता श्रेयोऽर्थी मङ्गलार्थी सन्  
 आत्मनः इति शेषः द्राक् भटिति सदारप्रौढपुत्रान् स्त्रीसहितान्  
 प्रौढान् गृहकर्मक्षमान् पुत्रान् विभजेत् भाविकलहनिवा-  
 रणार्थमिति भावः ॥ १८५ ॥

सदारभ्रातरः प्रौढा विभजेयुः परस्परम् ।

एकोदरा अपि प्रायो विनाशायान्यथा खलु ॥ १८६ ॥

नैकत्र संवसेच्चापि स्त्रीद्वयं मनुजस्य तु ।

कथं वसेत् तद्बहुत्वं पशूनां तु नरद्वयम् ॥ १८७ ॥

विभजेयुर्न तत् पुत्रा यद्वनं वृद्धिकारणम् ।

अधमर्णस्थितं चापि यद्वेयं चैत्तमर्णिकम् ॥ १८८ ॥

यस्येच्छेदुत्तमां मैत्रीं कुर्यान्नायार्थभिलाषकम् ।

परोक्षे तद्रहश्चारं तत्स्त्रीसम्भाषणं तथा ॥ १८९ ॥

सदारिति । प्रौढाः सदारभ्रातरः स्त्रीसहिताः भ्रातरः एकोदराः सहोदरा अपि परस्परं विभजेयुः विभक्ता भवेयुः, अन्यविभागाकरणे प्रायः बाहुल्येन विनाशाय खलु निश्चितम् ॥ १८६ ॥

नैकत्रेति । मनुजस्य मानवस्य स्त्रीद्वयं पशूनां नरद्वयम् तु शब्दश्चार्थः पुंशुद्वयश्चेत्यर्थः एकत्र न संवसेच्च, तद्बहुत्वं स्त्रीबहुत्वं पुंशुबहुत्वञ्च कथं वसेत् न कथमपीत्यर्थः अतो विभज्य वस्तव्यमिति भावः ॥ १८७ ॥

विभजेयुरिति । तत्पुत्राः तस्य गृहपतेः पुत्राः यत्पुत्रं वृद्धिकारणम् अधमर्णं खातके स्थितं यच्च औत्तमर्णिकम् उत्तमर्णाय इत्यर्थः देयं तत् न विभजेयुः ॥ १८८ ॥

यस्येति । यस्य येनेत्यर्थः सम्बन्धविवक्षायां षष्ठी । उत्तममैत्रीम् इच्छेत् तस्य अर्थाभिलाषकम् अर्थेषु अभिलाषं परोक्षे अज्ञाते तस्य रहसि अभ्यन्तरे चारं गमनं तथा तस्य स्त्रियसह सम्भाषणं रहस्यालापं न कुर्यात् तथात्वे मैत्रीभङ्गप्रसङ्गदिति भावः ॥ १८९ ॥

तत् न्यूनदर्शनं नैव तत् प्रतीपविवादनम् ।  
 असाहाय्यं च तत्कार्यं ह्यनिष्टोपेक्षणं न च ॥२००॥  
 सकुसीदमकुसीदं धनं यच्चैत्तमर्णिकम् ।  
 दद्यादगृहीतमिव नोभयोः क्लेशकृद् यथा ॥२०१॥  
 नासाक्षिमच्चालिखितमृणपत्रस्य पृष्ठतः ॥ २०२ ॥  
 आत्मपितृमातृगुणैः प्रख्यातश्चोत्तमोत्तमः ।  
 गुणैरात्मभवैः ख्यातः पैतृकैर्मातृकैः पृथक् ॥२०३॥  
 उत्तमो मध्यमो नीचोऽधमो भ्रातृगुणैर्नरः ।  
 कन्यास्त्रीभगिनीभाग्यो नरोऽधमतमो मतः ॥२०४॥

तदिति । किञ्च तस्य न्यूनदर्शनं तं प्रति दृष्टेः क्लासता-  
 मित्यर्थः तस्य प्रतीपं प्रतिकूलं यथा तथा विवादनं तस्य कार्यं  
 असाहाय्यं साहाय्यकरणं तथा तस्य अनिष्टपातेऽपि उपेक्षणं न  
 कुर्यादिति पूर्वणान्वयः ॥ २०० ॥

सकुसीदमिति । दद्यादिति । सकुसीदं सहृदिकम् अकु-  
 सीदमहृदिकं वा यत् औत्तमर्णिकं महाजनीयं धनं, तत् यथा  
 उभयोः मित्रयोः क्लेशकृत् क्लेशकरं न भवेदिति शेषः तथा  
 नासाक्षिमत् साक्षियुक्तमपि ऋणपत्रस्य पृष्ठतः अलिखितं कृत्वा  
 अगृहीतमिव दद्यात् ॥ २०१ ॥ २०२ ॥

आत्मेति । उत्तम इति । आत्मनः पितुः मातुश्च गुणैः  
 प्रख्यातः, जनः उत्तमोत्तमः अत्युत्तमः । आत्मभवैः स्वकीयैः  
 पैतृकैः मातृकैश्च गुणैः पृथक् क्रमेण उत्तमः, मध्यमः तथा नीचः  
 प्रख्यातः, आत्मगुणैरुत्तमः, पैतृकैः मध्यमः, मातृकैस्तु नीच-  
 मित्यर्थः । भ्रातृगुणैः नरः अधमः ख्यातः । किञ्च कन्यास्त्री-

भूत्वा महाधनः सम्यक् पोष्यवर्गं तु पोषयेत् ।  
 अदत्त्वा यत् किञ्चिदपि न नयेद् दिवसं बुधः २०॥  
 स्थितो मृत्युमुखे चाहं क्षणमायुर्ममास्ति न ।  
 इति मत्वा दानधर्मौ यथेष्टौ तु समाचरेत् ॥२०६॥  
 न तौ विना मे परत्र सहायाः सन्ति चेतरे ।  
 दानशीलाश्रयास्त्रोको वर्तते न शठाश्रयात् ॥२०७॥  
 भवन्ति मित्रा दानेन द्विषन्तोऽपि च किं पुनः ॥२०८॥  
 देवतार्थं च यज्ञार्थं ब्राह्मणार्थं गवार्थकम् ।

भगिनीभाग्यः कन्यायाः स्त्रियाः भगिन्या वा गलग्रहः नरः  
 अधमतमः मतः ख्यातः ॥ २०३ ॥ २०४ ॥

भूत्वेति । महाधनः धनसम्पन्नः भूत्वा पोष्यवर्गं सम्यक्  
 पोषयेत् । किञ्च बुधः विद्वान् जनः यत् किञ्चिदपि अदत्त्वा  
 कस्मैचिदपीति शेषः दिवसं न नयेत् क्षपयेत् ॥ २०५ ॥

स्थित इति । नेति । अहं मृत्युमुखे स्थितः, मम क्षणम्  
 अल्पसमयमपि आयुः न अस्ति, तथा तौ दानधर्मौ विना मे  
 मम परत्र परलोके इतरे सहायाः न सन्ति, किञ्च लोक-  
 जगत् दानशीलानाम् आश्रयात् वर्तते तिष्ठति, शठानां  
 दुर्जनानाम् आश्रयात् न इति मत्वा यथेष्टौ यथाभिलषितौ  
 दानधर्मौ दानं धर्मञ्च समाचरेत् अनुतिष्ठेत् ॥ २०६ ॥ २०७ ॥

भवन्तीति । द्विषन्तोऽपि शत्रवोऽपि दानेन मित्राः सुहृद-  
 भवन्ति किं पुनः अद्विषन्त इति शेषः, मित्रा इति पुंलिङ्ग-  
 निर्देश आर्षः ॥ २०८ ॥

देवतार्थमिति । देवतार्थं देवसेवार्थं यज्ञार्थं ब्राह्मणार्थं

यदत्तं तत् पारलौक्यं संविदत्तं तदुच्यते ॥ २०६ ॥

वन्दिमागधसङ्गादिनटनार्थं च दीयते ।

पारितोष्यं यशोऽर्थं तु श्रिया दत्तं तदुच्यते ॥ २१० ॥

उपायनीकृतं यत् तु सुहृत्सम्बन्धिवन्धुषु ।

विवाहादिषु चाचारदत्तं क्रीदत्तमेव तत् ॥ २११ ॥

राज्ञे च बलिने दत्तं कार्य्यार्थं कार्य्यघातिने ।

पापभीत्याथवा यच्च तत् तु भीदत्तमुच्यते ॥ २१२ ॥

यदत्तं हिंस्रवृद्धार्थं नष्टं द्यूतविनाशितम् ।

गैवार्थकं गोपालनार्थकञ्च यत् दत्तं तत् पारलौक्यं परलोक-  
सुखसाधनार्थम् । तच्च संविदत्तं संविदा ज्ञानेन अवश्यदेयबुद्ध्या  
इति यावत् दत्तम् उच्यते ॥ २०६ ॥

वन्देति । वन्दिनः स्तुतिपाठकाः मागधाः जातिभेदाः  
भक्ताः वीराः आदयः येषां तेषां नटनार्थं तत्तत्कार्य्यार्थं, यत्  
पारितोष्यं पुरस्काररूपं दीयते तत् यशोऽर्थं यशोवर्द्धकं तच्च  
श्रिया दत्तं सम्पददत्तम् उच्यते ॥ २१० ॥

उपायनीकृतमिति । सुहृत्सु सम्बन्धिषु आत्मीयेषु विवा-  
हादिकार्य्येषु विषयेषु यत् उपायनीकृतम् उपढौकनत्वेन दत्तं  
यत् आचारदत्तं व्यवहारनिबन्धनं तच्च क्रीदत्तं क्रिया लज्जया  
दत्तम् ॥ २११ ॥

राज्ञे इति । राज्ञे बलिने बलवते कार्य्यघातिने च कार्य्यार्थं  
अथवा पापभीत्या अदाने पापभयादित्यर्थः यत् दत्तं तत् तु  
भीदत्तम् उच्यते ॥ २१२ ॥

यदिति । हिंसाणां वृद्धार्थं दत्तं, द्यूतेन अक्षक्रीडया विना-

चौरैर्हृतं पापदत्तं परस्त्रीसङ्गमार्थकम् ॥ २१३ ॥  
 आराधयति यं देवं तमुत्कृष्टतरं वदेत् ।  
 तन्न्यूनतां नैव कुर्याज्जोषयेत् तस्य सेवनम् ॥ २१४ ॥  
 विना दानार्जवाभ्यां न भुव्यस्ति च वशीकरम् ।  
 दानक्षीणो विवर्द्धिष्णुः शशी वक्रोऽप्यतः शुभः ॥ २१५ ॥  
 विचार्य्य स्नेहं द्वेषं वा कुर्यात् कृत्वा न चान्यथा ।  
 नापकुर्यान्नोपकुर्याद्भवतोऽनर्थकारिणी ॥ २१६ ॥  
 नातिक्रौर्य्यं नातिशाठ्यं धारयेन्नातिमार्दवम् ।

शितं, चौरैः हृतं, पापदत्तं पापाय दत्तं, परस्त्रीसङ्गमार्थकञ्च  
 यत् धनं तत् नष्टं भवति ॥ २१३ ॥

आराधयतीति । यं देवम् आराधयति सेवते तं देवम् उत्कृष्ट-  
 तरं सर्वदेवेभ्यः इति शेषः वदेत् कीर्तयेत् । तस्य न्यूनतां लाघवं  
 नैव कुर्यात् तस्य सेवनञ्च जोषयेत् हर्षेण कारयेत् ॥ २१४ ॥

विनेति । दानार्जवाभ्यां दानेन आर्जवेन वा विना भुवि  
 पृथिव्यां वशीकरं वशीकरणोपायभूतम् अन्यत् न अस्ति ।  
 अतः कारणात् दानक्षीणः विवर्द्धिष्णुः वर्द्धनशीलः शशी चन्द्रः  
 वक्रोऽपि असरलोऽपि शुभः वर्द्धनशीलत्वात् भविष्यद्दानप्रत्याश-  
 सम्भवादिति भावः ॥ २१५ ॥

विचार्य्येति । स्नेहं द्वेषं वा विचार्य्य कार्य्यं कुर्यात् कृत्वा च  
 स्नेहद्वेषानुसारेणेति भावः, अन्यथा न कुर्यादिति शेषः । तथाच  
 न अपकुर्यात् स्निग्धं प्रतीति शेषः, नापि उपकुर्यात् द्वेषं  
 प्रतीति शेषः तथात्वे तौ उभौ अनर्थकारिणी अनिष्टकारकौ  
 भवतः ॥ २१६ ॥

नातिवादं नातिकार्यासक्तिमत्याग्रहं न च ॥२१७॥

अति सर्वं नाशहेतुर्ह्यतोऽत्यन्तं विवर्जयेत् ।

उद्वेजते जनः क्रौर्यात् कार्पण्यादतिनिन्दति ॥२१८

मार्दवान्नैव गणयेदपमानोऽतिवादतः ।

अतिदानेन दारिद्र्यं तिरस्कारोऽतिलोभतः ॥२१९

अत्याग्रहान्नरस्यैव मौर्ख्यं सञ्जायते खलु ।

अनाचाराद्धर्महानिरत्याचारस्तु मूर्खता ॥ २२० ॥

ह्यधिकोऽस्मीति सर्वेभ्यो ह्यधिकज्ञानवानहम् ।

नेति । अतिक्रौर्यम् अतिनिष्ठुरतां न, अतिशाठ्यम् अति-  
शठतां न, अतिमार्दवम् अतिमृदुतां न, अतिवादम् अतिविवादं  
वा अतिप्रशंसां न, अतिकार्यासक्तिं कार्येषु अत्यासक्तिं न, तथा  
अत्याग्रहम् अतिनिर्वन्धञ्च न धारयेत् कुर्यात् ॥ २१७ ॥

अतीति । सर्वम् अति अत्यन्तं नाशहेतुः हि अवधारणे,  
अतः कारणात् अत्यन्तं विवर्जयेत् त्यजेत् । जनः क्रौर्यात्  
नैष्ठुर्यात् उद्वेजते विरज्यते, कार्पण्यात् अतिनिन्दति ॥ २१८ ॥

मार्दवादिति । मार्दवात् नैव गणयेत् । अतिवादतः अति-  
वादात् अपमानः, अतिदानेन दारिद्र्यं, तथा अतिलोभतः  
तिरस्कारः भवति ॥ २१९ ॥

अत्याग्रहादिति । नरस्य अत्याग्रहात् आग्रहस्य निर्वन्धस्य  
अतिशयात् मौर्ख्यं मूर्खता निर्वोधत्वमित्यर्थः, तथा अना-  
चारात् असदाचारात् आचाराभावाच्च धर्महानिः सञ्जायते  
खलु । अत्याचारस्तु आचारविरुद्धाचरणन्तु एव तुशब्दोऽव-  
धारणार्थः, मूर्खता ॥ २२० ॥

धर्मतत्त्वमिदमिति नैवं मन्येत बुद्धिमान् ॥२२१॥  
 तिमिङ्गिलगिलोऽप्यस्ति तद्गिलोऽप्यस्ति राघवः ।  
 कश्चित् तद्गिलोऽस्तीति मत्वा मन्येत सर्वदा ॥२२२॥  
 नेच्छेत् स्वाम्यं तु देवेषु गोषु च ब्राह्मणेषु च ।  
 महानर्थकरं ह्येतत् समग्रकुलनाशनम् ॥ २२३ ॥  
 भजनं पूजनं सेवामिच्छेदेतेषु सर्वदा ।  
 न ज्ञायते ब्रह्मतेजः कस्मिन् कीदृक् प्रतिष्ठितम् २२४  
 पराधीनं नैव कुर्यात् तरुणीधनपुस्तकम् ।  
 कृतं चेक्ष्यते देवाद् भष्टं नष्टं विमर्दितम् ॥२२५॥

हीति । बुद्धिमान् जनः अस्मि अहं सर्वेभ्यः अधिकः हि एव  
 अवधारणार्थोऽयं हिशब्दः । अहं हि सर्वेभ्यः अधिकज्ञानवान्  
 इति इदं धर्मस्य तत्त्वम् इत्येवञ्च न मन्येत ॥ २२१ ॥

तिमीति । तिमिङ्गिलगिलः तिमिर्नाम समुद्रचरः महान्  
 जलजन्तुः तं गिलतीति तिमिङ्गिलः तस्यापि गिलः जीवविशे-  
 षोऽपि अस्ति, किञ्च तद्गिलः तस्यापि गिलः राघवः तदाख्यः  
 जन्तुविशेषः अस्ति, अपरञ्च कश्चित् तद्गिलोऽपि तस्य राघवस्य  
 गिलोऽप्यस्ति इति मत्वा विज्ञाय समन्येत भावयेत् ॥ २२२ ॥

नेच्छेदिति । देवेषु गोषु ब्राह्मणेषु च स्वाम्यम् आधिपत्यं न  
 इच्छेत् एतत् स्वाम्यं समग्रकुलनाशनं सर्वकुलक्षयकरम् अत  
 एव महानर्थकरम् अत्यनिष्टसाधकम् ॥ २२३ ॥

भजनमिति । एतेषु देवादिषु सर्वदा भजनं पूजनं सेवाञ्च  
 इच्छेत् । यतः कस्मिन् कीदृक् ब्रह्मतेजः ऐश्वरिकं तेजः  
 प्रतिष्ठितं स्थितं तत् न ज्ञायते ॥ २२४ ॥

वद्वर्थं न त्यजेदल्पहेतुनाल्पं न साधयेत् ।  
 वद्वर्थव्ययतो धीमानभिमानेन वै क्वचित् ॥२२६॥  
 वद्वर्थव्ययभीत्या तु सत्कीर्त्तिं न त्यजेत् सदा ।  
 भटानामसदुक्त्या तु निरर्थेत् कुप्यान्न तैः सह ॥२२७॥  
 लज्जते च सुहृद् येन भिद्यते दुर्मना भवेत् ।  
 वक्तव्यं न तथा किञ्चिद् विनोदेऽपि च धीमता ॥२२८॥  
 यस्मिन् सूक्तं दुरुक्तं च समं स्याद् वा निरर्थकम् ।  
 न तत्र प्रलपेत् प्राज्ञो बधिरेष्विव गायनः ॥२२९॥  
 व्यसने सज्जमानं हि यो मित्रं नाभिपद्यते ।

पराधीनमिति । तरुणीं धनं पुस्तकञ्च पराधीनं नैव कुर्यात्  
 हतञ्चेत् भ्रष्टं नष्टं विमर्दितञ्च भवेत्, दैवात् लभ्यते च ॥२२५॥

वद्वर्थमिति । धीमान् बुद्धिमान् जनः अल्पहेतुना अल्पेन  
 कारणेन वद्वर्थं बहुधनं न त्यजेत्, किञ्च क्वचित् अभिमानेन  
 बह्वनामर्थानां व्ययात् अल्पं विषयं न साधयेत् ॥ २२६ ॥

वद्वर्थेति । बह्वनामर्थानां व्ययात् भीत्या तु सदा सत्कीर्त्तिं  
 न त्यजेत् । किञ्च भटानां योद्धृणाम् असदुक्त्या मन्दवाक्येन न  
 ईर्येत् तैः सह न कुप्याच्च ॥ २२७ ॥

लज्जते इति । येन वाक्येन सुहृद् लज्जते, भिद्यते वा दु-  
 र्मनाः दुःखितचित्तः भवेत्, धीमता बुद्धिमता जनेन विनोदेऽपि  
 आलोदेऽपि परिहासेऽपीत्यर्थः तथा किञ्चित् न वक्तव्यम् ॥२२८॥

यस्मिन्निति । यस्मिन् जने सूक्तं शोभनं वचनं दुरुक्तं दुर्वचनञ्च  
 समं निरर्थकं विफलं स्यात् तत्र प्राज्ञो जनः बधिरेषु गायनो  
 गायक इव न प्रलपेत् न किञ्चित् वदेत् ॥ २२९ ॥

अनुनीय यथाशक्ति तं नृशंसं विदुर्बुधाः ॥ २३० ॥  
 ज्ञातीनां हि मिथो भेदे यन्मित्रं नाभिपद्यते ।  
 सर्वयत्नेन माध्यस्थ्यं न तन्मित्रं विदुर्बुधाः ॥ २३१ ॥  
 आजन्मसेवितं दानैर्मनैश्च परिपोषितम् ।  
 तीक्ष्णवाक्यान्मित्रमपि तत्कालं याति शत्रुताम् ।  
 वक्रोक्तिशल्यमुद्धर्तुं न शक्यं मानसं यतः ॥ २३२ ॥  
 बहेदमित्रं स्कन्धेन यावत् स्यात् स्वबलाधिकः ।  
 ज्ञात्वा नष्टबलं तं तु भिन्द्याद् घटमिवाश्मनि २३३  
 न भूषयत्यलङ्कारो न राज्यं न च पौरुषम् ।

व्यसने इति । यः जनः व्यसने मृगयादिदोषे वा विपदि  
 सख्यमानं मित्रं यथाशक्ति अनुनीय न अभिपद्यते न निवारयति  
 वा अनुवर्तते बुधाः तं नृशंसं निष्ठुरं विदुः जानन्ति ॥ २३० ॥

ज्ञातीनामिति । ज्ञातीनां भ्रात्रादीनां मिथः परस्परं भेदे  
 मनोभङ्गे आपतिते इत्यर्थः यत् मित्रं सर्वयत्नेन सर्वप्रकारेण  
 माध्यस्थ्यम् औदासीन्यं न अभिपद्यते नावलम्बते, बुधाः  
 पण्डिताः तत् मित्रं न विदुः ॥ २३१ ॥

आजन्मेति । आजन्म सेवितं दानैः मानैश्च परिपोषितमपि  
 मित्रं तीक्ष्णवाक्यात् तत्कालं तदानीमेव शत्रुतां याति शत्रु-  
 भावम् अवलम्बते । यतः यस्मात् मानसं चित्तं वक्रोक्तिः कटु-  
 वाक्यमेव शल्यम् उद्धर्तुं न शक्तं न समर्थम् ॥ २३२ ॥

बहेदिति । यावत् स्वस्य बलात् अधिकः स्यात् अमित्र इति  
 शेषः तावत् तम् अमित्रम् स्कन्धेन बहेत् । तन्तु नष्टबलं ज्ञात्वा  
 अश्मनि पाषाणे घटमिव भिन्द्यात् ॥ २३३ ॥

न विद्या न धनं तादृग् यादृक् सौजन्यभूषणम् २३४  
 अश्वे जवो वृषे धीर्य्यं मनौ कान्तिः क्षमा नृपे ।  
 हावभावौ च वेश्यायां गायके मधुरस्वरः ॥ २३५ ॥  
 दाहृत्वं धनिके शौर्य्यं सैनिके बहुदुग्धता ।  
 गोषु दमस्तपस्विषु विद्वत्सु वावदूकता ॥ २३६ ॥  
 सभ्येष्वपक्षपातस्तु तथा साक्षिषु सत्यवाक् ।  
 अनन्यभक्तिर्भृत्येषु सुहितोक्तिश्च मन्त्रिषु ॥ २३७ ॥  
 मौनं मूर्खेषु च स्त्रीषु पातिव्रत्यं सुभूषणम् ।  
 महादुर्भूषणं चैतद् विपरीतममीषु च ॥ २३८ ॥  
 गृहं बहुकुटुम्बेन दीपैर्गोभिः सुवालकैः ।

नेति । सौजन्यमेव भूषणं यादृक्, अलङ्कारस्तादृक् न,  
 राज्यं तादृक् न, पौरुषं पराक्रमस्तादृक् न, विद्या तादृक् न,  
 धनञ्च तादृक् न भूषयति ॥ २३४ ॥

अश्वे इत्यादि । अश्वे जवः वेगः, वृषे धीर्य्यं धुर्वहत्वं, मणौ  
 रत्ने कान्तिः, नृपे क्षमा, वेश्यायां हावभावौ बिभ्रमविलासौ,  
 गायके मधुरस्वरः, धनिके दाहृत्वं, सैनिके शौर्य्यं, गोषु बहु-  
 दुग्धता, तपस्विषु दमः इन्द्रियनिग्रहः, विद्वत्सु वावदूकता  
 वाग्मिता, सभ्येषु अपक्षपातः समदर्शित्वं, साक्षिषु सत्यवाक्,  
 भृत्येषु अनन्यभक्तिः स्वाम्यनुरागः, मन्त्रिषु सुहितोक्तिः सुहित-  
 वचनं, मूर्खेषु मौनम् अवचनं, तथा स्त्रीषु पातिव्रत्यं सुभूषणम् ।  
 अमीषु अश्वादिषु एतद्विपरीतं जवाभावादिकं महादुर्भूषणं  
 साधुत्वापहारकमित्यर्थः ॥ २३५—२३८ ॥

भाल्येकनायकं नित्यं न गृहं बहुनायकम् ॥२३८॥  
 न च हिंस्रमुपेक्षेत शक्नो हन्याच्च तत्क्षणे ॥२४०॥  
 पैशुन्यं चण्डता चौर्यं मात्सर्यमतिलोभता ।  
 असत्यं कार्य्यघातित्वं तथा लसकताप्यलम् ।  
 गुणिनामपि दोषाय गुणानाच्छाद्य जायते ॥२४१॥  
 मातुः प्रियायाः पुत्रस्य धनस्य च विनाशनम् ।  
 बाल्ये मध्ये च वार्द्धक्ये महापापफलं क्रमात् २४२  
 श्रीमतामनपत्यत्वमवनानां च मूर्खता ।  
 स्त्रीणां षण्डपतित्वं च न सौख्यायेष्टनिर्गमः ॥२४३॥

गृहमिति । एकनायकम् एकस्वामिकं गृहं बहुकुटुम्बेन  
 बहुपरिजनेन, दीपैः, गोभिः, सुबालकैश्च नित्यं भाति शोभते,  
 बहवो नायका यस्य तादृशं गृहं नैव शोभते इति शेषः । बहु-  
 नायकत्वे सततविरोधप्रसङ्गादिति भावः ॥ २३८ ॥

न चेति । शक्नोः समर्थः जनः हिंस्रं न च उपेक्षेत, तत्क्षणे  
 हन्याच्च ॥ २४० ॥

पैशुन्यमिति । पैशुन्यं शठता, चण्डता, तौक्ष्णता, चौर्यं  
 मात्सर्यम् अन्यशुभद्वेषः, अतिलोभता, असत्यं कार्य्यघातित्वं  
 तथा अलसकता आलस्यं गुणिनामपि अलम् अत्यर्थं दोषाय  
 भवति, एतच्च पैशुन्यादिकं गुणान् आच्छाद्य जायते ॥ २४१ ॥

मातुरिति । बाल्ये शैशवे मातुः, मध्ये मध्यमे वयसि यौवने  
 इत्यर्थः प्रियायाः स्त्रियाः, वार्द्धक्ये पुत्रस्य धनस्य च विनाशनं  
 क्रमात् महापापफलम् ॥ २४२ ॥

श्रीमतामिति । श्रीमताम् ऐश्वर्य्यशालिनाम् अनपत्यत्वम्,

मूर्खः पुत्रीऽथवा कन्या चण्डी भार्या दरिद्रता ।  
नीचसेवा ऋणं नित्यं नैतत् षट्कं सुखाय च २४४  
नाध्यापने नाध्ययने न देवे न गुरौ द्विजे ।

न कलासु न सङ्गीते सेवायां नार्जवे स्त्रियाम् २४५  
न शौर्ये न च तपसि साहित्ये रमते मनः ।

यस्य मुक्तः खलः किं वा नररूपपशुश्च सः ॥२४६॥  
अन्योदयासहिष्णुश्च क्षिद्रदर्शी विनिन्दकः ।

द्रोहशीलः स्वान्तमलः प्रसन्नास्यः खलः स्मृतः २४७

अधनानां दरिद्राणां मूर्खता, स्त्रीणां षण्डपतित्वं क्लीवपतित्वं,  
तथा इष्टानां प्रियाणां वस्तूनां निर्गमः विच्छेदः न सौख्याय  
सुखाय न भवति केवलं दुःखायैवेत्यर्थः ॥ २४३ ॥

मूर्ख इति । मूर्खः पुत्रः अथवा मूर्खा कन्या, चण्डी कोपना  
भार्या, दरिद्रता, नीचसेवा, तथा नित्यं सततम् ऋणम् एतत्  
षट्कं सुखाय न, केवलं दुःखाय भवतीत्यर्थः ॥ २४४ ॥

नेति । नेति । यस्य मनः अध्यापने न, अध्ययने न, देवे  
न, गुरौ न, द्विजे न, कलासु नृत्यादिषु न, सङ्गीते न, सेवायां  
न, आर्जवे सारथ्यव्यवहारे न, स्त्रियां न, शौर्ये पराक्रमे न,  
तपसि तपश्चर्यायां न, साहित्ये काव्यशास्त्रालोचनायाञ्च न  
रमते सः मुक्तः वा खलः वा नररूपपशुर्वा ॥ २४५ ॥ २४६ ॥

अन्योदयासहिष्णुरिति । यः अन्यस्य उदये उन्नतो असहिष्णुः  
क्षिद्रदर्शी दोषदर्शी, विनिन्दकः द्रोहशीलः अनिष्टकरणशीलः  
प्रसन्नास्यः प्रसन्नमुखः किन्तु स्वान्तमलः मलपूर्णान्तःकरणः, स  
खलः स्मृतः कथितः ॥ २४७ ॥

एकस्यैव न पर्याप्तमस्ति यद् ब्रह्मकोशजम् ।  
 आशया वर्द्धितस्यास्ति तस्याल्पमपि पूर्त्तिकृत् ॥ २४८ ॥  
 करोत्यकार्यं साशोऽन्यं बोधयत्यनुमोदते ॥ २४९ ॥  
 भवन्त्यन्योपदेशार्थे धूर्ताः साधुसमाः सदा ।  
 स्वकार्यार्थं प्रकुर्वन्ति ह्यकार्याणां शतन्तु ते ॥ २५० ॥  
 पित्रोराज्ञां पालयति सेवने च निरालसः ।  
 ह्यायेव वर्त्तते नित्यं यतते चागमाय वै ॥ २५१ ॥  
 कुशलः सर्वविद्यासु स पुत्रः प्रीतिकारकः ।  
 दुःखदो विपरीतो यो दुर्गुणो धननाशकः ॥ ५२ ॥

एकस्येति । ब्रह्मकोशजं ब्रह्माण्डजनितं यत् पर्याप्तं प्रचुरं  
 वस्तु अस्ति तत् आशया वर्द्धितस्य प्रबलवृष्णस्य तस्य एकस्यापि  
 अल्पमपि पूर्त्तिकृत् आशानिवारकं न ॥ २४८ ॥

करोतीति । साशः आशायुक्तः जनः अकार्यं करोति अन्यं  
 बोधयति अकार्यकरणायेति शेषः अनुमोदते च ॥ २४९ ॥

भवन्तीति । धूर्ता जनाः अन्योपदेशार्थं अन्यान् प्रति उप-  
 देशविषये सदा साधुतमाः भवन्ति, तु किन्तु ते धूर्ताः स्वका-  
 र्यार्थम् अकार्याणां शतं प्रकुर्वन्ति स्वयमिति शेषः ॥ २५० ॥

पित्रोरिति । कुशल इति । यः पुत्रः पित्रोः मातापित्रोः  
 आज्ञां पालयति, सेवने परिचर्यायां पित्रोरिति शेषः निरालसः  
 आलस्यरहितः सन् ह्याया, इव नित्यं वर्त्तते पितरौ अनुगच्छती-  
 त्यर्थः, आगमाय धनागमाय वेदार्थज्ञानाय वा यतते चेष्टते  
 तथा सर्वविद्यासु कुशलः निपुणः भवति सः पुत्रः प्रीतिकारकः  
 पित्रोरानन्दवर्द्धनः । यश्च दुःखदः दुर्गुणः दोषवान् धननाशकश्च

पत्न्यौ नित्यं चानुरक्ता कुशला गृहकर्मणि ।

पुत्रप्रसूः सुशीला या प्रिया पत्युः सुयौवना ॥२५३॥

पुत्रापराधान् क्षमते या पुत्रपरिपोषिणी ।

सा माता प्रीतिदा नित्यं कुलटान्यातिदुःखदा २५४

विद्यागमार्थं पुत्रस्य वृत्त्यर्थं यतते च यः ।

पुत्रं सदा साधु शास्ति प्रीतिकृत् स पितानृणी २५५

यः सहायं सदा कुर्यात् प्रतीपं न वदेत् क्वचित् ।

सत्यं हितं वक्ति याति दत्ते गृह्णाति मित्रताम् २५६

नौचस्यातिपरिचयो ह्यन्यगेहे सदा गतिः ।

यः पुत्रः विपरीतः केवलं क्लेशवर्द्धन इत्यर्थः ॥ २५१ ॥ २५२ ॥

पत्याविति । या नारी पत्न्यौ स्वामिनि नित्यं सततम् अनु-

क्ता अनुरागिणी, गृहकर्मणि कुशला निपुणा, पुत्रप्रसूः पुत्र-

जननी, सुशीला तथा सुयौवना सा पत्युः प्रिया ॥ २५३ ॥

पुत्रापराधानिति । या माता पुत्रापराधान् क्षमते सहते

तथा पुत्रपरिपोषिणी पुत्रपोषणे रता भवति सा माता नित्यं

प्रीतिदा आनन्ददायिनी । अन्या एतद्व्यतिरिक्ता कुलटा व्यभि-

चारिणी माता अतिदुःखदा अत्यन्तदुःखदायिनी भवति ॥२५४॥

विद्येति । यः पिता पुत्रस्य विद्यागमार्थं वृत्त्यर्थं जीवनार्थञ्च

यतते, सदा सततं पुत्रं साधु शास्ति उपदिशति च सः पिता

प्रीतिकृत् अनृणी च पुत्रगतादृणात् मुक्तः भवति ॥ २५५ ॥

य इति । यः सदा सहायं कुर्यात्, क्वचिदपि जने प्रतीपं

वक्तव्यं न वदेत् तथा सत्यं हितं वक्ति वदति सः मित्रतां

प्राप्नोति, दत्ते ददाति, गृह्णाति च ॥ २५६ ॥

जातौ सङ्घे प्रातिकूल्यं मानहान्यै दरिद्रता ॥२४॥  
 व्याघ्राग्निसर्पहिंसाणां न हि सङ्घर्षणं हितम् ।  
 सेवितत्वात्तु राज्ञो नैते मित्राः कस्य सन्ति किम् ? २५॥  
 दौर्मनस्यं च सुहृदां सुप्रावल्यं रिपोः सदा ।  
 विद्वत्स्वपि च दारिद्र्यं दारिद्र्ये बह्वपत्यता ॥२६॥  
 धनिगुणिवैद्यनृपजलहीने सदा स्थितिः ।  
 दुःखाय कन्यकाप्येका पितोरपि च याचनम् ॥२७॥

नीचस्येति । नीचस्य इतरजनस्य अतिपरिचयः अतिसंसर्गः ।  
 अन्येषां गेहे सदा गतिः गमनं, जातौ ब्राह्मणक्षत्रियादिश्रेण्य  
 सङ्घे च समूहे च प्रातिकूल्यं प्रतिकूलाचरणं तथा दरिद्रता  
 मानहान्यै मानक्षयाय भवतीति शेषः ॥ २५७ ॥

व्याघ्रेति । राज्ञः सेवितत्वात् मया राजा सेवितः अन्ये मम  
 के इति साहसादिति भावः तथा व्याघ्राणाम् अग्नेः सर्पाणाम्  
 अन्येषां हिंसाणाञ्च संघर्षणम् आक्रमणं न हि नैव हितम् ।  
 एते नृपव्याघ्रादयः किं कस्यापि मित्राः सन्ति ? वशतामाप-  
 द्यन्ते ? न कस्यापीत्यर्थः ॥ २५८ ॥

दौर्मनस्यमिति । धनीति । सुहृदां बन्धूनां दौर्मनस्यं दुःखित-  
 मनस्कत्वं सदा रिपोः शत्रोः प्रावल्यं प्रबलता, विद्वत्स्व-  
 पण्डितेषु अपि दारिद्र्यं निर्धनत्वं, दारिद्र्ये बह्वपत्यता बहु-  
 पुत्रत्वं, धनिभिः गुणिभिः वैद्यैः नृपेण जलेन च हीने दौ-  
 र्द्वेति शेषः सदा स्थितिः अवस्थानं, पितोः मातापित्रोः एक-  
 एकमात्रा कन्या, तथा याचनं भिक्षा दुःखाय भवतीति शेषः  
 २५९ ॥ २६० ॥

सुरूपः संधनः स्वामी विद्वानपि वलाधिकः ।  
 न कामयेद् यथेष्टं यत् स्त्रीणां नैव सुसौख्यकृत् २६१  
 यो यथेष्टं कामयते स्त्री तस्य वशगा भवेत् ।  
 सन्धारणाल्लालनाच्च यथा याति वशं शिशुः ॥ २६२ ॥  
 कार्यं तत्साधकादींश्च तद्व्ययं सुविनिर्गमम् ।  
 विचिन्त्य कुरुते ज्ञानी नान्यथा लघ्वपि क्वचित् २६३  
 न च व्ययाधिकं कार्यं कर्तुमीहेत पण्डितः ।  
 लाभाधिक्यं यत् क्रियते तत् सेव्यं व्यवसायिभिः ।  
 मूल्यं मानञ्च पण्यानां याथात्म्यान्मृग्यते सदा २६४

सुरूप इति । सुरूपः रूपवान् संधनः धनवान् विद्वान् वला-  
 धिकः बलवानपि स्वामी यत् यदि यथेष्टं न कामयेत् न प्रणयं  
 दर्शयेत् तदासौ स्त्रीणां नैव सुसौख्यकृत् सुखकरः न भवती-  
 त्यर्थः ॥ २६१ ॥

य इति । यः स्वामी यथेष्टं कामयते प्रणयं दर्शयति स्त्री तस्य  
 वशगा वशवर्तिनी भवेत् । यथा शिशुः सन्धारणात् सम्यक् क्रोडे  
 धारणादित्यर्थः लालनाच्च वशं याति तद्वदिति भावः ॥ २६२ ॥

कार्यमिति । ज्ञानी जनः कार्यं तत्साधकादीन् तस्य कार्यस्य  
 उपायान् तद्व्ययं तस्मिन् कार्ये यः व्ययः तं सुविनिर्गमं सुनि-  
 श्चितं विनिर्गमं विचिन्त्य विविच्य कुरुते कुर्यात् अन्यथा लघु  
 अपि कार्यं क्वचित् कदाचित् न कुर्यादिति भावः ॥ २६३ ॥

न चेति । पण्डितः जनः व्ययाधिकम् अधिकव्ययम् अल्प-  
 लाभमिति भावः कार्यं कर्तुं न च ईहेत चेष्टेत । यत् कार्यं  
 लाभाधिक्यं क्रियते तत् कार्यं व्यवसायिभिः सेव्यम् अन्यत्

तपःस्त्रीकृषिसेवासूपभोग्ये नापि भक्षणे ।

हितः प्रतिनिधिर्नित्यं कार्य्येऽन्ये तं नियोजयेत् ॥ २६५ ॥

निर्जनत्वं मधुरभुग् जारश्चोरः सदेच्छति ।

साहाय्यन्तु बलिद्विष्टो वेश्या धनिकमित्तताम् ॥ २६६ ॥

कुन्तपश्च क्लृप्तं नित्यं स्वामिद्रव्यं कुसेवकः ।

तत्त्वन्तु ज्ञानवान् दम्भं तपोऽग्निं देवजीवकः ॥ २६७ ॥

योग्या कान्तं च कुलटा जारं वैद्यं च व्याधितः ।

धृतपण्यो महार्घत्वं दानशीलन्तु याचकः ।

रक्षितारं मृगयते भीतश्छिद्रन्तु दुर्जनः ॥ २६८ ॥

अल्पलाभजनकं कार्य्यं न करणीयमिति भावः । सदा च पण्यानां विक्रेयद्रव्याणां मूल्यं मानं परिमाणञ्च याथात्म्यात् सत्यरूपेण मृग्यते अन्विष्यते ॥ २६४ ॥

तप इति । तपः तपश्चरणं स्त्री पत्नी कृषिः कर्षणं सेवा एतासु उपभोग्ये भक्षणे च विषये प्रतिनिधिः न हितः । अन्ये अन्यस्मिन् आर्षोऽयं प्रयोगः । कार्य्यं नित्यं सततं तं प्रतिनिधिं योजयेत् ॥ २६५ ॥

निर्जनत्वमिति । मधुरभुक् मिष्टभोजी जारः परस्त्रीकामुकः चोरश्च सदा निर्जनत्वं बलिद्विष्टः प्रबलशत्रुः साहाय्यं, तथा वेश्या धनिकमित्ततां धनिभिः बन्धुत्वम् इच्छति ॥ २६६ ॥

कुन्तप इति । कुन्तपः कुत्सितो राजा क्लृप्तं, कुसेवकः कुम्भत्यः स्वामिनः द्रव्यं, ज्ञानवान् तत्त्वं, तथा देवजीवकः देवसेवकः दम्भं तपः अग्निञ्च इच्छतीति पूर्वेणान्वयः ॥ २६७ ॥

योग्या इति । योग्या समर्था कुलबधूः कान्तं पतिं, कुलटा

चण्डायते विवदते स्वपित्यश्नाति मादकम् ।  
 करोति निष्फलं कर्म मूर्खो वा स्नेष्टनाशनम् ॥२६८॥  
 तमोगुणाधिकं ज्ञानं ब्राह्मणं सत्त्वगुणाधिकम् ।  
 अन्यद्रजोऽधिकं तेजस्तेषु सत्त्वाधिकं वरम् ॥२७०॥  
 सर्वाधिको ब्राह्मणस्तु जायते हि स्वकर्मणा ।  
 तत्तेजसोऽनुतेजांसि सन्ति च क्षत्रियादिषु ॥२७१॥  
 स्वधर्मस्थं ब्राह्मणं हि दृष्ट्वा विभ्यति चेतरे ।

बभिवारिणी जारम् उपपतिं, व्याधितः रोगी वैद्यं, धृतपण्यः  
 पण्यविक्रयी महार्घत्वं द्रव्यस्य महामूल्यतां, याचकः भिक्षुः  
 दानशीलं जनं, भीतः रक्षितारं, तथा दुर्जनः छिद्रं छलं मृग-  
 यते अन्वेषयति ॥ २६८ ॥

चण्डायते इति । मूर्खः जनः चण्डायते तीक्ष्णवत् आचरति,  
 विवदते कलहं करोति, स्वपिति अधिकं निद्रातीत्यर्थः, मादकं  
 मत्तताजनकं द्रव्यम् अश्नाति भक्षयति, कर्म निष्फलं करोति,  
 स्वस्य आत्मनः स्नेष्टनाशनं वा करोति, वाग्वद्ः समुच्चयार्थः ॥२६८॥

तम इति । ज्ञानं क्षत्रियसत्त्वस्य तेजः तमोगुणाधिकम्  
 अधिकतमोगुणं, ब्राह्मणं तेजः सत्त्वगुणाधिकम् अन्यत् वैश्यादिकं  
 तेजः रजोऽधिकं तेषु मध्ये सत्त्वाधिकं तेजः ब्राह्मणमित्यर्थः वरं  
 येष्टम् ॥ २७० ॥

सर्वाधिक इति । ब्राह्मणस्तु ब्राह्मण एव स्वकर्मणा निजिन  
 कर्मणा अध्यापनादिकर्मण्यष्टकेन सर्वाधिकः सर्वश्रेष्ठः जायते ।  
 क्षत्रियादिषु तस्य ब्राह्मणस्य यत् तेजः तस्य अनु तस्मात् हीना-  
 नीत्यर्थः तेजांसि सन्ति ॥ २७१ ॥

क्षत्रियाद्या नान्यथा स्वधर्मञ्चातः समाचरेत् ॥२७०॥  
 न स्यात् स्वधर्महानिस्तु यया वृत्त्या च सा वरा ।  
 स देशः प्रवरो यत्र कुटुम्बपरिपोषणम् ॥ २७३ ॥  
 कृषिस्तु चोत्तमा वृत्तियां सरिन्मातृका मता ।  
 मध्यमा वैश्यवृत्तिश्च शूद्रवृत्तिस्तु चाधमा ॥२७४॥  
 याज्जाधमतरा वृत्तिर्ह्युत्तमा सा तपस्विषु ।  
 क्वचित् सेवोत्तमा वृत्तिर्धर्मशीलनृपस्य च ॥२७५॥  
 आध्वर्य्यवादिकं कर्म कृत्वा या गृह्यते भृतिः ।  
 सा किं महाधनायैव? वाणिज्यमलमेव किम्? २७६

स्वधर्मस्थमिति । ब्राह्मणं स्वधर्मस्थं दृष्ट्वा इतरे जनाः क्षत्रि-  
 याद्याश्च बिभ्यति भीता भवन्ति अन्यथा न, स्वधर्मभ्रंशे नेत्यर्थः ।  
 अतः कारणात् स्वधर्मं समाचरेत् ब्राह्मण इति शेषः ॥ २७२ ॥

नेति । यया वृत्त्या जीविकया स्वस्य धर्महानिः न स्यात् सा  
 वृत्तिः वरा श्रेष्ठाः, यत्र कुटुम्बानां पोष्यवर्गाणां परिपोषणं  
 सर्वतोभावेन पोषणं भवति सः देशः प्रवरः श्रेष्ठः ॥ २७३ ॥

कृषिरिति । सरिन्मातृका नदीमातृका या कृषिः सा उत्तमा  
 वृत्तिः मता, वैश्यानां वृत्तिः व्यवसायात्मिकेत्यर्थः मध्यमा, शूद्रा-  
 णान्तु वृत्तिः सेवारूपेत्यर्थः अधमा ॥ २७४ ॥

याच्चेति । याच्जा वृत्तिः अधमतारा अत्यधमा, सा तप-  
 स्विषु उत्तमा हि । क्वचित् धर्मशीलनृपस्य सेवारूपा वृत्तिः  
 उत्तमा ॥ २७५ ॥

आध्वर्य्यवादिकमिति । आध्वर्य्यवादिकम् अध्वर्य्यकर्मादि  
 यजुर्वेदादिविहितं कर्म कृत्वा या भृतिः दक्षिणारूपं वेतनं

राजसेवां विना द्रव्यं विपुलं नैव जायते ।  
 राजसेवातिगहना बुद्धिमद्भिर्विना न सा ।  
 कर्तुं शक्या चेतरेण ह्यसिधारेव सा सदा ॥२७७॥  
 व्यालग्राही यथा व्यालं मन्त्री मन्त्रवलात् नृपम् ।  
 करोत्यधीनन्तु नृपे भयं बुद्धिमतां सहत् ॥२७८॥  
 ब्राह्मं तेजो बुद्धिमत्सु क्षात्रं राज्ञि प्रतिष्ठितम् ।  
 आरादेव सदा चास्ति तिष्ठन् दूरेऽपि बुद्धिमान् २७९  
 बुद्धिपाशैर्वन्धयित्वा सन्ताडयति कर्षति ।  
 समीपस्थोऽपि दूरेऽस्ति ह्यप्रत्यक्षसहायवान् ॥२८०॥

गृह्यते, सा भृतिः महाधनाय किं ? नैव महाधनाय भवति  
 तस्या यत्किञ्चिद्रूपत्वादिति भावः, तथा वाणिज्यम् अलं पर्याप्तं  
 महाधनायेति शेषः किम् ? नैवेत्यर्थः ॥ २७६ ॥

राजसेवामिति । राजसेवां विना विपुलं द्रव्यं धनं नैव  
 जायते, किन्तु सा राजसेवा अतिगहना दुःसम्पादनीयेत्यर्थः,  
 बुद्धिमद्भिः सुचतुरैः विना सा न शक्येत्यर्थः इतरेण अज्ञेन च  
 सा राजसेवा असिधारा इव अतिभीषणेत्यर्थः, सदा न कर्तुं  
 शक्या अज्ञैरित्यर्थः ॥ २७७ ॥

व्यालग्राहीति । व्यालग्राही सर्पधारकः व्यालं सर्पं यथा  
 मन्त्री मन्त्रणाकुशलो जनः मन्त्रवलात् नृपम् अधीनं करोति,  
 तु किन्तु बुद्धिमतां जनानां नृपे राज्ञि सदा सहत् भयं कर्तव्य-  
 मिति शेषः ॥ २७८ ॥

ब्राह्ममिति । बुद्धिपाशैरिति । बुद्धिमत्सु जनेषु ब्राह्मं तेजः  
 तथा राज्ञि क्षात्रं तेजः प्रतिष्ठितं स्थितमित्यर्थः । बुद्धिमान् जनः

नानुवाकहता बुद्धिर्व्यवहारक्षमा भवेत् ।

अनुवाकहता या तु न सा सर्वत्रगामिनी ॥२८१॥

आदौ वरं निर्धनत्वं धनिकत्वमनन्तरम् ।

तथादौ पादगमनं यानगत्वमनन्तरम् ।

सुखाय कल्पते नित्यं दुःखाय विपरीतकम् ॥२८२॥

वरं हि त्वनपत्यत्वं मृतापत्यवतः सदा ।

दुष्टयानात् पादगमो ह्यौदासीन्यं विरोधतः ॥२८३॥

वरं देशाच्छादनतश्चर्मणा पादगूहनम् ।

दूरेऽपि तिष्ठन् सदा आरात् समीपे एव अस्ति विद्यते, बुद्धि-  
पाशैः बुद्धिरूपरज्जुभिः बन्धयित्वा सन्ताडयति सम्यक् प्रहरति  
कर्षति च नृपमिति शेषः तथा समीपस्थोऽपि अप्रत्यक्षसहाय-  
वान् अविदितसहायसम्पन्नः सन् दूरे तिष्ठति ॥ २७८ ॥ २८० ॥

नेति । अनुवाकेन वेदविभागविशेषेण तदालोचनयेत्यर्थः  
हता बुद्धिः व्यवहारक्षमा न भवेत् । अतः या तु अनुवाकहता  
सा सर्वत्र गामिनी न भवतीत्यर्थः ॥ २८१ ॥

आदाविति । आदौ प्रथमतः निर्धनत्वं वरं किन्तु अनन्तरं  
शेषावस्थायामित्यर्थः धनिकत्वं तथा आदौ पादगमनं पदभ्यां  
गमनं वरं किन्तु अनन्तरं यानगत्वं यानेन वाहनेन अश्वादिना  
गमनं नित्यं सुखाय कल्पते विपरीतकम् आदौ धनिकत्वं पश्चात्  
निर्धनत्वमित्यर्थः दुःखाय भवतीति शेषः ॥ २८२ ॥

वरमिति । मृतापत्यवतः मृतपुत्रात् सदा अनपत्यत्वम् अपुत्रत्वं  
दुष्टयानात् दुष्टात् यानात् अश्वादेः पादगमः पदव्रजेन गमनं  
तथा विरोधतः विवादात् औदासीन्यं माध्यस्थ्यं वरं श्रेष्ठम् ॥२८३॥

ज्ञानलवदौर्विदग्ध्यादज्ञता प्रवरा मता ॥२८४॥  
 परगृहनिवासाद्वारण्ये निवसनं वरम् ।  
 प्रदुष्टभार्यागार्हस्थ्याज्ञैच्यं वा मरणं वरम् ॥२८५॥  
 श्वमैथुनमृणं गर्भाधानं स्वामित्वमेव च ।  
 खलसख्यमपथ्यन्तु प्राक् सुखं दुःखनिर्गमम् ॥२८६॥  
 कुमन्त्रिभिर्नृपो रोगी कुवैद्यैः कुनृपैः प्रजा ।  
 कुसन्तत्या कुलं चात्मा कुबुद्ध्या हीयतेऽनिशम् ॥२८७॥  
 हस्त्यश्ववृषवालस्त्रीशुकानां शिचको यथा ।  
 तथा भवन्ति ते नित्यं संसर्गगुणधारकाः ॥२८८॥

वरमिति । देशाच्छादनतः समस्तदेशाच्छादनात् चर्मणा  
 चर्मपादुकाभ्यामित्यर्थः पादगूहनं चरणरक्षणं वरं श्रेष्ठम् ।  
 तथा ज्ञानलवेन अल्पज्ञानेन दौर्विदग्ध्यात् चातुर्यात् अज्ञता  
 मूर्खता प्रवरा श्रेष्ठा मता ॥ २८४ ॥

परगृहेति । परगृहे निवासात् अरण्ये निवसनं वासः वरं  
 तथा प्रदुष्टया भार्यया सह गार्हस्थ्यात् गृहित्वात् भैच्यं सव्या-  
 सित्वं वा मरणं वरम् ॥ २८५ ॥

श्वमैथुनमिति । शूनां कुकुराणां मैथुनम् ऋणं गर्भाधानं  
 स्वामित्वं खलेन सह सख्यम् अपथ्यम् अहिताहारश्च प्राक्सुखम्  
 आपातसुखकरं तु किन्तु दुःखनिर्गमं परिणामदुःखकरम् ॥२८६॥

कुमन्त्रिभिरिति । कुमन्त्रिभिः नृपः कुवैद्यैः रोगी कुनृपैः  
 प्रजा कुसन्तत्या कुपुत्रेण कुलं तथा कुबुद्ध्या आत्मा अनिशं  
 निरन्तरं हीयते हीनो भवति ॥ २८७ ॥

हस्तीति । ते नृपादयः हस्तिनाम् अश्वानां वृषाणां वालानां

स्याज्जयोऽवसरोक्त्या सद्दसनैः सुप्रसिद्धता ।  
 सभायां विद्यया मानास्त्रितयं त्वधिकारतः ॥२८८॥  
 सुभार्या सुष्ठु चापत्यं सुविद्या सुधनं सुहृत् ।  
 सुदासदास्यौ सद्देहः सद्देश्म सुनृपः सदा ।  
 गृहिणां हि सुखायालं दशैतानि न चान्यथा ॥२८९॥  
 वृद्धाः सुशीला विश्वस्ताः सदाचाराः स्त्रियो नराः ।  
 क्लीवा वान्तःपुरे योज्या न युवा मित्रमप्युत ॥२९०॥  
 कालं नियम्य कार्याणि ह्याचरेन्नान्यथा क्वचित् ।

शिशूनां स्त्रीणां शुकानां पक्षिविशेषाणाञ्च शिचको यथा तथा  
 नित्यं सततं संसर्गगुणधारकाः संसर्गेण कुमन्त्रादीनामित्यर्थः  
 गुणधारकाः तत्तद्गुणवन्तः भवन्ति ॥ २८८ ॥

स्यादिति । अवसरे समये उक्त्या कथनेन जयः कार्यसिद्धि-  
 रित्यर्थः स्यात् सद्दसनैः शोभनपरिच्छदैः सुप्रसिद्धता अपाततः  
 शोभा स्यात् तथा विद्यया सभायां मानः स्यात् तु किन्तु अधि-  
 कारतः स्वामित्वे सति एतत् त्रितयं भवतीति शेषः ॥ २८८ ॥

सुभार्येति । सुभार्या, सुष्ठु शोभनम् अपत्यं सुविद्या, सुधनं  
 सुहृत्, सुदासः सुदासी सद्देहः रोगादिना अनभिभूतं शरीर-  
 मित्यर्थः सद्देश्म सुन्दरं गृहं तथा सुनृपः एतानि दश गृहिणां  
 सदा सुखाय अलं पर्याप्तानि हि सुखकराणीत्यर्थः अन्यथा  
 उक्तवैपरीत्ये न सुखायेत्यर्थः ॥ २८९ ॥

वृद्धा इति । वृद्धाः सुशीलाः सुचरित्राः विश्वस्ता सदाचाराः  
 स्त्रियः नराश्च वा क्लीवाः अन्तःपुरे योज्याः नियोक्तव्याः युवा  
 मित्रमपि उत न योज्य इति भावः ॥ २९० ॥

गवादिष्वात्मवज्ज्ञानमात्मानं चार्थधर्मयोः ।

नियुञ्जीतान्नसंसिद्धौ मातरं शिच्छणे गुरुम् ॥२८२॥

गच्छेदनियमेनैव सदैवान्तःपुरं नरः ॥ २८३ ॥

भार्यानिपत्या सद्यानं भारवाही सुरक्षकः ।

परदुःखहरा विद्या सेवकश्च निरालसः ।

षडेतानि सुखायालं प्रवासे तु नृणां सदा ॥२८४॥

मार्गं निरुध्य न स्थेयं समर्थेनापि कर्हिचित् ।

सद्यानेनापि गच्छेन्न हृष्टमार्गे नृपोऽपि च ॥२८५॥

कालमिति । कालं नियम्य निर्धार्य कार्याणि आचरेत्,  
अन्यथा कालानियमेनेत्यर्थः क्वचित् न । किञ्च गवादिषु पशुषु  
आत्मवत् ज्ञानम् आचरेत् आत्मवत् गवादिकं पालयेदित्यर्थः ।  
किञ्च नरः अर्थधर्मयोः आत्मानम् अन्नसंसिद्धौ भोजनसम्पा-  
दनाय मातरं शिच्छणे च गुरुं नियुञ्जीत तथा अनियमेनैव  
समयासमयविचारेणेत्यर्थः सदैव अन्तःपुरं गच्छेत् तत्र सम्भाव्य-  
मानदुराचारनिवारणायेति भावः ॥ २८२ ॥ २८३ ॥

भार्येति । प्रवासे तु नृणां मानवानाम् अनपत्या भार्या सत्  
उत्तमं यानं वाहनं भारवाही सुरक्षकः परेषां दुःखहारिणी विद्या  
तथात्वे परो वश्यः भवतीति भावः निरालसः आलस्यहीनः सेव-  
कश्च एतानि षट् सदा सुखाय अलं पर्याप्तानि भवन्तीत्यर्थः ॥२८४॥

मार्गमिति । समर्थेन शक्तेनापि कर्हिचित् कदाचित् मार्गं  
पत्यानं निरुध्य अवरुध्य न स्थेयं न स्थातव्यम् । नृपोऽपि सता  
उत्कृष्टेन अदुष्टेन यानेन वाहनेनापि हृष्टमार्गे क्रयविक्रय-  
सङ्गुलमार्गे न गच्छेत् ॥ २८५ ॥

ससहायः सदा च स्यादध्वगो नान्यथा क्वचित् ।  
 समीपसन्मार्गजलाभयग्रामेऽध्वगो वसेत् ॥ २८६ ॥  
 अतादृशे च विरमेन्न मार्गे विपिनेऽपि न ॥ २८७ ॥  
 अत्यटनं चानशनमतिमैथुनमेव च ।  
 अत्यायांसश्च सर्वेषां द्राग्जराकरणं महत् ॥ २८८ ॥  
 अत्यायासो हि विद्यासु जराकारौ कलासु च २८९  
 दुर्गुणं तु गुणीकृत्य कीर्तयेत् स प्रियो भवेत् ।  
 गुणाधिक्यं कीर्तयति यः किं स्थान्न पुनः सखा ? ३००

ससहाय इति । अध्वगः पथिकः सदा ससहायः सहाय-  
 वान् स्यात् क्वचित् कुत्रापि अन्यथा असहाय इत्यर्थः । न भवे-  
 दिति शेषः । किञ्च अध्वगः समीपे सन् मार्गः जलञ्च यस्य  
 तादृशे अभये भयरहितग्रामे वसेत् अतादृशे च मार्गे न विर-  
 मेत् । तादृशे एव पथि विरमेत् इत्यर्थः । विपिने वनेऽपि न  
 विरमेत् न विश्रामं गच्छेदित्यर्थः । एकत्र निर्भयत्वात् अन्यत्र  
 सभयत्वादिति भावः ॥ २८६ ॥ २८७ ॥

अत्यटनमिति । अत्यटनम् अतिभ्रमणम् अनशनम् अना-  
 हारः अतिमैथुनम् अत्यायासः अतिशयपरिश्रमश्च सर्वेषां जनानां  
 द्राक् भटिति महत् जराकरणं वार्द्धक्यजननम् ॥ २८८ ॥

सर्वविद्यास्त्रिति । सर्वासु विद्यासु कलासु च शिल्पिविद्यासु  
 अत्यायासः अतिपरिश्रमः हि जराकारौ जराजननः भवतीति  
 शेषः ॥ २८९ ॥

दुर्गुणमिति । यः दुर्गुणं दोषं गुणीकृत्य गुणत्वेनारोप्य कीर्त-  
 येत् सः लोकस्य प्रियः भवेत् । यः पुनः गुणाधिक्यं गुणाति-

दुर्गुणं वक्ति सत्येन प्रियोऽपि सोऽप्रियो भवेत् ।  
 गुणं हि दुर्गुणीकृत्य वक्ति यः स्यात् कथं प्रियः ? ३०१  
 स्तुत्या वशं यान्ति देवा ह्यञ्जसा किं पुनर्नराः ? ।  
 प्रत्यक्षं दुर्गुणान् नैव वक्तुं शक्नोति कोऽप्यतः ॥ ३०२ ॥  
 स्वदुर्गुणान् स्वयं चातो विमृशेल्लोकशास्त्रतः ॥ ३०३ ॥  
 स्वदुर्गुणश्रवणतो यस्तुष्यति न क्रुध्यति ।  
 स्वदोषस्य प्रविज्ञाने यतते त्यजति श्रुते ।  
 स्वगुणश्रवणान्नित्यं समस्तिष्ठति नाधिकः ॥ ३०४ ॥

शयं कौर्त्तयति सः किं सखा न स्यात् ? अपितु सखा एव स्या-  
 दित्यर्थः ॥ ३०० ॥

दुर्गुणमिति । यः सत्येन दुर्गुणं दोषं वक्ति वदति सः प्रियो-  
 ऽपि अप्रियो भवेत् । यस्तु गुणं दुर्गुणीकृत्य दोषत्वेनारोप्य वक्ति  
 सः कथं प्रियः स्यात् ? न कथमपीत्यर्थः ॥ ३०१ ॥

स्तुत्या इति । देवाः अपि स्तुत्या गुणकौर्त्तनेन अञ्जसा  
 भटिति वशं यान्ति नराः मानवाः पुनः किम् ? अतः कोऽपि  
 प्रत्यक्षं समक्षं दुर्गुणान् दोषान् वक्तुं नैव शक्नोति ॥ ३०२ ॥

स्वदुर्गुणानिति । अतः स्वयं लोकतः शास्त्रतश्च स्वदुर्गुणान्  
 निजदोषान् विमृशेत् विवेचयेत् ॥ ३०३ ॥

स्वदुर्गुणेत्यादि । यः स्वस्य दुर्गुणानां दोषाणां श्रवणतः  
 श्रवणात् तुष्यति, न क्रुध्यति स्वस्य दोषस्य प्रविज्ञाने प्रकर्षेण  
 विज्ञाने विशेषज्ञानार्थमित्यर्थः यतते, श्रुते स्वदोष इति  
 शेषः त्यजति तं दोषमिति शेषः । किञ्च स्वस्य गुणश्रवणात्  
 समः अविकृतः इत्यर्थः तिष्ठति न अधिकः न स्फुर्त्तिमान्

दुर्गुणानां खनिरहं गुणाधानं कथं मयि ? ।

मध्येव चाञ्जताप्यस्ति मन्यते सोऽधिकोऽखिलात् ३०५

स साधुस्तस्य देवा हि कलालेशं लभन्ति न ॥ ३०६ ॥

सदाल्पमप्युपकृतं महत् साधुषु जायते ।

मन्यते सर्षपादल्पं महच्चोपकृतं खलः ॥ ३०७ ॥

क्षमिणं बलिनं साधुर्मन्यते दुर्जनोऽन्यथा ।

दुरुक्तमप्यतः साधोः क्षमयेद् दुर्जनस्य न ॥ ३०८ ॥

तथा न क्रीडयेत् कैश्चित् कलहाय भवेद् यथा ।

विनोदेऽपि वदेन्नैवं ते भार्य्या कुलटास्ति किम् ? ३०९

भवतीत्यर्थः तथा अहं दुर्गुणानां दोषाणां खनिः आकरः, मयि कथं गुणानाम् आधानम् अवस्थानं सम्भवतीति शेषः मयि एव अञ्जता मूर्खता अस्ति इति मन्यते सः अखिलात् जगतः अधिकः महान् । स एव साधुः देवाः अपि तस्य कलालेशम् अंशविन्दुं न लभन्ति न प्राप्नुवन्ति ॥ ३०४—३०६ ॥

सदेति । साधुषु जनेषु सदा अल्पमपि उपकृतं महत् जायते । खलः दुर्जनः महच्च अधिकमपि उपकृतं सर्षपादपि अल्पं मन्यते ॥ ३०७ ॥

क्षमिणमिति । साधुर्जनः क्षमिणं क्षमावन्तं जनं बलिनं बलवन्तं दुर्जनस्तु अन्यथा क्षमिणं दुर्बलमित्यर्थः मन्यते । अतः साधोः सत्पुरुषस्य दुरुक्तमपि दुर्वाक्यमपि क्षमयेत् दुर्जनस्य असाधोः न क्षमयेत् ॥ ३०८ ॥

तथेति । कैश्चित् जनैः तथा न क्रीडयेत् न क्रीडां कुर्यात् यथा तत् क्रीडनं कलहाय विवादाय भवेत् । विनोदेऽपि आ-

अपशब्दाश्च नो वाच्या मित्त्वभावाच्च केष्वपि ।

गोप्यं न गोपयेन्मित्वे तद् गोप्यं न प्रकाशयेत् ॥३१०

वैरीभूतोऽपि पश्चात् प्राक्कथितं वापि सर्वदा ।

विज्ञातमपि यद् दौष्ट्यं दर्शयेत्तन्न कर्हिचित् ॥३११

प्रतिकर्तुं यतेतैव गुप्तः कुर्यात् प्रतिक्रियाम् ॥३१२

यथार्थमपि न ब्रूयाद् बलवद् विपरीतकम् ।

दृष्टं त्वदृष्टवत् कुर्याच्छ्रुतमप्यश्रुतं क्वचित् ॥३१३॥

मोदेऽपि कौतुकार्यमपौत्वर्थः ते तव भार्या कुलटा व्यभि-  
चारिणी अस्ति किम् ? एवंप्रकारेण न वदेत् न दुर्वाक्यं ब्रूया-  
दित्यर्थः ॥ ३०६ ॥

अपशब्दा इति । केषु अपि जनेषु मित्त्वभावाच्च वन्धुभावा-  
दपि अपशब्दाः कटुवचनानि नो वाच्याः न वक्तव्याः । किञ्च  
मित्वे सुहृदि गोप्यं गोपनीयं रहस्यमित्यर्थः न गोपयेत् तथा  
तस्य मित्वस्य गोप्यं गोपनीयविषयं किमपि न प्रकाशयेत् ॥३१०

वैरीभूत इति । पश्चात् वैरीभूतः शत्रुतामापन्नोऽपि सुहृदि-  
त्यर्थः प्राक् प्रणयकाले कथितं मित्वेणेति शेषः वा दौष्ट्यं दोष-  
मित्यर्थः यत् विज्ञातं विदितं मित्वस्येति भावः तत् कर्हिचित्  
कदाचित् अमित्वत्वेऽत्यर्थः न दर्शयेत् न प्रकाशयेत् ॥ ३११ ॥

प्रतिकर्तुमिति । गुप्तः स्वयं सुरक्षितः सन् प्रतिकर्तुं शक्नो-  
रिति शेषः यतेत, प्रतिक्रियां प्रतिकारं कुर्याच्च ॥ ३१२ ॥

यथार्थमिति । यथार्थमपि सत्यमपि बलवतां प्रबलानां  
विपरीतकं कुत्साजनकं किमपि न ब्रूयात् न वदेत् । क्वचित्  
कुत्रचित् दृष्टमपि अदृष्टवत्, श्रुतमपि अश्रुतम् अश्रुतवदित्यर्थः  
कुर्यात् ॥ ३१३ ॥

मूकोऽन्धो बधिरः खञ्जः स्वापत्काले भवेन्नरः ।  
 अन्यथा दुःखमाप्नोति हीयते व्यवहारतः ॥ ३१४ ॥  
 वदेद् वृद्धानुकूलं यन्न बालसदृशं क्वचित् ।  
 परवेश्मगतस्तत् स्त्रीवीक्षणं न च कारयेत् ॥ ३१५ ॥  
 अधनादननुज्ञातान्न गृह्णीयात् तु स्वामिताम् ।  
 स्वशिशुं शिचयेदन्यशिशुं नाप्यपराधिनम् ॥ ३१६ ॥  
 अधर्मनिरतो यस्तु नीतिहीनश्चलान्तरः ।

मूक इति । नरः स्वस्य आपत्काले कदाचिदिति शेषः मूकः  
 वर्णानुच्चारकः, अन्धः दर्शनेन्द्रियहीनः, बधिरः श्रोत्रेन्द्रिय-  
 रहितः तथा खञ्जः चरणविकलः भवेत् । अन्यथा प्रबलानां  
 कुत्साकथने दुःखम् आप्नोति, व्यवहारतः लोकाचाराच्च हीयते  
 भ्रष्टो भवति ॥ ३१४ ॥

वदेदिति । वृद्धानुकूलं वृद्धानां विज्ञानानाम् अनुकूलम् अवि-  
 रोधि इत्यर्थः यत्, तत् वचनं वदेत् क्वचित् बालसदृशं बालक-  
 वदित्यर्थः न वदेत् । किञ्च परस्य अन्यस्य वेश्मगतः गृहगतः  
 जनः तस्य स्त्रीवीक्षणं नारीदर्शनं न कारयेत् न कुर्यात् स्वायं  
 जग्रन्तोऽयं क्लृप्तातुः ॥ ३१५ ॥

अधनादिति । अधनात् निर्धनात् जनात् अननुज्ञातां तेन  
 अननुमतां स्वामितां तस्य कस्मिन्नपि कर्मणि प्रभुतां न गृह्णी-  
 यात् तस्य तन्मात्रजीविकत्वादिति भावः । किञ्च स्वशिशुं निज-  
 बालकं शिचयेत् उपदिशेत् अन्यशिशुं न, अपराधिनं दोषिणञ्च  
 न शिचयेदित्यर्थः ॥ ३१६ ॥

अधर्मनिरत इति । यस्तु अधर्मनिरतः अधर्मासक्तः, नीति-

सङ्कर्षकोऽतिदण्डी तद्ग्रामं त्यक्त्यान्यतो वसेत् ३१७

यथार्थमपि विज्ञातमुभयोर्वादिनोर्मतम् ।

अनियुक्तो न वै ब्रूयाद्दीनः शत्रुर्मवेदतः ॥ ३१८ ॥

गृहीत्वान्यविवादं तु विवदेन्नैव केनचित् ।

मिलित्वा सङ्क्षुण्णो राजमन्त्रं नैव तु तर्कयेत् ॥ ३१९ ॥

अज्ञातशास्त्रो न ब्रूयात् ज्योतिषं धर्मनिर्णयम् ।

नीतिं दण्डं चिकित्साञ्च प्रायश्चित्तं क्रियाफलम् ३२०

पारतन्त्र्यात् परं दुःखं न स्वातन्त्र्यात् परं सुखम् ।

हीनः दुर्नीतिसम्पन्नः चलं चञ्चलम् अन्तरं मनो यस्य सः अव्य-  
वस्थितचित्त इत्यर्थः, संकर्षकः अर्थशोषकः तथा अतिदण्डी  
तीक्ष्णदण्डः भवन्ति, तस्य ग्रामं त्यक्त्वा अन्यतः अन्यत्र कस्मिन्नपि  
ग्रामे वसेत् ॥ ३१७ ॥

यथार्थमिति । यतः हीनः पराजितः जनः शत्रुः भवेत् अतः  
उभयोः वादिनोः अर्थिप्रत्यर्थिनोरित्यर्थः मतं यथार्थं विज्ञात-  
मपि अनियुक्तः राज्ञा विचारकेण वा अपृष्टः सन् न वै ब्रूयात्  
नैव कथयेत् ॥ ३१८ ॥

गृहीत्वेति । अन्यविवादं गृहीत्वा आश्रित्य केनचित् सह  
नैव विवदेत् । किञ्च सङ्क्षुण्णः दलबन्धने मिलित्वा राजमन्त्रं  
राजकीयमन्त्रणाविषयं नैव तर्कयेत् ॥ ३१९ ॥

अज्ञातशास्त्र इति । अज्ञातम् अविदितं शास्त्रं येन सः  
शास्त्रानभिज्ञ इत्यर्थः ज्योतिषं, धर्मनिर्णयं धर्मतत्त्वं नीतिं दण्डं  
दण्डनीतिविवरणं चिकित्सां प्रायश्चित्तं तथा क्रियाणां कार्याणां  
फलं न ब्रूयात् न कथयेत् ॥ ३२० ॥

अप्रवासी गृही नित्यं स्वतन्त्रः सुखमेधते ॥ ३२१ ॥

नूतनप्राक्तनानां च व्यवहारविदां धिया ।

प्रतिक्षणं चाभिनवो व्यवहारो भवेदतः ॥ ३२२ ॥

वक्तुं न शक्यते प्रायः प्रत्यक्षादनुमानतः ।

उपमानेन तज्ज्ञानं भवेदाप्तोपदेशतः ॥ २२३ ॥

कथितं तु समासेन सामान्यं नृपराष्ट्रयोः ।

नीतिशास्त्रं हितायालं यद् विशिष्टं नृपे स्मृतम् ३२४

इति शुक्रनीतौ नृपराष्ट्रसामान्यलक्षणं नाम

तृतीयोऽध्यायः ।

पारतन्त्र्यादिति । पारतन्त्र्यात् पराधीनतायाः परं दुःखं न, स्वातन्त्र्यात् स्वाधीनतायाश्च परं सुखं न अस्तीति शेषः । अप्रवासी अविदेशी स्वतन्त्रः स्वाधीनः गृही नित्यं सततं सुखम् एधते प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ३२१ ॥

नूतनेति । वक्तुमिति । नूतनानाम् इदानीन्तनानां प्राक्तनानां पूर्वतनानाञ्च व्यवहारविदाम् आचारदर्शिनां धिया बुद्ध्या प्रतिक्षणम् अभिनवः व्यवहारः आचारः भवेत् उत्पद्यते, अतः अस्मात् कारणात् प्रायः बाहुल्येनेत्यर्थः सः वक्तुं न शक्यते । प्रत्यक्षात् अनुमानतः अनुमानात् उपमानेन दृष्टान्तेन आप्तानां विश्वस्तानाम् उपदेशतः उपदेशाच्च तस्य व्यवहारस्य ज्ञानं भवेत् ॥ ३२२ ॥ २२३ ॥

कथितमिति । समासेन संक्षेपेण नृपराष्ट्रयोः नृपस्य राष्ट्रस्य राज्यस्थस्य साधारणस्य च सामान्यं साधारणं कथितं नीतिशास्त्रं हिताय सर्वेषामिति शेषः अलं पर्याप्तं हितजनक-

चतुर्थेऽध्याये प्रथमं प्रकरणम् ।

अथ मिश्रप्रकरणं प्रवक्ष्यामि समासतः ।

लक्षणं सुहृदादीनां समासाच्छृणुताधुना ॥ १ ॥

मित्रः शत्रुश्चतुर्धा स्यादुपकारापकारयोः ।

कर्त्ता कारयिता चानुमन्ता यश्च सहायकः ॥ २ ॥

यस्य सुद्रवते चित्तं परदुःखेन सर्वदा ।

दृष्टार्थे यततेऽन्यस्याप्रेरितः सत्करोति यः ॥ ३ ॥

मित्यर्थः । यत् नैतिशास्त्रं नृपे राज्ञि विषये विशिष्टं स्मृतं  
विशेषेण हितकरत्वाद्वाञ्छ इति भावः ॥ ३२४ ॥

इति श्रीजीवानन्दविद्यासागरचिरचिता तृतीयाध्याय-  
व्याख्या समाप्ता ।

अथेति । अथ अनन्तरं मिश्राणां विविधविषयाणां प्रकरणं  
समासतः संचेपात्, प्रवक्ष्यामि तत्र सुहृदादीनां लक्षणं समा-  
सतः संचेपात् अधुना साम्प्रतं प्रथममित्यर्थः शृणुत ॥ १ ॥

मित्र इति । उपकारापकारयोः सतोः क्रमेण मित्रः शत्रुश्च  
स्यात् स च प्रत्येकं चतुर्धा चतुर्विधः कर्त्ता, कारयिता, अनु-  
मन्ता, तथा यश्च सहायकः साहाय्यकारी सः तथा च कर्त्ता  
मित्रः, कारयिता मित्रः, अनुमन्ता मित्रः सहायमित्रः । कर्त्ता  
शत्रुः कारयिता शत्रुः अनुमन्ता शत्रुः सहायः शत्रुः । मित्र-  
शब्दश्चात्र पुंलिङ्ग आर्षः ॥ २ ॥

यस्येति । आत्मेति । यस्य चित्तं परदुःखेन सर्वदा सुद्रवते,  
गलति, यः अन्यस्य दृष्टार्थे अभिप्रेतार्थसाधने यतते, तथा अप्रे-  
रितः अकथितः सन्नपि सत्करोति उपकरोति । किन्तु यः

आत्मस्त्रीधनगुह्यानां शरणं समये सुहृत् ।  
 प्रोक्तोत्तमोऽयमन्यश्च द्विद्वेकपदमित्वकः ॥ ४ ॥  
 अनन्यस्वत्वकामत्वमेकस्मिन् विषये द्वयोः ।  
 वैरिलक्षणमेतद् वान्येष्टनाशनकारिता ॥ ५ ॥  
 भ्रातृभावे पितृद्रव्यमखिलं मम वै भवेत् ।  
 न स्यादेतस्य वश्येऽयं ममैव स्यात् परस्परम् ॥ ६ ॥  
 भोक्ष्येऽखिलमहं चैतद्विनान्यं स्तः सुवैरिणौ ।  
 द्वेष्टि द्विष्ट उभौ शत्रू स्तश्चैकतरसंज्ञकौ ॥ ७ ॥

समये यथासमये आत्मनः स्त्रियाः धनानां गुह्यानाम् अन्येषां  
 गुप्तविषयाणां शरणं रक्षिता सः अयम् उत्तमः सुहृत् प्रोक्तः  
 कथितः । प्रोक्तोत्तम इति सन्धिरार्थः । अन्यश्च द्विद्वेकपद-  
 मित्वकः अस्ति तथाहि यस्य चित्तं परदुःखेन गलति, यश्च  
 अन्यस्य इष्टार्थं यतते तथा अप्रेरितोऽपि सत्करोति सः त्रिपद-  
 मित्वकः, यस्य चित्तं परदुःखेन गलति, यश्च अन्यस्य इष्टार्थं  
 यतते, सः द्विपदमित्वकः, यस्य चित्तं परदुःखेन गलति सः एक-  
 पदमित्वक इति भावः ॥ ३ ॥ ४ ॥

अनन्येति । द्वयोः एकस्मिन् विषये वस्तुनि अनन्यस्वत्व-  
 कामत्वं निजस्वामित्वमात्रकामना वा अथवा अन्येषाम् इष्टानां  
 नाशनकारिता विनाशकत्वमित्यर्थः एतत् उभयं वैरिलक्षणं  
 शत्रुताप्रयोजकमित्यर्थः ॥ ५ ॥

उभयप्रकारं दृष्टान्तेन दर्शयति । भ्रातृभावे इति । भोक्ष्ये  
 इति । भ्रातुः अभावे अविद्यमानतायामपीत्यर्थः अखिलं समग्रं  
 पितृद्रव्यं मम वै ममैव वैशब्दोऽवधारणे । भवेत्, एतस्य भ्रातुः

शूरस्योत्थानशीलस्य बलनीतिमतः सदा ।

सर्वे मित्रा गूढवैरा नृपाः कालप्रतीक्षकाः ॥ ८ ॥

भवन्तीति किमाश्चर्य्यं राज्यलुब्धा न ते हि किम् ? ।

न राज्ञो विद्यते मित्रं राजा मित्रं न कस्य वै ॥ ९ ॥

प्रायः कृत्रिममित्रे ते भवतश्च परस्परम् ।

केचित् स्वभावतो मित्राः शत्रवः सन्ति सर्वदा ॥ १० ॥

माता मातृकुलं चैव पिता तत् पितरौ तथा ।

न स्यात्, अयञ्च भ्राता ममैव वश्यः स्यात् । अहम् अन्यं विना  
अखिलं समयम् एतत् वस्तु भोक्ष्ये इत्येवं परस्परं यौ मन्त्रयत  
इति शेषः तौ सुवैरिणौ परमशत्रू स्तः भवतः । यश्च द्वेष्टि, द्वेषं  
करोति, यश्च द्विष्टः द्वेषविषयीभूतः तौ एकतरसंज्ञकौ एकतर-  
नामानौ शत्रू स्तः भवतः ॥ ६ ॥ ७ ॥

शूरस्येति । भवन्तीति । शूरस्य विक्रमशालिनः सदा उत्थान-  
शीलस्य उद्योगिनः तथा बलनीतिमतः बलशालिनो नीति-  
परायणस्य च जनस्य सर्वे गूढवैराः गुप्तशत्रवाः कालप्रतीक्षकाः  
समयापेक्षिणः नृपाः मित्राः मित्रभूताः भवन्ति इत्यत्र आश्चर्य्यं  
किम् ? ते हि नृपाः किं राज्यलुब्धाः न ? अपितु राज्यलुब्धा एव  
केवलं कालं प्रतीक्षन्ते इति भावः । कोऽपि जनः राज्ञः मित्रं  
न विद्यते, राजापि कस्यापि मित्रं न वै नैवेत्यर्थः ॥ ८ ॥ ९ ॥

प्राय इति । प्रायः बाहुल्येन तौ प्रजाराजानौ परस्परं  
कृत्रिममित्रे कार्य्यजबन्धू भवतः । किञ्च केचित् स्वभावतः  
मित्राः सर्वदा कदाचिदित्यर्थः शत्रवः सन्ति भवन्ति ॥ १० ॥

मातेति । माता, मातृकुलं मातामहादिः, पिता तथा तस्य

पितृपितृव्यात्मकन्या पत्नी तत् कुलमेव हि ॥११॥

पितृमातात्मभगिनीकन्यकासन्ततिश्च या ।

प्रजापालो गुरुश्चैव मित्राणि सहजानि हि ॥१२॥

विद्या शौर्यञ्च दाढ्यञ्च बलं धैर्यञ्च पञ्चमम् ।

मित्राणि सहजान्याहुर्वर्त्तयन्ति हि तैर्बुधाः ॥१३॥

पित्रोर्निदेशवर्त्ती यः स पुत्रोऽन्वर्थनामवान् ।

श्रेष्ठ एकस्तु गुणवान् किं शतैरपि निर्गुणैः ॥१४॥

स्वभावतो भवन्त्येते हिंस्रो दुर्वृत्त एव च ।

ऋणकारी पिता शत्रुर्माता स्त्री व्यभिचारिणी ॥१५॥

पितुः पितरौ मातापितरौ पितामहः पितामही चेत्यर्थः,  
पितुः पितृव्यः, आत्मकन्या, पत्नी, तस्याः कुलं श्वशुरादि,  
पितृभगिनी, मातृभगिनी, आत्मभगिनी, तासां कन्यकाश्च या  
च सन्ततिः पुत्र इत्यर्थः, प्रजापालः, भूपतिः, तथा गुरुः एतानि  
सहजानि मित्राणि हिशब्दोऽवधारणार्थः ॥ ११ ॥ १२ ॥

विद्येति । विद्या, शौर्यं दाढ्यं नैपुण्यं, बलं तथा पञ्चमं  
धैर्यम् एतानि सहजानि मित्राणि आहुः कथयन्ति बुधा इति  
शेषः बुधाः पण्डिताः तैः विद्यादिभिः वर्त्तयन्ति जीवन्ति ॥१३॥

पित्रोरिति । यः पुत्रः पित्रोः मातापित्रोः निदेशवर्त्ती आ-  
ज्ञावर्त्ती सः पुत्रः अन्वर्थनामवान् यथार्थनामा इत्यर्थः । एकः  
गुणवान् पुत्रः श्रेष्ठः, निर्गुणैः शतैरपि किम् ? न किमपि प्रयो-  
जनमित्यर्थः ॥ १४ ॥

स्वभावत इति । एते पूर्वोक्ताः मातादयः स्वभावतः मित्राणि  
अपि कदाचित् शत्रवः भवन्तीत्यन्वयः । तथाहि हिंस्रः दुर्वृत्तः

आत्मपितृभ्रातरश्च तत् स्त्रीपुत्राश्च शत्रवः ।

सुषा श्वश्रूः सपत्नी च ननान्दा यातरस्तथा ॥१६॥

मूर्खः पुत्रः कुवैद्यश्चारक्षकस्तु पतिः प्रभुः ।

चण्डश्चण्डा प्रजा शत्रुरदाता धनिकश्च यः ॥१७॥

दुष्टानां नृपतिः शत्रुः कुलटानां पतिव्रता ।

साधुः खलानां शत्रुः स्यान्मूर्खाणां बोधको रिपुः ॥१८॥

उपदेशो हि मूर्खाणां क्रोधायैव शमाय न ।

पयःपानं भुजङ्गानां विषायैवामृताय न ॥ १९ ॥

तथा ऋणकारी पिता, व्यभिचारिणी माता स्त्री च शत्रुः ॥१५॥

आत्मेति । आत्मनः पितुश्च भ्रातरः सोदराः पितृव्याश्च  
इत्यर्थः तेषां स्त्रियः पुत्राश्च तथा सुषा पुत्रवधूः, श्वश्रूः श्वशुर-  
पत्नी, सपत्नी, ननान्दा, यातरः देवरपत्न्यश्च कदाचित् विरुद्धा-  
चाराः शत्रवः भवन्तीति शेषः ॥ १६ ॥

मूर्ख इति । मूर्खः पुत्रः, कुवैद्यः कुचिकित्सकः, अरक्षकः  
पतिः चण्डः कोपनः प्रभुः स्वामी चण्डा प्रजा च तथा यः  
धनिकः धनवान् अथच श्रदाता कृपणः सः शत्रुः ॥ १७ ॥

दुष्टानामिति । नृपतिः दुष्टानां शत्रुः, पतिव्रताः कुलटानां  
व्यभिचारिणीनां शत्रुः, साधुः खलानां दुर्जनानां शत्रुः बोधकः  
उपदेशकः मूर्खाणां शत्रुः स्यात् ॥ १८ ॥

उपदेश इति । मूर्खाणाम् उपदेशः क्रोधाय एव केवलं  
कोपवर्द्धनाय, न शमाय न शान्तये भवतीति शेषः । भुजङ्गानां  
सर्पाणां पयःपानं दुग्धपानं विषाय विषवर्द्धनाय एव न अमृ-  
ताय न अमृतचरणाय इत्यर्थः ॥ १९ ॥

आसमन्ताच्चतुर्दिक्षु सन्निकृष्टाश्च ये नृपाः ।

तत्परास्तत्परा येऽन्ये क्रमाद्धीनबलारयः ॥ २० ॥

शत्रूदासीनमित्राणि क्रमात् ते स्युस्तु प्राकृताः ।

अरिर्मित्रमुदासीनोऽनन्तरस्तत् परः परः ॥ २१ ॥

क्रमशो वा नृपा ज्ञेयाश्चतुर्दिक्षु तथारयः ।

स्वसमीपतरा भृत्या ह्यमात्याद्याश्च कर्षिताः ॥ २२ ॥

वृंहयेत् कर्षयेत् मित्रं हीनाधिकबलं क्रमात् ॥ २३ ॥

भेदनीया कर्षणीयाः पीडनीयाश्च शत्रवः ।

विनाशनीयास्ते सर्वे सामादिभिरुपक्रमैः ॥ २४ ॥

आसमन्तादित्यादि । आसमन्तात् सर्वतः चतुर्दिक्षु ये नृपाः निकटवर्तिनः, ये च तत्पराः तदनन्तरवर्तिनः तत्पराः पुनश्च तदनन्तरवर्तिनः अन्ये नृपाः ते क्रमात् हीनानि बलानि अरयः शत्रवश्च येषां तादृशाः भवन्ति । ते तु क्रमात् प्रकृताः सहजाः मित्राणि उदासीनाः मध्यस्थाः तथा शत्रवः स्युः । किञ्च अरिः मित्रम् उदासीनः, अनन्तरः तत्पराः तथापरः अन्यः एतं चतुर्दिक्षु क्रमशः स्थिताः नृपाः प्राकृताः मित्रशत्रवः ज्ञेयाः । तथा स्वस्य समीपतराः अतिसन्निकृष्टाः भृत्याः कर्षिताः क्लेशिताः अमात्याद्याश्च अरयः शत्रवः ज्ञेया इति शेषः ॥ २०—२२ ॥

वृंहयेदिति । हीनाधिकबलं हीनबलम् अधिकबलञ्च मित्रं क्रमात् वृंहयेत् वर्धयेत् कर्षयेच्च कृशीकुर्यात् ॥ २३ ॥

भेदनीया इति । ते सर्वे शत्रवः सामादिभिः सामदानभेद-  
दण्डैः उपक्रमैः उपायैः भेदनीयाः प्रकृतिषु मनोभङ्गं प्राप-  
णीयाः, कर्षणीयाः कृशीकरणीयाः विनाशनीयाश्च ॥ २४ ॥

मित्रं शत्रुं यथायोग्यैः कुर्यात् स्ववशवर्त्तिनम् ।  
 उपायेन यथा व्यालो गजः सिंहोऽपि साध्यते ॥ २५ ॥  
 भूमिष्ठाः स्वर्गमायान्ति वज्रं भिन्दन्त्युपायतः ॥ २६ ॥  
 सुहृत् सम्बन्धिस्त्रीपुत्रप्रजाशत्रुषु ते पृथक् ।  
 सामदानभेददण्डाश्चिन्तनीयाः स्वयुक्तितः ॥ २७ ॥  
 एकशीलवयोविद्याजातिव्यसनवृत्तयः ।  
 साहचर्य्ये भवेन्मित्रमेभिर्यदि तु सार्जवैः ॥ २८ ॥  
 त्वत्समस्तु सखा नास्ति मित्रे साम इदं स्मृतम् ।  
 मम सर्वं तवैवास्ति दानं मित्रे सजीवितम् ॥ २९ ॥

मित्रमिति । यथा उपायेन व्यालः सर्पः सिंहः गजः हस्ती  
 च साध्यते वशीक्रियते तथा यथायोग्यैः उपायैरित्यर्थः मित्रं  
 शत्रुञ्च स्वस्य वशवर्त्तिनं कुर्यात् ॥ २५ ॥

भूमिष्ठा इति । उपायतः उपायेन भूमिष्ठाः पृथिवीस्था  
 जनाः स्वर्गम् आयान्ति गच्छन्ति, वज्रं भिन्दन्ति च ॥ २६ ॥

सुहृदिति । ते सामदानभेददण्डाः स्वयुक्तितः निजयुक्त्यनु-  
 सारेण सुहृत्सु सम्बन्धिषु, स्त्रीषु, पुत्रेषु, प्रजासु शत्रुषु च  
 पृथक् पृथक् चिन्तनीयाः ॥ २७ ॥

एकेति । त्वत्सम इति । ये एकः समानः शीलं वयः वयः-  
 क्रमः विद्या जातिः व्यसनं दोषः वृत्तिः जीवनोपायश्च येषां ते  
 तथोक्ताः, सार्जवैः अकपटैः एभिः साहचर्य्ये यदि मित्रं मित्रत्व-  
 मित्यर्थः भावप्रधानो निर्देशः । भवेत् तदा तस्मिन् मित्रे त्वया  
 समः सखा नास्ति इदं साम सान्त्ववचनं स्मृतम् । किञ्च तथा-  
 विधे मित्रे मम सर्वं वस्तु, तवैव अस्ति इदं सजीवितं जीवन-

मित्रेऽन्यमित्रसुगुणान् कौर्त्तयेद् भेदनं हि तत् ।  
 मित्रे दण्डो न करिष्ये मैत्रीमेवंविधोऽसि चेत् ॥३०॥  
 यो न संयोजयेद्विष्टमन्यानिष्टमुपेक्षते ।  
 उदासीनः स न कथं भवेच्छत्रुः सुसान्धिकः ? ॥३१॥  
 परस्परमनिष्टं न चिन्तनीयं त्वया मया ।  
 सुसाहाय्यं हि कर्त्तव्यं शत्रौ साम प्रकीर्त्तितम् ॥३२॥  
 करैर्वा प्रमितैर्ग्रामैर्वत्सरे प्रबलं रिपुम् ।  
 तोषयेत् तद्वि दानं स्याद् यथायोग्येषु शत्रुषु ॥३३॥

सहितं दानं दानवाक्यं स्मृतमिति शेषः ॥ २८ ॥ २९ ॥

मित्रे इति । मित्रे अन्येषां मित्राणां सुगुणान् उत्तमगुणान्  
 यत् कौर्त्तयेत् तत् कौर्त्तनं तस्य मित्रस्य भेदनं मनोभङ्गकरणं  
 हि । चेत् यदि त्वम् एवंविधः एतादृशः असि, तदा त्वया सह  
 मैत्रीः न करिष्ये इति वचनं मित्रे दण्डः स्मृत इति शेषः ॥३०॥

य इति । यः द्वष्टं न संयोजयेत् न कुर्यात्, तथा अन्यहत-  
 मनिष्टम् उपेक्षते न पश्यति स उदासीनः, सः सुसान्धिकः शत्रु-  
 सन्धिना साध्यः शत्रुः कथं न भवेत् ? अपितु शत्रुरेव ॥ ३१ ॥

परस्परमिति । त्वया मया च परस्परं परस्परस्य अनिष्टं न  
 चिन्तनीयं प्रत्युत सुसाहाय्यं कर्त्तव्यं हि इति वचनं शत्रौ साम  
 प्रकीर्त्तितम् ॥ ३२ ॥

करैरिति । यथायोग्येषु शत्रुषु मध्ये प्रबलं रिपुं शत्रुं वत्सरे  
 वत्सरे प्रमितैः परिमितैः करैः राजस्वैः ग्रामैर्वा त्यक्तैरिति शेषः  
 यत् तोषयेत् तत् हि तदेव तादृशे शत्रौ दानं प्रकीर्त्तितमिति  
 शेषः ॥ ३३ ॥

शत्रुसाधकहीनत्वकरणात् प्रवलाश्रयात् ।  
 तद्हीनतोज्जीवनाच्च शत्रुभेदनमुच्यते ॥ ३४ ॥  
 दस्युभिः पीडनं शत्रोः कर्षणं धनधान्यतः ।  
 तच्छिद्रदर्शनादुग्रबलैर्नीत्या प्रभीषणम् ।  
 प्राप्तयुद्धानिष्टित्वैस्त्रासनं दण्ड उच्यते ॥ ३५ ॥  
 क्रियाभेदादुपाया हि भिद्यन्ते च यथार्हतः ॥ ३६ ॥  
 सर्वोपायैस्तथा कुर्यान्नीतिज्ञः पृथिवीपतिः ।  
 यथा स्वाभ्यधिका न स्युर्मितोदासीनशत्रवः ॥ ३७ ॥

शत्रिति । शत्रोः साधकं पराजयसाधनं यत् हीनत्वकरणं  
 लाघवसम्पादनं तस्मात् प्रबलस्य शत्रोरधिकस्य बलवतः आश्र-  
 यात् तस्मात् शत्रोः ये हीनाः खर्वाः निरुक्ता इत्यर्थः तेषां भावः  
 तद्हीनता तस्या उज्जीवनात् तन्निरुक्तानां प्रबलीकरणाच्च  
 इत्यर्थः शत्रुभेदनं शत्रौ भेद उच्यते ॥ ३४ ॥

दस्युभिरिति । दस्युभिः शत्रोः पीडनं धनधान्यतः कर्षणं  
 खर्वोकरणञ्च तथा तस्य छिद्रदर्शनात् दोषदर्शनात् उग्रबलैः  
 समधिकबलशालिभिः नीत्या प्रभीषणं भयदर्शनं किञ्च प्राप्तं  
 युद्धात् अनिष्टित्वं यैः तादृशैः युद्धादपराङ्मुखैरित्यर्थः त्रासनं  
 भयजननं दण्डः शत्रौ इति शेषः उच्यते ॥ ३५ ॥

क्रियाभेदादिति । उपायाः सामादयः । यथार्हतः यथा-  
 योग्यतः क्रियाभेदात् अनुष्ठानतारतम्येनेत्यर्थः उपायाः भिद्यन्ते  
 हि शब्दश्चावधारणार्थः ॥ ३६ ॥

सर्वोपायैरिति । यथा मित्राणि उदासीनाः शत्रवश्च न

सामैव प्रथमं श्रेष्ठं दानं तु तदनन्तरम् ।

सर्वदा भेदनं शत्रोर्दण्डनं प्राणसंशये ॥ ३८ ॥

प्रबलेऽरौ सामदानौ सामभेदोऽधिके स्मृतौ ।

भेददण्डौ समे काय्यौ दण्डः पूज्यः प्रहीनके ॥ ३९ ॥

मित्रे च सामदानौ स्तौ न कदा भेददण्डने ॥ ४० ॥

रिपोः प्रजानां सम्भेदपौडनं स्वजयाय वै ।

रिपुप्रपौडितानां च साम्ना दानेन संग्रहः ।

गुणवतां च दुष्टानां हितं निर्वासनं सदा ॥ ४१ ॥

स्वस्मात् अभ्यधिका अतिप्रबलाः न स्युः, नीतिज्ञः पृथिवीपतिः  
सर्वैः उपायैः तथा कुर्यात् ॥ ३७ ॥

सामैवेति । प्रथमं साम सान्त्वमेव श्रेष्ठं, तदनन्तरं तद-  
शक्तावित्यर्थः दानं, तथाप्यशक्तौ सर्वथा सर्वैः प्रकारैः भेदनं  
मनोभङ्गकरणं, तथाप्यशक्तौ प्राणसंशये जीवनसङ्कटे उपस्थिते  
इत्यर्थः शत्रोः दण्डनं कर्त्तव्यमिति शेषः ॥ ३८ ॥

प्रबले इति । अरौ शत्रौ प्रबले सामदानौ उपायौ दान-  
शब्दः पुंलिङ्गोऽत्रार्थः । स्मृतौ । अधिके बलाधिके रिपौ साम-  
भेदश्च स्मृत इति शेषः । समे समाने रिपौ भेददण्डौ उपायौ  
काय्यौ, प्रहीनके दुर्बले शत्रौ दण्डः पूज्यः प्रशंसनीयः ॥ ३९ ॥

मित्रे इति । मित्रे मुह्यदि सामदानौ स्तः, कदापि भेद-  
दण्डने न प्रयोज्ये इति शेषः ॥ ४० ॥

रिपोरिति । प्रजानां सम्भेदेन योगेन रिपोः पौडनं स्वस्य  
जयाय भवतीति शेषः रिपुभिः प्रपौडितानां जनानां साम्ना  
दानेन च संग्रहः कार्य इति शेषः । किञ्च गुणवतां दुष्टानां

स्वप्रजानां न भेदेन नैव दण्डेन पालनम् ।

कुर्वीत सामदानाभ्यां सर्वदा यत्नमास्थितः ॥४२॥

स्वप्रजादण्डभेदैश्च भवेद्राज्यविनाशनम् ।

हीनाधिका यथा न स्युः सदा रक्ष्यास्तथा प्रजाः ॥४३॥

निवृत्तिरसदाचाराद् दमनं दण्डतश्च तत् ।

येन संदम्यते जन्तुरुपायो दण्ड एव सः ॥ ४४ ॥

स उपायो नृपाधीनः स सर्वस्य प्रभुर्यतः ॥ ४५ ॥

निर्भर्त्सनं चापमानोऽनशनं बन्धनं तथा ।

सदा निर्वासनं देशात् वहिष्करणं हितं तेषां देशस्थितो मन्त्रा-  
निष्टकरणसम्भवादिति भावः ॥ ४१ ॥

स्वप्रजानामिति । सर्वदा यत्नमास्थितः यत्नवान् सन् साम-  
दानाभ्यां स्वस्य प्रजानां पालनं कुर्वीत, भेदेन मनोभङ्गापाद-  
नेन न दण्डेन च न ॥ ४२ ॥

स्वप्रजेति । स्वप्रजानां दण्डैः भेदैश्च राज्यविनाशनं भवेत्  
तस्मात् यथा प्रजाः हीनाः वा अधिकाः प्रवलाः न स्युः, तथा  
सदा सर्वस्मिन् काले रक्ष्याः पालनीयाः ॥ ४३ ॥

निवृत्तिरिति । दण्डतः दण्डात् असदाचारात् निवृत्तिः  
दमनञ्च तत् तस्मात् येन उपायेन जन्तुः जीवः संदम्यते सम्यक्  
शास्यते सः उपायः दण्डः एव ॥ ४४ ॥

स इति । सः दण्डरूपः उपायः नृपाधीनः राजायत्तः यतः  
सः राजा सर्वस्य लोकस्य प्रभुः स्वामी, दण्डकर्तृत्वं स्वामिन  
एव युज्यते इति भावः ॥ ४५ ॥

निर्भर्त्सनमिति । व्यस्तेति । निर्भर्त्सनं तिरस्कारः, अप-

ताडनं द्रव्यहरणं पुरान्निर्वासनाङ्गने ॥ ४६ ॥

व्यस्तक्षीरमसद्यानमङ्गच्छेदो बधस्तथा ।

युद्धमेते ह्युपायाश्च दण्डस्यैव प्रभेदकाः ॥ ४७ ॥

जायते धर्मनिरता प्रजा दण्डभयेन च ।

करोत्याधर्षणं नैव तथा चासत्यभाषणम् ॥ ४८ ॥

क्रूराश्च मार्दवं यान्ति दुष्टा दौष्ट्यं त्यजन्ति च ।

पशवोऽपि वशं यान्ति विद्रवन्ति च दस्यवः ॥ ४९ ॥

पिशुना मूकतां यान्ति भयं यान्त्याततायिनः ।

करदाश्च भवन्त्यन्ये विवासं यान्ति चापरे ।

अतो दण्डधरो नित्यं स्यात् नृपो धर्मरक्षणे ॥ ५० ॥

मानः मानच्युतिकरणम् अनशनम् अनाहारेण अवस्थापनं,  
बन्धनं ताडनं प्रहारः, द्रव्यहरणं, पुरात् नगरात् निर्वासनं  
बहिष्करणम्, अङ्गनं शरीरे चिरस्थायिचिह्नकरणं, व्यस्तक्षीरं  
मस्तकमुण्डनादिरूपं विपरीतं क्षीरकर्म, असद्व्यानं गर्दभाया-  
रोहणेन गमनम् अङ्गस्य अवयवस्य हस्तपदादेः छेदः, बधः  
प्राणदण्डः, तथा युद्धम् एते निर्भर्त्सनादयः उपायाः दण्डस्यैव  
प्रभेदकाः विशेषा इत्यर्थः ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

जायते इत्यादि । दण्डभयेन प्रजा धर्मनिरता धर्मनिष्ठा  
जायते, आधर्षणं दुर्बलाक्रमणं तथा असत्यभाषणञ्च नैव  
करोति । क्रूराः दुर्जनाः मार्दवं नृदुत्वं यान्ति, प्राप्नुवन्ति,  
दुष्टाः जनाः दौष्ट्यं दोषं त्यजन्ति च । पशवः अपि वशं यान्ति,  
दस्यवः विद्रवन्ति पलायन्ते च । पिशुनाः खलाः धूर्ता इत्यर्थः

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।

उत्पथप्रतिपन्नस्य कार्यं भवति शासनम् ॥५१॥

राज्ञां सदण्डनीत्या हि सर्वे सिध्यन्त्युपक्रमाः ।

दण्ड एव हि धर्माणां शरणं परमं स्मृतम् ॥५२॥

अहिंसैवासाधुहिंसा पशुवच्छ्रुतिचोदनात् ॥५३॥

दण्डस्यादण्डनान्नित्यमदण्डस्य च दण्डनात् ।

अतिदण्डाच्च गुणिभिस्त्यज्यते पातकौ भवेत् ॥५४॥

मूकतां मौनभावं यान्ति, आततायिनः, उक्तपापकारिणः

जनाः भयं यान्ति च । अन्ये अकरदा जना इत्यर्थः करदाः

राजस्वदायिनः भवन्ति, अपरे विवासं विशेषेण वासं यान्ति

च । अतः अस्मात् कारणात् नृपः धर्मरक्षणे विषये नित्यं सततं

दण्डधरः स्यात् ॥ ४८—५० ॥

गुरोरिति । अवलिप्तस्य उद्धतस्य कार्याकार्यं कर्तव्या-

कर्तव्यम् अजानतः उत्पथं प्रतिपन्नस्य गतस्य गुरोरपि शासनं

दण्डनं कार्यं करणीयं भवति ॥ ५१ ॥

राज्ञामिति । राज्ञां सदण्डनीत्या सदण्डया दण्डसहितया

नीत्या सर्वे उपक्रमाः कार्याणि सिध्यन्ति हि । हि यतः दण्डः

एव धर्माणां परमं शरणम् आश्रयः स्मृतम् ॥ ५२ ॥

अहिंसैवेति । श्रुतिचोदनात् शास्त्रदर्शनात् पशुवत् असा-

धूनां हिंसा अहिंसा एव यथा यज्ञे पशुवधः शास्त्रीयत्वादहिंसै-

वेति भावः ॥ ५३ ॥

दण्डस्येति । दण्डस्य दण्डार्हस्य अदण्डनात् दण्डाकर-

णात् अदण्डस्य अदण्डनीयस्य दण्डनात् तथा नित्यं सततम्

अल्पदानात् महत् पुण्यं दण्डप्रणयनात् फलम् ।  
 शास्त्रेषूक्तं मुनिवरैः प्रवृत्त्यर्थं भयाय च ॥५५॥  
 अश्वमेधादिभिः पुण्यं तत् किं स्यात् स्तोत्रपाठतः ?  
 क्षमया यत्तु पुण्यं स्यात्तत् किं दण्डनिपातनात् ?  
 स्वप्रजादण्डनाच्छेयः कथं राज्ञो भविष्यति ? ।  
 तद्दण्डाज्जायते कीर्त्तिधनपुण्यविनाशनम् ॥ ५७ ॥  
 नृपस्य धर्मपूर्णत्वाद् दण्डः कृतयुगे न हि ।  
 त्रेतायुगे पूर्णदण्डः पादाधर्माः प्रजा यतः ॥५८॥

अतिदण्डात् अधिकदण्डनाच्च गुणिभिः विद्वद्भिः त्यज्यते राजेति  
 कर्मपदमध्याहार्यम् । पातकी पापी भवेच्च तत्कारी राजेति  
 शेषः ॥ ५४ ॥

अल्पदानादिति । अल्पदानात् यत्किञ्चिन्दानात् महत्  
 पुण्यं प्रवृत्त्यर्थं दानादिधर्मकार्यं प्रवर्त्तनाय, तथा दण्डप्रणय-  
 नात् यथाशास्त्रदण्डकरणात् महत् फलं भयाय लोकानां भय-  
 प्रदर्शनाय मुनिवरैः शास्त्रेषु उक्तं कथितम् ॥ ५५ ॥

अश्वमेधादिभिरिति । अश्वमेधादिभिः यागैः यत् पुण्यं  
 भवतीति शेषः तत् स्तोत्रपाठतः स्तवपाठात् किं स्यात् ? नैवे-  
 त्यर्थः । तथा क्षमया यत् पुण्यं स्यात्, दण्डनिपातनात् तत्  
 पुण्यं किं स्यात् ? नैवेत्यर्थः ॥ ५६ ॥

स्वप्रजेति । स्वस्य प्रजानां दण्डनात् राज्ञः श्रेयः कथं भवि-  
 ष्यति ? नैवेत्यर्थः । प्रत्युत तद्दण्डात् तासां दण्डनात् कीर्त्ति-  
 धनपुण्यानां विनाशनं भवति ॥ ५७ ॥

नृपस्येति । कृतयुगे नृपस्य धर्मपूर्णत्वात् दण्डः न हि आ-

द्वापरे चार्द्धधर्मत्वात् त्रिपाददण्डौ विधीयते ।

प्रजा निःस्वा राजदौष्ट्याद् दण्डार्द्धं तु कलौ तथा ॥५८॥

युगप्रवर्त्तको राजा धर्माधर्मप्रशिक्षणात् ।

युगानां न प्रजानां न दोषः किन्तु नृपस्य हि ॥६०॥

प्रसन्नो येन नृपतिस्तदाचरति वै जनः ।

लोभाद्भयाच्च किं तेन शिचितं नाचरेत् कथम् ? ॥६१॥

सुपुण्यो यत्र नृपतिर्धर्मिष्ठास्तत्र हि प्रजाः ।

महापापी यत्र राजा तत्राधर्मपरो जनः ॥६२॥

सौदित्यर्थः त्रेतायुगे यतः प्रजाः पादाधर्माः अधर्मैकपादनिष्ठा

इत्यर्थः अतः पूर्णदण्डः आसीत् । द्वापरे तु अर्द्धधर्मत्वात्

त्रिपाददण्डः विधीयते व्यवस्थीयते । तथा कलौ राज्ञः दौष्ट्यात्

दोषात् प्रजा निःस्वाः निर्धना भवन्ति अतः दण्डार्द्धम् अर्द्ध-

दण्डः विधीयते इति शेषः ॥ ५८ ॥ ५९ ॥

युगेति । राजा धर्मस्य अधर्मस्य च प्रशिक्षणात् शिक्षादानात्

युगप्रवर्त्तकः सत्यादियुगानां प्रवर्त्तयिता, अतः युगानां न प्रजा-

नाच्च न दोषः, किन्तु नृपस्य हि राज्ञ एव दोष इत्यर्थः ॥६०॥

प्रसन्न इति । राजा येन कर्मणा प्रसन्नः प्रीतः भवति, जनः

प्रजा लोभात् भयाच्च तत् आचरति वै करोत्येव, तेन राज्ञा

शिचितम् उपदिष्टं किं किमपीत्यर्थः कथं न आचरेत् ? अपि तु

आचरेदेवेत्यर्थः ॥ ६१ ॥

सुपुण्य इति । यत्र नृपतिः सुपुण्यः धार्मिकः तत्र प्रजाः

धर्मिष्ठाः हि । यत्र तु राजा महापापी तत्र जनः अधर्मपरः

अधार्मिकः ॥ ६२ ॥

न कालवर्षी पर्जन्यस्तत्र भूर्न महाफला ।

जायते राष्ट्रक्रासश्च शत्रुवृद्धिर्धनक्षयः ॥६३॥

सुराप्यपि वरो राजा न स्त्रैणो नातिकोपवान् ।

लोकांश्चण्डस्तापयति स्त्रैणो वर्णान् विलुम्पति ॥६४॥

मद्यप्येकश्च भ्रष्टः स्याद् बुद्ध्या च व्यवहारतः ।

कामक्रोधौ मद्यतमौ सर्वमद्याधिकौ यतः ॥६५॥

धनप्राणहरो राजा प्रजायाश्चातिलोमतः ।

तस्मादेतत् त्वयं त्यक्त्वा दण्डधारी भवेत् नृपः ॥६६॥

नेति । तत्र अधार्मिके राजनि सतीत्यर्थः पर्जन्यः मेघः न कालवर्षी यथासमये न वर्षतीत्यर्थः, भूः पृथ्वी न महाफला भवतीति शेषः । राष्ट्रस्य राज्यस्य क्रासः शत्रुवृद्धिः धनक्षयश्च जायते ॥ ६३ ॥

सुराप्येति मद्यप्येति । राजा सुराप्यी सुराप्यायी अपि वर प्रशस्यः, स्त्रैणः स्त्रीपरतन्त्रः न, अतिकोपवान् च न वर इति शेषः तथाहि चण्डः अतिकोपनः लोकान् प्रजाः तापयति नितरां पीडयति, स्त्रैणः स्त्रीकामुकः वर्णान् ब्राह्मणादीन् विदु-  
म्यति व्यभिचारेण सङ्करजात्युत्पादनेन दूषयतीत्यर्थः । मद्यप्येति सुराप्यायी एकश्च एक एव बुद्ध्या व्यवहारतश्च भ्रष्टः स्यात् प्रजा न भ्रंशयेदिति भावः । कामक्रोधौ मद्यतमौ मद्यादधिकौ यतः तौ सर्वेषां मद्यानां मादकानां वस्तूनाम् अधिकं श्रेष्ठौ ॥ ६४ ॥ ६५ ॥

धनेति । राजा अतिलोमतः लोभातिशयात् प्रजाया जातावेकं वचनम् । प्रजानामित्यर्थः धनप्राणहरः भवति

अन्तर्मृदुर्वहिः क्रूरो भूत्वा स्वां दण्डयेत् प्रजाम् ।  
 अत्युग्रदण्डकल्पः स्यात् स्वभावा हितकारिणः ॥६७॥  
 राष्ट्रं कर्णेजपैर्नित्यं हन्यते च स्वभावतः ।  
 अतो नृपः सूचितोऽपि विमृशेत् कार्य्यमादरात् ६८  
 आत्मनश्च प्रजायाश्च दोषदर्शयुत्तमो नृपः ।  
 विनियच्छति चात्मानमादौ भृत्यांस्ततः प्रजाः ॥६९॥  
 कायिको वाचिको मानसिकः सांसर्गिकस्तथा ।  
 चतुर्विधोऽपराधः स बुद्ध्याबुद्धिकृतो द्विधा ॥७०॥

तस्मात् नृपः एतेषां कामक्रोधलोभानां त्रयं त्यक्त्वा दण्डधारी  
 दमनकारी भवेत् ॥ ६६ ॥

अन्तरिति । राजा अन्तर्मृदुः कोमलान्तःकरणः किन्तु  
 वहिःक्रूरः बाह्यकर्कशः भूत्वा स्वां प्रजां दण्डयेत् शासयेत् ।  
 अत्युग्रदण्डकल्पः बाह्ये अतितीक्ष्णदण्डसदृशः स्यात् किन्तु  
 स्वभावाः हितकारिणः भवेयुरिति शेषः ॥ ६७ ॥

राष्ट्रमिति । कर्णेजपैः जनैः स्वभावतः नित्यं राष्ट्रं राज्यं  
 हन्यते परस्परमनोभङ्गजननेन उच्छेत्तुं चेध्यते, अतः नृपः  
 सूचितः तेषां परामर्शेन दूषितोऽपि आदरात् यत्नतः कार्य्यं  
 विमृशेत् विचार्य्य कुर्यादित्यर्थः ॥ ६८ ॥

आत्मन इति । उत्तमः नृपः आत्मनः स्वस्य प्रजायाश्च दोष-  
 दर्शी भवति अतः राजा आदौ अग्रतः आत्मानं ततः भृत्यान्  
 राजपुरुषान् ततश्च प्रजाः विनियच्छति विशेषेण नियमयती-  
 त्यर्थः ॥ ६९ ॥

कायिक इति । अपराधः कायिकः शरीरजः वाचिकः

पुनर्द्विधा कारितश्च तथा ज्ञेयोऽनुमोदितः ।  
 सक्तादसक्तादभ्यस्तस्वभावैः स चतुर्विधः ॥ ७१ ॥  
 नेत्रवक्त्राविकाराद्यैर्भावैर्मानसिकं तथा ।  
 क्रियया कायिकं वीक्ष्य वाचिकं क्रूरशब्दतः ॥ ७२ ॥  
 सांसर्गिकं साहचर्य्यैर्ज्ञात्वा गौरवलाघवम् ।  
 उत्पन्नोत्पत्त्यमानानां कार्याणां दण्डमावहेत् ॥ ७३ ॥  
 प्रथमं साहसं कुर्वन्नुत्तमो दण्डमर्हति ।  
 न्याय्यं किमिति संपृच्छेत् तवैवेयमसत् कृतिः ॥ ७४ ॥

वाक्योत्पन्नः मानसिकः मनोजनितः तथा सांसर्गिकः संसर्गज  
 इति चतुर्विधः, स च बुद्धिकृतः अबुद्धिकृतश्चेति द्विधा भवतीति  
 शेषः ॥ ७० ॥

पुनरिति । सः अपराधः पुनर्द्विधा द्विप्रकारः ज्ञेयः, कारितः  
 तथा अनुमोदितश्च । स च सक्तात्कृतः, असक्तात्कृतः तथा  
 अभ्यस्तकृतः स्वभावकृत इति चतुर्विधः ॥ ७१ ॥

नेत्रेति । सांसर्गिकमिति । नेत्रवक्त्राद्यैः नयनमुखभङ्गि-  
 प्रभृतिभिर्भावैः धर्मैः मानसिकं, क्रियया कार्य्येण कायिकं क्रूर-  
 शब्दतः कर्कशवाक्यात् वाचिकं साहचर्य्यैः सहवासैः सांसर्गिकं  
 गौरवलाघवं गुरुं लघुञ्च अपराधं ज्ञात्वा उत्पन्नानां तथा  
 उत्पत्त्यमानानां कार्याणां पापकर्मणां दण्डम् आवहेत्  
 कुर्यात् ॥ ७२ ॥ ७३ ॥

प्रथममिति । उत्तमः उत्कृष्टो जनः कुर्वन् पापमिति शेषः  
 प्रथमं साहसं दण्डम् अर्हति, किञ्च एतत्कार्य्यं किं न्याय्यं

अपराधं यथोक्तं च द्विगुणं त्रिगुणं ततः ।

मध्यमं साहसं कुर्वन्नुत्तमो दण्डमर्हति ॥ ७५ ॥

धिग्दण्डं प्रथमं चाद्यसाहसं तदनन्तरम् ।

यथोक्तं तु तथा सम्यग् यथावृद्धिं ह्यनन्तरम् ॥ ७६ ॥

उत्तमं साहसं कुर्वन्नुत्तमो दण्डमर्हति ॥ ७७ ॥

प्रथमं साहसं चादौ मध्यमं तदनन्तरम् ।

यथोक्तं द्विगुणं पश्चादवरोधं ततः परम् ॥ ७८ ॥

न्यायादनपेतम् ? तव एव इयम् असत्कृतिः अकार्यम् इति  
तं संपृच्छेत् ॥ ७४ ॥

अपराधमिति । उत्तमः जनः ततः तदपेक्षया पूर्वापेक्षये-  
त्यर्थः अधिकं पापं कुर्वन् मध्यमं साहसं दण्डं, यथोक्तम् एतत्-  
कार्यं किं न्याय्यमित्यादिकम् अपराधं द्विगुणं, त्रिगुणं वा  
पापानुसन्नेति भावः अर्हति ॥ ७५ ॥

धिग्दण्डमिति । प्रथमम् अल्पापराधे इति शेषः धिक्  
त्वं निन्दामीति दण्डं तदनन्तरं द्वितीयापराधे इत्यर्थः आद्य-  
साहसं प्रथमसाहसाख्यं दण्डं, तथा अनन्तरं यथावृद्धिं अप-  
राधानामिति शेषः तदनुरूपं यथोक्तम् उक्तरूपं सम्यक् दण्डं  
कुर्यादिति क्रियापदमध्याहार्यम् ॥ ७६ ॥

उत्तममिति । उत्तमः जनः कुर्वन् अधिकापराधमिति  
शेषः उत्तमं साहसं दण्डम् अर्हति ॥ ७७ ॥

प्रथममिति । आदौ प्रथमापराधे प्रथमं साहसं, तदनन्तरं  
मध्यमं साहसं पश्चात् तदनन्तरमपि अपराधे इत्यर्थः यथोक्तम्

बुद्धिपूर्वनृघातेन विनैतद् दण्डकल्पनम् ॥७६॥

उत्तमत्वं मध्यमत्वं नीचत्वं चात्र कीर्त्यते ।

गुणेनैव तु मुख्यं हि कुलेनापि धनेन च ॥८०॥

प्रथमं साहसं कुर्वन् मध्यमो दण्डमर्हति ।

धिग्दण्डमर्द्धदण्डं च पूर्णदण्डमनुक्रमात् ॥८१॥

द्विगुणं त्रिगुणं पश्चात् संरोधं नीचकर्म च ।

मध्यमं साहसं कुर्वन् मध्यमो दण्डमर्हति ॥८२॥

उक्तरूपं द्विगुणं दण्डं, ततः परम् अवरोधं कारानिरोधरूपं  
दण्डम् अर्हतीति शेषः ॥ ७८ ॥

बुद्धीति । बुद्धिपूर्वनृघातेन ज्ञानपूर्वकनरहत्याया विना त  
दृशनरहत्याव्यतिरिक्तस्थाने इत्यर्थः एतेषां पूर्वोक्तानां दण्डानां  
प्रथमसाहसादीनां प्रकल्पनं व्यवस्थापनं कार्यमिति शेषः ॥७९॥

उत्तमत्वमिति । अत्र प्रकरणे यत् उत्तमत्वं मध्यमत्वं नीच  
त्वम् अधमत्वञ्च कीर्त्यते, तत् गुणेन कुलेन धनेन च मुख्यं  
प्रधानं सम्यक् इत्यर्थः यथा तथा ज्ञेयमिति शेषः ॥ ८० ॥

प्रथममिति । मध्यमः कुर्वन् पापमिति शेषः प्रथमं साह  
धिग्दण्डं त्वां धिगिति निर्भर्त्सनरूपम् अर्द्धदण्डं वा पूर्णदण्डं  
अनुक्रमात् अपराधस्य पौनः पुन्येन गौरवलाघवाभ्यां वा दण्डं  
अर्हति ॥ ८१ ॥

द्विगुणमिति । मध्यमः पापं कुर्वन् मध्यमं साहसं द्वि  
त्रिगुणं वा पश्चात् संरोधं कारावरोधं तत्र नीचकर्म निज  
कार्यकरणरूपञ्च दण्डम् अर्हति अपराधतारतम्येनेदमि  
ज्ञेयम् ॥ ८२ ॥

पूर्वसाहसमादौ तु यथोक्तं द्विगुणं ततः ।  
 ताडनं बन्धनं पश्चात् पुरान्निर्वासनाङ्कने ।  
 उत्तमं साहसं कुर्वन् मध्यमो दण्डमर्हति ॥८३॥  
 मध्यमं साहसं चादौ यथोक्तं तदनन्तरम् ।  
 द्विगुणं त्रिगुणं पश्चाद् यावज्जीवं तु बन्धनम् ।  
 प्रथमं साहसं कुर्वन्नधमो दण्डमर्हति ॥८४॥  
 अर्धं यथोक्तं द्विगुणं त्रिगुणं बन्धनं ततः ।  
 मध्यमं साहसं कुर्वन्नधमो दण्डमर्हति ॥८५॥  
 पूर्वसाहसमादौ तु यथोक्तं द्विगुणं ततः ।  
 ततः संरोधनं नित्यं मार्गसंस्करणार्थकम् ।  
 उत्तमं साहसं कुर्वन् अधमो दण्डमर्हति ॥८६॥

पूर्वेति । मध्यमः पापं कुर्वन् आदौ पूर्वसाहसं प्रथमं  
 साहसं ततः तदनन्तरं यथोक्तं द्विगुणं पश्चात् ताडनं प्रहारं ततः  
 बन्धनं पुरात् नगरात् निर्वासनं वह्निष्करणम् अङ्कनं मात्रे  
 चिरचिह्नकरणम् उत्तमं साहसञ्च दण्डम् अर्हति ॥ ८३ ॥

मध्यममिति । अधमः पापं कुर्वन् आदौ प्रथमं साहसं ततः  
 मध्यमं साहसं तदनन्तरं यथोक्तम् उक्तरूपं द्विगुणं त्रिगुणं पश्चात्  
 यावज्जीवं बन्धनं कारावासरूपं दण्डम् अर्हति ॥ ८४ ॥

अर्धमिति । अधमः पापं कुर्वन् यथोक्तम् अर्धं द्विगुणं त्रि-  
 गुणं ततः बन्धनं मध्यमं साहसं दण्डम् अर्हति । एतच्च पाप-  
 विशेषेणेति ज्ञेयम् ॥ ८५ ॥

पूर्वसाहसमिति । मध्यममिति । अधमः पापं कुर्वन् आदौ

मध्यमं साहसं चादौ यथोक्तं द्विगुणं ततः ।  
यावज्जीवं बन्धनं च नीचकर्मैव केवलम् ॥८७॥  
हरेत् पादं धनात् तस्य यः कुर्याद्वनगर्वतः ।  
पूर्वं ततोऽर्द्धमखिलं यावज्जीवं तु बन्धनम् ॥८८॥  
सहायगौरवाद् विद्यामदाच्च बलदर्पतः ।  
पापं करोति यस्तं तु बन्धयेत् ताडयेत् सदा ॥८९॥  
भार्या पुत्रश्च भगिनी शिष्यो दासः स्नुषानुजः ।  
कृतापराधास्ताड्यास्ते तनुरज्जुमुवेणुभिः ॥९०॥

पूर्वसाहसं प्रथमसाहसं ततः यथोक्तं द्विगुणं ततः नित्यं मार्गस्य  
पथः संस्करणार्थकम् परिष्कारकरणार्थमित्यर्थः संरोधनम् अ-  
रोधम् उत्तमसाहसञ्च अथवा आदौ मध्यमं साहसं ततः तयोर्द्वि-  
गुणं यावज्जीवं बन्धनं केवलं नीचकर्म च निष्कृष्टकार्यकार-  
रूपञ्च दण्डम् अर्हति ॥ ८६ ॥ ८७ ॥

हरेदिति । यः धनगर्वतः पापं कुर्यात् पूर्वं प्रथमापराधे  
इत्यर्थः तस्य धनात् पादं, ततः द्वितीयापराधे इत्यर्थः दा-  
ततः तृतीयापराधे अखिलं समस्तं धनमित्यर्थः हरेत् । तद-  
न्तरापराधे यावज्जीवं बन्धनं कारावरोधरूपं दण्डनं कर्तव्य-  
मिति शेषः ॥ ८८ ॥

सहायेति । यः सहायस्य गौरवात् विद्यामदात् विद-  
जनिताहङ्कारात् तथा बलदर्पतः सामर्थ्याहङ्कारात् पापं करो-  
ति तु सदा बन्धयेत् कारायाम् अवरुन्ध्यात् ताडयेच्च ॥ ८९ ॥

भार्येति । पृष्ठत इति । भार्या पुत्रः भगिनी शिष्यः दासः  
स्नुषा पुत्रबधूः अनुजः कनिष्ठभ्राता, ते कृतापराधाः तनुनि

पृष्ठतस्तु शरीरस्य नोत्तमाङ्गे कथञ्चन ।

अतोऽन्यथा तु प्रहरंश्चोरवदण्डमर्हति ॥ ८१ ॥

नौचकर्मकरं कुर्याद् बन्धयित्वा तु पापिनम् ।

मासमात्रं त्रिमासं वा षण्मासं वापि वत्सरम् ।

यावज्जीवं तु वा कश्चित् न कश्चिद् बधमर्हति ॥ ८२ ॥

न निहन्याच्च भूतानि त्विति जागर्त्ति वै श्रुतिः ।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन बधदण्डं त्यजेत् नृपः ॥ ८३ ॥

अवरोधाद् बन्धनेन ताडनेन च कर्षयेत् ।

लोभान्न कर्षयेद्राजा धनदण्डेन वै प्रजाम् ॥ ८४ ॥

रज्जुभिः सुवेणुभिः शरीरस्य पृष्ठतस्तु पृष्ठभागे एव ताड्याः  
प्रहार्याः कदाचन उत्तमाङ्गे शिरसि न ताड्या इत्यर्थः अतः  
अस्मात् उक्तात् अन्यथा अन्यप्रकारेण तु प्रहरन् चोरवत् तस्कर  
इव दण्डम् अर्हति ॥ ८० ॥ ८१ ॥

नौचकर्मन्ति । कश्चित् पापिनं मासमात्रं त्रिमासं वा  
षण्मासं वा वत्सरं वा यावज्जीवं व्याप्य बन्धयित्वा कारायां  
निरुध्य नौचकर्मकरं निष्कृष्टकर्मकारिणं कुर्यात्, किन्तु  
कश्चित् कोऽपि बधं बधदण्डं न अर्हति ॥ ८२ ॥

नेति । भूतानि प्राणिनः न निहन्यात् इति श्रुतिः जागर्त्ति  
वै शब्दोऽवधारणार्थः । तस्मात् नृपः सर्वप्रयत्नेन बधदण्डं  
त्यजेत् ॥ ८३ ॥

अवरोधादिति । राजा अवरोधात् बन्धनेन ताडनेन प्रहारेण  
च प्रजां कर्षयेत् पीडयेत्, लोभात् धनदण्डेन न कर्षयेत् ॥ ८४ ॥

नासहायास्तु पित्राद्या दण्डाः स्युरपराधिनः ।  
 क्षमाशीलस्य वै राज्ञो दण्डग्रहणमीदृशम् ॥८५॥  
 नापराधं तु क्षमते प्रदण्डो धनहारकः ।  
 नृपो यदा तदा लोकः क्षुभ्यते भिद्यते परैः ॥८६॥  
 अतः सुभागदण्डी स्यात् क्षमावान् रञ्जको नृपः ॥८७॥  
 मद्यपः कितवः स्तेनो जारश्चण्डश्च हिंसकः ।  
 त्यक्तवर्णाश्रमाचारो नास्तिकः शठ एव हि ॥८८॥  
 मिथ्याभिशापकः कर्णेजपार्य्यदेवदूषको ।  
 असत्यवाङ्मन्यासहारी तथा वृत्तिविधातकः ॥८९॥  
 अन्योदयासहिष्णुश्च ह्युत्कोचग्रहणे रतः ।  
 अकार्य्यकर्त्ता मन्त्राणां कार्य्याणां भेदकस्तथा ।

नेति । अपराधिनः जनस्य असहायाः पित्राद्याः परिजनाः  
 न दण्डाः दण्डनीयाः स्युः । क्षमाशीलस्य राज्ञः ईदृशम् उक्त-  
 रूपं दण्डग्रहणं शासनमित्यर्थः ॥ ८५ ॥

नापराधमिति । यदा नृपः प्रदण्डः तीक्ष्णदण्डः तथा धन-  
 हारकः सन् न क्षमते, तदा लोकः क्षुभ्यते विरज्यते परैः राज-  
 शत्रुभिः भिद्यते संसृज्यते इति यावत् ॥ ८६ ॥

अत इति । अतः अस्मात् कारणात् नृपः सुभागदण्डी सुदु-  
 विभज्य दण्डयतीति तथोक्तः, क्षमावान् तथा रञ्जकः प्रजाना-  
 मिति शेषः स्यात् भवेत् ॥ ८७ ॥

मद्यप इत्यादि । मद्यपः सुरापायी, कितवः धूर्तः, स्तेन-  
 तस्करः, जारः उपपतिः, चण्डः अतिकोपनः, हिंसकः, त्यक्त-

अनिष्टवाक् परुषवाग्जलारामप्रवाधकः ।

नक्षत्रसूची राजद्विट् कुमन्ती कूटकार्यवित् ॥१००॥

कुवैद्यामङ्गलाशौचशीलो मार्गनिरोधकः ।

कुसाक्ष्युद्धतवेशश्च स्वामिद्रोही व्ययाधिकः ॥१०१॥

अग्निदो गरदो वेश्यासक्तः प्रवलदण्डकृत् ।

तथा पाक्षिकसभ्यश्च वलाल्लिखितग्राहकः ॥१०२॥

अन्यायकारी कलहशीलो युद्धे पराङ्मुखः ।

साक्ष्यलोपी पितृमातृसतीस्त्रीमितद्रोहकः ॥१०३॥

वर्णाश्रमाचारः वर्णानां ब्राह्मणादीनाम् आश्रमाणां ब्रह्मचर्यादीनाञ्च आचारत्यागी, नास्तिकः, शठः, खलः, मिथ्याभिशापकः मिथ्यादोषारोपकः कर्णेजपः अन्यं प्रति अन्यस्य विरागोत्पादकः, आर्यान् साधून् देवांश्च दूषयतीति तद्योक्तः, असत्यवाक् मिथ्यावादी, न्यासापहारी गच्छितधनापहारकः, वृत्तिविघातकः जीविकाव्याघातकारी, अन्यस्य उदयासहिष्णु अभ्युदयासहनः उत्कोचग्रहणे रतः, अकार्यकर्त्ता दुष्कर्मी, मन्त्राणां तथा कार्याणां भेदकः भङ्गकृत्, अनिष्टवाक्, अप्रियवादी, परुषवाक् निष्ठुरभाषी, जलस्य आरामस्य उद्यानस्य च प्रवाधकः बाधाकारी, नक्षत्रसूची हयादैवज्ञः, राजद्विट् राजद्रोही, कुमन्ती, कूटकार्यवित् कूटानां कपटानां कार्याणां वेत्ता, कुवैद्यः, कुचिकित्सकः, अमङ्गलशीलः अशुचिः, मार्गनिरोधकः अध्वप्रतिबन्धकः, कुसाक्षी, उद्धतवेशः, स्वामीद्रोही प्रभुद्वेषा, व्ययाधिकः, अपरिमितव्ययशीलः, अग्निदः अग्निदानेन गृहादिदाहकः, गरदः विषप्रयोगेण प्राणहन्ता, वेश्यासक्तः

असूयकः शत्रुसेवी मर्मभेदी च वञ्चकः ।

स्वकीयद्विङ्गुप्तवृत्तिर्वृषलो ग्रामकण्टकः ॥१०४॥

विना कुटुम्बभरणात् तपोविद्यार्थिनः सदा ।

तृणकाष्ठादिहरणे शक्तः सन् भैक्ष्यभोजकः ॥१०५॥

कन्याया अपि विक्रेता कुटुम्बवृत्तिक्लासकः ।

अधर्मासूचकश्चापि राजानिष्टमुपेक्षकः ॥१०६॥

कुलटा पतिपुत्रघ्नी स्वतन्त्रा वृद्धनिन्दिता ।

गृहकृत्योज्झिता नित्यं दुष्टाचाराप्रियस्तुषा ।

स्वभावदुष्टानेतान् हि ज्ञात्वा राष्ट्राद् विवासयेत् १०७

प्रबलदण्डकृत् तीक्ष्णदण्डकारी राजपुरुषः, पाक्षिकः पक्षपाती

सभ्यः विचारदर्शी पुरुषः, बलात् लिखितस्य लेख्यस्य ग्राहकः

ग्रहणकारी, अन्यायकारी अविचारकः कलहशीलः विवाद

प्रियः, युद्धपराङ्मुखः सैनिकपुरुषः, साक्ष्यलोपी साक्ष्यलोप

कारी, पितृद्रोही, मातृद्रोही, सतीस्त्रीद्रोही, मित्रद्रोही,

असूयकः परगुणेषु दोषारोपणकृत्, शत्रुसेवी शत्रुपक्षः, मर्म

भेदी, असह्यकर्मकारी, वञ्चकः प्रतारकः, स्वकीयानाम् आत्मी

यानां द्वेषा, गुप्तवृत्तिः गूढजीविकः, वृषलः धर्मघाती ग्राम

कण्टकः, कुटुम्बभरणात् कुटुम्बानां परिजनानां भरणात् विना

भरणमकृत्वा इत्यर्थः सदा तपोविद्यार्थिनः तपसि विद्यायां वा

आसक्ताः पुरुषाः, कुटुम्बानामवश्यपोष्यत्वात् तेषां तपोविद्यानु

ष्ठानमविच्छित्तरमिति भावः । तृणकाष्ठादीनां हरणे संग्रह

शक्तः समर्थोऽपि भैक्ष्यभोजकः भिक्षावृत्तिः, कन्याया विक्रेता

कन्याविक्रयी, कुटुम्बानां पोष्यवर्गाणां वृत्तिक्लासकः जीविका

द्वीपे निवासितव्यास्ते बध्वा दुर्गोदरेऽथवा ।

मार्गसंस्करणे योज्याः कदन्न न्यूनभोजनाः ॥ १०८ ॥

तत् तत् जाल्युक्तकर्माणि कारयीत च तैर्नृपः ॥ १०९ ॥

एवंविधानसाधूंश्च संसर्गेण च दूषितान् ।

दण्डयित्वा च सन्मार्गे शिचयेत् तान् नृपः सदा ११०

राज्ञो राष्ट्रस्य विवृतिं तथा मन्त्रिगणस्य च ।

ज्ञासकारी, अधर्मा अधार्मिकः सूचकः दुर्जनः, राज्ञः अनिष्टम्

उपेक्षकः केनचित् क्रियमाणस्य राजानिष्टस्य उपेक्षाकारीत्यर्थः

तथा कुलटा, व्यभिचारिणी पतिपुत्रघ्नी, स्वामिसुतनाशिनी

सतन्त्रा स्वेच्छाचारिणी वृद्धनिन्दिता प्राचीनगर्हिता, गृह-

कृत्योज्झिता, त्यक्तगृहकृत्या, नित्यं सततं दुष्टाचारा दुराचारा

अप्रिया स्तुषा पुत्रबधूः, एतान् स्वभावदुष्टान् ज्ञात्वा राष्ट्रात्

राज्यात् विवासयेत् निर्वासयेत् राजेति कर्तृपदमूह्यम् ॥ ८८-१०७

द्वीपे इति । ते पूर्वोक्ताः मद्यपादयः द्वीपे द्वीपान्तरे नि-

वासितव्याः अथवा दुर्गोदरे दुर्गाभ्यन्तरे बध्वा मार्गस्करणे अध्व-

परिष्करणे कदन्नन्यूनभोजनाः कुत्सितान्नं तदपि न्यूनं भुञ्जते

इति तथोक्ताः कृत्वा योज्याः नियोक्तव्याः ॥ १०८ ॥

तत्तदिति । नृपः तैः मद्यपादिभिः तत्तज्जाल्युक्त कर्माणि च

कारयीत कारयेत् कारयीत इति आर्षोऽयं प्रयोगः ॥ १०९ ॥

एवंविधानिति । नृपः एवंविधान् उक्तप्रकारान् असाधून्

दुर्जनान् तथा संसर्गेण तेषां पापिनां साहचर्येण दूषितांश्च

जनान् दण्डयित्वा सदा सन्मार्गे सदाचारि तान् शिचयेत् ॥ ११०

राज्ञ इति । ये जनाः शत्रुसम्बन्धात् शत्रोरुपजापात् परा-

मर्शादित्यर्थः राज्ञः राष्ट्रस्य राज्यस्थजनस्य तथा मन्त्रिगणस्य

इच्छन्ति शत्रुसम्बन्धाद्ये तान् हन्याद्विद्राङ्मृपः ॥ १११ ॥

नेच्छेच्च युगपद् क्वासं गणदौष्ट्ये गणस्य च ।

एकैकं घातयेद्राजा वत्सोऽश्नाति यथा स्तनम् ॥ ११२ ॥

अधर्मशीलो नृपतिर्यदा तं भीषयेज्जनः ।

धर्मशीलातिबलवद्विपोराश्रयतः सदा ॥ ११३ ॥

यावत् तु धर्मशीलः स्यात् सनृपस्तावदेव हि ।

अन्यथा नश्यते लोको द्राङ्मृपोऽपि विनश्यति ॥ ११४ ॥

मातरं पितरं भार्यां यः सन्यज्य विवर्त्तते ।

निगडैर्बन्धयित्वा तं योजयेन्मार्गसंस्कृतौ ।

विकृतिं वैपरीत्यम् इच्छन्ति, नृपः द्राक् भटिति तान् हन्यात्  
हि नाशयेदेव हिशब्दोऽवधारणार्थः ॥ १११ ॥

नेच्छेदिति । राजा गणानां समूहानां दौष्ट्ये दुष्टतायां  
गणस्य समूहस्य युगपद् समकालमेव क्वासं विनाशं न इच्छेत्,  
यथा वत्सः शिशुः स्तनम् एकैकमित्यर्थः अश्नाति पिबति तथा  
एकैकं दुर्जनं क्रमशः घातयेत् तद्दर्शनेन अपरे तत्पापात् नि-  
वर्त्तन्तामिति भावः ॥ ११२ ॥

अधर्मशील इति । यदा नृपतिः अधर्मशीलः दुराचारः  
भवेत् तदा जनः धर्मशीलस्य अतिबलवतः रिपोः राजविपक्षस्य  
आश्रयतः आश्रयेण तं नृपतिं सदा भीषयेत् भयं दर्शयेत् ॥ ११३ ॥

यावदिति । यावत् नृपः धर्मशीलः स्यात् तावदेव सः नृपः हि  
राजा सन् तिष्ठतीति भावः । अन्यथा तस्य अधर्मशीलत्वे इत्यर्थः  
लोकः नश्यते, नृपोऽपि सः द्राक् भटिति विनश्यति ॥ ११४ ॥

मातरमिति । यः मातरं पितरं भार्याञ्च सन्यज्य विवर्त्तते

तद् भृत्यद्वै तु सन्दद्यात् तेभ्यो राजा प्रयत्नतः ११५

विद्यात् पणसहस्रं तु दण्ड उत्तमसाहसः ।

दशमाधमितं ताम्रं तत् पणो राजमुद्रितम् ।

वराटिसार्द्धशतकमूल्यः कार्षापणश्च सः ॥११६॥

तदर्धश्च तदर्धश्च मध्यमः प्रथमः क्रमात् ।

प्रथमे साहसे दण्डः प्रथमश्च क्रमात् परौ ॥११७॥

मध्यमे मध्यमो धार्य्यश्चोत्तमे तूत्तमो नृपैः ।

सोपायाः कथिता मिश्रे मित्रोदासीनशत्रवः ॥ ११८

इति शुक्रनीतौ चतुर्थाध्यायस्य सुहृदादिलक्षणां

नाम प्रथमं प्रकरणम् ।

यथेच्छं व्यवहरतीत्यर्थः राजा तं निगडैः पादशृङ्खलैः बन्धयित्वा  
मार्गाणां पथां संस्कृतौ बन्धनादिकर्मणि योजयेत्, तथा तस्य  
भृत्यद्वै तेभ्यः तत् पिबमात्रादिभ्यः प्रयत्नतः यत्नेन सन्दद्यात् ११५

विद्यादिति । पणानां सहस्रम् उत्तमसाहसः उत्तमसाह-  
साख्यः दण्डः, पणश्च दशभिर्माषैः मितं परिमितं राजमुद्रितं  
तत् प्रसिद्धं ताम्रं ताम्रमुद्रा इत्यर्थः । स पणः वराटीनां सार्द्ध-  
शतकं मूल्यं यस्य तादृशः कार्षापणश्च कथ्यते इति विद्यात् ११६

तदर्ध इति । तदर्धः तस्य उत्तमसाहसस्य अर्धः मध्यमः  
साहसः तदर्धश्च प्रथमसाहसः क्रमात् बोद्धव्य इति शेषः ।  
प्रथमे साहसे प्रथमो दण्डः, क्रमात् परौ मध्यमसाहसोत्तम  
साहसौ वेद्यौ ॥ ११७ ॥

मध्यमे इति । नृपैः मध्यमे पापे मध्यमो दण्डः, उत्तमे

चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयं प्रकरणम् ।

अथ कोशप्रकरणं ब्रूवे मिश्रे द्वितीयकम् ।

एकार्थसमुदायो यः स कोशः स्यात् पृथक् पृथक् ॥ १ ॥

येन केन प्रकारेण धनं सञ्चिनुयात् नृपः ।

तेन संरक्षयेद्राष्ट्रं बलं यज्ञादिकाः क्रियाः ॥ २ ॥

बलप्रजारक्षणार्थं यज्ञार्थं कोशसंग्रहः ।

परत्वेह च सुखदो नृपस्यान्यश्च दुःखदः ॥ ३ ॥

उत्तमः दण्डः धार्म्यः कार्यः । मिश्रे मिश्राध्याये सोपायाः

उपायैः सामादिभिः सहिताः मितोदासीनशत्रवः कथिताः

उक्ताः ॥ ११८ ॥

इति श्रीजीवानन्दविद्यासागरभट्टाचार्यविरचितं चतुर्थाध्यायस्य

प्रथमप्रकरणव्याख्यानं समाप्तम् ।

अथेति । अथ अनन्तरं मिश्रे अध्याये द्वितीयकं कोश-  
प्रकरणं ब्रूवे कथयामि, एकेषां कतिपयानाम् अर्थानां समुदायः  
समंष्टिः यः, सः पृथक् पृथक् विविधप्रकारः कोशः स्यात् ॥ १ ॥

येनेति । नृपः येन केन प्रकारेण धनं सञ्चिनुयात् संगृही-  
यात् तेन च धनेन राष्ट्रं राज्यरक्षार्थं पुरुषं बलं सैन्यं यज्ञादिकाः  
क्रियाश्च संरक्षेत् ॥ २ ॥

बलेति । बलानां सैन्यानां प्रजानाञ्च रक्षणार्थं यज्ञार्थञ्च  
कोशसंग्रहः धनसञ्चयः नृपस्य परत्र परकाले इह च अस्मिन्  
काले च सुखप्रदः, अन्यः तदव्यतिरिक्त इत्यर्थः धनसञ्चयः  
दुःखदः ॥ ३ ॥

स्त्रीपुत्रार्थं कृतो यश्च स्त्रीपभोगाय केवलम् ।  
 नरकायैव स ज्ञेयो न परत्र सुखप्रदः ॥४॥  
 अन्यायेनार्जितो यस्माद् येन तत् पापभाक् च सः ।  
 सुपात्रतो गृहीतं यद् दत्तं वा वर्द्धते च तत् ॥५॥  
 स्वागमी सद्व्ययी पात्रमपात्रं विपरीतकम् ।  
 अपात्रस्य हरेत् सर्वं धनं राजा न दोषभाक् ॥६॥  
 अधर्मशीलात् नृपतिः सर्वशः संहरेद्धनम् ।  
 कृलाद् बलाद् दस्युवृत्त्या परराष्ट्राद्धरेत् तथा ॥७॥  
 त्यक्त्वा नीतिबलं स्त्रीयप्रजापीडनतो धनम् ।

स्त्रीपुत्रार्थमिति । केवलं स्त्रीपुत्रार्थं भार्यासुतभरणार्थं  
 स्वस्य आत्मनः उपभोगाय च यः सञ्चयः कृतः, स नरकाय एव  
 ज्ञेयः परत्र न सुखप्रदश्च ॥ ४ ॥

अन्यायेनेति । येन जनेन यः अर्थः अन्यायेन उपार्जितः  
 स्यात्, सः जनः तस्य अन्यायोपार्जनस्य पापभाक् भवति । यत्  
 धनं सुपात्रतः साधोः सकाशात् गृहीतं वा दत्तं सुपात्रे इति  
 शेषः तत् वर्द्धते वृद्धिं प्राप्नोति ॥ ५ ॥

स्वागमीति । स्वागमी सुष्ठु आगमवान् न्यायोपार्जक  
 इत्यर्थः तथा सद्व्ययी सत्कार्यं व्ययशीलः जनः पात्रं, तस्य  
 विपरीतकम् अपात्रम् राजा अपात्रस्य सर्वं धनं हरेत् तत्र न  
 दोषभाक् भवतीति शेषः ॥ ६ ॥

अधर्मेति । नृपः अधर्मशीलात् जनात् धनं सर्वशः सर्वैः  
 प्रकारैः कृलात् बलात् दस्युवृत्त्या वा हरेत्, तथा परराष्ट्रात्  
 शत्रुराज्यात् सर्वैः प्रकारैः हरेत् राजेति शेषः ॥ ७ ॥

सञ्चितं येन तत्तस्य सराज्यं शत्रुसाङ्गवेत् ॥८॥  
 दण्डभूभागशुल्कानामाधिक्यात् कोशवर्द्धनम् ।  
 अनापदि न कुर्वीत तीर्थदेवकरग्रहात् ॥९॥  
 यदा शत्रुविनाशार्थं बलसंरक्षणोद्यतः ।  
 विशिष्टदण्डशुल्कादि धनं लोकात् तदा हरेत् ॥१०॥  
 धनिकेभ्यो भृतिं दत्त्वा स्वापत्तौ तद्धनं हरेत् ।  
 राजा स्वापत्समुत्तीर्णस्तत् खं दद्यात् सप्तद्विकम् ॥११॥

त्यक्तेति । येन नीतिबलं त्यक्त्वा स्वीयप्रजानां पीडनत्  
 पीडनात् धनं सञ्चितं, तस्य तत् धनं सराज्यं राज्यसहितं  
 शत्रुसात् भवेत् शत्रुहस्तगतं भवेत् ॥ ८ ॥

दण्डेति । अनापदि अविपन्नावस्थायां दण्डानां भूभा-  
 गानां शुल्कानाञ्च आधिक्यात् वृद्धिकरणात् तथा तीर्थानां पुण्य-  
 क्षेत्राणां गयादीनां देवानां जगन्नाथादीनां करस्य दर्शनादि  
 देयत्वेन निर्दिष्टस्य धनस्य ग्रहात् ग्रहणात् कोशवर्द्धनं धनवृद्धि-  
 न कुर्वीत राजेति शेषः । अनापदीत्यभिधानात् आपदि ग्रह-  
 न दोष इति सूचितम् ॥ ९ ॥

यदेति । यदा शत्रुविनाशार्थं बलानां सैन्यानां संरक्षण-  
 उद्यतः भवति, तदा लोकात् विशिष्टं वर्द्धितं दण्डशुल्कादि  
 धनम् हरेत् गृह्णीयात् ॥ १० ॥

धनिकेभ्य इति । राजा स्वस्य आपत्तौ आपदि भृतिं ह-  
 दत्त्वा दास्यामीति प्रतिज्ञायेत्यर्थः धनिकेभ्यः यत् धनं ह-  
 ऋणरूपेण गृह्णीयात्, स्वस्य आपदः समुत्तीर्णः सन् तत्  
 धनं सप्तद्विकं वृद्धिसहितं दद्यात् तेभ्य इति शेषः ॥ ११ ॥

प्रजान्यथा हीयते च राज्यं कोशो नृपस्तथा ।

हीना प्रबलदण्डेन सुरथाद्या नृपा यतः ॥१२॥

दण्डभूभागशुल्कैस्तु विना कोशाद् बलस्य च ।

संरक्षणं भवेत् सम्यग् यावद् विंशतिवत्सरम् ।

तथा कोशस्तु सन्धार्यः स्वप्रजारक्षणक्षमः ॥१३॥

बलमूलो भवेत् कोशः कोशमूलं बलं स्मृतम् ।

बलसंरक्षणात् कोशराष्ट्रवृद्धिररिचयः ॥१४॥

जायते तत् त्वयं स्वर्गः प्रजासंरक्षणेन वै ॥१५॥

प्रजेति । अन्यथा धनाभावात् बलसंरक्षणे अक्षते इत्यर्थः  
प्रजा राज्यं कोशः धनं तथा नृपः प्रबलदण्डेन शत्रुणा हीयते,  
यतः सुरथाद्या अपि नृपाः हीनाः प्रबलदण्डेनेत्यपि अत्र  
योज्यम् ॥ १२ ॥

दण्डेति । दण्डभूभागशुल्कैः दण्डैः दण्डलब्धैः भूभागैः  
भूमिविभागलब्धैः करैः तथा शुल्कैः बाणिज्यादिलब्धैः राजकरैः  
विना एतान् अगृहीत्वेत्यर्थः कोशात् यादृशादिति शेषः यावत्  
विंशतिवत्सरं विंशतिवर्षपर्यन्तं सम्यक् बलस्य सैन्यस्य संरक्षणं  
भवेत्, तथा तादृशः स्वप्रजानां रक्षणे क्षमः कोशः धनराशिः  
सन्धार्यः सञ्चेयः ॥ १३ ॥

बलमूल इति । कोशः बलं मूलं यस्य तथाभूतः, बलाना-  
मेव सामर्थ्यात् कोशसञ्चय इति भावः, बलञ्च कोशमूलं धन-  
मूलं स्मृतं धनेनैव तेषां रक्षणादिति भावः । बलानां संरक्षणात्  
कोशानां धनानां राष्ट्राणाञ्च वृद्धिः अरीणां शत्रूणां क्षयश्च  
भवतीति शेषः ॥ १४ ॥

यन्नार्थं द्रव्यमुत्पन्नं यन्नः स्वर्गसुखायुषे ।

अर्थभावो बलं कोशो राष्ट्रवृद्धौ त्वयं त्विदम् ॥१६॥

तद् वृद्धिर्नीतिनैपुण्यात् क्षमाशीलनृपस्य च ।

जायतेऽतो यतेतैव यावत् बुद्धिबलोदयम् ॥१७॥

मालाकारस्य वृत्त्यैव स्वप्रजारक्षणेन च ।

शत्रुं हि करदीकृत्य तद्धनैः कोशवर्द्धनम् ॥१८॥

करोति स नृपश्रेष्ठो मध्यमो वैश्यवृत्तितः ।

अधमः सेवया दण्डतीर्थदेवकरग्रहैः ॥१९॥

जायते इति । प्रजानां संरक्षणेन सम्यक् पालनेन तत् त्वयं कोशानां राष्ट्राणां वृद्धिरिच्छयश्च एतत् त्वयं स्वर्गश्च जायते वैशब्दोऽवधारणार्थः ॥ १५ ॥

यन्नार्थमिति । यन्नार्थं यागानुष्ठानार्थं द्रव्यं धनम् उत्पन्नं यन्नः स्वर्गाय सुखाय, आयुर्वर्द्धनाय च भवति । अर्थभावः शत्रोरभावः बलं सैन्यं कोशः धनम् इदं त्वयन्तु राष्ट्रस्य वृद्धौ भवतीति शेषः ॥ १६ ॥

तदिति । क्षमाशीलस्य नृपस्य नीतिनैपुण्यात् तद् वृद्धिः तेषाम् अर्थभावादीनां वृद्धिः जायते, अतः अस्मात् कारणात् यावत् बुद्धिबलोदयं बुद्धिबलोदयानुसारेण यतेत एव तद् वृद्धये इति शेषः ॥ १७ ॥

मालाकारस्येति । करोतीति । यः मालाकारस्य वृत्त्या व्यवहारेण इव स्वप्रजारक्षणेन शत्रुं करदीकृत्य अकरदान् करदान् कृत्वा अधिनीकृत्येत्यर्थः तस्य धनैः कोशवर्द्धनं करोति, सः नृपश्रेष्ठः । यः वैश्यवृत्तितः व्यवसायादिना इत्यर्थः कोश-

प्रजा हीनधना रक्ष्या भृत्या मध्यधनाः सदा ।

यथाधिकृतं प्रतिभुवोऽधिकद्रव्यास्तथोत्तमाः ॥२०॥

धनिकाश्चोत्तमधना न हीना नाधिका नृपैः ॥२१॥

द्वादशाब्दप्रपूरं यद्वनं तन्नीचसंज्ञकम् ।

पर्याप्तं षोडशाब्दानां मध्यमं तद्वनं स्मृतम् ।

त्रिंशदब्दप्रपूरं यत् कुटुम्बस्योत्तमं धनम् ॥२२॥

क्रमादर्थं रक्षयेद् वा स्थापत्तौ नृप एषु वै ॥२३॥

वर्द्धनं करोति स मध्यमः अधमः सेवया भृत्यभावेन दण्ड देवानां  
तीर्थदेवानां देवदर्शनदेवानां काराणां ग्रहैः ग्रहणैः कोशवर्द्धनं  
करोतीत्यर्थः ॥ १८ ॥ १९ ॥

प्रजेति । हीनधनाः तथा मध्यधनाः प्रजाः भृत्या वेतना-  
दिना सदा रक्ष्याः पालनीयाः, अधिकद्रव्याः महाधनाः उत्त-  
मास्तु प्रजाः अधिकृतं प्रभुर्यथा स्वामीव प्रतिभुवः कृत्वा रक्ष्याः  
राज्ञेति शेषः ॥ २० ॥

धनिका इति । उत्तमधना धनिकाः धनवन्तश्च नृपैः न  
हीनाः नच अधिकाः नृपतुल्या इत्यर्थः भवन्तीति शेषः ॥ २१ ॥

द्वादशेति । यत् धनं कुटुम्बस्य परिवारस्य द्वादशाब्दप्रपूरं  
द्वादशवर्षव्ययोपयुक्तं तद् नीचसंज्ञकम् अधममित्यर्थः, यत्  
षोडशाब्दानां पर्याप्तं व्ययोपयुक्तं तत् मध्यमं, यच्च त्रिंशदब्द-  
प्रपूरं त्रिंशद्वत्सरव्ययोपयुक्तं तत् उत्तमं स्मृतम् ॥ २२ ॥

क्रमादिति । नृपः स्वस्य आपत्तौ आपदि एषु पूर्वोक्तेषु  
धनिकेषु क्रमात् अर्थं रक्षयेत् स्थापयेत् वा वाशब्दः विकल्पार्थः  
॥ २३ ॥

मूलैर्व्यवहरन्त्यर्धेन वृद्ध्या वणिजः क्वचित् ।  
 विक्रीणन्ति महार्धे तु हीनार्धे सञ्चयन्ति हि ॥२४॥  
 व्यवहारे धृतं वैश्यैस्तद्वनेन विना सदा ।  
 अन्यथा स्वप्रजातापो नृपं दहति सान्वयम् ॥२५॥  
 धान्यानां संग्रहः कार्यो वत्सरत्रयपूर्तिदः ।  
 तत् तत्काले खराष्ट्रार्थं नृपेणात्महिताय च ।  
 चिरस्थायी समृद्धानामधिको वापि चेष्ट्यते ॥२६॥  
 सुपुष्टं कान्तिमज्जातिश्रेष्ठं शुष्कं नवीनकम् ।

मूलैरिति । वणिजः व्यवसायिनः क्वचित् कदाचित् अर्धेः  
 मूल्यभूतैः मूलैः मूलधनैः व्यवहरन्ति क्रयविक्रयव्यवहारान्  
 कुर्वन्ति, न वृद्ध्या न लाभेनेत्यर्थः । किञ्च महार्धं महामूल्ये  
 विक्रीणन्ति, हीनार्धं अल्पमूल्ये सञ्चयन्ति क्रीणन्तीत्यर्थः हिम-  
 वद्वावधारणार्थः ॥ २४ ॥

व्यवहारे इति । व्यवहारे वाणिज्यायेत्यर्थः यत् वैश्यैः वणि-  
 ग्भिः धृतं वस्तु तत् धनेन मूल्येन विना सदा कदाचिदपीत्यर्थः  
 न ग्रहणीयं वलात् राज्ञेति पदत्रयमध्याहार्यम् । अन्यथा वलात्  
 हरणे इत्यर्थः स्वस्य प्रजानां वणिजामित्यर्थः तापः मनःक्षोभः  
 सान्वयं सर्वशं नृपं दहति ॥ २५ ॥

धान्यानामिति । नृपेण आत्महिताय स्वस्य राष्ट्रचार्यं  
 तत्तत् काले यथायथसमये वत्सरत्रयपूर्तिदः त्रिवर्षव्ययोपयुक्तः  
 धान्यानां संग्रहः सञ्चयः कार्यः । वापि अपि वा अथवा इत्यर्थः  
 समृद्धानाम् ऐश्वर्यशालिनां चिरस्थायी ततोऽपि अधिककाल-  
 स्थायी अधिकः धान्यसंग्रहः इत्यते ॥ २६ ॥

ससुगन्धवर्णरसं धान्यं संवीक्ष्य रक्षयेत् ।  
 सुसमृद्धं चिरस्थायि महार्घमपि नान्यथा ॥२७॥  
 विषवह्निहिमव्याप्तं कीटजुष्टं न धारयेत् ।  
 निःसारतां न हि प्राप्तं व्यये तावन्नियोजयेत् ॥२८॥  
 व्ययीभूतं तु यद् दृष्ट्वा तत् तुल्यं तु नवीनकम् ।  
 गृह्णीयात् सुप्रयत्नेन वत्सरे वत्सरे नृपः ॥२९॥  
 ओषधीनां धातूनां तृणकाष्ठादिकस्य च ।  
 यन्तश्स्वास्वाग्निचूर्णभाण्डादेर्वाससां तथा ॥३०॥  
 यद्यच्च साधकं द्रव्यं यद्यत्कार्यं भवेत् सदा ।  
 संग्रहस्तस्य तस्यापि कर्तव्यः कार्यसिद्धिदः ॥३१॥

सुपुष्टमिति । सुपुष्टं कान्तिमत् उज्ज्वलं जातिश्रेष्ठम् उत्-  
 कृष्टजातिकं शुष्कं नवीनकं नूतनं ससुगन्धवर्णरसं सौरभवर्ण-  
 रसयुक्तं सुसमृद्धं सुचारु चिरस्थायी सुदीर्घकालेऽपि अनश्वर-  
 मित्यर्थः संवीक्ष्य सम्यक् परीक्ष्य महार्घं महामूल्यमपि रक्षयेत्  
 अन्यथा एतद् वैपरीत्ये न ॥ २७ ॥

विषेति । विषेण गरलेन वह्निना अग्निना हिमेन च व्याप्तं  
 प्राप्तं कीटजुष्टं कीटाक्रान्तञ्च न धारयेत् किञ्च निःसारताम्  
 असारतां प्राप्तम् असारमित्यर्थः धान्यं व्यये न नियोजयेत् ॥२८॥

व्ययीभूतमिति । यत् व्ययीकृतं तत् दृष्ट्वा राजा तत्तुल्यं  
 तत्सदृशं नवीनकं नूतनं वत्सरे वत्सरे प्रतिवर्षं सुप्रयत्नेन गृह्णी-  
 यात् ॥ २९ ॥

ओषधीनामिति । यदिति । ओषधीनां धान्यादीनां धातूनां

संरक्षयेत् प्रयत्नेन संगृहीतं धनादिकम् ।

आर्जने तु महद् दुःखं रक्षणे तच्चतुर्गुणम् ॥३२॥

क्षणं चोपेक्षितं यत्तद्विनाशं द्राक् समाप्नुयात् ॥३३॥

आर्जकस्यैव दुःखं स्यात् तथार्जितविनाशने ।

स्त्रीपुत्राणामपि तथा नान्येषां तु कथं भवेत् ॥३४॥

स्वकार्ये शिथिलो यः स्यात् किमन्ये न भवन्ति हि ।

जागरूकः स्वकार्ये यस्तत् सहायाश्च जग् समाः ॥३५॥

तैजसानां खनिजद्रव्याणामित्यर्थः तृणकाष्ठादिकस्य, यन्त्राणां  
शस्त्राणाम् अस्त्राणाम् अग्निचूर्णानां भाण्डादेः स्थाव्यादेः तथा  
वाससां वस्त्राणां मध्ये यत् यत् साधकं कार्योपयोगीत्यर्थः यत्  
यच्च द्रव्यं सदा कार्ये भवेत् कार्यसाधनार्थं भवति, तस्य तस्य  
अपि कार्यसिद्धिदः संग्रहः सञ्चयः कर्तव्यः ॥ ३० ॥ ३१ ॥

संरक्षयेदिति । संगृहीतं धनादिकं प्रयत्नेन संरक्षयेत्,  
आर्जने उपार्जने तु महत् दुःखम् अस्ति, परं रक्षणे तस्य  
आर्जनदुःखस्य चतुर्गुणं दुःखं भवतीति शेषः ॥ ३२ ॥

क्षणमिति । यत् धनं क्षणम् उपेक्षितं, तत् द्राक् भटिति  
विनाशं समाप्नुयात् ॥ ३३ ॥

आर्जकस्येति । आर्जकस्य उपार्जकस्य अर्जने इति शेषः  
दुःखं तथा अर्जितस्य विनाशनेऽपि दुःखं स्यात् । स्त्रीपुत्राण-  
मपि विनाशेन यथा दुःखं भवेत् तथा अन्येषां वस्तूनां विना-  
शनेऽपि कथं न भवेत् अपि तु भवेदेवेत्यर्थः ॥ ३४ ॥

स्वकार्ये इति । यः स्वस्य कार्ये शिथिलः अलसः स्यात्  
तस्य अन्ये अनुगामिनो लोकाः किं कथं शिथिलाः न भवन्ति

यो जानात्यर्जितुं सम्यगर्जितं न हि रक्षितुम् ।

नातः परतरो मूर्खो वृथा तस्यार्जनश्रमः ॥३६॥

एकस्मिन्नधिकारे तु यो द्वावधिकरोति सः ।

मूर्खो जीवद् द्विभार्य्यश्च ह्यतिविश्वम्भवांस्तथा ॥३७॥

महाधनाशो ह्यलसः स्त्रीभिर्निर्जित एव हि ।

तथा यः साक्षितां पृच्छेच्चोरजाराततायिषु ॥३८॥

संरक्षयेत् कृपणवत् काले दद्याद्विरक्तवत् ।

मूर्खत्वमन्यथा याति स्वधनव्ययतोऽपि च ॥३९॥

अपितु भवन्त्येव । यः स्वकार्ये जागरूकः अशिथिल इत्यर्थः

तस्य सहायाश्च तस्य समाः कार्यतत्पराः भवन्तीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

य इति । यः अर्जितुम् उपार्जयितुमित्यर्थः जानाति, परम्

अर्जितं धनं सम्यक् रक्षितुं नहि जानाति, अतः अस्मात् जनात्

परतरः श्रेष्ठतरः मूर्खः न अस्तीति शेषः यतः तस्य अर्जनश्रमः

उपार्जनपरिश्रमः वृथा निष्फल इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

एकस्मिन्निति । महाधनाश इति । यः एकस्मिन् अधिकारे

द्वौ अधिकरोति सः एकाधिकारस्यैव रक्षणस्य दुःसाध्यत्वादिति

भावः, यः जीवन् सन् विभार्य्यः भार्याशून्यः अथवा जीवन्त्यौ

द्वे भार्य्ये यस्य स, यः अतिविश्वम्भवान् अतिविश्वस्तुः सर्वेषां

सतामसताञ्च वचसि कृतविश्वासः सः, यश्च महाधनाशः अ-

धिकधनसृष्टः अथच अलसः स्त्रीभिः निर्जितः अधीनोक्ततश्च

सः, तथा यः चोरजाराततायिषु तस्करेषु उपपतिषु आततायिषु

महापराधेषु विषयेषु साक्षितां पृच्छेत् स च मूर्खः ॥३७॥३८॥

संरक्षयेदिति । कृपणवत् धनं संरक्षयेत् काले यथासमये

वस्तुयाथात्माविज्ञाने स्वयमेव यतेत् सदा ।

परीक्षकैः स्वयं राजा रत्नादीन् वीक्ष्य रक्षयेत् ॥४०॥

वज्रं मुक्ता प्रवालं च गोमेदश्चेन्द्रनीलकः ।

वैदूर्यं पुष्परागश्च पाचिर्माणिक्यमेव च ।

महारत्नानि चैतानि नव प्रोक्तानि सूरिभिः ॥४१॥

रवेः प्रियं रक्तवर्णं माणिक्यं त्विन्द्रगोपकम् ।

रक्तपीतसितश्यामच्छविर्मुक्ता प्रिया विधोः ॥४२॥

सपीतरक्तरुग्भौमप्रियं विद्रुममुत्तमम् ।

मयूरचापपद्माभा पाचिर्वुधहिता हरित् ॥४३॥

विरक्तवत् दद्यात् अन्यथा एतद्वैपरीत्ये स्वधनानां व्ययतः व्ययेन  
मूर्खत्वं याति प्राप्नोति ॥ ३८ ॥

वस्त्विति । वस्तूनां द्रव्याणां याथात्म्यस्य स्वरूपस्य विज्ञाने  
विशेषज्ञाने सदा स्वयमेव यतेत् । राजा स्वयं परीक्षकैश्च रत्ना-  
दीन् वीक्ष्य परीक्ष्य रक्षयेत् गृह्णीयादित्यर्थः ॥ ४० ॥

वज्रमिति । वज्रं हीरकं, मुक्ता मौक्तिकं, प्रवालं, गोमेदः,  
इन्द्रनीलः वैदूर्यं, पुष्परागः पद्मरागः, पाचिः मरकतं तथा  
माणिक्यम् एतानि नव सूरिभिर्विद्वद्भिः महारत्नानि प्रोक्तानि  
कथितानि ॥ ४१ ॥

रावेरिति । इन्द्रगोपस्य कीटविशेषस्य रुक् कान्तिरिव  
कान्तिर्यस्य तादृशं रक्तवर्णं माणिक्यं रवेः सूर्यस्य प्रियम् । रक्ता  
पीता सिता श्यामा च छविः कान्तिर्यस्याः तथाभूता मुक्ता  
विधोः चन्द्रस्य प्रिया ॥ ४२ ॥

सपीतेति । पीतया रक्तया च रुचा कान्त्या सहितम् उत्तमं

स्वर्णच्छविः पुष्परागः पीतवर्णी गुरुप्रियः ।

अत्यन्तविशदं वज्रं तारकाभं कवेः प्रियम् ॥४४॥

हितः शनेरिन्द्रनीलो ह्यसितो घनमेघरुक् ।

गोमेदः प्रियकृद्राहोरीषत् पीतारुणप्रभः ॥४५॥

ओत्वद्याभश्चलत्तन्तुर्वैदूर्यः केतुप्रीतिकृत् ॥४६॥

रत्नश्रेष्ठतरं वज्रं नीचे गोमेदविद्रुमे ।

गारुत्मतं तु माणिक्यं मौक्तिकं श्रेष्ठमेव हि ।

इन्द्रनीलं पुष्परागो वैदूर्यं मध्यमं स्मृतम् ॥४७॥

विद्रुमं प्रवालं भौमस्य मङ्गलस्य प्रियम् । मयूरस्य चापस्य  
पद्मिमेदस्य च पत्रस्य पद्मस्येव आभा यस्याः तथोक्ता हरित्  
हरितवर्णा पाचिः मरकतं बुधस्य हिता प्रिया ॥ ४३ ॥

स्वर्णेति । स्वर्णस्येव छविः कान्तिर्यस्य तथोक्तः प्रीतवर्णः  
पुष्परागः गुरोः बृहस्पतेः प्रियः । अत्यन्तविशदम् अतिस्वच्छं  
तारकाभं तारासदृशं वज्रं हीरकं कवेः शुक्रस्य प्रियम् ॥ ४४ ॥

हित इति । घनस्य निविडस्य मेघस्येव रुक् कान्तिर्यस्य  
तादृशः असितः श्यामलः इन्द्रनीलः शनेः हितः प्रियः । ईषत्-  
पीता अरुणा रक्ता प्रभा यस्य तथाभूतः गोमेदः राहोः प्रिय-  
कृत् ॥ ४५ ॥

ओत्विति । ओतोर्विडालस्य अक्ष्ण इव आभा यस्य तथा-  
भूतः चलन् तन्तुः शिखा यस्य तथोक्तः वैदूर्यः केतोः ग्रहस्य  
प्रीतिकृत् ॥ ४६ ॥

रत्नश्रेष्ठतरमिति । वस्त्रं रत्नेषु श्रेष्ठतरं सर्वश्रेष्ठं, गोमेदविद्रुमे  
नीचे सर्वरत्नाधमे, गारुत्मतं पाचिः माणिक्यं तथा मौक्तिकं श्रेष्ठम् ।

रत्नश्रेष्ठो दुर्लभश्च महाद्युतिरहेर्मणिः ॥४८॥  
 अजालगर्भं सद् वर्णं रेखाविन्दुविवर्जितम् ।  
 सत् कोणं सुप्रभं रत्नं श्रेष्ठं रत्नविदो जगुः ॥४९॥  
 शर्कराभं दलाभश्च चिपिटं वर्तुलं हि तत् ।  
 वर्णाः प्रभाः सिता रक्ताः पीतकृष्णास्तु रत्नजाः ॥५०॥  
 यथावर्णं यथाच्छायं रत्नं यद् दोषवर्जितम् ।  
 श्रीपुष्टिकीर्त्तिशौर्यायुःकरमन्यदसत् स्मृतम् ॥५१॥  
 वर्णमाक्रमते छाया प्रभा वर्णप्रकाशिनी ॥५२॥

इन्द्रनीलं पुष्परागः तथा वैदूर्यं मध्यमं स्मृतं कथितम् ॥ ४७ ॥

रत्नश्रेष्ठ इति । अहेः सर्पस्य मणिः महाद्युतिः अत्युज्ज्वलः  
 रत्नश्रेष्ठः दुर्लभश्च ॥ ४८ ॥

अजेति । अजालगर्भं सद् वर्णम् रेखेति विन्दुभिश्च विवर्जितं  
 सत्कोणम् उत्तमकोणविशिष्टं सुप्रभं समुज्ज्वलं रत्नं, रत्नविद  
 रत्नतत्त्वज्ञाः जनाः श्रेष्ठं जगुः गौतवन्तः ॥ ४९ ॥

शर्कराभमिति । तत् रत्नं शर्कराभं शर्कराच्छवि, दलाभं  
 पत्रकान्ति, चिपिटं चिपिट्टाकारं तथा वर्तुलञ्च । रत्नजा  
 मणिजा वर्णाः प्रभाश्च सिताः श्वेताः रक्ताः पीताः कृष्णाश्च ॥५०॥

यथेति । यत् रत्नं यथावर्णं वर्णेषु यथाच्छायं कान्तिषु दोष-  
 वर्जितं निर्दोषं तत् श्रीपुष्टिकीर्त्तिशौर्यायुःकरं श्रीवृद्धिकरं  
 पुष्टिवर्द्धनं कीर्त्तिकरं शौर्यस्य आयुषश्च वर्द्धकम् । अन्यत्  
 तद्विन्नम् असत् मन्दं स्मृतम् ॥ ५१ ॥

वर्णमिति । छाया कान्तिः वर्णम् आक्रमते उज्ज्वलयति  
 प्रभा च कान्तिश्च वर्णप्रकाशिनी भवति ॥ ५२ ॥

पद्मरागस्तु माणिक्यभेदः कोकनदच्छविः ।  
 न धारयेत् पुत्रकामा नारी वज्रं कदाचन ॥५३॥  
 कालेन हीनं भवति मौक्तिकं विद्रुमं धृतम् ।  
 गुरुत्वात् प्रभया वर्णाद् विस्तारादाश्रयादपि ॥५४॥  
 आकृत्या चाधिमूल्यं स्याद्रत्नं यद्दोषवर्जितम् ।  
 नायसोल्लिख्यते रत्नं विना मौक्तिकविद्रुमात् ।  
 पाषाणेनापि च प्राय इति रत्नविदो जगुः ॥५५॥  
 मूल्याधिक्याय भवति यद्रत्नं लघुविस्तृतम् ।  
 गुर्वल्पं हीनमौल्याय स्याद्रत्नं त्वपि सद्गुणम् ॥५६॥

पद्मराग इति । पद्मरागस्तु माणिक्यस्य भेदः विशेषः स च  
 कोकनदच्छविः रक्तोत्पलकान्तिः रक्तोत्पलं कोकनदमित्यमरः ।  
 पुत्रकामा पुत्रार्थिनी नारी कदाचन वज्रं हीरकं न धार-  
 येत् ॥ ५३ ॥

कालेनेति । मौक्तिकं विद्रुमञ्च धृतं परिहितं कालेन  
 समयक्रमेण गुरुत्वात्, प्रभया, वर्णात्, विस्तारात् तथा आश्र-  
 यात् उत्कृष्टाधारात् हीनं भवति ॥ ५४ ॥

आकृत्येति । यत् रत्नम् आकृत्या आकारेण दोषवर्जितं  
 तत् अधिमूल्यम् अधिकमूल्यं स्यात् भवति । किञ्च विद्रुमात्  
 मौक्तिकाच्च विना विद्रुममौक्तिकभिन्नमित्यर्थः रत्नम् अयसा  
 लौहेन पाषाणेन च प्रायः न उल्लिख्यते उद्दृष्ट्यते इति रत्न-  
 विदः जनाः जगुः गायन्ति स्म ॥ ५५ ॥

मूल्याधिक्यायेति । यत् रत्नं लघु अथ च विस्तृतं विशालं  
 तत् मूल्याधिक्याय अधिकमूल्याय भवति । यच्च गुरुभारवद्

शर्कराभं हीनमूल्यं चिपिटं मध्यमं स्मृतम् ।  
 दलाभं श्रेष्ठमूल्यं स्याद् यथाकामात्तु वर्तुलम् ॥ ५७ ॥  
 न जरां यान्ति रत्नानि विद्रुमं मौक्तिकं विना ।  
 राजदौष्ट्याच्च रत्नानां मूल्यं हीनाधिकं भवेत् ॥ ५८ ॥  
 मत्स्याहिशङ्खवाराहवेणुजीमूतशुक्तिः ।  
 जायते मौक्तिकं तेषु भूरि शुक्त्युद्भवं स्मृतम् ॥ ५९ ॥  
 कृष्णं सितं पीतरक्तं द्विचतुःसप्तकञ्चुकम् ।  
 त्रिपञ्चसप्तावरणमुत्तरोत्तरमुत्तमम् ॥ ६० ॥

अथच अल्पं क्षुद्रं तत् सद्गुणम् उत्कृष्टगुणमपि हीनमौल्याय  
 अल्पमूल्यत्वाय स्यात् ॥ ५६ ॥

शर्कराभमिति । शर्कराभं रत्नं हीनमूल्यं चिपिटं रत्नं  
 मध्यमं मध्यममूल्यं स्मृतम् । दलाभं पत्रकान्ति रत्नं श्रेष्ठमूल्यं  
 महामूल्यं तथा वर्तुलं यथाकामात् क्रोतुर्विक्रोतुश्च इच्छावशात्  
 मूल्यवत् स्यात् ॥ ५७ ॥

नेति । विद्रुमं प्रबालं मौक्तिकञ्च विना विद्रुममौक्तिक-  
 भिन्नानीत्यर्थः रत्नानि जरां वार्द्धक्यं हीनावस्थामित्यर्थः न  
 यान्ति न प्राप्नुवन्ति । राज्ञः दौष्ट्यात् दोषात् रत्नानां मूल्यं  
 हीनम् अधिकञ्च भवेत् ॥ ५८ ॥

मत्स्येति । मौक्तिकं मत्स्यात्, अहेः सर्पात्, शङ्खात्,  
 वराहात्, वेणुतः वंशात्, जीमूतात् मेघात्, शुक्तिश्च जायते  
 तेषु मध्ये शुक्त्युद्भवं शुक्तिजं भूरि प्रचुरं स्मृतम् ॥ ५९ ॥

कृष्णमिति । शुक्त्युद्भवं मौक्तिकं कृष्णं श्यामलं, सितं शुभं  
 पीतरक्तं पीताभया युक्तलोहितवर्णं द्विचतुःसप्तकञ्चुकं कञ्चु-

कृष्णं सितं क्रमाद्रक्तं पीतन्तु जरठं विदुः ।  
 कनिष्ठं मध्यमं श्रेष्ठं क्रमाच्छुक्त्युद्भवं विदुः ॥६१॥  
 तदेव हि भवेद् वेध्यमवेध्यानीतराणि च ।  
 कुर्वन्ति कृत्रिमं तद्वत् सिंहलद्वीपवासिनः ॥६२॥  
 तत्सन्देहविनाशार्थं मौक्तिकं सुपरीक्षयेत् ।  
 उष्णे सलवणस्नेहे जले निशुषितं हि तत् ॥६३॥  
 ब्रीहिभिर्मर्दितं नेयाद् वैवर्ण्यं तदकृत्रिमम् ।  
 श्रेष्ठामं शुक्तिजं विद्यान्मध्यामं त्वितरद् विदुः ॥६४॥

मावरणविशेषः, द्विकञ्चुकं चतुःकञ्चुकं सप्तकञ्चुकं त्रिपञ्चसप्ता-  
 वरणं त्रिकञ्चुकं पञ्चकञ्चुकं सप्तकञ्चुकं वा भवति एतेषामुत्तरो-  
 त्तरम् उत्तमम् ॥ ६० ॥

कृष्णमिति । शुक्त्युद्भवं शुक्तिजं मौक्तिकं क्रमात् कृष्णं सितं  
 रक्तं पीतं तथा जरठं विदुः जानन्ति मौक्तिकज्ञा इति शेषः ।  
 तच्च कनिष्ठं मध्यमं श्रेष्ठञ्च क्रमात् विदुः ॥ ६१ ॥

तदेवेति । तदेव मौक्तिकमेव वेध्यं वेधनीयम् इतराणि  
 ग्रन्थानि अवेध्यानि । सिंहलद्वीपवासिनः जनाः तद्वत् यथार्थ-  
 सदृशं कृत्रिमं मौक्तिकं कुर्वन्ति ॥ ६२ ॥

तदिति । ब्रीहिभिरिति । तेषु सन्देहविनाशार्थं मौक्तिकं  
 सुपरीक्षयेत् । यत् मौक्तिकम् उष्णे उत्तमे सलवणस्नेहे लवण-  
 तैलसमन्विते जले निशि रात्रौ उषितं निक्षिप्तं पश्चात् ब्रीहिभिः  
 धान्यैः मर्दितं सत् वैवर्ण्यं वर्णविकृतिं न द्रयात् तत् श्रेष्ठामम्  
 उज्ज्वलप्रभम् अकृत्रिमं शुक्तिजं विद्यात् । मध्यामं मध्यविध-  
 प्रभायुक्तम् इतरत् कृत्रिमं विदुः जानन्ति ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

तुलाकल्पितमूल्यं स्याद्रत्नं गोमेदकं विना ॥६५॥  
 क्षुमाविंशतिभी रक्ती रत्नानां मौक्तिकं विना ।  
 रक्तित्रयं तु मुक्तायाश्चतुःकृष्णलकैर्भवेत् ॥ ६६ ॥  
 चतुर्विंशतिभिस्ताभी रत्नटङ्कस्तु रक्तिभिः ।  
 टङ्कैश्चतुर्भिस्तोलः स्यात् स्वर्णविद्रुमयोः सदा ॥६७॥  
 एकस्यैव हि वज्रस्य त्वेकरक्तिमितस्य च ।  
 सुविस्मृतदलस्यैव मूल्यं पञ्चसुवर्णकम् ॥६८॥  
 रक्तिकादलविस्ताराच्छ्रेष्ठं पञ्चगुणं यदि ।  
 यथा यथा भवेन्नूनं हीनमौल्यं तथा तथा ॥६९॥

तुलेति । गोमेदकं रत्नं विना अन्यत् रत्नं तुलया तुला-  
 दण्डेन कल्पितं मूल्यं यस्य तथाभूतं स्यात् तुलया अन्येषां  
 मूल्यं कल्पनीयमित्यर्थः ॥ ६५ ॥

क्षुमेति । मौक्तिकं विना अन्येषां रत्नानां क्षुमाविंशतिभिः  
 विंशतिक्षुमाभिरित्यर्थः रक्तिः स्यात् । चतुःकृष्णलकैः चतुर्भिः  
 कृष्णलकैः परिमाणविशेषैः मुक्तायाः रक्तित्रयं भवेत् ॥ ६६ ॥

चतुरिति । चतुर्विंशतिभिः ताभिः रक्तिभिः रत्नटङ्कः भवे-  
 दिति शेषः । चतुर्भिः टङ्कैः सदा स्वर्णस्य विद्रुमस्य च तोल-  
 स्यात् ॥ ६७ ॥

एकस्येति । एकरक्तिमितस्य सुविस्मृतदलस्य एकस्यैव  
 वज्रस्य हीरकस्य मूल्यं पञ्चसुवर्णकं सुवर्णानाम् अशीतिरक्ति-  
 कस्वर्णानां पञ्चकम् ॥ ६८ ॥

रक्तिकेति । यदि रक्तिकादलविस्तारात् रक्तिकायाः दल-  
 विस्ताराच्च श्रेष्ठं वज्रं भवति तदा पञ्चगुणं पूर्वोक्तात् पञ्चगु-

अत्राष्टरक्तिको माषो दशमाषैः सुवर्णकः ।  
 स्वर्णस्य तत् पञ्चमूल्यं राजताशीतिकर्षकम् ॥७०॥  
 यथा गुरुतरं वज्रं तन्मूल्यं रक्तिवर्गतः ।  
 तृतीयांशविहीनन्तु चिपिटस्य प्रकीर्तितम् ॥७१॥  
 अर्द्धन्तु शर्कराभस्य चोत्तमं मूल्यमीरितम् ।  
 रक्तिकायाश्च द्वे वज्रे तदर्द्धं मूल्यमर्हतः ॥७२॥  
 तदर्द्धं वहवोऽर्हन्ति मध्या हीना यथा गुणैः ।  
 उत्तमाघं तदर्द्धं वा हीरका गुणहानतः ॥७३॥

मूल्यं भवति । किञ्च यथा यथा न्यूनं रक्तिकादलविस्तारादिति  
 भावः तथा हीनमौल्यं मूल्यहानिर्भवेदित्यर्थः ॥ ६८ ॥

अत्रेति । अत्र रत्नतोलनविषये अष्टरक्तिकः माषः भवेत्,  
 दशभिः माषैः सुवर्णकः । राजताशीतिकर्षकम् अशीतिकर्ष-  
 परिमितरजतं स्वर्णस्य सुवर्णस्य तत् प्रसिद्धं पञ्चमूल्यं पञ्चानां  
 सुवर्णानां मूल्यमित्यर्थः ॥ ७० ॥

यथेति । वज्रं यथा यादृशं गुरुतरं तन्मूल्यं तस्य मूल्यं  
 रक्तिवर्गतः रक्तिगणनया वेदितव्यमिति शेषः, चिपिटस्य चिपि-  
 टाकारस्य वज्रस्य मूल्यं तृतीयांशेन विहीनं प्रकीर्तितम् ॥७१॥

अर्द्धमिति । शर्कराभस्य वज्रस्य उत्तमं मूल्यम् अर्द्धम् उत्-  
 कृष्टवज्रमूल्यादिति भावः ईरितं कथितम् द्वे वज्रे रक्तिकायाः  
 हेतुना एकरक्तिपरिमिते इत्यर्थः तस्य उत्कृष्टस्य वज्रस्य अर्द्धं  
 मूल्यम् अर्हतः ॥ ७२ ॥

तदर्द्धमिति । यथागुणैः उपयुक्तगुणैरित्यर्थः मध्याः मध्यमाः,  
 हीनाश्च वहवः हीरकाः तदर्द्धं तस्य मूल्यस्य अर्द्धम् अर्हन्ति ।

वर्गरक्तिषु सन्धार्यं कलानां नवकं पृथक् ।

तथांशपञ्चकं पूर्वं विंशद्भिस्तद्वजेत् ततः ॥७४॥

लब्धं कलासु संयोज्यं कलानां षोडशंशकैः ।

मुक्तानां कल्पयेन्मूल्यं हीनमध्योत्तमं यथा ॥७५॥

सहस्रादधिके मुक्तारक्तिवर्गशते शते ।

कलाविंशतकं त्यक्त्वा शेषान्मूल्यं प्रकल्पयेत् ॥७६॥

शतादूर्ध्वं रक्तिवर्गाद्विंशतिरक्तिकाः ।

प्रतिशतात् तु वज्रस्य सुविस्तृतदलस्य च ।

तथैव चिपिटस्यापि विस्तृतस्य च क्लासयेत् ॥७७॥

हीरकाः गुणहानतः गुणक्लासात् उत्तमार्धम् उत्तममूल्यं तद

तस्य उत्तमस्य अर्धं वा अर्हन्तीति शेषः ॥७८॥

वर्गेति । लब्धमिति । वर्गरक्तिषु समद्विघातासु रक्तिषु पृथक्

पृथक् कलानां नवकं नवकला इत्यर्थः, तथा अंशपञ्चकं सन्धार्यं

रक्ष्यं, तत्र पूर्वं कलानवकमित्यर्थः विंशद्भिः भजेत् विभक्तं

कुर्यात् । ततः लब्धं विभागलब्धं कलासु संयोज्यम् । कलानां

षोडशंशकैः षोडशभिः अंशैः मुक्तानां हीनमध्यमोत्तमानुसारं

येत्यर्थः मूल्यं कल्पयेत् ॥ ७४ ॥ ७५ ॥

सहस्रादिति । मुक्तारक्तौनां यो वर्गः समद्विघातः तस्य

शतगुणिते तस्मिन्नित्यर्थः । सहस्रादधिके शते सति कला

त्रिंशतकं त्यक्त्वा तस्मादिति भावः शेषात् अवशिष्टात् न

प्रकल्पयेत् ॥७६॥

शतादिति । शर्कराभस्येति । क्लसः क्लासपटुः जनः सु

स्तदलस्य वज्रस्य शतात् रक्तिवर्गात् रक्तौनां वर्गात् सम

शर्कराभस्य पञ्चाशच्चत्वारिंशच्च वैकतः ॥७८॥

रत्नं न धारयेत् कृष्णारक्तविन्दुयुतं सदा ॥७९॥

गारुत्मतं तूत्तमं चेन्माणिक्यं मूल्यमर्हति ।

सुवर्णं रक्तिमात्रं चेद् यथारक्तिस्तथा गुरु ॥८०॥

रक्तिमात्रः पुष्परागो नीलः स्वर्णार्धमर्हति ।

चलत्तिसूतो वैदूर्यश्चोत्तमं मूल्यमर्हति ॥८१॥

प्रवालं तोलकमितं स्वर्णार्द्धं मूल्यमर्हति ।

अत्यल्पमूल्यो गोमेदो नोन्मानन्तु यतोऽर्हति ॥८२॥

घातात् ऊर्ध्वं विंशतिरक्तिकाः, विस्तृतस्य चिपिटस्य चिपिट-  
कारस्य वज्रस्य प्रतिशतात् ऊर्ध्वं पञ्चाशत् रक्तिकाः तथा शर्करा-  
भस्य शर्करासदृशस्य वज्रस्य प्रतिशतात् एकतः चत्वारिंशत्  
रक्तिकाः क्वासयेत् न्यूनयेत् ॥ ७७ ॥ ७८ ॥

रत्नमिति । कृष्णैः श्यामलैः रक्तैश्च विन्दुभिर्युतं रत्नं सदा न  
धारयेत् ॥ ७९ ॥

गारुत्मतमिति । रक्तिमात्रं रक्तिपरिमितं गारुत्मतं माणि-  
क्यञ्च रत्नम् उत्तमं चेत् तदा सुवर्णं मूल्यम् अर्हति । यथा  
यावती रक्तिः तथा गुरु मूल्यं भवेदित्यर्थः ॥ ८० ॥

रक्तिमात्र इति । रक्तिमात्रः रक्तिपरिमितः पुष्परागः नीलश्च  
स्वर्णस्य अर्धं मूल्यम् अर्हति । चलन्ति त्रीणि सूत्राणि यस्य  
तादृशः वैदूर्यः उत्तमं मूल्यम् अर्हति ॥ ८१ ॥

प्रवालमिति । तोलकमितं तोलकपरिमितं प्रवालं स्वर्णस्य  
अर्धं मूल्यम् अर्हति । गोमेदः अत्यल्पमूल्यः, यतः उन्मानं  
तोलनं न अर्हति ॥ ८२ ॥

संख्यातः स्वल्परत्नानां मूल्यं स्याद्दीरकाद्विना ।  
 अत्यन्तरमणीयानां दुर्लभानां च कामतः ।  
 भवेन्मूल्यं न मानेन तथातिगुणशालिनाम् ॥८३॥  
 व्यङ्घ्रिचतुर्दशहतो वर्गो मौक्तिकरक्तिजः ।  
 चतुर्विंशतिभिर्भक्तो लब्धान् मूल्यं प्रकल्पयेत् ॥८४॥  
 उत्तमन्तु सुवर्णाघ्नमूनमूनं यथागुणम् ॥८५॥  
 रत्नं पीतं वर्तुलं चेन्मौक्तिकं चोत्तमं सितम् ।  
 अधमं चिपिटं शर्कराभमन्यत् तु मध्यमम् ॥८६॥  
 रत्ने स्वाभाविका दोषाः सन्ति धातुषु कृत्रिमाः ।

संख्यात इति । हीरकात् विना स्वल्पानां क्षुद्राणां रत्नानां  
 संख्यातः गणनया मूल्यं स्यात् । अत्यन्तरमणीयानां दुर्लभा-  
 नाञ्च रत्नानां कामतः इच्छानुसारेण मूल्यं स्यात् । किञ्च अति-  
 गुणशालिनां रत्नानां मानेन परिमाणेन मूल्यं न भवेत् ॥८३॥

व्यङ्घ्रीति । मौक्तिकरञ्जितः वर्गः व्यङ्घ्रिः पादहीनः चतु-  
 र्दशभिर्हतः गुणितः तथा चतुर्विंशतिभिः भक्तः सन् यो लब्धो  
 भवेत् तस्मात् लब्धात् मूल्यं प्रकल्पयेत् ॥ ८४ ॥

उत्तममिति । उत्तमं मौक्तिकं सुवर्णाघ्नं स्वर्णमूल्यम्, ऊनं  
 ततः अपक्वष्टं मध्यममित्यर्थः पुनश्च ऊनं ततोऽप्यपक्वष्टम्  
 अधममित्यर्थः यथागुणं गुणानुसारेण मूल्यवदित्यर्थः ॥ ८५ ॥

रत्नमिति । रत्नं पीतं तथा सितं श्वेतवर्णं मौक्तिकं वर्तुलं  
 चेत् उत्तमम् । चिपिटं चिपिटकारं तथा शर्कराभं मौक्तिकम्  
 अधमम् । अन्यत् एतद्व्यतिरिक्तन्तु मध्यमम् ॥ ८६ ॥

रत्ने इति । रत्ने स्वाभाविकाः अकृत्रिमाः दोषाः सन्ति,

अतो धातून् सम्परीक्ष्य तन्मूल्यं कल्पयेद् बुधः ॥८७॥

सुवर्णं रजतं ताम्रं वङ्गं सीसञ्च रङ्गकम् ।

लोहं च धातवः सप्त ह्येषामन्ये तु सङ्कराः ॥८८॥

यथापूर्वं तु श्रेष्ठं स्यात् स्वर्णं श्रेष्ठतरं मतम् ।

वङ्गताम्रभवं कांस्यं पित्तलं ताम्ररङ्गजम् ॥८९॥

मानसमपि स्वर्णं तनु स्यात् पृथुलाः परे ॥९०॥

एकच्छिद्रसमाकृष्टे समखण्डे द्वयोर्यदा ।

धातोः सूत्रं मानसमं निर्दुष्टस्य भवेत् तदा ॥९१॥

किन्तु धातुषु खनिजेषु द्रव्येषु तु कृत्रिमाः सन्तीति शेषः । अतः  
अस्मात् कारणात् बुधः धातून् संपरीक्ष्य तेषां मूल्यं कल्पयेत् ॥८७॥

धातूनाह सुवर्णमिति । धातवः सप्त यथा सुवर्णं, रजतं,  
ताम्रं, वङ्गं, सीसं, रङ्गकं, लोहञ्च । अन्ये एतद् व्यतिरिक्तास्तु  
सङ्कराः सिन्ध्याः ॥ ८८ ॥

यथापूर्वमिति । यथापूर्वम् एषां पूर्वं पूर्वं श्रेष्ठं स्यात्,  
स्वर्णन्तु श्रेष्ठतरं मतम् । कांस्यं वङ्गताम्रभवं वङ्गताम्राभ्यां  
मिश्राभ्यां जातम् । किञ्च पित्तलं ताम्ररङ्गजं ताम्ररङ्गाभ्याम्  
मिश्राभ्याम् उत्पन्नमित्यर्थः ॥ ८९ ॥

मानसमिति । स्वर्णं मानेन परिमाणेन समं तुल्यमपि  
तनु स्वल्पं स्यात् अन्यापेक्षयेति शेषः, परे अन्ये धातवः स्वर्ण-  
समपरिमाणा अपि पृथुलाः स्थूलाः स्युः स्वर्णापेक्षयेति भावः ॥९०॥

एकेति । यदा द्वयोः धात्वोः समे तुल्ये खण्डे एकेन छिद्रेण  
समाकृष्टे भवतः, तदा निर्दुष्टस्य दोषरहितस्य धातोः सूत्रं  
मानसमं परिमाणेन तुल्यं भवेत् ॥ ९१ ॥

यन्त्रशस्त्रास्त्ररूपं यन्महामूल्यं भवेदयः ।

रजतं षोडशगुणं भवेत् स्वर्णस्य मूल्यकम् ॥८२॥

ताम्रं रजतमूल्यं स्यात् प्रायोऽशीतिगुणं तथा ।

ताम्राधिकं सार्द्धगुणं वङ्गं वङ्गात् तथा परे ॥८३॥

रङ्गसीसे द्वित्रिगुणं ताम्राल्लोहन्तु षड्गुणम् ।

मूल्यमेतद्विशिष्टन्तु ह्युक्तं प्राङ्मूल्यकल्पनम् ॥८४॥

सुशृङ्गवर्णा सुदुघा बहुदुग्धा सुवत्सका ।

तरुण्यल्पा वा महती मूल्याधिक्याय गौर्भवेत् ॥८५॥

पीतवत्सा प्रष्ठदुग्धा तन्मूल्यं राजतं पलम् ।

यन्त्रेति । यन्त्ररूपं शस्त्ररूपञ्च अयः लौहं महामूल्यं महार्घं भवेत् । किञ्च स्वर्णस्य मूल्यकं षोडशगुणं रजतं भवेत् ॥ ८२ ॥

ताम्रमिति । रङ्गेति । प्रायः बाहुल्येन अशीतिगुणं रजतापेक्षयेति शेषः ताम्रं रजतस्य मूल्यं स्यात् । सार्द्धगुणम् अर्द्धसहितैकगुणितं वङ्गं ताम्राधिकं ताम्रस्य अधिकं मूल्यमित्यर्थः । तथा परे अन्ये धातवः वङ्गात् सार्द्धैकगुणितात् मूल्यवन्त इति शेषः । रङ्गसीसे रङ्गं सीसञ्चेत्यर्थः ताम्रात् द्वित्रिगुणे क्रमेण रङ्गं ताम्रस्य द्विगुणं सीसं ताम्रस्य त्रिगुणं ताम्रेण सममिति भावः । लौहन्तु षड्गुणं ताम्रादिति शेषः षड्गुणं लौहं एकगुणेन ताम्रेण सममिति भावः । एतत् मूल्यं विशिष्टं विशेषेण उक्तं हि यतः प्राक् पूर्वं मूल्यकल्पनम् उक्तम् ॥ ८३ ॥ ८४ ॥

सुशृङ्गेति । सुशृङ्गवर्णा शोभनशृङ्गा सुवर्णा सुदुघा अल्लेशदोहना बहुदुग्धा समधिकदुग्धवती सुवत्सका तरुणी अल्पा वा महती गौः मूल्याधिक्याय अधिकमूल्याय भवेत् ॥ ८५ ॥

अजायाश्च गवाङ् स्यान्मे ष्था मूल्यमजार्द्धकम् ॥८६॥

दृढस्य युद्धशीलस्य पलं मेषस्य राजतम् ।

दश वाष्टौ पलं मूल्यं राजतं तूत्तमं गवाम् ॥८७॥

पलं मेष्ठा अवेश्वापि राजतं मूल्यमुत्तमम् ।

गवां समं सार्द्धगुणं महिष्या मूल्यमुत्तमम् ॥८८॥

सुशृङ्गवर्णबलिनो वोढुः शीघ्रगमस्य च ।

अष्टतालवृषस्यैव मूल्यं षष्टिपलं स्मृतम् ॥८९॥

महिषस्योत्तमं मूल्यं सप्त चाष्टौ पलानि च ।

पीतेति । पीतवत्सा पीतवर्णवत्सवती गौः प्रष्टदुग्धा प्रशंसनीयदुग्धा चेत् तदा तस्या मूल्यं राजतं पलं पलपरिमितराजतम् । अजायाः क्वाग्याः मूल्यं गवाङ् गोमूल्याङ् तथा मेष्ठा मूल्यम् अजाया मूल्यार्द्धकम् ॥ ८६ ॥

दृढस्येति । दृढस्य समर्थस्य पुष्टदेहस्येत्यर्थः युद्धशीलस्य मेषस्य मूल्यं राजतं पलम् । गवान्तु उत्तमं मूल्यं दश वा अष्टौ राजतं पलम् ॥ ८७ ॥

पलमिति । मेष्ठाः अवेः मेषस्य च उत्तमं मूल्यं राजतं पलम् । महिष्याः उत्तमं मूल्यं सार्द्धगुणं सार्द्धैकगुणितं गवां समं मूल्यसममित्यर्थः ॥ ८८ ॥

सुशृङ्गेति । सुशृङ्गस्य सुवर्णस्य बलिनः वोढुः वहनक्षमस्य शीघ्रगमस्य शीघ्रगामिनः अष्टतालवृषस्य मूल्यं षष्टिपलं स्मृतं कथितम् ॥ ८९ ॥

महिषस्येति । महिषस्य उत्तमं मूल्यं सप्त अष्टौ च पलानि चशब्दो विकल्पार्थः । गजाश्वयोः गजस्य अश्वस्य च द्विसहस्रं

द्वित्रिचतुःसहस्रं वा मूल्यं श्रेष्ठं गजाश्वयोः ॥१००॥  
 उष्ट्रस्य माहिषसमं मूल्यमुत्तममीरितम् ॥१०१॥  
 योजनानां शतं गन्ता चैकेनाङ्गाश्व उत्तमः ।  
 मूल्यं तस्य सुवर्णानां श्रेष्ठं पञ्च शतानि हि ॥१०२॥  
 त्रिंशद्व्योजनगन्ता वै उष्ट्रं श्रेष्ठस्तु तस्य वै ।  
 पलानां तु शतं मूल्यं राजतं परिकीर्तितम् ॥१०३॥  
 बलेनोच्चेन युद्धेन मदेनाप्रतिमो गजः ।  
 यस्तस्य मूल्यं निष्काणां द्विसहस्रं प्रकीर्तितम् ॥१०४॥  
 चतुर्माषमितं स्वर्णं निष्क इत्यभिधीयते ।

त्रिसहस्रं चतुःसहस्रं वा श्रेष्ठं मूल्यं गुणानुसारेण वेदितव्य-  
 मिति शेषः ॥ १०० ॥

उष्ट्रस्येति । उष्ट्रस्य उत्तमं मूल्यं माहिषेण माहिषमूल्येन  
 समम् ईरितं कथितम् ॥ १०१ ॥

योजनानामिति । एकेन अङ्गा दिवसेन योजनानां शतं  
 गन्ता गन्तुं समर्थः अश्वः उत्तमः, सुवर्णानां पञ्चशतानि तस्य  
 श्रेष्ठं मूल्यं हि त्रिंशद्व्योजनगन्ताः ॥ १०२ ॥

त्रिंशदिति । यः उष्ट्रः त्रिंशद्व्योजनगन्ता स श्रेष्ठः, तस्य  
 मूल्यं पलानां राजतं शतं शतपलपरिमितराजतमित्यर्थः परि-  
 कीर्तितम् ॥ १०३ ॥

बलेनेति । यः गजः उच्चेन महता बलेन युद्धेन मदेन च  
 अप्रतिमः असदृशः, तस्य मूल्यं निष्काणां द्विसहस्रं प्रकीर्ति-  
 तम् ॥ १०४ ॥

चतुरिति । चतुर्भिः माषैः मितं परिमितं स्वर्णं निष्क इति

पञ्चरक्तिमितो माषो गजमौल्ये प्रकीर्तितः॥१०५॥

रत्नभूतन्तु तत्तत् स्याद् यद्यदप्रतिमं भुवि ।

यथादेशं यथाकालं मूल्यं सर्वस्य कल्पयेत् ॥१०६॥

न मूल्यं गुणहीनस्य व्यवहाराक्षमस्य च ।

नीचमध्योत्तमत्वन्तु सर्वस्मिन् मूल्यकल्पने ।

चिन्तनीयं बुधैर्लोकाद् वस्तुजातस्य सर्वदा ॥१०७॥

विक्रेतक्रेततो राजभागः शुल्कमुदाहृतम् ।

शुल्कदेशा हृदमार्गाः करसीमाः प्रकीर्तिताः॥१०८॥

अभिधीयते कथ्यते, गजमौल्ये हस्तिमूल्यविषये पञ्चरक्तिमितः

पञ्चरक्तिपरिमाणः वस्तुविशेषः माषः प्रकीर्तितः कथितः ॥१०५॥

रत्नभूतमिति । भुवि पृथिव्यां यत् यत् वस्तु अप्रतिमम्

असदृशम् असाधारणमित्यर्थः तत् तत् रत्नभूतं रत्नस्वरूपम् ।

अतः यथादेशं देशानुसारेण यथाकालं कालानुसारेण सर्वस्य

रत्नभूतस्य वस्तुनः मूल्यं कल्पयेत् ॥ १०६ ॥

नेति । गुणहीनस्य व्यवहाराक्षमस्य कार्यायोग्यस्य वस्तुनः

मूल्यं नास्ति, किञ्च बुधैः विद्वद्भिः सर्वस्मिन् मूल्यकल्पने

लोकात् लोकपरम्परातः वस्तुजातस्य समस्तस्य वस्तुनः नीच-

मध्योत्तमत्वम् अधमत्वं मध्यमत्वम् उत्तमत्वञ्च सर्वदा चिन्त-

नीयम् ॥ १०७ ॥

विक्रेत्रिति । विक्रेतुः क्रेतुश्च सकाशात् राजभागः राज-

प्राप्यांशः शुल्कम् उदाहृतं कथितं विधेयप्राधान्यात् नपुंसकत्वं

ज्ञेयम् । शुल्कदेशाः शुल्कग्रहणस्थानानि हृदमार्गाः व्यवसाय-

वस्तुजातस्यैकवारं शुल्कं ग्राह्यं प्रयत्नतः ।

क्वचिन्नैवासकृच्छुल्कं राष्ट्रे ग्राह्यं नृपैश्छलात् ॥ १०८ ॥

द्वाविंशांशं हरेद्राजा विक्रेतुः क्रेतुरेव वा ।

विंशांशं वा षोडशांशं शुल्कं मूल्याविरोधकम् ॥ १०९ ॥

न हीनसममूल्याच्च शुल्कं विक्रेतुः हरेत् ।

लाभं दृष्ट्वा हरेच्छुल्कं क्रेतुस्तत्र सदा नृपः ॥ ११० ॥

बहुमध्याल्पफलितां भुवं मानमितां सदा ।

ज्ञात्वा पूर्वं भागमिच्छुः पश्चाद्भागं विकल्पयेत् ॥ १११ ॥

स्थानानि करसीमाः करस्य शुल्कस्य सीमाः निर्दिष्टा अवधयश्च  
प्रकीर्तिताः ॥ १०८ ॥

वस्तुजातस्येति । नृपैः वस्तुजातस्य वस्तुसमूहस्य प्रयत्नतः  
प्रयत्नेन च एकवारं शुल्कं ग्राह्यं, क्वचित् राष्ट्रे छलात् छल-  
माश्रित्येति यावत् असकृत् वारं वारं शुल्कं नैव ग्राह्यम् ॥ १०८ ॥

द्वाविंशांशमिति । राजा विक्रेतुः क्रेतुः वा सकाशात्  
मूल्याविरोधकं मूल्याविरुद्धं यथा तथा द्वाविंशांशं विंशांशं षोड-  
शांशं वा शुल्कं हरेत् गृह्णीयात् विकल्पश्चैषः द्रव्यस्य मूल्यस्य  
च तारतम्यानुसारेण वेदितव्यः ॥ ११० ॥

नेति । विक्रेतुः विक्रेतुः सकाशात् हीनात् क्रयमूल्यतः  
न्यूनात् समात् तुल्याच्च शुल्कं न हरेत् हि नैव गृह्णीयादित्यर्थः  
नृपः लाभम् अल्पमूल्येन अधिकद्रव्यलाभं दृष्ट्वा क्रेतुस्तत्र  
क्रेतुः सकाशाच्च सदा शुल्कं हरेत् ॥ १११ ॥

बद्धिति । सदा भागमिच्छुः शुल्कभागाकाङ्क्षी राजा पूर्वं  
प्रथमं बहुफलां मध्यफलां वा अल्पफलां मानमितां परिमाणेन

हरेच्च कर्षकाङ्गां यथा नष्टो भवेन्न सः ।

मालाकार इव ग्राह्यो भागो नाङ्गारकारवत् ॥ ११३

बहुमध्याल्पफलतस्तारतम्यं विमृश्य च ।

राजभागादिव्ययतो द्विगुणं लभ्यते यतः ।

क्षपित्त्यन्तु तच्छ्रेष्ठं तन्न्यूनं दुःखदं नृणाम् ॥ ११४ ॥

तडागवापिकाकूपमाटकादेवमाटकात् ।

देशान्नदीमाटकात् तु राजानुक्रमतः सदा ॥ ११५ ॥

कृतमानां भुवं भूमिं ज्ञात्वा पश्चात् भागं शुल्कस्येति शेषः विक-  
ल्पयेत् विशेषेण निर्दिशेत् ॥ ११२ ॥

हरेदिति । यथा सः भूशुल्कदाता नष्टः क्षतिग्रस्तः न भवेत्  
कर्षकात् क्षपीबलात् तथा भागं हरेत् मालाकार इव माली  
यथा तरुलताभ्यः अल्पम् अल्पं पुष्पं चिनोति तथेति भावः ।  
अङ्गारकारवत् अङ्गारकारेण तुल्यं यथा तथा भागः शुल्क-  
रूपांशः न ग्राह्यः ॥ ११३ ॥

बद्धिति । बहुमध्याल्पफलतः बहुफलानुसारेण मध्यफलानु-  
सारेण अल्पफलानुसारेण च तारतम्यं भूमेर्गुणागुणमित्यर्थः  
विमृश्य विविच्य यतः क्षपित्त्यात् क्षपिकार्यात् राजभागादि-  
व्ययतः राजदेयशुल्कादीनां व्ययात् द्विगुणं लभ्यते तत् तु तदेव  
क्षपित्त्यं श्रेष्ठं, तस्मात् न्यूनं यत्किञ्चिन्नाभकरमित्यर्थः क्षपि-  
त्त्यं नृणां दुःखदं दुःखदायकम् ॥ ११४ ॥

तडागेति । तृतीयांशमिति । राजा सदा तडागवापिका-  
कूपमाटकात् सरोवरदीर्घिकाकूपजलैः सम्पाद्यक्षपेः देवमाट-  
कात् वृष्टिजलसम्पाद्यक्षपेरित्यर्थः नदीमाटकात् नदीजलैः

तृतीयांशं चतुर्थांशमर्द्धांशन्तु हरेत् फलम् ।

षष्ठांशमूषरात् तद्वत् पाषाणादिसमाकुलात् ॥११६॥

राजभागस्तु रजतशतकर्षमितो यतः ।

कर्षकाल्लभ्यते तस्मै विंशांशमुत्सृजेन्नृपः ॥११७॥

स्वर्णादर्द्धं च रजतात् तृतीयांशञ्च ताम्रतः ॥

चतुर्थांशन्तु षष्ठांशं लोहाद् वङ्गाच्च सीसकात् ॥११८॥

रत्नार्द्धं चैव चारार्द्धं खनिजाद् व्ययशेषतः ।

लाभाधिक्यं कर्षकादेर्यथा दृष्ट्वा हरेत् फलम् ।

त्रिधा वा पञ्चधा कृत्वा सप्तधा दशधापि वा ॥११९॥

सम्पाद्यकृषेच्च देशात् तृतीयांशं चतुर्थांशं तथा अर्द्धांशम् अनु-  
क्रमतः यथाक्रमेण तद्वत् तथा ऊषरात् अनुर्वरात् वा पाषा-  
णादिसमाकुलात् प्रस्तरप्रधानात् देशाच्च षष्ठांशं फलं हरेत् ॥  
११५ ॥ ११६ ॥

राजाभागमिति । यतः कर्षकात् कृषीबलात् रजतानां  
शतकर्षमितः शतरजतकर्षपरिमितः राजभागः लभ्यते, नृपः  
तस्मै कर्षकाय विंशांशं स्वप्राप्यात् विंशतिभागैकभागम् उत्-  
सृजेत् त्यजेत् ॥ ११७ ॥

स्वर्णादिति । रत्नार्द्धमिति । व्ययशेषत इति सर्वत्र सम्बध्यते ।  
खनिजात् व्ययशेषतः व्ययावशिष्टात् स्वर्णात् अर्द्धं रजतात्  
तृतीयांशं, ताम्रतः ताम्रात् चतुर्थांशं, लोहात् वङ्गात् सीस-  
काच्च षष्ठांशं, रत्नानां हीरकादीनाम् अर्द्धं चारारणां लवणानाञ्च  
अर्द्धं तथा कर्षकादेः लाभाधिक्यं दृष्ट्वा विविचेत्यर्थः त्रिधा

तृणकाष्ठादिहरकाद् विंशत्यंशं हरेत् फलम् ।

अजाविगोमहिष्याश्ववृद्धितोऽष्टांशमाहरेत् ।

महिष्यजाविगोदुग्धात् षोडशांशं हरेन्नृपः ॥१२०॥

कारुशिल्पिगणात् पक्षे दैनिकं कर्म कारयेत् ।

तस्य वृद्धौ तडागं वा वापिकां कृत्रिमां नदीम् ॥१२१॥

कुर्वन्त्यन्यत् तद्विधं वा कर्षन्त्यभिनवां भुवम् ।

तद्व्ययद्विगुणं यावन्न तेभ्यो भागमाहरेत् ॥१२२॥

पञ्चधा सप्तधा वा दशधा कृत्वा यथा यथोपयुक्तं फलं हरेत्  
राजेति शेषः ॥ ११८ ॥ ११९ ॥

तृणेति । नृपः तृणकाष्ठादिहरकात् तृणकाष्ठानाम् आह-  
रणकारिणः जनात् विंशत्यंशं फलं हरेत् । अजानां छागानाम्  
अवीनां मेषाणां गवां महिषीणाम् अश्वानाञ्च वृद्धितः वृद्धेः  
अष्टांशम् अष्टमं भागं हरेत् । तथा महिषीणाम् अजानां  
छागीनाम् अवीनां मेषीणां गवाञ्च दुग्धात् षोडशांशं हरेत् ॥१२०॥

कार्विति । कुर्वन्तीति । कारुगणान् शिल्पिगणान्श्च पक्षे पञ्च-  
दशदिनाभ्यन्तरे दैनिकम् एकदिनसाध्यं कर्म कारयेत् एतदेव  
तेषां राजभागदानमिति भावः । ये च तस्य राज्ञः वृद्धौ  
राज्योन्नत्यै तडागं वापिकां दीर्घिकां वा कृत्रिमां नदीम्  
अथवा अन्यत् तद्विधं तद्रूपं कर्म कुर्वन्ति, ये च अभिनवां  
नवोत्थितां भुवं कर्षन्ति कर्षणेन उर्वरां कुर्वन्तीत्यर्थः यावत्  
तद्व्ययात् तस्य कर्मणः व्ययात् द्विगुणं लभ्यते इति शेषः  
तावत् तेभ्यः कर्मकरेभ्यः भागं राजांशं न आहरेत्, द्विगुणाति-  
रिक्ते तु आहरेदेवेत्यर्थः ॥ १२१ ॥ १२२ ॥

भुवि भागं भृतिं शुल्कां वृद्धिमुत्कोचकं करम् ।  
 सद्य एव हरेत् सर्वं न तु कालविलम्बनैः ॥१२३॥  
 दद्यात् प्रतिकर्षकाय भागपत्रं स्वचिह्नितम् ।  
 नियम्य ग्रामभूभागमेकस्माद् धनिकाद्वरेत् ॥१२४॥  
 गृहीत्वा तत्प्रतिभुवं धनं प्राक् तत्क्षमं तु वा ।  
 विभागशो गृहीत्वापि मासि मासि ऋतौ ऋतौ १२५  
 षोडशद्वादशदशाष्टांशतो वाधिकारिणः ।  
 स्वांशात् षष्ठांशभागेन ग्रामपान् सन्नियोजयेत् ॥१२६॥

भुवीति । भुवि पृथिव्यां भागं भृतिं वितनं शुल्कां वृद्धिं  
 कुसीदम् उत्कोचकं भाविहितकार्यकरणोत्साहदानार्थं देयं  
 धनं तथा करं राजस्वम् एतत् सर्वं सद्य एव हरेत् कालविल-  
 म्बनैः न तु नैव ॥ १२३ ॥

दद्यादिति । गृहीत्वेति । प्रतिकर्षकाय प्रत्येकं कृषिकारिणे  
 इत्यर्थः स्वचिह्नितं स्वाक्षरितं भागस्य राजांशस्य पत्रं लेख्यं  
 दद्यात् । वा अथवा ग्रामभूभागं नियम्य निरूप्य निर्धार्य  
 इत्यर्थः एकस्मात् धनिकात् धनवतः जनात् तस्य धनिकस्य  
 प्रतिभुवं प्रतिरूपं गृहीत्वा वा तत्क्षमं राजदेयधनसमानं धनं  
 प्राक् लेख्यदानात् पूर्वं गृहीत्वा किंवा मासि मासि प्रतिमासम्  
 ऋतौ ऋतौ प्रतिद्विमासं विभागशः विभागक्रमेण उक्तं ग्राम-  
 भूवो भागं राजस्वमित्यर्थः हरेत् गृहीयात् ॥ १२४ ॥ १२५ ॥

षोडशेति । षोडशांशात् द्वादशांशात् दशांशात् अष्टांशञ्च  
 स्वांशात् राजप्राप्यांशात् षष्ठांशभागेन यथायथषष्ठभागरूपेण

गवादिदुग्धान्न फलं कुटुम्बार्थाद्वरेन्नृपः ।

उपभोगे धान्यवस्त्रं क्रेततो नाहरेत् फलम् ॥ १२७ ॥

वार्द्धुषिकाच्च कौसीदाद् द्वाविंशांशं हरेन्नृपः ।

गृहाद्याधारभूशुल्कं कृष्टभूमेरिवाहरेत् ॥ १२८ ॥

तथा चापणिकेभ्यस्तु पण्यभूशुल्कमाहरेत् ।

मार्गसंस्काररक्षार्थं मार्गगेभ्यो हरेत् फलम् ॥ १२९ ॥

सर्वतः फलभुग्भूत्वा दासवत् स्यात्तु रक्षणे ।

इति कोशप्रकरणं समाप्तात् कथितं किल ॥ १३० ॥

इति शुक्रनीतौ चतुर्थाध्यायस्य कोशनिरूपणं

नाम द्वितीयप्रकरणम् ।

वेतनेन ग्रामपान् ग्रामपालकान् अधिकारिणः भृत्यान् वा  
सन्नियोजयेत् ॥ १२६ ॥

गवादीति । नृपः कुटुम्बार्थात् परिवारभरणार्थात् गवा-  
दीनां दुग्धात् फलं करं न हरेत् । तथा उपभोगे स्वव्यवहारार्थं  
न तु व्यवसायार्थमित्यर्थः धान्यं वस्त्रञ्च क्रेततः क्रेतुः सका-  
शात् फलं शुल्कं न आहरेत् ॥ १२७ ॥

वार्द्धुषिकादिति । नृपः वार्द्धुषिकात् वृद्धिजीविनः कौसी-  
दात् ऋणदातुः सकाशात् त्रिंशांशं करं हरेत् । तथा कृष्टभूमे-  
रिव गृहादीनां आधारभुवः वासभूम्याः शुल्कं हरेत् ॥ १२८ ॥

तथेति । राजा आपणिकेभ्यः विपणिजीविभ्यः पण्यभूशुल्कं  
विक्रयस्थानशुल्कम् आहरेत् । तथा मार्गगेभ्यः पथिकेभ्यः मार्ग-  
संस्काररक्षार्थं फलं शुल्कं हरेत् ॥ १२९ ॥

### चतुर्थाध्यायस्य तृतीयप्रकरणम् ।

अथ मिश्रे तृतीयन्तु राष्ट्रं वक्ष्ये समासतः ।

स्थावरं जङ्गमञ्चापि राष्ट्रशब्देन गीयते ॥ १ ॥

यस्याधीनं भवेद् यावत् तद्राष्ट्रं तस्य वै भवेत् ॥ २ ॥

कुवेरता शतगुणाधिका सर्वगुणात् ततः ।

ईशता चाधिकतरा सा नाल्पतपसः फलम् ॥ ३ ॥

सर्वत इति । राजा सर्वतः सर्वस्मात् जनात् रक्षणे रक्षणार्थं दासवत् भृत्यवत् फलभुक् राजस्वरूपवेतनभोगी स्यात् । इति अनेन प्रकारेण समासात् संक्षेपात् कोशप्रकरणं किल निश्चितं कथितम् ॥ १३० ॥

इति श्रीजीवानन्दविद्यासागरभट्टाचार्यविरचिता

चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयप्रकरणव्याख्या

समाप्ता ।

अथेति । अथ अनन्तरं मिश्रे अध्याये तृतीयं राष्ट्रं राज्यप्रकरणं समासतः संक्षेपेण वक्ष्ये कथयिष्यामि राष्ट्रशब्देन स्थावरं स्थितिशीलं वृक्षपर्वतादि जङ्गमं गोमनुष्यादिकञ्च गीयते कथ्यते ॥ १ ॥

यस्येति । यस्य राज्ञः यावत् यत्परिमितं राज्यम् अधीनं तस्य तत् राष्ट्रं भवेत् ॥ २ ॥

कुवेरतेति । कुवेरता धनपतित्वं शतगुणेभ्यः अधिका चेष्टा ईशता स्वामित्वन्तु ततः सर्वगुणात् अधिकतरा श्रेष्ठतरा । सा कुवेरता ईशता च अल्पतपसः फलं न, बहुतपस्यायाः फलमित्यर्थः ॥ ३ ॥

स दीव्यति पृथिव्यां तु नान्यो देवो यतः स्मृतः ॥४॥

यस्याश्रितो भवेन्नोकस्तद्वदाचरति प्रजा ।

भुङ्क्ते राष्ट्रफलं सम्यगतो राष्ट्रकृतं त्वघम् ॥ ५ ॥

स्वस्वधर्मपरो लोको यस्य राष्ट्रे प्रवर्त्तते ।

धर्मनीतिपरो राजा चिरं कीर्त्तिं स चाश्रुते ॥६॥

भूमौ यावद् यस्य कीर्त्तिस्तावत् स्वर्गे स तिष्ठति ॥७॥

अकीर्त्तिरेव नरको नान्योऽस्ति नरको दिवि ।

नरदेहाद् विना त्वन्यो देहो नरक एव सः ॥ ८ ॥

स इति । सः धनस्वामी प्रभुश्च पृथिव्यां दीव्यति क्रीडति विराजते इत्यर्थः । यतः अन्यः जनः देवः न स्मृतः न कथितः, धनवान् प्रभुरेव देवशब्देनाभिधीयते इति भावः ॥ ४ ॥

तस्येति । लोकः यस्य प्रभोः आश्रितः भवेत्, प्रजा तद्वत् प्रभवत् प्रभुमतानुसारिणेत्यर्थः आचरति । अतः कारणात् स्वामी राष्ट्रफलं सुखादिकं राष्ट्रकृतम् अघं पापञ्च, तुशब्द-  
वार्थः । सम्यक् भुङ्क्ते ॥ ५ ॥

स्वेति । यस्य राष्ट्रे लोकः स्वस्वधर्मपरः निजनिजानुष्ठान-  
तत्परः प्रवर्त्तते चलति, सः राजा धर्मनीतिपरः भवतीति शेषः  
चिरं कीर्त्तिञ्च अश्रुते लभते ॥ ६ ॥

भूमाविति । यस्य भूमौ पृथिव्यां यावत् यावत्कालं कीर्त्ति-  
स्तिष्ठतीति शेषः, सः तावत् तावत्कालं स्वर्गे तिष्ठति ॥ ७ ॥

अकीर्त्तिरिति । अकीर्त्तिः अयं एव नरकः दुर्गतिकारणं,  
दिवि परलोके अन्यः अपरः अकीर्त्तिभिन्न इत्यर्थः नरकः न  
अस्ति । नरदेहात् विना अन्यो यो देहः, सः नरक एव ॥ ८ ॥

महत् पापफलं विद्यादाधिव्याधिस्वरूपकम् ।  
 स्वयं धर्मपरो भूत्वा धर्मे संस्थापयेत् प्रजाः ।  
 प्रमाणभूतं धर्मिष्ठमुपसर्पन्त्यतः प्रजाः ॥ ९ ॥  
 देशधर्मा जातिधर्माः कुलधर्माः सनातनाः ।  
 मुनिप्रोक्ताश्च ये धर्माः प्राचीना नूतनाश्च ये ॥ १० ॥  
 ते राष्ट्रगुप्तैः सन्धार्या ज्ञात्वा यत्नेन सन्नृपैः ।  
 धर्मसंस्थापनाद्राजा श्रियं कीर्त्तिं प्रविन्दति ॥ ११ ॥  
 चतुर्धा भेदिता जातिर्ब्रह्मणा कर्मभिः पुरा ।  
 तत्तत्साङ्ग्यसाङ्ग्यत्वात् प्रतिलोमानुलोमतः ।

महदिति । आधिः मानसी व्यथा, व्याधिः शरीरपीडा  
 तयोः स्वरूपकं तत्तद्रूपमित्यर्थः महत् पापस्य फलं विद्यात्,  
 अतः राजा स्वयं धर्मपरः धर्मनिष्ठः भूत्वा प्रजाः धर्मे संस्था-  
 पयेत् । अतः धर्मसंस्थापनात् प्रजाः प्रमाणभूतं निदर्शन-  
 स्वरूपं धर्मिष्ठं राजानम् उपसर्पन्ति अनुवर्तन्ते ॥ ९ ॥

देशधर्मा इति । ते इति । सनातनाः चिरं प्रचलिताः ये  
 देशधर्माः जातिधर्माः कुलधर्माः तथा मुनिभिः प्रोक्ताः कथिताः  
 प्राचीनाः नूतनाश्च ये धर्माः नियमाः, सन्नृपैः साधुभिः राजभिः  
 ते धर्माः ज्ञात्वा राष्ट्रस्य गुप्त्यै रक्षायै यत्नेन सन्धार्याः पाल-  
 नीयाः । राजा धर्मसंस्थापनात् तत्तद्धर्मप्रतिपालनात् श्रियं  
 लक्ष्मीं कीर्त्तिञ्च प्रविन्दति प्रकर्षेण लभते ॥ १० ॥ ११ ॥

चतुर्थेति । पुरा पूर्वकाले ब्रह्मणा कर्मणा तत्तज्जातिविशेष-  
 निष्ठकार्येण चतुर्धा जातिः भेदिता ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्र-  
 रूपेण विभक्ता । तेषां तेषाञ्च साङ्ग्यसाङ्ग्यत्वात् परस्परमिन्न-

जात्यानन्यन्तु सम्प्राप्तं तद् वक्तुं नैव शक्यते ॥१२॥  
मन्यन्ते जातिभेदं ये मनुष्याणां तु जन्मना ।  
त एव हि विजानन्ति पार्थक्यं नामकर्मभिः ॥१३॥  
जरायुजाण्डजा स्वेदोद्भिज्जा जातिः सुसंग्रहात् ।  
उत्तमो नीचसंसर्गाद् भवेन्नीचस्तु जन्मना ॥१४॥  
नीचो भवेन्नोत्तमस्तु संसर्गाद् वापि जन्मना ।  
कर्मणोत्तमनीचत्वं कालतस्तु भवेद् गुणैः ।  
विद्याकलाश्रयेणैव तन्नाम्ना जातिरुच्यते ॥१५॥

णामिश्रणात् तथा प्रतिलोमानुलोमतः प्रातिलोम्येन आनु-  
लोम्येन च जात्यानन्यं जातीनाम् आनन्यम् असङ्ख्यत्वं सम्प्राप्तं  
जातं, तत् वक्तुं कथयितुं नैव शक्यते ॥ १२ ॥

मन्यन्त इति । ये जन्मना जननानुसारेण मनुष्याणां  
जातिभेदं मन्यन्ते, ते एव नामकर्मभिः नामभिः कर्मभिश्च  
मनुष्याणामिति शेषः पार्थक्यं विभिन्नतां विजानन्ति हि ॥१३॥

जरायुजेति । जातिः सुसंग्रहात् सुसंक्षेपात् जरायुजा,  
अण्डजा, स्वेदजा तथा उद्भिज्जा इति चतुर्धा भवतीति शेषः ।  
उत्तमः उत्कृष्टजातिः नीचसंसर्गात् जन्मना उत्पत्त्या नीचस्तु  
नीच एव भवेत् ॥ १४ ॥

नीच इति । नीचस्तु संसर्गात् जन्मना वा उत्तमः न भवेत् ।  
कर्मणा कार्येण उत्तमनीचत्वम् उत्कर्षापकर्षभावः क्षिप्रमिति  
शेषः तथा गुणैः विद्याविद्यादिभिस्तु कालतः कालक्रमेण उत्त-  
मनीचत्वं भवेत् । किञ्च विद्यानां कलानां सङ्गीतादीनाञ्च  
आश्रयेण एव तन्नाम्ना तत्तद्विद्याकलानां नाम्ना जातिः उच्यते

इज्याध्ययनदानानि कर्माणि तु द्विजन्मनाम् ।  
 प्रतिग्रहोऽध्यापनञ्च याजनं ब्राह्मणेऽधिकम् ॥१६॥  
 सद्रक्षणं दुष्टनाशः स्वांशादानन्तु क्षत्रिये ।  
 कृषिगोगुप्तिवाणिज्यमधिकन्तु विशां स्मृतम् ॥१७॥  
 दानं सेवैव शूद्रादेर्नीचकर्म प्रकीर्तितम् ॥१८॥  
 क्रियाभेदैस्तु सर्वेषां भृतिवृत्तिरनिन्दिता ।

कथ्यते यथा अयं दार्शनिकः, अयं नैयायिकः, अयं गायक  
 इत्यादि ॥ १५ ॥

इज्येति । द्विजन्मनां द्विजानां ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां संस्का-  
 रात् द्विज उच्यते इति वचनेन ब्राह्मणादिवर्णत्रयस्य द्विजत्वेना-  
 भिधानात् । इज्याध्ययनदानानि इज्या यज्ञानुष्ठानम् अध-  
 यनं दानञ्च एतानि त्रीणि कर्माणि । ब्राह्मणे तु प्रतिग्रहः  
 ग्रहणम् अध्यापनं तथा याजनं परार्थं यज्ञकरणम् एतत् त्रयम्  
 अधिकम् ॥ १६ ॥

सद्रक्षणमिति । क्षत्रिये तु सद्रक्षणं सतां साधूनां रक्षणं,  
 दुष्टनाशः दुष्टानां दमनं तथा स्वांशस्य राजलभ्यांशस्य आदानं  
 ग्रहणञ्च एतत्त्रयम् अधिकम् । विशां वैश्यानान्तु कृषिः गोगुप्तिः  
 गवां पशूनां गुप्तिः पालनं तथा वाणिज्यम् एतत्त्रयम् अधिकं  
 स्मृतम् ॥ १७ ॥

दानमिति । शूद्रादेः शूद्रस्य तत्समानजातेश्च दानं सेवा  
 दासवृत्तिः, तथा नीचकर्म निकृष्टकार्यं पदसेवागृहमार्जना-  
 दिकञ्च प्रकीर्तितम् ॥ १८ ॥

क्रियेति । क्रियाणां कार्याणां भेदैः प्रभेदैः सर्वेषां ब्राह्मणा-

सीरभेदैः कृषिः प्रोक्ता मन्वाद्यैर्ब्राह्मणादिषु ॥१८॥

ब्राह्मणैः षोडशगवं चतुरनं यथा परैः ।

द्विगवं वान्यजैः सीरं दृष्ट्वा भूमाद्वं तथा ॥२०॥

ब्राह्मणेन विनान्येषां भिक्षावृत्तिर्विगर्हिता ॥२१॥

तपोविशेषैर्विविधैर्ब्रतैश्च विधिचोदितैः ।

वेदः कृतस्त्रोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना ॥२२॥

योऽधीतविद्यः सकलः स सर्वेषां गुरुर्भवेत् ।

न च जात्यानधीतो गुरुर्भवितुमर्हति ॥२३॥

दीनां भृतिवृत्तिः भरणार्थं निर्दिष्टा वृत्तिः जीवनोपायः अनि-  
न्दिता । यथा मन्वाद्यैः मुनिभिः सीराणां लाङ्गलानां भेदैः  
विशेषैः ब्राह्मणादिषु कृषिः प्रोक्ता कथिता ॥ १८ ॥

ब्राह्मणैरिति । ब्राह्मणैः कृषिजीविभिरिति भावः षोडशगवं  
षोडशभिः गोभिः वाह्यं सीरं, तथा परैः अन्यैः क्षत्रियादिभि-  
रित्यर्थः क्रमशः चतुरनं क्षत्रियैः द्वादशगवं, वैश्यैः अष्टगवं,  
शूद्रैः चतुर्गवमित्यर्थः सीरं तथा अन्यजैः चाण्डालादिभिः  
भूमाद्वं भुवः भूमेर्माद्वं ऋदुत्वं दृष्ट्वा द्विगवं सीरं कर्त्तव्यमिति  
शेषः ॥ २० ॥

ब्राह्मणेनेति । ब्राह्मणेन विना अन्येषां क्षत्रियादीनां  
भिक्षावृत्तिः विगर्हिता विशेषेण निन्दिता ॥ २१ ॥

तपोविशेषैरिति । द्विजन्मना द्विजेन विविधैः विधिचोदितैः  
विहितैः तपोविशेषैः ब्रतैश्च सरहस्यः उपजिज्ञत्सहितः समग्रः  
वेदः अधिगन्तव्यः वेदितव्यः ॥ २२ ॥

य इति । यः अधीतविद्यः तथा सकलः कलाभिः लौकिक-  
भ—३०

विद्या ह्यनन्ताश्च कलाः संख्यातुं नैव शक्यते ।

विद्या मुख्याश्च द्वात्रिंशच्चतुःषष्टिः कलाः स्मृताः ॥२२॥

यद् यत् स्याद् वाचिकं सम्यक् कर्म विद्याभिसंज्ञकम्

शक्तो मूकोऽपि यत् कर्तुं कलासंज्ञन्तु तत् स्मृतम् २५

उक्तं संचेपतो लक्ष्म विशिष्टं पृथगुच्यते ।

विद्यानाञ्च कलानाञ्च नामानि तु पृथक् पृथक् ॥२६॥

ऋग्यजुः साम चाथर्वा वेदा आयुर्धनुः क्रमात् ।

मान्धर्वश्चैव तन्त्राणि उपवेदाः प्रकीर्त्तिताः ॥२७॥

विद्यादिभिः सहितः, सः सर्वेषां गुरुः भवेत् । यस्तु अनधीतः  
अकृतविद्यः, सः जात्या केवलयेति शेषः गुरुः भवितुं न  
अर्हति ॥ २३ ॥

विद्या इति । विद्याः कलाश्च अनन्ता हि ताः संख्यातुम्  
इयत्तया परिच्छेत्तुं नैव शक्यते शक्यन्ते आपोऽयं प्रयोगः । तत्र  
मुख्याः विद्याः द्वात्रिंशत्, तथा कलाश्च चतुःषष्टिः स्मृताः ॥२४॥

यदिति । यत् यत् कर्म सम्यक् सम्पूर्णरूपेण वाचिकं वाचा  
निष्पाद्यं, तत्तत् विद्याभिसंज्ञकं विद्येति नाम्ना कथितम् ।  
यत्तु मूकोऽपि वर्णोच्चारणसमर्थोऽपि कर्तुं शक्तः, (यथा नृत्या-  
दिकमिति भावः) तत्तु कलासंज्ञं कलेति नाम्ना कथितम् ॥२५॥

उक्तमिति । विद्यानाञ्च कलानाञ्च लक्ष्म लक्षणं संचेपतः  
उक्तं विशिष्टन्तु पृथक् उच्यते कथ्यते, आसां नामानि पृथक्  
पृथक् सन्तीति शेषः ॥ २६ ॥

ऋगिति । ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्वा एते चत्वारः

शिञ्चा व्याकरणं कल्पो निरुक्तं ज्योतिषं तथा ।  
 छन्दःषडङ्गानीमानि वेदानां कीर्तितानि हि ॥२८॥  
 मीमांसातर्कसांख्यानि वेदान्तो योग एव च ।  
 इतिहासाः पुराणानि स्मृतयो नास्तिकं मतम् ॥२९॥  
 अर्थशास्त्रं कामशास्त्रं तथा शिल्पमलङ्कृतिः ।  
 काव्यानि देशभाषावसरोक्तिर्यावनं मतम् ।  
 देशादिधर्मा द्वात्रिंशदेता विद्याभिसंज्ञिताः ॥३०॥  
 मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनाम प्रोक्तऋगादिषु ॥३१॥  
 जपहोमार्चनं यस्य देवताप्रीतिदं भवेत् ।

वेदाः । आयुर्वेदः, धनुर्वेदः गान्धर्वः तन्त्राणि च एते उपवेदाः  
 प्रकीर्तिताः ॥ २७ ॥

शिञ्चेति । शिञ्चा व्याकरणं कल्पः निरुक्तं ज्योतिषं तथा  
 छन्दः इमानि षट् वेदानाम् अङ्गानि, कीर्तितानि, द्विशब्दो-  
 ऽवधारणार्थः ॥ २८ ॥

मीमांसिति । अर्थेति । मीमांसा, तर्कः साङ्ख्यं, वेदान्तः,  
 योगः, इतिहासाः, पुराणानि, स्मृतयः नास्तिकमतम्, अर्थ-  
 शास्त्रं, कामशास्त्रं, शिल्पम्, अलङ्कृतिः, काव्यानि, देशभाषा,  
 अवसरोक्तिः, यावनं मतं, तथा देशादिप्रचलितधर्माः एताः  
 द्वात्रिंशत् विद्याभिसंज्ञिता विद्यानाम्ना ख्याता इत्यर्थः ॥२९॥३०

मन्त्रेति । ऋगादिषु ऋक्यजुःसामाथर्वसु मन्त्रब्राह्मणयोः  
 वेदनाम वेद इति नाम प्रोक्तं कथितं तथाच वेदः द्विविधः  
 मन्त्रात्मकः ब्राह्मणश्चेति भावः ॥ ३१ ॥

जपेति । यस्य वेदभागस्य उच्चारात् उच्चारणात् जपः होमः

उच्चारान्मन्त्रसंज्ञं तद् विनियोगि च ब्राह्मणम् ॥३२॥

ऋगूपा यत्र ये मन्त्राः पादशोऽर्धचशोऽपि वा ।

येषां होत्रं स ऋग्भागः समाख्यानं च यत्र वा ॥३३॥

प्रश्लिष्टपठिता मन्त्रा वृत्तगीतिविवर्जिताः ।

आध्वर्य्यवं यत्र कर्म त्रिगुणं यत्र पाठनम् ।

मन्त्रब्राह्मणयोरेव यजुर्वेदः स उच्यते ॥३४॥

उद्गीथं यस्य शस्त्रादेर्यज्ञे तत् सामसंज्ञकम् ॥३५॥

अथर्वाङ्गिरसो नाम ह्युपास्योपासनात्मकः ।

अर्चनं देवपूजनं देवतानां प्रीतिदं भवेत् तत् मन्त्रसंज्ञं मन्त्र-  
नाम्ना ख्यातम् । तद्विनियोगि तद्व्यतिरिक्तं वा तत्प्रमाण-  
स्वरूपं ब्राह्मणं स्मृतमिति शेषः ॥ ३२ ॥

ऋगिति । यत्र ऋग्रूपाः ये मन्त्राः पादशः अर्धचशः वा  
पठिता इति शेषः, येषां मन्त्राणां होत्रं होमसम्पादकत्वं, यत्र  
वा समाख्यानं सम्यक् आख्यानं कथनं सः ऋग्भागः ऋक्-  
वेदः ॥ ३३ ॥

प्रश्लिष्टेति । यत्र मन्त्राः प्रश्लिष्टं यथा तथा पठिताः तथा  
वृत्तेन छन्दसा गीत्या च विवर्जिताः विरहिताः, यत्र च आध्व-  
र्य्यवम् अध्वर्य्युविहितं कर्म प्रोक्तमिति शेषः, यत्र च मन्त्र-  
ब्राह्मणयोरुभयोरेव त्रिगुणं त्रिरावृत्तं पठितं सः यजुर्वेदः  
उच्यते ॥ ३४ ॥

उद्गीथमिति । शस्त्रादेः यज्ञे यस्य उद्गीथम् उच्चैर्गीतं विहित-  
मिति शेषः तत् सामसंज्ञकं सामनाम्ना कथितम् ॥ ३५ ॥

अथर्वेति । उपास्यानाम् आराध्यानां देवानाम् उपासना-

इति वेदचतुष्कन्तु ह्युद्दिष्टञ्च समासतः ॥ ३६ ॥

विन्दत्यायुर्वेत्ति सम्यगाकृत्यौषधिहेतुतः ।

यस्मिन्नृग्वेदोपवेदः स चायुर्वेदसंज्ञकः ॥ ३७ ॥

युद्धशस्त्रास्त्रव्यूहादिरचनाकुशलो भवेत् ।

यजुर्वेदोपवेदोऽयं धनुर्वेदस्तु येन सः ॥ ३८ ॥

स्वरैरुदात्तादिधर्मैस्तन्त्रीकण्ठोलितैः सदा ।

सतालैर्गानविज्ञानं गान्धर्वो वेद एव सः ॥ ३९ ॥

लोकः वेदभागः अथर्वाङ्गिरसः नाम । इति उक्तप्रकारं वेद-  
चतुष्कं समासतः संक्षेपेण उद्दिष्टं कथितं हि हिशब्दोऽव-  
धारणार्थः ॥ ३६ ॥

विन्दतीति । यस्मिन् विदिते इति भावः आयुः विन्दति  
लभते जन इति शेषः तद्विहितस्य अनुष्ठानात् दीर्घायुर्लभ-  
इति भावः, यस्मिंश्च आकृत्या रोगाणामाकारज्ञानेन औषधि-  
हेतुतः । औषधिविज्ञानेन च हेतुना इत्यर्थः आयुः वेत्ति  
जानाति रोगिणामिति शेषः सः ऋग्वेदस्य उपवेदः आयुर्वेद-  
संज्ञक आयुर्वेद इति नाम्ना प्रसिद्धः ॥ ३७ ॥

युद्धेति । येन ज्ञातेन इत्यर्थः युद्धेषु शस्त्रेषु अस्त्रेषु व्यूहादि-  
रचनासु च कुशलः निपुणः भवेत् यजुर्वेदस्य उपवेदः, स च  
धनुर्वेद इति ख्यातः ॥ ३८ ॥

स्वरैरिति । येन उदात्तादिधर्मैः उदात्तानुदात्तस्वरितैः तथा  
तन्त्रीकण्ठोलितैः निषादादिभिः सप्तभिः स्वरैः सतालैः ताल-  
सहितैः गानविज्ञानं भवति स गान्धर्वो वेदः स तु सामवेदस्य  
उपवेद इति बोद्धव्यः ॥ ३९ ॥

विविधोपास्यमन्त्राणां प्रयोगाः सुविभेदतः ।  
 कथिताः सोपसंहारास्तद्धर्मनियमैश्च षट् ।  
 अथर्वणां चोपवेदस्तत्त्वरूपः स एव हि ॥४०॥  
 स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः ।  
 सवनाद्यैश्च सा शिक्षा वर्णानां पाठशिक्षणात् ॥४१॥  
 प्रयोगो यत्र यज्ञानामुक्तो ब्राह्मणशेषतः ।  
 श्रौतकल्पः स विज्ञेयः स्मार्त्तकल्पस्तथेतरः ॥४२॥  
 व्याकृताः प्रत्ययाद्यैश्च धातुसन्धिसमासतः ।  
 शब्दा यत्र व्याकरणमेतद्धि बहुलिङ्गतः ॥४३॥

विविधेति । यत्र विविधानाम् उपास्यानां मन्त्राणां सोप-  
 संहाराः उपसंहारसहिताः षट् प्रयोगाः तेषां धर्मनियमैश्च  
 सह सुविभेदतः विशिष्टप्रभेदानुसारेण कथिताः सः अथर्वणाम्  
 उपवेदः तत्त्वरूपः हि तत्त्वरूप एव ॥ ४० ॥

स्वरत इति । यच्च स्वरतः उदात्तादिभेदेन कालतः काल-  
 क्रमेण स्थानात् कण्ठताल्वादिप्रदेशात् प्रयत्नानुप्रदानतः प्रयत्न-  
 सहकारेण सवनाद्यैः उत्पत्त्यादिभिः उच्चारणादिभिरित्यर्थः  
 पाठस्य शिक्षणं सा शिक्षा तादृशशिक्षासमन्वितः सन्दर्भः  
 शिक्षाग्रन्थः इति भावः ॥ ४१ ॥

प्रयोग इति । यत्र ब्राह्मणशेषतः ब्राह्मणस्य मन्त्रेतरवेद-  
 भागस्य शेषतः शेषांशात् यज्ञानां प्रयोगः उक्तः सः श्रौतकल्पः  
 विज्ञेयः, तथा इतरः अन्यः स्मार्त्तकल्पः ॥ ४२ ॥

व्याकृता इति । यत्र शब्दाः प्रत्ययाद्यैः धातुभिः सन्धिभिः

शब्दनिर्वचनं यत्र वाक्यार्थकार्यसंग्रहः ।

निरुक्तं तत् समाख्यानाद् वेदाङ्गं श्रोत्रसंज्ञकम् ॥४४

नक्षत्रग्रहगमनैः कालो येन विधीयते ।

संहिताभिश्च होराभिर्गणितैर्ज्योतिषं हि तत् ॥४५॥

स्यरस्तजभ्रगैर्लान्तैः पद्यं यत्र प्रमाणतः ।

कल्प्यते छन्दःशास्त्रं तद् वेदानां पादरूपधृक् ॥४६

यत्र व्यवस्थिता चार्थकल्पना विधिभेदतः ।

मीमांसा वेदवाक्यानां सैव न्यायश्च कीर्तितः ॥४७

भावाभावपदार्थानां प्रत्यक्षादिप्रमाणतः ।

समासैः बहुभिः पुंस्त्रीक्लीवभेदैः लिङ्गैश्च व्याकृताः साधिताः,

एतत् हि एतदेव व्याकरणम् ॥ ४३ ॥

शब्दनिर्वचनमिति । यत्र शब्दानां निर्वचनं निष्कर्षणं कथनं तथा वाक्यार्थानाम् एकार्थसंग्रहः, तत् निरुक्तं नाम वेदाङ्गं, तच्च समाख्यानात् सम्यक् शब्दार्थकथनात् श्रोत्रसंज्ञकं श्रोत्राख्यया कथितम् ॥ ४४ ॥

नक्षत्रेति । येन नक्षत्राणां ग्रहाणाञ्च गमनैः संहिताभिः होराभिः गणितैश्च कालः विधीयते पृथक् पृथक् निर्दिश्यते, तत् हि तदेव, ज्योतिषम् ॥ ४५ ॥

स्यरस्तजभ्रगैरिति । मस्त्रिगुरुः, यः आदिगुरुः, रः लघुमध्यः सः अन्तगुरुः, तः अन्तलघुः, जः गुरुमध्यः, भः आदिगुरुः, नः त्रिलघुः, गः गुरुः, लः लघुः एभिः प्रमाणतः परिमाणैः यत्र पद्यं कल्प्यते, तत् छन्दःशास्त्रं तच्च वेदानां पादरूपधृक् चरख-  
व्यवस्थापकमित्यर्थः ॥ ४६ ॥

सविवेको यत्र तर्कः कणादादिमतं च यत् ॥ ४८ ॥  
 पुरुषोऽष्टौ प्रकृतयो विकाराः षोडशेति च ।  
 तत्त्वादिसंख्यावैशिष्ट्यात् सांख्यमित्यभिधीयते ॥ ४९ ॥  
 ब्रह्मैकमद्वितीयं स्थान्नाना नेहास्ति किञ्चन ।  
 मायिकं सर्वमज्ञानाद् भाति वेदान्तिनां मतम् ॥ ५० ॥  
 चित्तवृत्तिनिरोधस्तु प्राणसंयमनादिभिः ।

यत्रेति । भावेति । यत्र वेदवाक्यानां विधिभेदतः अनुष्ठान-  
 भेदात् अर्थकल्पना व्यवस्थिता, सा एव मीमांसा । यत्र च  
 भावानाम् अभावानाञ्च पदार्थानां प्रत्यक्षादिप्रमाणतः प्रत्यक्षा-  
 नुमानादिभिः प्रमाणैः सविवेकः सविचारः तर्कः भवति, यत्र  
 कणादादीनां वैशेषिकदार्शनिकानां मतं, सः न्यायः कीर्तितः ।  
 एतेन न्यायदर्शनं वैशेषिकदर्शनञ्च प्रायशः समरूपत्वात् एक-  
 मेवेति अभिहितमिति बोध्यम् ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

पुरुष इति । पुरुषः एकः, अष्टौ प्रकृतयः, विकाराः, षोडश,  
 तथाहि एकः कूटस्थः पुरुषः प्रकृतिः, महान्, अहङ्कारः, पञ्च-  
 तन्मात्राणि इति नव, ततः महाभूतानि पञ्चौक्तानि पञ्च पञ्च,  
 कर्मेन्द्रियाणि हस्तपदादीनि, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि चक्षुरादीनि,  
 मनश्च इति षोडश । इत्येवं पञ्चविंशतितत्त्वादीनां संख्यायाः  
 गणनाया वैशिष्ट्यात् सांख्यम् इति अभिधीयते ॥ ४९ ॥

ब्रह्मेति । एकम् अद्वितीयं किञ्चन किमपि वस्तु ब्रह्म स्यात्-  
 इह जगति नाना विविधं ब्रह्म न अस्ति । अन्यत् सर्वं मायिकं  
 मायासयं मिथ्यास्वरूपम् अज्ञानात् भाति सत्यवत् विराजते-  
 इति वेदान्तिनां मतम् ॥ ५० ॥

चित्तेति । यस्मिन् ध्यानसमाधितः एकाग्रयेण चिन्तनेन

तद् योगशास्त्रं विज्ञेयं यस्मिन् ध्यानसमाधितः ॥ ५१ ॥

प्राग्वृत्तकथनं चैकराजकृत्यमिषादितः ।

यस्मिन् स इतिहासः स्यात् पुरावृत्तः स एव हि ॥ ५२ ॥

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।

वंशानुचरितं यस्मिन् पुराणं तद् विकीर्तितम् ॥ ५३ ॥

वर्णादिधर्मस्मरणं यत्र वेदाविरोधकम् ।

कीर्तनं चार्थशास्त्राणां स्मृतिः सा च प्रकीर्तिता ॥ ५४ ॥

युक्तिर्वलीयसी यत्र सर्वं स्वाभाविकं मतम् ।

कस्यापि नेश्वरः कर्त्ता न वेदो नास्तिकं हि तत् ॥ ५५ ॥

प्राणानां अन्तश्चराणां मरुतां संयमनादिभिः कुम्भकादिभिरिति भावः चित्तवृत्तेः मनोवृत्तेः निरोधः विषयान्तरेभ्यः व्यावृत्तिः कथित इति शेषः, तत् योगशास्त्रं विज्ञेयम् ॥ ५१ ॥

प्रागिति । यस्मिन् एकराजस्य एकस्य नृपस्य कृत्यस्य चरितस्य मिषादितः वर्णनाच्छलादिभिः यत् प्राग्वृत्तस्य पुरावृत्तस्य कथनं सः इतिहासः स्यात्, स एव पुरावृत्तः हिशब्दः पादपूरणार्थः ॥ ५२ ॥

सर्ग इति । यस्मिन् सर्गः सृष्टिः, प्रतिसर्गः, प्रलयः, वंशः महापुरुषणां कुलं, मन्वन्तराणि तथा वंशानुचरितं कथितमिति शेषः, तत् पुराणं विकीर्तितम् ॥ ५३ ॥

वर्णादीति । यत्र वेदाविरोधकं श्रुत्यविरुद्धं वर्णादीनां ब्राह्मणादीनाम् आदिपदेन आश्रमादीनाञ्च धर्मस्य स्मरणं तथा अर्थशास्त्राणां कीर्तनञ्च, सा स्मृतिः प्रकीर्तिता ॥ ५४ ॥

युक्तिरिति । यत्र युक्तिः तर्कः वलीयसी अतिप्रवला, सर्वं

श्रुतिस्मृत्यविरोधेन राजवृत्तादिशासनम् ।

सुयुक्त्यार्थार्जनं यत्र द्व्यर्थशास्त्रं तदुच्यते ॥५६॥

शशादिभेदतः पुंसामनुकूलादिभेदतः ।

पद्मिन्यादिप्रभेदेन स्त्रीणां स्त्रीयादिभेदतः ।

तत् कामशास्त्रं सत्त्वादेर्लक्ष्यं यत्रास्ति चोभयोः ॥५७॥

प्रासादप्रतिमारामगृहवाप्यादित्सकृतिः ।

कथिता यत्र तच्छिल्पशास्त्रमुक्तं महर्षिभिः ॥५८॥

वस्तु स्वाभाविकं स्वभावसिद्धं मतं कथितं, कस्यापि कर्ता कारकः ईश्वरः न अस्तीति शेषः, तथा वेदश्च न । अकिञ्चित्कर इत्यर्थः, इत्येवं व्यवस्था इति शेषः तत् हि नास्तिकं नास्तिकग्रन्थ इत्यर्थः ॥ ५५ ॥

श्रुतीति । यत्र श्रुतीनां स्मृतीनाञ्च अविरोधेन राज्ञः वृत्तादीनाम् आचरितादीनां शासनम् उपदेशः तथा सुयुक्त्या सुकीशलेन अर्थानां धनानाम् अर्जनम् उपार्जनं वर्णितमिति शेषः तत् अर्थशास्त्रम् उच्यते ॥ ५६ ॥

शशादीति । यत्रेत्यध्याहार्यम् । यत्र पुंसां शशादिभेदतः शशकसृगाश्वहस्तिजातिभेदात् तथा अनुकूलादिभेदतः अनुकूलघृष्टशठादिविशेषात् किञ्च स्त्रीणां पद्मिन्यादिभेदेन पद्मिनीशङ्खिनीचित्रिणीहस्तिनीरूपजातिभेदेन तथा स्त्रीयादिभेदतः स्त्रीयापरकीयासाधारणीरूपविशेषेण उभयोः स्त्रीपुंसयोः सत्त्वादेः अनुरागादेः लक्ष्यं लक्षणम् अस्ति, तत् कामशास्त्रम् ॥५७॥

प्रासादेति । यत्र प्रासादानां राजभवनानां देवालयाणां वा प्रतिमानां आरामगृहाणाम् उद्यानगृहाणां वाप्यादीनां

समन्यूनाधिकत्वेन सारूप्यादिप्रभेदतः ।

अन्योऽन्यगुणभूषा तु वर्ण्यतेऽलङ्कृतिश्च सा ॥५८॥

सरसालङ्कृतादुष्टशब्दार्थं काव्यमेव तत् ।

विलक्षणचमत्कारबीजं पद्यादिभेदतः ॥६०॥

लोकसङ्केततोऽर्थानां सुग्रहा वाक् तु दैशिकी ॥६१॥

विना कौशिकशास्त्रीयसङ्केतैः कार्यसाधिका ।

यथा कालोचिता वाग् वावसरोक्तिश्च सा स्मृता ॥६२॥

ईश्वरः कारणं यत्रादृश्योऽस्ति जगतः सदा ।

सरोवरादीनाञ्च सत्कृतिः सुनिर्माणं संस्कारश्च कथिता, महः  
षिभिः तत् शिल्पशास्त्रम् उक्तम् ॥ ५८ ॥

समेति । समत्वेन न्यूनत्वेन आधिक्येन वा सारूप्यादिप्रभे-  
दतः सादृश्यादिभेदेन अन्योऽन्यस्य परस्परस्य गुणानां भूषा  
वैचित्र्यमित्यर्थः यत् वर्ण्यते सा अलङ्कृतिः तदग्रन्थश्च अलङ्कार  
इति व्यपदिश्यते ॥ ५८ ॥

सरसेति । सरसौ रसयुक्तौ अलङ्कृतौ अलङ्कारयुक्तौ अदुष्टौ  
दोषरहितौ शब्दार्थौ यत्र तत् काव्यमेव, तच्च पद्यादीनां भेदतः  
वैशिष्ट्यात् विलक्षणस्य अलौकिकस्य चमत्कारस्य साश्चर्या-  
नन्दस्य बीजं कारणम् ॥ ६० ॥

लोकेति । लोकानां सङ्केततः सङ्केतेन अर्थानां सुग्रहा सुख-  
ग्राह्यार्था इत्यर्थः वाक् तु दैशिकी देशभाषारूपा ॥ ६१ ॥

विनेति । कौशिकैः वृत्तिभेदैः शास्त्रीयसङ्केतैश्च विना कार्य-  
साधिका अर्थबोधिका यथाकालोचिता कालानुसारिणी या  
वाक्, सा अवसरोक्तिः स्मृता ॥ ६२ ॥

श्रुतिस्मृती विना धर्माधर्मौस्तस्तच्च यावनम् ।  
 श्रुत्यादिभिन्नधर्मोऽस्ति यत्र तद् यावनं मतम् ॥६३॥  
 कल्पितश्रुतिमूलो वामूलो लोकैर्धृतः सदा ।  
 देशादिधर्मः स ज्ञेयो देशे देशे कुले कुले ॥६४॥  
 पृथक् पृथक् तु विद्यानां लक्षणं सम्प्रकाशितम्  
 कलानां न पृथङ्नाम लक्षणं चास्तीह केवलम् ॥६५॥  
 पृथक् पृथक् क्रियाभिर्हि कलाभेदस्तु जायते ।  
 यां यां कलां समाश्रित्य तन्नाम्ना जातिरुच्यते ॥६६॥

ईश्वर इति । यत्र सदा अदृश्यः ईश्वरः जगतः कारणम्  
 अस्ति, तथा श्रुतिस्मृती विना धर्माधर्मौ स्तः विद्येते, तत्  
 यावनं यवनग्रन्थ इत्यर्थः । यत्र च श्रुत्यादिभिन्नः वेदादिविरुद्धः  
 धर्मः अस्ति तत् यावनं मतम् ॥ ६३ ॥

कल्पितेति । यः देशे देशे प्रतिदेशं कुले कुले प्रतिकुलं  
 लोकैः कल्पिता रचिता श्रुतिः मूलं यस्य तथाभूतः वा अमूलः  
 मूलरहितः आचार इति शेषः सदा धृतः, सः देशादिधर्मः  
 विज्ञेयः ॥ ६४ ॥

पृथगिति । विद्यानाम् उक्तानां पृथक् पृथक् लक्षणं सम्प्र-  
 काशितम्, केवलं कलानां पृथक् नाम लक्षणं लक्षणञ्च इह न  
 अस्ति ॥ ६५ ॥

पृथगिति । पृथक् पृथक् विभिन्नाभिरित्यर्थः क्रियाभिः  
 अनुष्ठानैः कलाभेदस्तु जायते, यां यां क्रियां समाश्रित्य तन्नाम्ना  
 तत्तदाख्येत्यर्थः जातिः कलानामिति शेषः उच्यते ॥ ६६ ॥

हावभावादिसंयुक्तं नर्तनं तु कला स्मृता ।

अनेकवाद्यकरणे ज्ञानं तद्वादने कला ॥ ६७ ॥

वस्त्रालङ्कारसम्भानं स्त्रीपुंसोश्च कला स्मृता ।

अनेकरूपाविर्भावकृतित्ज्ञानं कला स्मृता ॥ ६८ ॥

शय्यास्तरणसंयोगपुष्पादिग्रथनं कला ।

द्युताद्यनेकक्रीडाभी रञ्जनं तु कला स्मृता ॥ ६९ ॥

अनेकासनसम्भानैः रतेर्ज्ञानं कला स्मृता ।

कलासप्तकमेतद्वि गान्धर्वे समुदाहृतम् ॥ ७० ॥

मकरन्दासवादीनां मद्यादीनां कृतिः कला ।

हावेति । हावभावादिभिः संयुक्तं नर्तनं नृत्यं कला स्मृता ।  
तथा अनेकेषां वाद्यानां करणे निर्माणे, तेषां वाद्यानां  
वादने च ज्ञानं कला स्मृतेति शेषः ॥ ६७ ॥

वस्त्रेति । स्त्रीपुंसोः स्त्रीपुरुषयोः वस्त्राणाम् अलङ्काराणाञ्च  
सम्भानं सम्यक् सुचारुतयेत्यर्थः धानं परिधानं कला स्मृता ।  
तथा अनेकरूपाणां विविधानाम् अविर्भावाणां प्रकाशानां कृतौ  
अनुष्ठाने ज्ञानं कला स्मृता ॥ ६८ ॥

शय्येति । शय्यानाम् आस्तरणानाञ्च संयोगः सम्यक् योगः  
अनुष्ठानं पुष्पादीनाञ्च ग्रथनं कला स्मृता । तथा द्यूतादिभिः  
अनेकाभिः क्रीडाभिः रञ्जनं लोकानामिति शेषः कला स्मृता ॥ ६९ ॥

अनेकेति । अनेकैः विविधैः आसनैः सम्भानैश्च रतेः सुरतस्य  
ज्ञानं कला स्मृता । एतत् उक्तरूपं कलानां सप्तकं गान्धर्वे  
गान्धर्ववेदे समुदाहृतं हि, हिशब्दोऽवधारणार्थः ॥ ७० ॥

मकरन्देति । मकरन्दः पुष्परसः तेन आसवादीनां मादक-

शल्यगूढाहृतौ ज्ञानं शिराव्रणव्यधे कला ॥७१॥  
 हिङ्गादिरससंयोगादन्नादिपचनं कला ।  
 वृक्षादिप्रसवारोपपालनादिकृतिः कला ॥७२॥  
 पाषाणधात्वादिवृतिस्तद्भस्मीकरणं कला ।  
 यावद्विचुविकाराणां कृतिज्ञानं कला स्मृता ॥७३॥  
 धात्वौषधीनां संयोगक्रियाज्ञानं कला स्मृता ।  
 धातुसाङ्ख्य्यपार्थक्यकरणन्तु कला स्मृता ॥७४॥  
 संयोगापूर्वविज्ञानं धात्वादीनां कला स्मृता ।

द्रव्याणां तथा मद्यादीनां सुराप्रभृतीनां कृतिः अनुष्ठानं कला ।  
 तथा शल्यस्य पादादिविद्धस्य गूढं मन्दम् अक्षोशकरमित्यर्थः  
 यथा तथा आहृतौ वहिष्करणे शिरासु व्रणानां स्फोटकादीनां  
 व्यधे विद्धकरणे च ज्ञानं कला ॥ ७१ ॥

हिङ्गादीति । हिङ्गादीनां हिङ् इति नाम्ना प्रसिद्धद्रव्य-  
 विशेषाणां रससंयोगात् अन्नादीनां पचनं पाककरणं कला,  
 तथा वृक्षादीनां प्रसवस्य फलस्य यः आरोपः रोपणं तत्पाल-  
 नादिश्च तत्कृतिः तदनुष्ठानं कला ॥ ७२ ॥

पाषाणेति । पाषाणानां प्रस्तराणां धात्वादीनां स्वर्णादी-  
 नाञ्च वृतिः विदारणं तेषां भस्मीकरणञ्च कला, तथा यावत्  
 यथायथं विचुविकाराणां गुडानाञ्च कृतौ अनुष्ठाने ज्ञानं कला  
 स्मृता ॥ ७३ ॥

धात्विति । धातूनां स्वर्णरजतादीनाम् औषधीनाञ्च संयोगस्य  
 क्रियायाः अनुष्ठानस्य च ज्ञानं कला स्मृता । तथा धातूनां साङ्ख-  
 र्यात् मिश्रणात् पार्थक्यकरणं पृथक्करणं कला स्मृता ॥ ७४ ॥

क्षारनिष्कासनज्ञानं कलासंज्ञन्तु तत् स्मृतम् ।

कलादशकमेतद्धि ह्यायुर्वेदागमेषु च ॥७५॥

शस्त्रसम्भानविक्षेपः पदादिन्यासतः कला ।

सन्ध्याघाताकृष्टिभेदैर्मल्लयुद्धं कला स्मृता ॥७६॥

बाहुयुद्धन्तु मल्लानामशस्त्रं मुष्टिभिः स्मृतम् ।

मृतस्य तस्य न स्वर्गो यशो नेहापि विद्यते ॥७७॥

बलदर्पविनाशान्तं नियुद्धं यशसे रिपोः ।

न कस्यासौद्धि कुर्याद् वै प्राणान्तं बाहुयुद्धकम् ७८

संयोगेति । धात्वादीनां धातुप्रभृतौनां संयोगस्य मिश्री-  
भावस्य अपूर्वं प्रथमं विज्ञानं कला स्मृता । तथा क्षाराणां  
लवणादीनां निष्कासने आविष्करणे वा द्रव्यान्तराद् वह्नि-  
ष्करणे यत् ज्ञानं तत् कलासंज्ञं कलेति नाम्ना स्मृतम् । एतत्  
कलानां दशकम् आयुर्वेदागमे आयुर्वेदशास्त्रे अन्तर्भूतमिति  
शेषः हिशब्दोऽवधारणार्थः ॥ ७५ ॥

शस्त्रेति । पदादीनां न्यासतः विन्यासक्रमेण शस्त्राणां  
सम्भानं सम्यक् लक्ष्यीकरणं विक्षेपश्च कला । तथा सन्धिषु  
स्थानविशेषेषु ये आघाताः प्रहाराः आकृष्टयः आकर्षणानि च  
तेषां भेदैः यत् मल्लयुद्धं मल्लयोः वीरयोः युद्धं परस्परसंग्रामः  
तत् कला स्मृता ॥ ७६ ॥

बाहुयुद्धमिति । मल्लानां वीराणाम् अशस्त्रं शस्त्राघातरहितं  
यत् बाहुयुद्धं तत् मुष्टिभिः मुष्टिप्रहारैः स्मृतं कथितं, तत्र  
मृतस्य तस्य वीरस्य स्वर्गः तथा यशश्च इह न विद्यते ॥ ७७ ॥

बलेति । रिपोः शत्रोः बलदर्पयोः विनाशान्तं विनाशावधिकं

कृतप्रतिकृतैश्चित्रैर्बाहुभिश्च सुसङ्कटैः ।  
 सन्निपातावघातैश्च प्रमादोन्मथनैस्तथा ।  
 कृतं निपीडनं ज्ञेयं तन्मुक्तिस्तु प्रतिक्रिया ॥७६॥  
 कलाभिलक्षिते देशे यन्त्राद्यस्त्रनिपातनम् ।  
 वाद्यसङ्केततो व्यूहरचनादि कला स्मृता ॥८०॥  
 गजाश्वरथगत्या तु युद्धसंयोजनं कला ।  
 कलापञ्चकमेतच्च धनुर्वेदागमे स्थितम् ॥८१॥  
 विविधासनमुद्राभिर्देवतातोषणं कला ।

नियुद्धं कस्य यशसे न आसीत् ? हि निश्चितम् । अपितु सर्वस्यैव  
 यशसे इत्यर्थः, अतः प्राणान्तं बाहुयुद्धकं कुर्यात् वै कुर्यादेव  
 वैशब्दोऽवधारणार्थः ॥ ७८ ॥

कृतेति । कलेति । कृतैः प्रतिकृतैः चित्रैः विविधैः सुसङ्कटैः  
 अतिभीषणैः बाहुभिः बाहुप्रहारैरित्यर्थः सन्निपातैः सम्यक्  
 पातनैः शत्रोरुपरीति शेषः अवघातैः आघातैः तथा प्रमादे  
 अनवधानतायां शत्रोरिति शेषः उन्मथनैः मर्दनैः यत् कृतं तत्  
 निपीडनं निःशेषेण पीडनं ज्ञेयं, तस्मात् मुक्तिस्तु अतिक्रमस्तु  
 प्रतिक्रिया प्रतिकारः सा कला । किञ्च अभिलक्षिते लक्ष्यीकृते  
 देशे यन्त्रादीनां युद्धयन्त्रादीनां अस्त्राणाञ्च निपातनं तथा  
 वाद्यानां सङ्केततः इङ्गितेन व्यूहरचनादि सैन्यरचनादि कला  
 स्मृता ॥ ७९ ॥ ८० ॥

गजेति । गजानाम् अश्वानां रथानाञ्च गत्या गमनवैशिष्ट्येन  
 युद्धसंयोजनं संग्रामायोजनं कला । एतत् कलापञ्चकं धनुर्वेदा-  
 गमे धनुर्वेदशास्त्रे स्थितं हि हिशब्दोऽवधारणार्थः ॥ ८१ ॥

सारथ्यं च गजाश्वादेर्गतिशिक्षा कला स्मृता ॥८२॥

मृत्तिकाकाष्ठपाषाणधातुभाण्डादिसक्रिया ।

पृथक् कलाचतुष्कं तु चित्राद्यालेखनं कला ॥८३॥

तडागवापीप्रासादसमभूमिक्रिया कला ।

घट्याद्यनेकयन्त्राणां वाद्यानान्तु कृतिः कला ॥८४॥

हीनमध्यादिसंयोगवर्णाद्यै रञ्जनं कला ।

जलवाय्वग्निसंयोगनिरोधैश्च क्रिया कला ॥८५॥

विविधेति । विविधेन आसनेन उपवेशनेन मुद्राभिः हस्तादीनां रचनाविशेषैश्च देवतानां सन्तोषणं प्रीणनं कला । तथा सारथ्यं सूतकार्यं गजानाम् अश्वानाञ्च गतिशिक्षा च कला स्मृता ॥ ८२ ॥

मृत्तिकेति । मृत्तिकानां काष्ठानां पाषाणानां धातूनाञ्च ये भाण्डादयः तेषां सत्क्रिया सुनिर्माणं कला । तथा चित्रादीनाम् आलेखनं सम्यक् लेखनं कला । एतत् कलाचतुष्कं पृथक् उक्तमिति शेषः ॥ ८३ ॥

तडागेति । तडागानां सरसां वापीनां दीर्घिकाणां प्रासादानां हर्म्याणां समभूमीनाञ्च क्रिया करणं कला । तथा घट्यादीनां समयनिरूपकादीनाम् अनेकेषां विविधानां यन्त्राणां वाद्यानाञ्च कृतिः निर्माणं कला ॥ ८४ ॥

हीनेति । हीनमध्यादयः अल्पमध्योत्तमाः संयोगाः येषां तैः वर्णाद्यैः रञ्जनं वस्त्रादीनामिति शेषः कला । तथा जलानां वायूनाम् अग्नीनाञ्च संयोगैः निरोधैश्च या क्रिया वाष्पीयन्त्वेण कार्यकरणम् सा कला ॥ ८५ ॥

नौकारथादियानानां कृतिज्ञानं कला स्मृता ।  
 सूत्रादिरञ्जुकरणविज्ञानन्तु कला स्मृता ॥८६॥  
 अनेकतन्तुसंयोगैः पटवन्धः कला स्मृता ।  
 वेधादिसदसज्ज्ञानं रत्नानाञ्च कला स्मृता ॥८७॥  
 स्वर्णादीनान्तु याथाव्यविज्ञानञ्च कला स्मृता ।  
 कृत्रिमस्वर्णरत्नादिक्रियाज्ञानं कला स्मृता ॥८८॥  
 स्वर्णाद्यलङ्कारकृतिः कला लेपादिसत्कृतिः ।  
 मार्दवादिक्रियाज्ञानं चर्मणान्तु कला स्मृता ॥८९॥  
 पशुचर्माङ्गनिर्हारक्रियाज्ञानं कला स्मृता ।  
 दुग्धदोहादिविज्ञानं घृतान्तन्तु कला स्मृता ॥९०॥

नौकेति । नौकानां रथानां यानादीनां शकटादीनाञ्च  
 कृतौ निर्माणे ज्ञानं कला स्मृता । तथा सूत्रादीनां रञ्जुनाञ्च  
 करणे विज्ञानं विशेषेण ज्ञानं कला स्मृता ॥ ८६ ॥

अनेकेति । अनेकेषां तन्तूनां सूत्राणां संयोगैः पटवन्धः  
 वस्त्रवयनं कला स्मृता । तथा रत्नानां वेधादिषु छिद्रादिषु सद-  
 सज्ज्ञानम् उत्कर्षापर्षज्ज्ञानं कला स्मृता ॥ ८७ ॥

स्वर्णादीनामिति । स्वर्णादीनां याथात्म्यस्य यथास्वरूपस्य  
 विज्ञानं विशेषेण ज्ञानं कला स्मृता । तथा कृत्रिमाणां स्वर्ण-  
 रत्नादीनां क्रियाज्ञानं करणविज्ञानं कला स्मृता ॥ ८८ ॥

स्वर्णेति । स्वर्णादीनाम् अलङ्कारकृतिः अलङ्कारनिर्माणं  
 लेपादिसत्कृतिः प्रलेपाद्यनुष्ठानञ्च कला, चर्मणां मार्दवादीनां  
 क्रियायां ज्ञानं कला स्मृता ॥ ८९ ॥

सीवने कञ्चुकादीनां विज्ञानन्तु कलात्मकम् ।  
 बाह्यादिभिश्च तरणं कलासंज्ञं जले स्मृतम् ॥८१॥  
 मार्जने गृहभाण्डादेर्विज्ञानन्तु कला स्मृता ।  
 वस्त्रसम्मार्जनञ्चैव क्षुरकर्म कले ह्युभे ॥८२॥  
 तिलमांसादिस्नेहानां कला निष्कासने कृतिः ।  
 सीराद्याकर्षणे ज्ञानं वृक्षाद्यारोहणे कला ॥८३॥  
 मनोऽनुकूलसेवायाः कृतिज्ञानं कला स्मृता ।  
 वेणुतृणादिपात्राणां कृतिज्ञानं कला स्मृता ॥८४॥

पश्चिति । पशुचर्मणाम् अङ्गेभ्यः पशूनामिति भावः निर्हा-  
 रस्य निष्कासनस्य क्रियायां ज्ञानं कला स्मृता । दुग्धदोहादीनां  
 पशुदोहनादीनां घृतान्तं घृतसम्पादनपर्यन्तं विज्ञानं कला  
 स्मृता ॥ ८० ॥

सीवने इति । कञ्चुकादीनां गात्राच्छादनीभूतानां सीवने  
 स्मृतीकरणे विज्ञानं कलात्मकं कलेति प्रसिद्धम् । बाह्यादिभि-  
 रिति । जले बाहुप्रभृतिभिः तरणं सन्तरणं कलासंज्ञं स्मृतम् ॥८१॥  
 मार्जने इति । गृहभाण्डादेः गृहतैजसपात्रादेः मार्जने  
 शोधने विज्ञानं कला स्मृता । वस्त्राणां सम्मार्जनं सस्यक् शोधनं  
 तथा क्षुरकर्म एते उभे कले ॥ ८२ ॥

तिलेति । तिलानां मांसादीनाञ्च ये स्नेहाः तैलानि, तेषां  
 निष्कासने बहिष्करणे कृतिः कला । किञ्च सीरादीनां लाङ्गला-  
 दीनाम् आकर्षणे तथा वृक्षादीनाम् आरोहणे ज्ञानं कला ॥८३॥

मन इति । मनोऽनुकूलायाः चित्तानुसारिण्याः सेवायाः  
 परिचर्यायाः कृतौ अनुष्ठाने ज्ञानं कला स्मृता । तथा वेणुनां

काचपात्रादिकरणविज्ञानन्तु कला स्मृता ।  
 संसेचनं संहरणं जलानां तु कला स्मृता ॥८५॥  
 लोहाभिसारशस्त्रास्त्रकृतिज्ञानं कला स्मृता ।  
 गजाश्ववृषभोद्घाणां पल्याणादिक्रिया कला ॥८६॥  
 शिशोः संरक्षणे ज्ञानं धारणे क्रीडने कला ।  
 सुयुक्तताडनज्ञानमपराधिजने कला ॥८७॥  
 नानादेशीयवर्णानां सुसम्यग् लेखने कला ।  
 ताम्बूलरक्षादिकृतिविज्ञानन्तु कला स्मृता ॥८८॥

वंशानां तृणादीनाञ्च यानि पात्राणि तेषां कृती करणे ज्ञानं  
 कला स्मृता ॥ ८४ ॥

काचेति । काचपात्रादीनां करणे विज्ञानं कला स्मृता । तथा  
 जलानां संसेचनं सम्यक् सेचनं संहरणञ्च कला स्मृता ॥ ८५ ॥

लोहेति । लोहाः अभिसाराः उपादानानि येषां तादृशानां  
 शस्त्राणाम् अस्त्राणाञ्च कृती ज्ञानं कला स्मृता । तथा गजानाम्  
 अश्वानां वृषभाणाम् उद्घाणाञ्च पल्याणादीनां पृष्ठास्तरणविगे-  
 षाणां क्रिया अनुष्ठानं कला ॥ ८६ ॥

शिशोरिति । शिशोः बालकस्य संरक्षणे क्रीडने च ज्ञानं  
 कला । तथा अपराधिजने सुयुक्तं यथोपयुक्तं यत् ताडनं दण्डनं  
 तस्य ज्ञानं कला ॥ ८७ ॥

नानेति । नानादेशीयानां वर्णानाम् अक्षराणां सुसम्यक्  
 लेखनं कला । तथा ताम्बूलानां रक्षादौ या कृतिः तस्या विज्ञानं  
 कला स्मृता ॥ ८८ ॥

आदानमाशुकारित्वं प्रतिदानं चिरक्रिया ।  
 कलासु द्वौ गुणौ ज्ञेयौ द्वे कले परिकीर्त्तिते ॥८८॥  
 चतुःषष्टिकला ह्येताः संचेपेण निदर्शिताः ।  
 यां यां कलां समाश्रित्य निपुणो यो हि मानवः ।  
 नैपुण्यकरणे सम्यक् तां तां कुर्यात् स एव हि १००  
 इति शुक्रनीतौ राष्ट्रे आद्यं चतुर्थाध्यायस्य विद्या-  
 कलानिरूपणं नाम तृतीयप्रकरणम् ।

चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थं प्रकरणम् ।

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिः क्रमात् ।  
 चत्वार आश्रमाश्चैते ब्राह्मणस्य सदैव हि ।  
 अन्येषामन्यहीनाश्च क्षत्रविट्शूद्रकर्मणाम् ॥१॥

आदानमिति । कलासु आशुकारित्वम् आदानं, चिरक्रिया  
 प्रतिदानम् । कलासु एतौ द्वौ गुणौ ज्ञेयौ, तस्मात् द्वे कले परि-  
 कीर्त्तिते ॥ ८८ ॥

चतुरिति । एताः चतुःषष्टिः कलाः संचेपेण निदर्शिताः । यः  
 मानवः यां यां कलां समाश्रित्य निपुणः हि निश्चितं स एव हि  
 सम्यक् सर्वथा नैपुण्यकरणे सुष्ठुकरणे तां तां कलां कुर्यात् ॥१००  
 इति श्रीजीवानन्दविद्यासागरभट्टाचार्यविरचिता चतुर्थाध्यायस्य  
 तृतीयप्रकरणव्याख्या समाप्ता ।

ब्रह्मचारीति । ब्रह्माचारी, गृहस्थः, वानप्रस्थः तथा यतिः,  
 एते चत्वारः आश्रमाः ब्राह्मणस्य सदैव, हिशब्दः पादपूरणार्थः ।

विद्यार्थं ब्रह्मचारौ स्यात् सर्वेषां पालने गृही ।  
 वानप्रस्थः संदमने सन्न्यासी मोक्षसाधने ॥२॥  
 वर्त्तयन्त्यन्यथा दण्ड्या या वर्णाश्रमजातयः ॥३॥  
 कुलान्यकुलतां यान्ति ह्यकुलानि कुलीनताम् ।  
 यदि राज्ञोपेक्षितानि दण्डतोऽशिक्षितानि च ॥४॥  
 जपं तपस्तीर्थसेवां प्रव्रज्यां मन्त्रसाधनम् ।  
 देवपूजां नैव कुर्यात् स्त्रीशूद्रस्तु पतिं विना ।  
 न विद्यते पृथक् स्त्रीणां त्रिवर्गविधिसाधनम् ॥५॥

अन्येषां क्षत्रियाणां विशां शूद्राणाञ्च अन्येन यत्याश्रमेण हीनाः  
 चयः ब्रह्मचर्यादयः आश्रमाः वेदितव्या इति शेषः ॥ १ ॥

विद्यार्थमिति । विद्यार्थं विद्योपार्जनार्थं ब्रह्मचारौ, सर्वेषां  
 पालने पालनार्थमित्यर्थः गृही, संदमने सम्यक् इन्द्रियदमनार्थं  
 वानप्रस्थः, तथा मोक्षसाधने मुक्तिलाभार्थं सन्न्यासी स्यात् ॥२॥

वर्त्तयन्तीति । याः वर्णानां ब्राह्मणादीनाम् आश्रमाणाञ्च  
 जातयः अन्यथा अन्येन प्रकारेण शास्त्रबाह्यमार्गेणेत्यर्थः वर्त्त-  
 यन्ति ताः दण्ड्याः राज्ञेति शेषः ॥ ३ ॥

कुलानीति । यदि राज्ञा उपेक्षितानि तथा दण्डतः दण्डेन  
 अशिक्षितानि, तदा कुलानि अकुलतां तथा अकुलानि कुली-  
 नतां यान्ति प्राप्नुवन्ति सर्वे यथेच्छचारिणो भवन्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥

जपमिति । तुशब्दश्चार्थः । स्त्री शूद्रस्तु शूद्रश्च जपं तपः  
 तपस्यां तीर्थसेवां प्रव्रज्यां सन्न्यासं मन्त्रसाधनं तथा देवपूजां  
 नैव कुर्यात् । किञ्च स्त्रीणां पतिं पतिसेवां विना पृथक् अन्यत्  
 त्रिवर्गाणां धर्मार्थकामानां साधनं न विद्यते ॥ ५ ॥

पत्युः पूर्वं समुत्थाय देहशुद्धिं विधाय च ।

उत्थाप्य शयनीयानि कृत्वा वेश्मविशोधनम् ॥ ६ ॥

मार्जनैर्लेपनैः प्राप्य सानलं यवसाङ्गणम् ।

शोधयेद् यज्ञपात्राणि स्निग्धान्युष्णेन वारिणा ॥ ७ ॥

प्रोक्षणीयानि तान्येव यथास्थाने प्रकल्पयेत् ।

शोषयित्वा तु पात्राणि पूरयित्वा तु धारयेत् ॥ ८ ॥

महानसस्थपात्राणि बहिः प्रक्षाल्य सर्वशः ।

मृद्भिस्तु शोधयेच्चुल्लीं तवाग्निं सेन्धनं न्यसेत् ॥ ९ ॥

मृत्वा नियोगपात्राणि रसान्नद्रविणानि च ।

पत्युरिति । मार्जनैरिति । प्रोक्षणीयानीति । स्त्रीति प्रक-

णादध्याहार्यम् । स्त्री पत्युः स्वामिनः पूर्वं समुत्थाय शय्याया

इति शेषः, देहशुद्धिं मुखप्रक्षालनादिकं विधाय कृत्वा, शयनी-

यानि शय्याः उत्थाप्य, मार्जनैः लेपनैश्च वेश्मनः गृहस्य विशो-

धनं कृत्वा तथा सानलम् अग्नियुक्तं यवसाङ्गणं घाससहितच-

तरभूमिं प्राप्य यज्ञपात्राणि शोधयेत् । तानि च स्निग्धानि

तैलयुक्तानि पुनः उष्णेन वारिणा प्रोक्षणीयानि कृत्वा यथास्थाने

प्रकल्पयेत् स्थापयेत् । किञ्च तानि पात्राणि शोषयित्वा शुष्की-

कृत्य पुनः पूरयित्वा धारयेत् यथास्थानं रक्षेत् ॥ ६—८ ॥

महानसस्थेति । महानसस्य रन्धनागारस्य सर्वशः सर्वाणि

पात्राणि बहिः बाह्यदेशे प्रक्षाल्य मृद्भिः मृत्तिकाभिः चुल्लीं

शोधयेत् । ततः तत्र चुल्लां सेन्धनं काष्ठसहितम् अग्निं न्यसेत् ॥ ९

मृत्वेति । इत्थं कृतपूर्वाह्नकृत्वा सम्पादितप्रातःकृत्वा इयं

स्त्री नियोगपात्राणि व्यवहारिकभाजनानि, रसान् पेयद्रव्याणि

कृतपूर्वाह्नकृत्येयं श्वशुरावभिवादयेत् ॥१०॥  
 ताभ्यां भर्ता पित्रभ्यां वा भ्रातृमातुलबान्धवैः ।  
 वस्त्रालङ्काररत्नानि प्रदत्तान्येव धारयेत् ॥११॥  
 मनोवाक्कर्मभिः शुद्धा पतिदेशानुवर्त्तिनी ।  
 ह्यायेवानुगता स्वच्छा सखीव हितकर्मसु ।  
 दासीव दिष्टकार्येषु भार्या भर्तुः सदा भवेत् ॥१२॥  
 ततोऽन्नसाधनं कृत्वा पतये विनिवेद्य सा ।  
 वैश्वदेवोद्धृतैरन्नैर्भोजनीयांश्च भोजयेत् ॥१३॥  
 पतिं च तदनुज्ञाता शिष्टमन्नाद्यमात्मना ।

अन्नानि द्रविणानि धनानि च स्मृत्वा यथायथं कार्योपयोगित्वेन  
 चिन्तयित्वा श्वशुरौ श्वश्रून् श्वशुरञ्च अभिवादयेत् प्रणमेत् ॥१०॥

ताभ्यामिति । ताभ्यां श्वश्रून् श्वशुराभ्यां भर्ता स्वामिना  
 पित्रभ्यां मातापित्रभ्यां भ्रातृमातुलबान्धवैश्च प्रदत्तानि वस्त्राणि  
 अलङ्कारान् रत्नानि च धारयेत् ॥ ११ ॥

मन इति । भार्या मनसा वाचा कर्मणा च शुद्धा पवित्रा  
 स्वच्छा निर्मला, पत्युः देशानुवर्त्तिनी आज्ञापरा, भर्तुः ह्याया  
 इव अनुगता सङ्गिनी हितकर्मसु सखी इव सदा दिष्टकार्येषु  
 निर्दिष्टकर्मसु दासी इव भवेत् ॥ १२ ॥

तत इति । ततः अभिवादनानन्तरं सा अन्नसाधनं रम्भन-  
 मित्यर्थः कृत्वा पतये विनिवेद्य दत्त्वा वैश्वदेवोद्धृतैः वैश्वदेववलि-  
 प्रदानानन्तरम् उद्धृतैः उद्धृतैः अन्नैः भोजनीयान् श्वशुरादीन्  
 भोजयेत् ॥ १३ ॥

पतिमिति । पतिञ्च भोजयेदिति पूर्वेण सम्बन्धः । ततः

भुक्त्वा नयेद्दहःशेषं सदायव्ययचिन्तया ॥१४॥

पुनः सायं पुनः प्रातर्गृहशुद्धिं विधाय च ।

कृतान्नसाधना साध्वी सभृत्यं भोजयेत् पतिम् ॥१५॥

नातिदृष्ट्वा स्वयं भुक्त्वा गृहनीतिं विधाय च ।

आस्तृत्य साधु शयनं ततः परिचरेत् पतिम् ॥१६॥

सुप्ते पत्न्यौ तदध्यास्य स्वयं तद्गतमानसा ।

अनग्ना चाप्रमत्ता च निष्कामा च जितेन्द्रिया ॥१७॥

नोच्चैर्वदेन्न परुषं न बह्वाङ्गतिमप्रियम् ।

न केनचिच्च विवदेद्प्रलापविवादिनी ॥१८॥

तेन पत्या अनुज्ञाता आत्मना स्वयं शेषम् अवशिष्टम् अन्नाद्यं  
भुक्त्वा सदा आयव्ययानां चिन्तया अहःशेषम् अपराह्णभागं  
नयेत् ॥ १४ ॥

पुनरिति । साध्वी स्त्री पुनः सायं, पुनः प्रातः गृहशुद्धिं  
विधाय कृतान्नसाधना कृतरन्धना सती सभृत्यं भरणायवर्ग-  
सहितं पतिं भोजयेत् ॥ १५ ॥

नेति । ततः स्वयं भुक्त्वा नातिदृष्ट्वा नातिप्रचुरभोजना  
इत्यर्थः सती गृहनीतिं गृहस्य शेषकार्यं विधाय, शयनं शय्यां  
आस्तृत्य पातयित्वा पतिं साधु सम्यक् परिचरेत् सेवेत ॥ १६ ॥

सुप्ते इति । पत्न्यौ सुप्ते निद्रिते सति तद्गतमानसा भर्तृगत-  
चित्ता सती तत् शयनम् अभ्यास्य अनग्ना अविवसना अग्र-  
मत्ता अवहिता निष्कामा निराकाङ्क्षा जितेन्द्रिया च शयीत  
इति शेषः ॥ १७ ॥

नेति । उच्चैः न, परुषं कर्कशं न, बहवः आहृतयः आह्ला-  
श—३२

न चास्य व्ययशीला स्यान्न धर्मार्थविरोधिनी ।  
 प्रमादोन्मादरोषेष्वावचनान्यतिनिन्दिताम् ॥ १९ ॥  
 पैशुन्यहिंसाविषयमोहाहङ्कारदर्पताम् ।  
 नास्तिक्यसाहसस्तेयदम्भान् साध्वी विवर्जयेत् ॥ २० ॥  
 एवं परिचरन्ती सा पतिं परमदैवतम् ।  
 यशस्यमिह यात्येव परत्वैषा सलोकताम् ॥ २१ ॥  
 योषितो नित्यकर्मात्तं नैमित्तिकमथोच्यते ।

नानि यत्र तादृशीं वाचं न, तथा अप्रियं न वदेत् । किञ्चेति  
 चार्थः । किञ्च केनचित् न विवदेत् विवादे कर्त्तव्ये च नास्ति  
 प्रलापः अनर्थकं वचः यस्मिन् तद् यथा तथा विवादिनी न  
 भवेदिति शेषः ॥ १८ ॥

न चेति । पैशुन्येति । अस्य स्वामिनः व्ययशीला अतिव्यय-  
 कारिणीत्यर्थः न, धर्मार्थयोः विरोधिनी विरुद्धचारिणी च न  
 स्यात् । किञ्च साध्वी स्त्री प्रमादस्य अनवधानतायाः उन्मादस्य  
 रोषस्य ईर्ष्यायाश्च वचनानि, अतिनिन्दितां पैशुन्यहिंसाविषय-  
 मोहाहङ्कारदर्पतां पैशुन्यं कापट्यं, हिंसां विद्वेषं, विषयमोहं  
 धनमदम् अहङ्कारं दर्पताम् आत्मगौरवञ्चेत्यर्थः, तथा नास्तिक्यं  
 साहसं, स्तेयं चौर्यं, दम्भञ्च विवर्जयेत् त्यजेत् ॥ १९ ॥ २० ॥

एवमिति । सा एषा नारी एवं प्रकारेण परमदैवतं परम-  
 देवतास्वरूपं पतिं परिचरन्ती शुश्रूषमाणा इह अस्मिन् लोके  
 यशस्यं यश एव यशस्यं सुख्यातिमित्यर्थः स्वार्थे णप्रत्ययः ।  
 परत्र च परलोके सलोकतां पत्युरिति शेषः पतिलोकमित्यर्थः  
 प्राप्नोति एव ॥ २१ ॥

रजसो दर्शनादेषा सर्वमेव परित्यजेत् ॥ २२ ॥  
 सर्वैरलक्षिता शीघ्रं लज्जितान्तर्गृहे वसेत् ।  
 एकास्वरा कृशा दीना स्नानालङ्कारवर्जिता ॥ २३ ॥  
 स्वपेद्भूमावप्रमत्ता क्षपेदेवमहस्त्रयम् ।  
 स्नायीत सा तिरात्यन्ते सचेलाभ्युदिते रवौ ॥ २४ ॥  
 विलोक्य भर्तृवदनं शुद्धा भवति धर्मतः ।  
 कृतशौचा पुनः कर्म पूर्ववच्च समाचरेत् ॥ २५ ॥  
 द्विजस्त्रीणामयं धर्मः प्रायोऽन्यासामपीष्यते ।

योषित इति । योषितः नार्थ्याः नित्यकर्म उक्तम्, अथ अन-  
 न्तरं नैमित्तिकं कर्म उच्यते । एषा नारी रजसः दर्शनात् आत्मनः  
 रजस्वलात्वं दृष्टेत्यर्थः सर्वमेव कार्यं पूर्वोक्तं परित्यजेत् ॥ २२ ॥

सर्वैरिति । सर्वैः जनैः अलक्षिता अदृष्टा, एकास्वरा एक-  
 वसना कृशा दीना कातरा स्नानेन अलङ्कारेण च वर्जिता  
 अस्नाता अनलङ्कारा चेत्यर्थः तथा लज्जिता सती शीघ्रम् अन्त-  
 र्गृहे गृहमध्ये वसेत् ॥ २३ ॥

स्वपेदिति । किञ्च अप्रमत्ता प्रमादरहिता सती भूमौ  
 स्वपेत् । एवं प्रकारेण अहस्त्रयं दिनत्रयं क्षपेत् यापयेत् । अथ  
 सा तिरात्रान्ते रात्रित्रयावसाने रवौ सूर्यं अभ्युदिते सति  
 सचेला वस्त्रसहिता स्नायीत स्नानं कुर्यात् ॥ २४ ॥

विलोकेति । ततः भर्तुः वदनं विलोक्य दृष्ट्वा धर्मेण शुद्धा  
 पवित्रा भवति । पुनश्च कृतशौचा शुद्धिमती सती पूर्ववत् कर्म  
 समाचरेत् ॥ २५ ॥

द्विजस्त्रीणामिति । द्विजस्त्रीणां ब्राह्मणचतुर्यवैश्यस्त्रीणाम्

कृषिपण्यादिपुङ्गुल्ये भवेयुस्ताः प्रसाधिकाः ॥२६॥

सङ्गीतैर्मधुरालापैः स्वायत्तस्तु पतिर्यथा ।

भवेत् तथाऽऽचरेयुर्वै मायाभिः कामकेलिभिः ॥२७॥

मृते भर्तारि सङ्गच्छेद् भर्तुर्वा पालयेद् व्रतम् ।

परवेश्मरुचिर्न स्याद् ब्रह्मचर्य्ये स्थिता सती ॥२८॥

मण्डनं वर्जयेन्नित्यं तथा प्रोषिभर्तृका ।

देवताराधनपरा तिष्ठेद् भर्तृहिते रता ।

धारयेन्मङ्गलार्थानि किञ्चिदाभरणानि च ॥२९॥

अयं धर्मः, अन्यासाम् अपरजातिस्त्रीणाम् अपि प्रायः बाहुल्येन  
इष्यते । ताः शूद्रादीनां स्त्रिय इत्यर्थः कृषिपण्यादिषु पुङ्गुल्येषु  
पुरुषकार्य्येषु प्रसाधिकाः सहकारिण्यः भवेयुः ॥ २६ ॥

सङ्गीतैरिति । पतिः यथा येन प्रकारेण स्वायत्तः स्वाधीनः  
भवेत्, सङ्गीतैः मधुरैः आलपैः मायाभिः स्नेहरूपाभिः मोहन-  
प्रकाराभिरित्यर्थः कामकेलिभिः सुरतप्रसङ्गैश्च तथा आचरेयुः ॥२७॥

मृते इति । भर्तारि मृते सति संगच्छेत् सहगमनं कुर्यात्  
पत्या सहेति शेषः, वा अथवा भर्तुः व्रतं गार्हस्थ्यं नियमं पाल-  
येत् । किञ्च ब्रह्मचर्य्ये स्थिता सती परवेश्मरुचिः परगृह-  
वासिनी न स्यात् ॥२८॥

मण्डनमिति । प्रोषितभर्तृका प्रवासस्थपतिका नारी  
मण्डनं भूषणं वर्जयेत् तथा देवतानाम् आराधने रता भर्तु-  
हिते रता च तिष्ठेत् । किञ्च मङ्गलार्थानि न तु विलासार्था-  
नीत्यर्थः किञ्चित् अल्पानि किञ्चिदित्यव्ययम्, आभरणानि  
कङ्कणादीनि धारयेच्च ॥ २९ ॥

नास्ति भर्तृसमो नाथो नास्ति भर्तृसमं सुखम् ।  
 विसृज्य धनसर्वस्वं भर्ता वै शरणं स्त्रियाः ॥३०॥  
 मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः ।  
 अमितस्य प्रदातारं भर्तारं का न पूजयेत् ? ॥३१॥  
 शूद्रो वर्णश्चतुर्थोऽपि वर्णत्वाद् धर्ममर्हति ।  
 वेदमन्त्रस्वधास्वाहावषट्कारादिभिर्विना ।  
 पुराणाद्युक्तमन्त्रैश्च नमोऽन्तैः कर्म केवलम् ॥३२॥  
 विप्रवद् विप्रविन्नासु क्षत्रविन्नासु क्षत्रवत् ।  
 प्राजाताः कर्म कुर्युर्वै वैश्यविन्नासु वैश्यवत् ॥३३॥

नास्तीति । भर्तृसमः पत्या तुल्यः नाथः आश्रयः न अस्ति,  
 तथा भर्तृसमं पत्युः सदृशं सुखं न अस्ति । किञ्च विसृज्य  
 अन्यत् सर्वं त्यक्त्वा स्थिताया इति शेषः स्त्रियाः भर्ता वै  
 पतिरेव शरणम् आश्रय इत्यर्थः धनसर्वस्वं धनं सर्वस्वं सर्वं  
 वस्तु च ॥ ३० ॥

मितमिति । पिता मितं परिमितं, भ्राता मितं, सुतश्च  
 मितं ददाति हि हिशब्दः अवधारणार्थः । अतः का नारी  
 अमितस्य अपरिमितस्य प्रदातारं भर्तारं न पूजयेत् ॥ ३१ ॥

शूद्र इति । चतुर्थः वर्णः शूद्रोऽपि वर्णत्वात् वर्णविहित-  
 धर्माणामवश्यकर्तव्यत्वादिति भावः वेदमन्त्रैः स्वधास्वाहावषट्-  
 कारादिभिः विना केवलं नमोऽन्तैः नमोमन्त्रावसानैः पुराणा-  
 दिषु उक्तैः मन्त्रैः धर्म्यं धर्मयुक्तं कर्म अर्हति ॥ ३२ ॥

विप्रेति । विप्रविन्नासु ब्राह्मणपरिणीतासु प्रजाताः उत्पन्नाः  
 विप्रवत्, क्षत्रविन्नासु क्षत्रियपरिणीतासु प्रजाताः क्षत्रवत्,

वैश्यासु क्षत्रविप्राभ्यां जातः शूद्रासु शूद्रवत् ।  
 अधमादुत्तमायान्तु जातः शूद्राधमः स्मृतः ।  
 स शूद्रादनु सत् कुर्यान्नाममन्त्रेण सर्वदा ॥३४॥  
 ससङ्करचतुर्वर्णाः एकत्रैकत्र यावनाः ।  
 वेदभिन्नप्रमाणास्ते प्रत्यगुत्तरवासिनः ॥३५॥  
 तदाचार्यैश्च तच्छास्त्रं निर्मितं तद्वितार्थकम् ।  
 व्यवहाराय या नीतिरुभयोरविवादिनी ॥३६॥

तथा वैश्यविद्वांसु प्रजाताः वैश्यवत् कर्म कुर्याः वै वैशब्दोऽत्र  
 धारणार्थः ॥ ३३ ॥

वैश्यास्त्रिति । क्षत्रविप्राभ्यां ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां वैश्यासु  
 शूद्रासु स्त्रीषु जातः पुत्रः शूद्रवत् कर्म कुर्यादिति शेषः । अध-  
 मात् निष्कष्टजातेरित्यर्थः उत्तमायाम् उत्कृष्टजात्यामित्यर्थः  
 जातः शूद्रादपि अधमः नीचः स्मृतः । स च शूद्रात् अनु-  
 हीनेन इत्यर्थः नाममन्त्रेण सर्वदा सत् कार्यं कुर्यात् ॥ ३४ ॥

ससङ्करेति । एकत्र एकस्मिन् प्रदेशे ससङ्कराः सङ्कीर्णजाति-  
 सहिता चतुर्वर्णाः चत्वारः वर्णा ब्राह्मणादयः, एकत्र अन्यत्रे-  
 त्यर्थः यावनाः तिष्ठन्तीति शेषः । ते यावनाः वेदभिन्नप्रमाणाः  
 वेदविरुद्धधर्मिणः तथा प्रत्यगुत्तरवासिनः पश्चिमोत्तरप्रदेश-  
 स्थिता इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

तदाचार्यैरिति । तेषां यवनानाम् आचार्यैः गुरुभिः तद्वि-  
 तार्थकं तेषां हितार्थं शास्त्रञ्च निर्मितं प्रणीतम् । तथा व्यव-  
 हाराय उभयोर्लोकयोरित्यर्थः अविवादिनी अविरोधिनी  
 नीतिश्च निर्मितेति शेषः ॥ ३६ ॥

कदाचिद् वीजमाहात्म्यात् क्षेत्रमाहात्म्यात् क्वचित्  
नीचोत्तमत्वं भवति श्रेष्ठत्वं क्षेत्रवीजतः ॥३७॥

विश्वामित्रो वशिष्ठश्च मतङ्गो नारदादयः ।

तपोविशेषैः सम्प्राप्ता उत्तमत्वं न जातितः ॥३८॥

स्वस्वजात्युक्तधर्मो यः पूर्वैराचरितः सदा ।

तमाचरेच्च सा जातिर्दण्डा स्यादन्यथा नृपैः ॥३९॥

जातिवर्णाश्रमान् सर्वान् पृथक् चिह्नैः सुलक्षयेत् ।

यन्त्राणि धातुकाराणां संरक्षेद् वीक्ष्य सर्वदा ॥ ४० ॥

कदाचिदिति । कदाचित् वीजानां पुरुषाणामित्यर्थः  
माहात्म्यात् गौरवात्, क्वचित् क्षेत्राणां नारीणां माहात्म्यात्  
गौरवात् नीचोत्तमत्वम् अपकर्षोत्कर्षभावः, कदाचिच्च क्षेत्र-  
वीजतः क्षेत्रस्य वीजस्य च उभयोरित्यर्थः माहात्म्यात् श्रेष्ठत्वं  
भवति ॥ ३७ ॥

विश्वामित्र इति । विश्वामित्रः वशिष्ठः मतङ्गः नारदा-  
दयश्च तपोविशेषैः उत्तमत्वं श्रेष्ठत्वं सम्प्राप्ताः जातितः जात्या  
न, विश्वामित्रस्य क्षत्रजत्वात् वशिष्ठस्य वैश्याजातत्वात् मत-  
ङ्गस्य सामान्ययोनिजत्वात् नारदस्य दासीगर्भजत्वाच्चेति भावः  
॥ ३८ ॥

स्वेति । यः पूर्वैः पूर्वपुरुषैः स्वस्वजातिविहितः धर्मः आच-  
रितः सा जातिः तज्जातीयो नरः सदा तं धर्मम् आचरेत्,  
अन्यथा नृपैः दण्डा दण्डनीयाः स्यात् ॥ ३९ ॥

जातिवर्णाश्रमानिति । पृथक् चिह्नैः जातीनां सङ्कीर्णानां  
वर्णानां ब्राह्मणादीनाम् आश्रमाणां ब्रह्मचारिप्रभृतीनां सर्वान्

कारुशिल्पिगणान् राष्ट्रे रक्षेत् कार्य्यानुमानतः ।  
 अधिकान् कृषिकृत्ये वा भृत्यवर्गे नियोजयेत् ॥ ४७ ॥  
 चौराणां पितृभूतास्ते स्वर्णकारादयस्त्वतः ।  
 गञ्जागृहं पृथग् ग्रामात् तस्मिन् रक्षेत्तु मद्यपान् ॥ ४८ ॥  
 न दिवा मद्यपानं तु राष्ट्रे कुर्याद्वि कश्चन ॥ ४९ ॥  
 ग्रामे ग्राम्यान् वने वन्यान् वृक्षान् संरक्षयेन्नृपः ।  
 उत्तमान् विंशतिकरैर्मध्यमांस्तिथिहस्ततः ॥ ४९ ॥  
 सामान्यान् दशहस्तैश्च कनिष्ठान् पञ्चभिः करैः ।

धर्मान् सुलक्षयेत् । तथा धातुकाराणां स्वर्णादिशिल्पिकाराणां  
 यन्त्राणि वीक्ष्य पंरीक्ष्य सर्वदा संरक्षेत् नृप इति शेषः ॥ ४० ॥

कारुशिल्पी इति । कार्य्यानुमानतः कार्य्याणाम् अनुमानेन  
 गौरवलाघवविवेचनेन इत्यर्थः । राष्ट्रे राज्ये कारुशिल्पिगणान्  
 रक्षेत् वासयेत् । तथा कृषिकृत्ये भूमिकर्षणादिकार्य्यं वा भृत्य-  
 वर्गसाध्ये कर्मणि निमित्ते अधिकान् जनान् नियोजयेत् राजेति  
 शेषः ॥ ४१ ॥

चौराणामिति । स्वर्णकारादयः चौराणां पितृभूताः पितृ-  
 स्थानीयाः पितृवत् चौरान् पालयन्तीत्यर्थः । अतः ते ग्रामात्  
 पृथक् रक्षणीया राज्ञा इति शेषः । यच्च तस्मिन् ग्रामात् पृथक्  
 प्रदेशे इत्यर्थः गञ्जागृहं मदिरागृहम् अस्ति, तस्मिन् मद्यपानं  
 रक्षेत् राजेति शेषः ।

नेति । राष्ट्रे राज्ये कश्चन जनः दिवा दिवसे मद्यपानं न हि  
 तु कुर्यात् ॥ ४२ ॥

ग्रामे इति । सामान्यानि । नृपः ग्रामे ग्राम्यान्, वने

अजाविगोशकृद्भिर्वा जलैर्मांसैश्च पोषयेत् ॥ ४५ ॥

उदुम्बराप्रवत्यवटचिञ्चाचन्दनजम्बलाः ।

कदम्बाशोकवकुलविल्वामृतकपित्थकाः ॥ ४६ ॥

राजादनाम्बपुन्नागतूदकाष्ठास्त्रचम्पकाः ।

नीपकोकाम्बसरलदाडिमाचोटीभिस्सटाः ॥ ४७ ॥

शिशपाशिश्मवदरनिम्बजम्बीरक्षीरिकाः ।

खर्जूरदेवकरजफल्गुतापिञ्जसिम्बलाः ॥ ४८ ॥

कुहालो लवली धात्री क्रमुको मातुलुङ्गकः ।

लकुचो नारिकेलश्च रम्भाद्याः सत्फला द्रुमाः ।

वन्यान् वृक्षान् संरोपयेत् । तेषु उत्तमान् वृक्षान् विंशतिहस्तैः,  
मध्यमान् वृक्षान् तिथिहस्ततः पञ्चदशकरैरित्यर्थः, सामान्यान्  
ततो निक्षेपान् दशहस्तैः तथा कनिष्ठान् अधमान् वृक्षान्  
पञ्चभिः करैः विच्छिद्य वासयेदिति शेषः । तांश्च अजानां  
शगानाम् अग्नीनां मेघाणां गवाञ्च शकृद्भिः पुरीषैः जलैः  
मांसैश्च पोषयेत् पुष्टिं नयेत् ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

उदुम्बरेत्यादि । उदुम्बराः, अश्वत्थाः, वटाः, चिञ्चाः,  
चन्दनाः, जम्बलाः, कदम्बाः, अशोकाः, वकुलाः, विल्वाः,  
अमृताः, कपित्थकाः, राजादनाः, आम्बाः, पुन्नागाः, तूद-  
काष्ठाः, अम्लाः, चम्पकाः, नीपाः, कोकाम्बाः, सरलाः,  
दाडिमाः, अचोटीः, भिस्सटाः, शिशपाः, शिम्भवः, वदराः,  
निम्बाः, जम्बीराः, क्षीरिकाः, खर्जूराः, देवकरजाः, फल्गवः,  
तापिञ्जः, सिम्बलाः, कुहालः, लवली, धात्री, क्रमुकः, मातु-  
लुङ्गकः, लकुचः, नारिकेलः, रम्भाद्याः अन्ये ये सत्फलाः

सुपुष्पाश्चैव ये वृक्षा ग्रामाभ्यर्णे नियोजयेत् ॥४८॥  
 वामभागेऽथवोद्यानं कुर्याद् वासगृहे शुभम् ।  
 सायं प्रातस्तु घर्मान्ते शीतकाले दिनान्तरे ।  
 वसन्ते पञ्चमेऽङ्गस्तु सेच्या वर्षासु न क्वचित् ॥५०॥  
 फलनाशे कुलुत्यैश्च माषैर्मुद्गैर्यवैस्तिलैः ।  
 शृतशीतपयःसेकः फलपुष्पाय सर्वदा ॥ ५१ ॥  
 मत्स्याम्भसा तु सेकेन वृद्धिर्भवति शाखिनाम् ॥५२॥  
 आविकाजशकृच्चूर्णं यवचूर्णं तिलानि च ।

उत्तमफलशालिनः सुपुष्पाश्च वृक्षाः सन्ति, तान् ग्रामाभ्यर्णे  
 ग्रामसमीपे नियोजयेत् रोपयेत् ॥ ४६—४८ ॥

वामभागे इति । वामभागे वासगृहस्येति शेषः अथवा  
 वासगृहे वासभूम्यन्तरे इत्यर्थः शुभम् उद्यानं कुर्यात् । किञ्च  
 घर्मान्ते निदाघावसाने सायं प्रातश्च, शीतकाले दिनान्तरे  
 दिनावसाने वसन्ते अङ्गः दिवसस्य पञ्चमे मुहूर्ते इति शेषः  
 सेच्याः उद्यानवृक्षा इति शेषः, वर्षासु क्वचिदपि न सेच्या इति  
 शेषः ॥ ५० ॥

फलनाशे इति । फलानां नाशे वृक्षस्येति शेषः कुलुत्यैः,  
 माषैः, मुद्गैः, यवैः, तिलैर्वा सह शृतशीतपयोभिः उष्णीहृतैः  
 पश्चात् शीतलैः पयोभिः जलैः सेकः सर्वदा फलपुष्पाय फलानां  
 पुष्पाणाञ्च अनाशाय भवति ॥ ५१ ॥

मत्स्याम्भसेति । मत्स्याम्भसा मत्स्यक्षालनजलेन सेकेन  
 शाखिनां वृक्षाणां वृद्धिः भवति ॥ ५२ ॥

आविकेति । आविकाजानां मेषह्वागलानां यानि शक्नन्ति

गोमांसमुदकञ्चेति सप्तरात्रं निधापयेत् ।

उत्प्रेकः सर्ववृक्षाणां फलपुष्पादिवृद्धिदः ॥ ५३ ॥

ये च कण्टकिनो वृक्षाः खदिराद्यास्तथा परे ।

आरण्यकास्ते विज्ञेयास्तेषां तत्र नियोजनम् ॥ ५४ ॥

खदिराश्मन्तशाकाग्निमन्यश्वोनाकवव्वुलाः ।

तमालशालकुटजधवार्जुनपलाशकाः ॥ ५५ ॥

सप्तपर्णशमीतुन्नदेवदारुविकङ्कताः ।

करमर्दङ्गुदीभूर्जविषमुष्टिकरीरकाः ॥ ५६ ॥

शल्लकी काश्मरी पाठा तिन्दुको वीजहारकः ।

हरीतकी च भल्लातः शम्पाकोऽर्कश्च पुष्करः ॥ ५७ ॥

अरिमेदश्च पीतद्रुः शाल्मलिश्च विभीतकः ।

नरवेलो महावृक्षोऽपरे ये मधुकादयः ॥ ५८ ॥

पुरीषाणि तेषां चूर्णं यवचूर्णं तिलानि गोमांसम् उदकञ्च सप्तरात्रं निधापयेत् वृक्षमूलेषु दद्यादित्यर्थः । उत्प्रेकः उक्तचूर्णादिदानं सर्वेषां वृक्षाणां फलानां पुष्पाणाञ्च वृद्धिदः वर्द्धकः ॥ ५३ ॥

ये चेति । ये वृक्षाः कण्टकिनः कण्टकावृताः, तथा अपरे खदिराद्याश्च ते आरण्यकाः वन्याः विज्ञेयाः, तेषां वृक्षाणां तत्र आरण्ये नियोजनं रोपणं कार्यमिति शेषः ॥ ५४ ॥

खदिरेत्यादि । खदिरः, अश्मन्तशाकः, अग्निमन्यः, श्वोनाकः, वव्वुलः, तमालः, शालः, कुटजः, धवः, अर्जुनः, पलाशः, सप्तपर्णः, शमी, तुन्नः देवदारुः, विकङ्कतः, करमर्दः, इङ्गुदी, भूर्जः, विषमुष्टिः, करीरकः, शल्लकी, काश्मरी, पाठा, तिन्दुकः,

प्रतानवत्यः स्तम्बिन्यो गुल्मिन्यश्च तथैव च ।  
 ग्राम्या ग्रामे वने वन्या नियोज्यास्ते प्रयत्नतः ॥५८॥  
 कूपवापीपुष्करिण्यस्तङ्गागाः सुगमास्तथा ।  
 कार्य्याः खाताद् द्वित्रिगुणविस्तारपदधानिकाः ।  
 यथा तथा ह्यनेकाः स्युः राष्ट्रे स्याद्विपुलं जलम् ।  
 नदीनां सेतवः कार्य्या विविधाः सुमनोहराः ।  
 नौकादिजलयानानि पारगाणि नदीषु च ॥६१॥  
 यज्जातिपूज्यो यो देवस्तद्विद्यायाश्च यो गुरुः ।

बीजसारकः, हरीतकी, भस्मातः, शम्पाकः, अर्कः, पुष्कर,  
 अरिमेदः, पीतद्रुः, शाल्मलिः, विभीतकः, नरवेलः, महावृक्षः  
 तथा मधूकादयः अपरे ये वृक्षाः, याश्च प्रतानवत्यः विस्तार-  
 वत्यः स्तम्बिन्यः गुच्छवत्यः गुल्मिन्यः मूलवत्यश्च, लताः, वे-  
 ताश्च ग्राम्याश्चेत् ग्रामे, वन्याश्चेत् वने प्रयत्नतः नियोज्याः रोप-  
 णीयाः ॥ ५५—५८ ॥

कूपेति । कूपाः वाप्यः दीर्घिकाः पुष्करिण्यः तङ्गागाश्च तथा  
 कार्य्याः, यथा खातात् द्वित्रिगुणाः विस्ताराः यासां तादृश-  
 पदधानिकाः पादसञ्चारस्थानानि येषां यासां वा तादृश-  
 तादृश्यश्च सुगमाश्च अनेकाश्च स्युः । तथा सति राष्ट्रे विपुलं  
 प्रचुरं जलं स्यात् ॥ ६० ॥

नदीनामिति । नदीनां विविधाः सुमनोहराः सेतवः  
 कार्य्याः, तथा नदीषु पारगाणि पारगमनसाधनानि नौकादि-  
 जलयानानि रक्षणीयानीति शेषः ॥ ६१ ॥

यदिति । यो देवः यज्जातिपूज्यः यस्याः जातेः पूजनीयः-

तदालयानि तज्जातिगृहपंक्तिमुखे न्यसेत् ॥६२॥  
 शृङ्गाटके ग्राममध्ये विष्णोर्वा शङ्करस्य च ।  
 गणेशस्य रवेर्देव्याः प्रासादान् क्रमतो न्यसेत् ॥६३॥  
 मेर्वादिषोडशविधलक्षणान् सुमनोहरान् ।  
 वर्तुलांश्चतुरस्तान् वा यन्त्राकारान् समण्डपान् ६४  
 प्राकारगोपुरगणयुतान् द्विविगुणोच्छ्रितान् ।  
 यथोक्तान्तः सुप्रतिमान् जलमूलान् विचित्रितान् ६५  
 रस्यः सहस्रशिखरः सपादशतभूमिकः ।

तद्विद्याया तद्देवसम्बन्धिन्याः विद्यायाः यो गुरुः, तदालयानि  
 तस्य गृहाणि तज्जातीनां गृहपङ्क्तिमुखे गृहश्रेणीसम्मुखे  
 न्यसेत् कुर्यात् ॥ ६२ ॥

शृङ्गाटके इति । शृङ्गाटके चतुष्पथे वा ग्राममध्ये विष्णोः  
 शङ्करस्य गणेशस्य रवेः सूर्यस्य देव्याश्च प्रासादान् भवनानि  
 क्रमात् न्यसेत् कुर्यात् ॥ ६३ ॥

प्रासादान् विशिनष्टि मेर्वादीति । प्राकारेति । मेरुः आदि-  
 येषां तादृशानि षोडशविधानि लक्षणानि येषां तान् । सुमनो-  
 हरान् वर्तुलान् गोलाकृतीन् चतुरस्तान् चतुष्कोणान् यन्त्रा-  
 कारान् समण्डपान् सगृहान् प्राकारैः प्राचीरैः, गोपुरैः पुर-  
 द्वारैः गणैः परिचारकवर्गैश्च युतान् द्विविगुणोच्छ्रितान् दैर्घ्य-  
 विस्तारापेक्षयेति शेषः यथोक्तान्तः यथोक्तानामन्तः मध्ये शो-  
 भना प्रतिमा येषां तान् जलमूलान् जलयुक्तान् तथा विचित्रि-  
 तान् विशेषेण चित्रितान् प्रासादानिति पूर्वेणान्वयः ॥६४॥६५॥

मेरुप्रभृतीन् क्रमशः लक्षयति रस्य इति । सहस्रं शिखरं

सहस्रहस्तविस्तारोच्छायः स्यान्मेरुसंज्ञकः ॥६६॥  
 ततस्ततोऽष्टांशहीना अपरे मन्दरादयः ॥६७॥  
 मन्दरो ऋक्षमाली च द्युमणिश्चन्द्रशेखरः ।  
 माल्यवान् पारियात्रश्च रत्नशीर्षश्च धातुमान् ॥६८॥  
 पद्मकोशः पुष्पहासः श्रीकरः स्वस्तिकाभिधः ।  
 महापद्मः पद्मकूटः षोडशो विजयाभिधः ॥६९॥  
 तन्मण्डपश्च तत्तुल्यः पादन्यूनोच्छ्रितः पुरः ।  
 स्वाराध्यदेवताध्यानैः प्रतिमास्तेषु योजयेत् ॥७०॥

यस्य सः सहस्रशृङ्ग इत्यर्थः पादशतैः सह वर्तमाना भूमिः यस्य  
 तथाभूतः, सहस्रहस्तविस्तारः तथा सहस्रहस्तोन्नतः रम्यः  
 प्रासादः मेरुसंज्ञकः मेरुरिति प्रसिद्धः ॥ ६६ ॥

तत इति । अपरे मेरुभिन्नाः मन्दरादयः ततः ततः अष्टांश-  
 हीनाः, तथाच मन्दरः मेरोः अष्टांशहीनः, ऋक्षमाली मन्दरात्  
 अष्टांशहीनः, द्युमणिः ऋक्षमालिनः अष्टांशहीन इत्यादि ॥६७॥

अपरान् पञ्चदश मन्दरादीन् निर्वर्त्ति मन्दर इत्यादि ।  
 मन्दरः, ऋक्षमाली, द्युमणिः, चन्द्रशेखरः, माल्यवान्, पारि-  
 यात्रः, रत्नशीर्षः, धातुमान्, पद्मकोशः, पुष्पहासः, श्रीकरः,  
 स्वस्तिकाभिधः स्वस्तिक इति प्रसिद्धः, महापद्मः, पद्मकूटः तथा  
 विजयाभिधः विजय इति प्रसिद्धः षोडशः ॥ ६८ ॥ ६९ ॥

तदिति । तेषु मेरुप्रभृतिषु मण्डपः देवताभवनं तत्तुल्यः  
 तदनुरूपः पादन्यूनोच्छ्रितः चतुर्थांशेन हीनोच्छायः पुरः पुरतः  
 अग्रे कार्य्य इति शेषः अत्र मण्डप इति पुंलिङ्गनिर्देश आर्यः ।

ध्यानयोगस्य संसिद्धौ प्रतिमालक्षणं स्मृतम् ।  
 प्रतिमाकारको मर्त्यो यथा ध्यानरतो भवेत् ।  
 तथा नान्येन मार्गेण प्रत्यक्षेणापि वा खलु ॥७१॥  
 प्रतिमा सैकती पैष्टी लेख्या लेप्या च मृण्मयी ।  
 वार्ची पाषाणधातूत्या स्थिरा ज्ञेया यथोत्तरा ॥७२॥  
 यथोक्तावयवैः पूर्णा पुण्यदा सुमनोहरा ।  
 अन्यथायुर्धनहरा नित्यं दुःखविवर्द्धिनी ॥७३॥

तेषु मण्डपेषु स्वाराध्यायाः देवतायाः ध्यानैः चिन्तनैः प्रतिमाः  
 योजयेत् विन्यसेत् ॥ ७० ॥

ध्यानेति । ध्यानयोगस्य संसिद्धौ सम्यक् सिद्धये प्रतिमा-  
 कारकः प्रतिमानिर्माणकर्ता मर्त्यः यथा ध्यानपरः भवेत् तथा  
 प्रतिमालक्षणं स्मृतं निरूपितम् अन्येन मार्गेण पथा प्रकारे-  
 णेत्यर्थः प्रत्यक्षेणापि दृष्टेनापि न खलु नैव ॥ ७१ ॥

सम्प्रति प्रतिमाया उपादानान्याह प्रतिमेति । प्रतिमा  
 सैकती सिकतामयी, पैष्टी पिष्टमयी, लेख्या चित्रिता, लेप्या  
 लेपमयी, मृण्मयी, वार्ची दारुमयी, पाषाणमयी, धातूत्या  
 धातुमयी च यथोत्तरा स्थिरा स्थायिनी ज्ञेया, तथाच सैकती-  
 मपेक्ष्य पैष्टी, पैष्टीमपेक्ष्य लेख्या, लेख्यामपेक्ष्य मृण्मयी,  
 मृण्मयीमपेक्ष्य वार्ची, वार्चीमपेक्ष्य पाषाणमयी, पाषाणमयी-  
 मपेक्ष्य धातुमयी स्थिरेति निष्कर्षः ॥ ७२ ॥

यथोक्तेति । यथोक्तेन यथाशास्त्रकथितेन अवयवेन पूर्णा  
 प्रतिमा पुण्यदा सुमनोहरा च । अन्यथा आयुर्धनहरा जीवन-

देवानां प्रतिविम्बानि कुर्याच्छ्रेयस्कराणि च ।  
 स्वर्गाणि मानवादीनामस्वर्गाण्यशुभानि च ॥ ७४ ॥  
 मानतो नाधिकं हीनं तद्विम्बं रम्यमुच्यते ॥ ७५ ॥  
 अपि श्रेयस्करं नृणां देवविम्बमलक्षणम् ।  
 सलक्षणं मर्त्यविम्बं न हि श्रेयस्करं सदा ॥ ७६ ॥  
 सात्त्विकी राजसी देवप्रतिमा तामसी त्रिधा ।  
 विष्णादीनां च या यत्र योग्या पूज्या तु तादृशी ॥ ७७ ॥  
 योगमुद्रान्विता स्वस्था वराभयकरान्विता ।

हारिणी धनहारिणी चेत्यर्थः तथा नित्यं सततं दुःखविवर्द्धनी  
 भवति ॥ ७३ ॥

देवानामिति । देवानां प्रतिविम्बानि प्रतिमाः श्रेयस्कराणि  
 शुभकराणि कुर्यात्, तानि मानवादीनां स्वर्गाणि स्वर्गसाध-  
 नानि, अशुभानि तु असर्गाणि भवन्तीति शेषः ॥ ७४ ॥

मानत इति । तद्विम्बं तेषां देवानां विम्बं प्रतिमा मानतः  
 परिमाणात् अधिकं हीनं वा रम्यं श्रेयस्करं न उच्यते, तस्मात्  
 यथोक्तानुरूपमेव कर्तव्यमिति भावः ॥ ७५ ॥

अपीति । अलक्षणं विरुद्धलक्षणमपि देवविम्बं देवमूर्तिः  
 नृणां श्रेयस्करं, किन्तु सलक्षणं सुष्ठु लक्षणयुक्तमपि मर्त्यविम्बं  
 मानवप्रतिमूर्तिः सदा नहि नैव श्रेयस्करं, तस्मात् मानव-  
 प्रतिमूर्तिर्नैव रक्षणीयेति भावः ॥ ७६ ॥

सात्त्विकीति । देवप्रतिमा त्रिधा, सात्त्विकी राजसी  
 तामसी च । यत्र विष्णादीनां विष्णुप्रभृतीनां या मूर्तिः योग्या  
 यदनुरूपा तादृशी पूज्या तदनुरूपा पूजा कार्येत्यर्थः ॥ ७७ ॥

देवेन्द्रादिस्तुतनुता सात्त्विकी सा प्रकीर्तिता ॥ ७८

तिष्ठन्ती वाहनस्था वा नानाभरणभूषिता ।

या शस्त्रास्त्राभयवरकरा सा राजसी स्मृता ॥ ७९ ॥

शस्त्रास्त्रैर्दैत्यहन्त्री या ह्यग्ररूपधरा सदा ।

युद्धाभिनन्दिनी सा तु तामसी प्रतिमोच्यते ॥ ८० ॥

संचेपतस्तु ध्यानादि विष्ण्वादीनां तथोच्यते ।

प्रमाणं प्रतिमानां च तदङ्गानां सुविस्तरम् ॥ ८१ ॥

स्वस्वमुष्टेश्चतुर्थोऽंशो ह्यङ्गुलं परिकीर्तितम् ।

तदङ्गुलैर्द्वादशभिर्भवेत् तालस्य दीर्घता ॥ ८२ ॥

योगमुद्रेति । या मूर्तिः योगमुद्रान्विता योगेन युक्त्या मुद्रया यथोक्तभङ्गा च अन्विता, स्वस्था स्वभावस्थिता वराभयकरान्विता वरदानाभयदानोद्यतभुजा, तथा देवेन्द्रादिभिः स्तुता नुता प्रणता, सा सात्त्विकी प्रकीर्तिता ॥ ७८ ॥

तिष्ठन्तीति । या मूर्तिः वाहने सिंहादौ स्थिता नानाभरणभूषिता तथा शस्त्रास्त्राभयवरकरा करैः शस्त्रधारिणी अस्त्रधारिणी अभयदायिनी वरदायिनी चेत्यर्थः सा राजसी स्मृता ॥ ७९ ॥

शस्त्रास्त्रैरिति । या प्रतिमा शस्त्रैः अस्त्रैश्च दैत्यहन्त्री दितिजसंहारिणी, सदा उग्ररूपधरा भीषणाकृतिः युद्धाभिनन्दिनी समरोत्सुका, सा तामसी उच्यते ॥ ८० ॥

संचेपत इति । विष्ण्वादीनां ध्यानादि, तथा प्रतिमानां तदङ्गानां सुविस्तरं प्रमाणं संचेपतः उच्यते ॥ ८१ ॥

स्वस्वेति । स्वस्वमुष्टेः आत्मनः आत्मनः मुष्टेः चतुर्थः अंशः

वामनी सप्तताला स्यादष्टताला तु मानुषी ।  
 नवताला स्मृता दैवी राक्षसी दशतालिका ॥८३॥  
 सप्ततालाद्युच्चता वा मूर्त्तीनां देशभेदतः ।  
 सदैव स्त्री सप्तताला सप्ततालश्च वामनः ॥८४॥  
 नरो नारायणो रामो नृसिंहो दशतालकः ।  
 दशतालः स्मृतो वाणो वलीन्द्रो भार्गवोऽर्जुनः ॥८५॥  
 चण्डी भैरववेतालनरसिंहवराहकाः ।  
 क्रूरा द्वादशतालाः स्युर्हयशीर्षादयस्तथा ।  
 ज्ञेया षोडशताला तु पैशाची वासुरी सदा ॥८६॥

अङ्गुलं परिकीर्तितम् । द्वादशभिः तैः अङ्गुलैः तालस्य दीर्घता  
 भवेत् तालाख्यं परिमाणं भवेदित्यर्थः ॥ ८२ ॥

वामनीति । सप्तताला सप्ततालपरिमिता मूर्त्तिः वामनी  
 स्यात्, अष्टताला तु मानुषी, नवताला दैवी, तथा दशतालिका  
 राक्षसी स्मृता ॥ ८३ ॥

सप्तेति । वा अथवा देशभेदतः देशभेदेन मूर्त्तीनां म-  
 तालाद्युच्चता, तथाच कुत्रचित् देशे सप्तताला, कुत्रचित् अष्ट-  
 ताला, क्वचिद्वा नवताला इत्यादि । स्त्री देवमूर्त्तिरित्यर्थः  
 सदैव सप्ततालां सप्ततालपरिमिता कार्य्येति शेषः । किञ्च  
 वामनः वामनमूर्त्तिः, विष्णुः सप्ततालः कार्य्य इति शेषः ॥ ८४ ॥

नर इति । नरः नराख्यः मूर्त्तिभेदः, नारायणः रामः नृसि-  
 हश्च दशतालकः दशतालपरिमितः । तथा वाणः वली इन्द्रः  
 भार्गवः अर्जुनश्च तत्तदाख्यमूर्त्तिभेद इत्यर्थः दशतालः स्मृतः ॥ ८५ ॥

चण्डीति । चण्डी, भैरवः, वेतालः, नरसिंहः वराहः, तथा

हिरण्यकशिपुर्वदो हिरण्याक्षश्च रावणः ।

कुम्भकर्णोऽय नमुचिर्निशुम्भः शुम्भ एव हि ।

एते षोडशतालाः स्युर्माहिषो रक्तबीजकः ॥ ८७ ॥

पञ्चतालाः स्मृता वालाः षट्तालाश्च कुमारकाः ८८

दशताला कृतयुगे त्रेतायां नवतालिका ।

अष्टताला द्वापरे तु सप्तताला कलौ स्मृता ॥ ८९ ॥

नवतालप्रमाणे तु मुखं तालिमितं स्मृतम् ।

चतुरङ्गुलं ललाटं स्यादधो नासा तथैव च ॥ ९० ॥

नासिकाधश्च हन्वन्तं चतुरङ्गुलमीरितम् ।

हयशीर्षादयः क्रूराः भीषणाः मूर्त्तिभेदाः द्वादशतालाः स्युः ।

पैशाची तथा राक्षसी मूर्त्तिः सदा षोडशताला ज्ञेया ॥ ८६ ॥

हिरण्येति । हिरण्यकशिपुः, इवः, हिरण्याक्षः रावणः, कुम्भकर्णः, नमुचिः, निशुम्भः, शुम्भः, माहिषः महिषासुरः तथा रक्तबीजकः एते असुरमूर्त्तिभेदाः षोडशतालाः स्युः । किञ्च वालाः शिशुमूर्त्तयः पञ्चतालाः तथा कुमारकाः शैशवातिक्रान्ताः अतरुणाश्च मूर्त्तयः षट्तालाः स्मृताः ॥ ८७ ॥ ८८ ॥

अथ सामान्येन मूर्त्तिभेदं निरूपयति दशेति । कृतयुगे सत्ये मूर्त्तिः दशताला, त्रेतायां नवतालिका, द्वापरे अष्टताला, कलौ सप्तताला स्मृता ॥ ८९ ॥

नवेति । नवतालप्रमाणे नवतालपरिमितमूर्त्तिनिर्माणे इत्यर्थः मुखं तालिमितम् एकतालपरिमितं स्मृतं, ललाटं चतुरङ्गुलं, तदधः नासा तथैव चतुरङ्गुला इत्यर्थः स्यात् ॥ ९० ॥

नासिकाध इति । नासिकाया अधः निम्ने च हन्वन्तं हनु-

चतुरङ्गुला भवेद् ग्रीवा तालेन हृदयं पुनः ॥८१॥  
 नाभिस्तस्मादधः कार्य्या तालेनैकेन शोभिता ।  
 नाभ्यधश्च भवेन्मेढ्रं भागेनैकेन वा पुनः ॥८२॥  
 द्विताली ह्यायतावूरू जानुनी चतुरङ्गुले ।  
 जङ्घे ऊरुसमे कार्य्ये गुल्फाधश्चतुरङ्गुलम् ॥८३॥  
 नवतालात्मकमिदमूर्ध्वमानं बुधैः स्मृतम् ॥८४॥  
 शिखावधि तु केशान्तं त्र्यङ्गुलं सर्वमानतः ।  
 दिशानया च विभजेत् सप्ताष्टदशतालिकम् ॥८५॥

पर्यन्तं चतुरङ्गुलम् ईरितम् उक्तम् । ग्रीवा च चतुरङ्गुला भवेत्,  
 हृदयं पुनः वक्षःस्थलन्तु तालेन परिमाणेन भवेदिति शेषः ॥८१॥

नाभिरिति । तस्मात् हृदयात् अधः एकेन तालेन शोभिता  
 शोभना नाभिः कार्य्या । नाभेः अधश्च एकेन भागेन केनचित्  
 अनुरूपेण अंशेन इत्यर्थः मेढ्रं लिङ्गं भवेत् ॥ ८२ ॥

द्वितालाविति । ऊरू द्विताली तालद्वयपरिमितौ आयतौ  
 दीर्घौ, जानुनी च चतुरङ्गुले, जङ्घे च ऊरुसमे कार्य्ये । गुल्फ-  
 योश्च अधः चतुरङ्गुलम् अङ्गुलचतुष्टयपरिमितं कार्य्यमिति  
 शेषः ॥ ८३ ॥

नवेति । इदं नवतालात्मकं बुधैः पण्डितैः ऊर्ध्वमानं दैर्घ्य-  
 परिमाणं स्मृतम् ॥ ८४ ॥

शिखावधीति । सर्वमानतः सर्वस्मिन् परिमाणे शिखावधि  
 केशान्तं परिमाणं त्र्यङ्गुलम् अङ्गुलत्रयं ज्ञेयमिति शेषः । अनया  
 दिशा नवतालप्रमाणोक्तया रीत्या इत्यर्थः सप्ताष्टदशतालिकं

चतुस्तालात्मकौ बाह्व्यङ्ग्यन्तावुदाहृतौ ।  
 स्कन्धादिकूर्परान्तं च विंशत्यङ्गुलमुत्तमम् ॥८६॥  
 त्रयोदशाङ्गुलं चाधः कक्षायाः कूर्परान्तकम् ।  
 अष्टाविंशत्यङ्गुलस्तु मध्यमान्तः करः स्मृतः ॥८७॥  
 सप्ताङ्गुलं करतलं मध्या पञ्चाङ्गुला मता ।  
 सार्धत्रयाङ्गुलोऽङ्गुष्ठस्तर्जनीमूलपर्वभाक् ॥८८॥  
 पर्वद्वयात्मकोऽन्यासां पर्वाणि त्रीणि त्रीणितु ।  
 अर्द्धाङ्गुलेनाङ्गुलेन हीनानामा च तर्जनी ।  
 कनिष्ठिकानामिकातोऽङ्गुलोना च प्रकीर्तिता ८९

सप्ततालप्रमाणम् अष्टतालप्रमाणं दशतालप्रमाणञ्च विभजेत्  
 त्रैराशिकक्रमेण विभक्तं कुर्यादित्यर्थः ॥ ८५ ॥

चतुरिति । अङ्गुल्यन्तौ अङ्गुलिपर्यन्तौ बाह्व्यङ्ग्यन्ता-  
 ल्मकौ तालचतुष्टयपरिमितौ उदाहृतौ कथितौ । स्कन्धादि  
 कूर्परान्तं कफोणिपर्यन्तं विंशत्यङ्गुलं विंशत्या अङ्गुलैः परि-  
 मितम् उत्तमं ज्ञेयमिति अध्याहार्यम् ॥ ८६ ॥

त्रयोदशेति । कक्षायाः अधः कूर्परान्तकं कफोणिपर्यन्तं  
 त्रयोदशाङ्गुलं त्रयोदशभिरङ्गुलैः परिमितं स्यादित्यर्थः, तथा  
 मध्यमान्तः मध्यमाङ्गुलिपर्यन्तः अष्टाविंशत्या अङ्गुलैः परिमितः  
 करः स्मृतः ॥ ८७ ॥

सप्ताङ्गुलमिति । पर्वद्वयात्मक इति । करतलं सप्ताङ्गुलं  
 सप्तभिरङ्गुलैः परिमितं, मध्या मध्यमा अङ्गुलिः पञ्चाङ्गुला  
 पञ्चभिः अङ्गुलैः परिमिता, अङ्गुष्ठः सार्धत्रयाङ्गुलः सार्धेन अङ्गु-  
 लत्रयेण परिमितः, तर्जन्या मूलपर्वभाक् प्रथमपर्वपर्यन्तोन्नतः

चतुर्दशाङ्गुलौ पादौ ह्यङ्गुष्ठो द्वाङ्गुलो मतः ।  
 सार्द्धद्वयाङ्गुलोऽङ्गुष्ठस्तन्मिता वा प्रदेशिनी ।  
 प्रदेशिनी द्वाङ्गुला तु सार्द्धाङ्गुलमथेतराः ॥१००॥  
 शिरोज्झितौ पाणिपादौ गूढगुल्फौ प्रकीर्त्तितौ १०१  
 तद्विज्ञैः प्रस्तुता ये ये मूर्त्तेरवयवाः सदा ।  
 न हीना नाधिका मानात् ते ते ज्ञेयाः सुशोभनाः १०२

पर्वद्वयात्मकः पर्वद्वितययुक्तः भवेदिति शेषः । अन्यासां तर्जनीप्रभृतीनां त्रीणि त्रीणि पर्वाणि भवन्ति । अनामा अनामिका अङ्गुलिः अर्द्धाङ्गुलेन, तर्जनी अङ्गुलेन हीना मध्यमाया इति शेषः । तथा कनिष्ठिका कनिष्ठा अङ्गुलिस्तु अनामिकातः अनामायाः अङ्गुलोना एकाङ्गुलहीना प्रकीर्त्तिता ॥८८॥८९॥

चतुर्दशाङ्गुलाविति । पादौ चतुर्दशाङ्गुलौ चतुर्दशाङ्गुलपरिमितौ, तत्र अङ्गुष्ठः द्वाङ्गुलः अङ्गुलद्वयपरिमितः मतः कथितः । गुल्फः सार्द्धद्वयाङ्गुलः सार्द्धद्वितयाङ्गुलपरिमितः । प्रदेशिनी तर्जनी तन्मिता सार्द्धद्वितयाङ्गुलपरिमिता वा द्वाङ्गुला अङ्गुलद्वयपरिमिता । इतराः मध्यमादयः सार्द्धाङ्गुलं सार्द्धाङ्गुलपरिमिता इत्यर्थः ॥ १०० ॥

शिरोज्झितौ इति । पाणिपादौ शिराभिः उज्झितौ विरहितौ, तथा गुल्फौ गूढौ अप्रकाशौ प्रकीर्त्तितौ कथितौ ॥१०१॥

तद्विज्ञैरिति । ये ये मूर्त्तेः अवयवाः अङ्गानि सदा तद्विज्ञैः मूर्त्यभिज्ञैः प्रस्तुताः प्रशंसिताः, ते ते मानात् परिमाणात् न हीना अन्यूना इत्यर्थः तथा नाधिकाः अनधिकाः अनुरूपा इत्यर्थः अतएव सुशोभनाः ज्ञेयाः ॥ १०२ ॥

न स्थूला न कृशा वापि सर्वे सर्वमनोरमाः ॥१०३॥

सर्वाङ्गैः सर्वरम्यो हि कश्चिन्नक्षत्रे प्रजायते ।

शास्त्रमानेन यो रम्यः स रम्यो नान्य एव हि १०४

एकेषामेव तद्रम्यं लग्नं यत्र च यस्य हृत् ॥१०५॥

शास्त्रमानविहीनं यद्रम्यं तद्विपश्चिताम् ।

अष्टाङ्गुलं ललाटं स्यात् तावन्मात्रौ भ्रुवौ मतौ ॥१०६॥

अर्द्धाङ्गुला भ्रुवोर्लेखा मध्ये धनुरिवायता ।

नेत्रे च त्यङ्गुलायामे द्व्यङ्गुले विस्तृते शुभे ॥१०७॥

नेति । किञ्च सर्वे अवयवाः न स्थूलाः तथा न कृशाश्चेत्  
तथा सर्वमनोरमाः भवन्तीति शेषः ॥ १०३ ॥

सर्वाङ्गैरिति । कश्चित् मूर्तिभेदः लक्षे लक्षसंख्यकावधिमिते  
सर्वाङ्गैः सर्वेषां रम्यः मनोरमः प्रजायते हि भवत्येव किन्तु  
शास्त्रमानेन शास्त्रपरिमाणेन यः रम्यः, स एव रम्यः, अन्यः  
शास्त्राप्रमाणेन न हि नैव रम्य इत्यर्थः ॥ १०४ ॥

शास्त्रेति । शास्त्रमानविहीनं शास्त्रीयपरिमाणविरुद्धं यत्  
प्रतिविम्बं तत् विपश्चितां विदुषाम् अरम्यं न मनोरममि-  
त्यर्थः । यत्र च यस्य हृत् हृदयं लग्नं तत् रम्यम् इति एकेषां  
केषाञ्चित् मतमिति शेषः ॥ १०५ ॥

अष्टाङ्गुलमिति । ललाटम् अष्टाङ्गुलम् अष्टाङ्गुलपरिमितं  
स्यात् । भ्रुवौ च तावन्मात्रे अष्टाङ्गुलपरिमाणे मते ॥ १०६ ॥

अर्द्धाङ्गुलेति । भ्रुवोः लेखा रेखा मध्ये अर्द्धाङ्गुला अङ्गु-  
लार्धपरिमिता तथा धनुरिव आयता विस्तृता । नेत्रे च द्व्यङ्गु-  
लायामे अङ्गुलद्वयदीर्घे तथा विस्तृते विस्तारे च द्व्यङ्गुले अङ्गु-

तारका तत्तृतीयांशा नेत्रयोः कृष्णरूपिणी ।

द्वाङ्गुलं तु भ्रुवोर्मध्यं नासामूलमथाङ्गुलम् ॥ १०८ ॥

नासाग्रविस्तरं तद्वद् द्वाङ्गुलं तद्विलद्वयम् ।

शुकनासाकृतिर्नासा पुष्पवद् द्विविधा शुभा ॥ १०९ ॥

निष्पावसदृशं नासापुटयुग्मं सुशोभनम् ॥ ११० ॥

कर्णौ च भ्रूसमौ ज्ञेयौ दीर्घौ च चतुरङ्गुलौ ।

कर्णपाली त्यङ्गुला स्यात् स्थूला चार्द्धाङ्गुलामता ॥ १११ ॥

नासावंशोऽर्द्धाङ्गुलस्तु श्लक्ष्णः सार्द्धाङ्गुलोन्नतः ॥ ११२ ॥

द्वयमिति शुभे शोभने च कार्य्ये इति शेषः ॥ १०७ ॥

तारकेति । नेत्रयोः तारका कृष्णरूपिणी कृष्णवर्णा तत्तृतीयांशा तस्य नेत्रस्य तृतीयांशपरिमिता कार्य्या इति शेषः ।

भ्रुवोः मध्यन्तु द्वाङ्गुलं द्वाङ्गुलद्वयपरिमितम् । नासामूलञ्च अङ्गुलम् एकाङ्गुलमितं कार्य्यमिति शेषः ॥ १०८ ॥

नासेति । नासाग्रस्य विस्तरं ( क्लीवत्वमार्धं बोध्यं ) द्वाङ्गुलं तद्वत् तथा तस्य विलद्वयञ्च द्वाङ्गुलमित्यर्थः । नासा नासिका शुकस्य पक्षिणः नासाकृतिः पुष्पवत् पुष्पाकृतिश्च इति द्विविधा शुभा शुभकरी ॥ १०९ ॥

निष्पावेति । निष्पावेण शस्यविशेषेण सदृशं नासापुटयोः युग्मं द्वयं सुशोभनम् अतिसुन्दरम् ॥ ११० ॥

कर्णाविति । कर्णौ भ्रूसमौ भ्रूभ्यां सदृशौ दीर्घौ चतुरङ्गुलौ च स्याताम् । कर्णपाली कर्णायतनं त्र्यङ्गुला अङ्गुलद्वयपरिमिता स्यात् तथा स्थूल्ये स्थूलतायाम् अर्द्धाङ्गुलामता ॥ १११ ॥

नासेति । नासावंशः नासिकादण्डः त्र्यङ्गुलः अङ्गुलद्वयः

ग्रीवामूलाच्च स्कन्धान्तमष्टाङ्गुलमुदाहृतम् ।

बाह्वन्तरं द्वितालं स्यात् तालमात्रं स्तनान्तरम् ॥ ११३ ॥

षोडशाङ्गुलमात्रं तु कर्णयोरन्तरं स्मृतम् ।

कर्णहन्वग्रान्तरं तु सदैवाष्टाङ्गुलं मतम् ॥ ११४ ॥

नासाकर्णान्तरं तद्वत् तद्वै कर्णनेत्रयोः ।

मुखं तालद्वितीयांशमोष्ठावर्द्धाङ्गुलौ मतौ ॥ ११५ ॥

द्वाविंशदङ्गुलः प्रोक्तः परिधिर्मस्तकस्य च ।

दशाङ्गुला विस्तृतिस्तद् द्वादशाङ्गुलदीर्घता ॥ ११६ ॥

परिमितः सार्द्धाङ्गुलोन्नतः श्लक्ष्णश्चिकणश्च स्यात् ॥ ११२ ॥

ग्रीवेति । ग्रीवामूलात् स्कन्धान्तं स्कन्धपर्यन्तम् अष्टाङ्गुलम् उदाहृतं कथितम् । किञ्च बाह्वोः भुजयोरन्तरं वक्ष्यत्यर्थः द्वितालं तालद्वयपरिमितं तथा स्तनयोरन्तरं मध्यभागः तालमात्रम् एकतालपरिमितं स्यात् ॥ ११३ ॥

षोडशेति । कर्णयोरन्तरं मध्यभागः षोडशाङ्गुलमात्रं स्मृतम् । किञ्च कर्णस्य हनोरग्रस्य च अन्तरं सदैव अष्टाङ्गुलम् अङ्गुलाष्टकपरिमितं मतम् ॥ ११४ ॥

नासेति । नासाकर्णयोरन्तरं तद्वत् अष्टाङ्गुलमित्यर्थः । कर्णनेत्रयोस्तु अन्तरं तद्वै चतुरङ्गुलमित्यर्थः । मुखं तालस्य उक्तस्य परिमाणस्य द्वितीयांशम् । ओष्ठौ तु अर्द्धाङ्गुलौ मतौ ॥ ११५ ॥

द्वाविंशदिति । मस्तकस्य परिधिः वेष्टनमित्यर्थः द्वाविंशदङ्गुलः प्रोक्तः कथितः । तदित्यव्ययं, तत् तस्य मस्तकस्येत्यर्थः विस्तृतिः विस्तारः दशाङ्गुला, द्वादशाङ्गुलदीर्घता च दीर्घं द्वादशाङ्गुलता इत्यर्थः स्यादिति शेषः ॥ ११६ ॥

ग्रीवामूलस्य परिधिर्द्वाविंशत्यङ्गुलात्मकः ।

हृन्मध्यपरिधिर्ज्ञेयश्चतुःपञ्चाशदङ्गुलः ॥११७॥

हीनाङ्गुलचतुस्तालपरिधिर्हृदयस्य च ।

आस्तनात् पृष्ठदेशान्ता पृथुता द्वादशाङ्गुला ॥११८॥

सार्धत्रितालपरिधिः कक्ष्याश्च द्वाङ्गुलाधिकः ।

चतुरङ्गुल उत्सेधो विस्तारः स्यात् षडङ्गुलः ॥११९॥

पञ्चाङ्गागे नितम्बस्य स्त्रीणामङ्गुलतोऽधिकः ।

बाह्वयमूलपरिधिः षोडशाष्टादशाङ्गुलः ॥१२०॥

ग्रीवेति । ग्रीवामूलस्य परिधिः द्वाविंशतिः अङ्गुलाः आत्मानः यस्य तथोक्तः द्वाविंशत्यङ्गुलपरिमित इत्यर्थः । हृन्मध्यस्य वचो-  
मध्यस्थेत्यर्थः परिधिः चतुःपञ्चाशदङ्गुलपरिमित इत्यर्थः ॥११७॥

हीनेति । हृदयस्य परिधिः हीनाङ्गुलचतुस्तालः एकाङ्गुल-  
हीनतालचतुष्टयपरिमित इत्यर्थः । किञ्च आस्तनात् स्ना-  
वधि पृष्ठदेशान्ता पृष्ठपर्यन्ता पृथुता स्थूलता द्वादशाङ्गुला  
द्वादशाङ्गुलपरिमिता स्यादित्यर्थः ॥ ११८ ॥

सार्धेति । कक्ष्याश्च सार्धत्रितालपरिधिः अर्धसहितताल-  
त्रयमितः परिधिः द्वाङ्गुलाधिकः अङ्गुलद्वयाधिकः, उत्सेधः  
उच्छ्रायः चतुरङ्गुलः अङ्गुलचतुष्टयमितः तथा विस्तारः षडङ्गुलः  
अङ्गुलषट्कमितः स्यात् ॥ ११९ ॥

पञ्चादिति । स्त्रीणां देवीमूर्त्तीनां नितम्बस्य पञ्चात् भूमौ  
परिधिः अङ्गुलतः एकाङ्गुलेन अधिकः सार्धत्रितालपरिमितः  
पुंमूर्त्तीनान्तु सार्धत्रिताल एव इत्यर्थः । बाहोः अग्रस्य मूलस्य  
च परिधिः क्रमात् षोडशाङ्गुलः अष्टादशाङ्गुलश्च भवति ॥१२०॥

हस्तमूलाग्रपरिधिश्चतुर्दशदशाङ्गुलः ।

पञ्चाङ्गुला पादकरतलयोर्विस्तृतिः स्मृता ॥११२१॥

ऊरुमूलस्य परिधिर्द्वाविंशदङ्गुलात्मकः ।

ऊनविंशत्यङ्गुलः स्यादूर्वग्रपरिधिः स्मृतः ॥१२२॥

जङ्गामूलाग्रपरिधिः षोडशद्वादशाङ्गुलः ।

मध्यमामूलपरिधिर्विज्ञेयश्चतुरङ्गुलः ॥१२३॥

तर्जन्यनामिकामूलपरिधिः सार्द्धत्रयङ्गुलः ।

कनिष्ठिकायाः परिधिर्मूले त्रयङ्गुल एव हि ॥१२४॥

खमूलपरिधेः पादहीनोऽग्रे परिधिः स्मृतः ।

हस्तेति । हस्तस्य मूले अग्रे च परिधिः क्रमात् चतुर्दशाङ्गुलः दशाङ्गुलश्च भवति । पादकरतलयोः चरणस्य करतलस्य च विस्तृतिः विस्तारः पञ्चाङ्गुला अङ्गुलपञ्चकपरिमिता स्मृता ॥१२१॥

ऊरुमूलस्येति । ऊरुमूलस्य परिधिः द्वाविंशदङ्गुलात्मकः द्वाविंशदङ्गुलपरिमितः । ऊर्वोः अग्रयोः परिधिः ऊनविंशत्यङ्गुलः स्यात् ॥ १२२ ॥

जङ्गेति । जङ्गायाः मूलस्य अग्रस्य च परिधिः क्रमात् षोडशाङ्गुलः द्वादशाङ्गुलश्च भवति । मध्यमायाः अङ्गुल्याः मूलपरिधिः चतुरङ्गुलः विज्ञेयः ॥ १२३ ॥

तर्जनीति । तर्जन्याः अनामिकायाश्च मूलपरिधिः सार्द्धत्रयङ्गुलः अर्द्धसहिताङ्गुलत्रयपरिमितः । कनिष्ठिकायाः मूले परिधिः त्रयङ्गुलः अङ्गुलत्रितयमित एव हिशब्दः पादपूरणार्थः ॥ १२४ ॥

खेति । खस्य मूले यः परिधिः उक्त इति शेषः अग्रे तस्येति

हस्तपादाङ्गुष्ठयोश्च चतुःपञ्चाङ्गुलं क्रमात् ॥ १२५ ॥  
 पादाङ्गुलीनां परिधिस्त्र्यङ्गुलः समुदाहृतः ।  
 मण्डलं स्तनयोर्नाभिः सार्द्धाङ्गुलमथाङ्गुलम् ॥ १२६ ॥  
 सर्वाङ्गानां यथाशोभि पाटवं परिकल्पयेत् ।  
 नोर्ध्वदृष्टिमधोदृष्टिं मीलिताक्षीं प्रकल्पयेत् ।  
 नोग्रदृष्टिन्तु प्रतिमां प्रसन्नाक्षीं विचिन्तयेत् ॥ १२७ ॥  
 प्रतिमायास्त्वृतीयांशमर्द्धांशं तत् सुपीठकम् ॥ १२८ ॥

शेषः पादहीनः चतुर्थांशन्यूनः परिधिः स्मृतः एतच्च अनुक्ताप-  
 परिधेरिति बोध्यम् । हस्तपादाङ्गुष्ठयोः हस्ताङ्गुष्ठस्य पादाङ्गुष्ठस्य  
 च परिधेर्मानं क्रमात् चतुःपञ्चाङ्गुलं चतुरङ्गुलं पञ्चाङ्गुलचे-  
 त्यर्थः ॥ १२५ ॥

पादाङ्गुलीनामिति । पादाङ्गुलीनाम् अङ्गुष्ठव्यतिरिक्तानां  
 मित्यर्थः अङ्गुष्ठस्य पूर्वमुक्तत्वादिति भावः परिधिः त्र्यङ्गुल  
 अङ्गुलत्रयमितः समुदाहृतः । स्तनयोः नाभेः मण्डलं परिधिः  
 सार्द्धाङ्गुलम् अर्द्धसहितैकाङ्गुलम् अङ्गुलम् एकाङ्गुलपरिमितम्  
 क्रमात् विज्ञेयमिति शेषः ॥ १२६ ॥

सर्वाङ्गानामिति । यथाशोभि यथा शोभते इत्यर्थः तथा  
 सर्वाङ्गानां पाटवं सौष्ठवं परिकल्पयेत् । तथा ऊर्ध्वदृष्टिम् अधो-  
 दृष्टिं वा मीलिताक्षीं मुद्रितनयनां मूर्त्तिमिति शेषः न प्रकल्प-  
 येत् । किञ्च उग्रदृष्टिं भीषणाक्षीं प्रतिमां प्रसन्नाक्षीं प्रसन्न-  
 नयनां न विचिन्तयेत् ॥ १२७ ॥

प्रतिमाया इति । प्रतिमायाः तत् प्रसिद्धमित्यर्थः सुपीठं  
 शोभनं पीठम् आसनमित्यर्थः तृतीयांशम् अर्द्धांशं वा यादृशी

द्विगुणं त्रिगुणं द्वारं प्रतिमायाश्चतुर्गुणम् ।

एकद्वित्रिचतुर्हस्तं पीठं देवालयस्य च ॥१२६॥

पीठतस्तु समुच्छायो भित्तेर्दशकराधिकः ।

द्वारात् तु द्विगुणोच्छायः प्रासादस्योर्ध्वभूमिभाक् ।

शिखरं चोच्छायसमं द्विगुणं त्रिगुणं तु वा ॥१३०॥

एकभूमिं समारभ्य सपादशतभूमिकम् ।

प्रासादं कारयेच्छतया द्वाष्टास्रं पद्मसन्निभम् ।

चतुर्दिग्गण्डपं वापि चतुःशालं समन्ततः ॥१३१॥

प्रतिमा तत्तृतीयांशं तद्विंशं वा इत्यर्थः कल्पयेदिति पूर्वशान्-  
न्यः ॥ १२८ ॥

द्विगुणमिति । देवालयस्य द्वारं प्रतिमायाः द्विगुणं त्रिगुणं  
वा चतुर्गुणं कर्तव्यमिति शेषः । पीठञ्च एकद्वित्रिचतुर्हस्तम्  
एकहस्तं द्विहस्तं त्रिहस्तं चतुर्हस्तं वा प्रतिमाभेदेन कल्पनी-  
मिति शेषः ॥ १२९ ॥

पीठत इति । भित्तेः देवगृहस्येति शेषः समुच्छायः औन्नत्यं  
पीठतः पीठात् दशकराधिकः दशहस्ताधिकः कार्य इति  
शेषः । प्रासादस्य द्वारात् द्विगुणोच्छायः द्विगुणमौन्नत्यम् ऊर्ध्व-  
भूमिभाक् उपरितनगामी स्यात् । किञ्च शिखरं प्रासादस्येति  
शेषः उच्छायेण समं सदृशम् अनुरूपमित्यर्थः द्विगुणं त्रिगुणं  
वा कल्पयेदिति शेषः ॥ १३० ॥

एकभूमिमिति । एकभूमिम् एकां भूमिं समारभ्य सपाद-  
शतभूमिकं पादाधिकशतभूमिपर्यन्तम् अष्टास्रम् अष्टकोणं  
पद्मसन्निभं पद्माकारं चतुर्दिग्गण्डपं चतुर्दिग्बर्त्तिगृहसमन्वितं

सहस्रस्तम्भसंयुक्तश्चोत्तमोऽन्यः समोऽधमः ॥ १३२ ॥

प्रासादे मण्डपे वापि शिखरं यदि कल्प्यते ।

स्तम्भास्तत्र न कर्त्तव्या भित्तिस्तत्र सुखप्रदा ॥ १३३ ॥

प्रासादमध्यविस्तारः प्रतिमायाः समन्ततः ।

षड्गुणोऽष्टगुणो वापि पुरतो वा सुविस्तरः ॥ १३४ ॥

वाहनं मूर्तिसदृशं सार्द्धं वा द्विगुणं स्मृतम् ।

यत्र नोक्तं देवताया रूपं तत्र चतुर्भुजम् ॥ १३५ ॥

अभयं च वरं दद्याद् यत्र नोक्तं यदायुधम् ।

अधःकरे तूर्ध्वकरे शङ्खं चक्रं तथाङ्गुशम् ॥ १३६ ॥

समन्ततः चतुःशालं गृहचतुष्टययुक्तं वा प्रासादं शक्त्या शक्त-  
नुसारेण कारयेत् ॥ १३१ ॥

सहस्रेति । सहस्रस्तम्भेन संयुक्तः प्रासादः उत्तमः, ततो  
न्यूनः समः मध्यमः, ततोऽपि न्यूनः अधमः ॥ १३२ ॥

प्रासादे इति । प्रासादे मण्डपे वापि यदि शिखरं कल्प्यते,  
तदा तत्र स्तम्भाः न कर्त्तव्याः, तत्र भित्तिरेव सुखप्रदा शोभना  
इत्यर्थः ॥ १३३ ॥

प्रासादेति । प्रासादमध्यस्य प्रासादाभ्यन्तरभागस्य समन्ततः  
विस्तारः प्रतिमायाः षड्गुणः अष्टगुणो वा, पुरतः अग्रतस्तु  
प्रतिमाया इति शेषः विस्तारः सुविस्तरः सम्पन्नः कल्प इति  
शेषः ॥ १३४ ॥

वाहनमिति । वाहनं देवताया इति शेषः मूर्तिसदृशं  
सार्द्धम् अर्द्धसहितं वा द्विगुणं मूर्त्तिरिति शेषः स्मृतं कथितम् ।  
यत्र देवतायाः रूपं न उक्तं तत्र चतुर्भुजं ज्ञेयमिति शेषः ॥ १३५ ॥

पाशं वा डमरुं शूलं कमलं कलसं सुवम् ।

लङ्गुकं मातुलुङ्गं वा वीणां मालां च पुस्तकम् ॥ १३७ ॥

मुखानां यत्र बाहुल्यं तत्र पंक्त्या निवेशनम् ।

तत् पृथग्ग्रीवमुकुटसुमुखं स्वचिकर्णयुक् ॥ १३८ ॥

भुजानां यत्र बाहुल्यं न तत्र स्कन्धभेदनम् ॥ १३९ ॥

कूर्परोर्ध्वन्तु सूक्ष्माणि चिपिटानि दृढानि च ।

भुजमूलानि कार्याणि पक्षमूलानि वै यथा ॥ १४० ॥

ब्रह्मणस्तु चतुर्दिक्षु मुखानां विनियोजनम् ॥ १४१ ॥

अभयमिति । पाशमिति । यत्र यस्य देवस्य आयुधम्  
अस्त्रं न उक्तं, तत्र अधःकरे अभयं वरञ्च यथाक्रमेण, ऊर्ध्वकरे  
तु शङ्खं चक्रम् अङ्गुशं प्राशं डमरुं शूलं कमलं कलसं सुवं  
यन्नाङ्गविशेषं, लङ्गुकं, मातुलुङ्गं, वीणां, मालां वा पुस्तकं  
यथारुचि दद्यात् ॥ १३६ ॥ १३७ ॥

मुखानामिति । यत्र मुखानां बाहुल्यं बहुमुखमित्यर्थः, तत्र  
पङ्क्त्याः श्रेणीक्रमेण निवेशनं मुखानामिति कार्यमिति च  
शेषः । तत् प्रत्येकं मुखमित्यर्थः पृथग्ग्रीवमुकुटं पृथग्ग्रीवं  
पृथङ्मुकुटं सुमुखं सुप्रसन्नवदनं स्वचिकर्णयुक् शोभननयन-  
कर्णयुतं कार्यमिति शेषः ॥ १३८ ॥

भुजानामिति । यत्र भुजानां बाहुल्यं बहुभुजमूर्तिरित्यर्थः  
तत्र मूर्तौ स्कन्धयोः भेदनं बाहुल्यं न कार्यम् ॥ १३९ ॥

कूर्परोर्ध्वसिति । कूर्परस्य कपोलेः ऊर्ध्वन्तु भुजमूलानि  
यथा पक्षयोः पार्श्वयोः मूलानि, तथा सूक्ष्माणि चिपिटानि  
दृढानि च कार्याणि ॥ १४० ॥

हयग्रीवो वराहश्च नृसिंहश्च गणेश्वरः ।

मुखैर्विना नराकारो नृसिंहश्च नखैर्विना ॥१४२॥

तिष्ठतीं सूपविष्टां वा स्वासने वाहनस्थिताम् ।

प्रतिमामिष्टदेवस्य कारयेदुत्तलक्षणाम् ॥१४३॥

हीनश्मश्रुनिमेषां च सदा षोडशवार्षिकीम् ।

दिव्याभरणवस्त्राढ्यां दिव्यवर्णक्रियां सदा ।

वस्त्रैरापादगूढां च दिव्यालङ्कारभूषिताम् ॥१४४॥

हीनाङ्गो नाधिकाङ्गश्च कर्तव्या देवताः क्वचित् ॥

ब्रह्मण इति । ब्रह्मणस्तु मुखानां चतुर्णां विनियोजनं वि-  
निवेशनं चतुर्दिक्षु कर्तव्यं न तु पङ्क्तिक्रमेणेत्यर्थः ॥ १४१ ॥

हयग्रीव इति । हयग्रीवः वराहः नृसिंहः गणेश्वरश्च मुखै-  
र्विना नराकारः मानवाकृतिः कार्यः तथाच हयग्रीवस्य मुखम्  
अश्वस्येव, वराहस्य मुखं शूकरस्येव, नृसिंहस्य मुखं सिंहस्येव,  
गणेश्वरस्य मुखं हस्तिन इवेति बोध्यम् । नृसिंहः नखैश्च विना  
नराकारः कार्यः नृसिंहस्य नखाः सिंहस्येवेति भावः ॥१४२॥

तिष्ठतीमिति । हीनेति । स्वस्य आसने तिष्ठतीं दण्डाय-  
मानां सूपविष्टां सुखेन उपविष्टां वा वाहनेः सिंहादौ स्थितां  
हीनश्मश्रुनिमेषां श्मश्रुरहितां निर्निमेषाच्च इत्यर्थः सदा  
षोडशवर्षवयस्कां दिव्याभरणवस्त्राढ्यां दिव्यैः आभरणैः वस्त्रा-  
द्यैश्च समन्वितां दिव्यवर्णक्रियां दिव्या वर्णाः क्रियाश्च यस्याः  
तां वस्त्रैः आपादगूढां पादपर्यन्तगुप्तां तथा दिव्यालङ्कारभू-  
षिताम् उत्तलक्षणाम् इष्टदेवस्य प्रतिमां कारयेत् ॥१४३॥१४४॥

हीनाङ्गः इति । क्वचित् कदाचित् देवताः हीनाङ्गाः अङ्ग-

हीनाङ्गी स्वामिनं हन्ति ह्यधिकाङ्गी च शिल्पिनम् ॥१४५॥

कृशा दुर्भिक्षदा नित्यं स्थूला रोगप्रदा सदा ।

गूढसन्ध्यस्थिधमनी सर्वदा सौख्यवर्द्धिनी ॥१४६॥

वराभयाञ्जशङ्खाव्यहस्ता विष्णोश्च सात्त्विकी ।

मृगवाद्याभयवरहस्ता सोमस्य सात्त्विकी ॥१४७॥

वराभयाञ्जलङ्कुहस्तेभास्यस्य सात्त्विकी ।

पद्ममालाभयवरकरा सत्त्वाधिका रवेः ॥१४८॥

वीणालुङ्गाभयवरकरा सत्त्वगुणा श्रियः ॥१४९॥

विकलाः अधिकाङ्गश्च न कर्त्तव्याः । हीनाङ्गी देवता स्वामिनं  
कर्त्तारम्, अधिकाङ्गी च शिल्पिनं हन्ति नाशयति ॥ १४५ ॥

कृशेति । कृशा कृशाङ्गी देवता नित्यं दुर्भिक्षदा अभाव-  
दायिनी, स्थूला स्थूलाङ्गी सदा रोगप्रदा रोगदायिनी गूढ-  
सन्ध्यस्थिधमनी गुप्तसन्धिस्थाना गुप्तास्थिका गुप्तशिरा च  
सौख्यवर्द्धिनी सुखवृद्धिकरी भवति ॥ १४६ ॥

वरेत्यादि । विष्णोः वराभयाञ्जशङ्खाव्यहस्ता भुजैश्चतुर्भिर्वरम्,  
अभयम्, अञ्जं पद्मं, शङ्खञ्च क्रमेण दधतीत्यर्थः मूर्तिः सात्त्विकी  
सत्त्वगुणा । सोमस्य चन्द्रस्य मृगवाद्याभयवरहस्ता भुजचतु-  
ष्टयेन मृगं वाद्यम् अभयं वरञ्च क्रमेण दधतीत्यर्थः मूर्तिः  
सात्त्विकी । इभास्यस्य हस्तिशृङ्गस्य गणेशस्य इत्यर्थः वरा-  
भयाञ्जलङ्कुहस्ता भुजचतुष्टयेन वरम् अभयम् अञ्जं लङ्कु-  
कञ्च दधतीत्यर्थः मूर्तिः सात्त्विकी । रवेः सूर्यस्य पद्ममाला-  
भयवरकरा भुजचतुष्टयेन पद्मं मालाम् अभयं वरञ्च दधतीत्यर्थः  
मूर्तिः सत्त्वाधिका सात्त्विकीत्यर्थः । श्रियः लक्ष्म्याः वीणा-

शङ्खचक्रगदापद्मैरायुधैरादितः पृथक् ।

षट् षड्भेदाश्च मूर्त्तीनां विष्णादीनां भवन्ति हि १५॥

यथोपाधिप्रभेदेन स्वसंयोगविभागतः ।

समस्तव्यस्तवर्णादिभेदज्ञानं प्रजायते ॥१५१॥

लेख्या लेप्या सैकती च मृगमयी पैष्टिकी तथा ।

एतासां लक्षणाभावे न कैश्चिद् दोष ईरितः ॥१५२॥

बाणलिङ्गे स्वयम्भूते चन्द्रकान्तसमुद्भवे ।

रत्नजे गण्डकोद्भूते मानदोषो न सर्वथा ।

लुङ्गाभयवरकरा भुजचतुष्टयेन वीणां लुङ्गम् अभयं वरश्च दध-  
तीत्यर्थः मूर्त्तिः सत्त्वगुणा सात्त्विकीत्यर्थः ॥१४७॥१४८॥१४९॥

शङ्खेति । विष्णादीनां मूर्त्तीनां शङ्खचक्रगदापद्मैः पृथक्  
विभिन्नैः आयुधैरस्त्रैश्च आदितः प्रथमतः षट् षट् भेदाश्च  
भवन्ति हि शब्दोऽवधारणार्थः ॥ १५० ॥

यथेति । उपाधीनां नाम्नां प्रभेदेन यथा इव स्वसंयोग-  
विभागतः स्वस्य संयोगानां वाहनास्त्रादियोगानां विभागेन  
पार्थक्येन समस्तानां समग्राणां व्यस्तानाम् एकैकोषाश्च वर्णा-  
दीनां भेदज्ञानं प्रजायते भवति ॥ १५१ ॥

लेख्येति । लेख्या चित्रिता, लेप्या लेपमयी, सैकती सिक-  
तामयी, मृगमयी मृत्तिकामयी तथा पैष्टिकी पिष्टमयी च याः  
प्रतिमाः उक्ताः, एतासां लक्षणाभावे लक्षणस्य अभावे अस-  
त्तायां कैश्चित् जनैः दोषः न ईरितः उक्तः, एता यथारुचि  
कर्त्तव्या इति भावः ॥ १५२ ॥

बाणलिङ्गे इति । स्वयम्भूते, चन्द्रकान्तसमुद्भवे चन्द्रमणि-

पाषाणधातुजायां तु मानदोषान् विचिन्तयेम् १५३  
श्वेतपीतारक्तकृष्णपाषाणैर्युगभेदतः ।

प्रतिमां कल्पयेच्छिल्पी यथारुच्यपरैः स्मृता ॥ १५४ ॥

श्वेता स्मृता सात्त्विकी तु पीता रक्ता तु राजसी ।

तामसी कृष्णवर्णा तु ह्युक्तलक्ष्मयुता यदि ॥ १५५ ॥

सौवर्णी राजसी ताम्ब्री रैतिकी वा कृतादिषु १५६

शाङ्करी श्वेतवर्णा वा कृष्णवर्णा तु वैष्णवी ।

सूर्यशक्तिगणेशानां ताम्रवर्णा स्मृतापि च ।

लोहसीसमयी वापि यथोद्दिष्टा स्मृता बुधैः ॥ १५७ ॥

सम्भूते, रत्नजे, गण्डकोदभूते च बाणलिङ्गे सर्वथा सर्वप्रकारेण  
मानदोषः परिमाणदोषः न अस्तीति शेषः । केवलं पाषाण-  
धातुजायां पाषाणमय्यां धातुमय्याञ्च प्रतिमायां मानदोषान्  
विचिन्तयेत् ॥ १५३ ॥

श्वेतेति । शिल्पी युगभेदतः युगभेदानुसारेण श्वेतैः पीतैः  
आरक्तैः आलोहितैः कृष्णैश्च पाषाणैः प्रतिमां कल्पयेत् । यथा-  
रुचि अपरैः दार्वीदिभिश्च स्मृता शास्त्रे कथिता प्रतिमेति  
शेषः ॥ १५४ ॥

श्वेतेति । यदि उक्तैः पूर्वकथितैः लक्षणैः युता, तदा श्वेता  
श्वेतवर्णा प्रतिमा सात्त्विकी स्मृता । पीता पीतवर्णा रक्ता रक्त-  
वर्णा च राजसी । कृष्णवर्णा तु तामसी स्मृता ॥ १५५ ॥

सौवर्णीति । कृतादिषु सत्यव्रताद्वापरकलिषु यथाक्रमं  
सौवर्णी, राजसी, ताम्ब्री रैतिकी पित्तलमयी ॥ १५६ ॥

शाङ्करीति । शाङ्करी शिवमूर्तिः श्वेतवर्णा, वैष्णवी विष्णु-

चलार्चायां स्थिरार्चायां प्रासादाद्युक्तलक्षणम् ।  
 प्रतिमां स्थापयेन्नान्यां सर्वसौख्यविनाशिनीम् ॥ १५८ ॥  
 सेव्यसेवकभावेषु प्रतिमालक्षणं स्मृतम् ॥ १५९ ॥  
 प्रतिमायाश्च ये दोषा ह्यर्चकस्य तपोबलात् ।  
 सर्वेश्वरचित्तस्य नाशं यान्ति क्षणात् किला ॥ १६० ॥  
 देवतायाश्च पुरतो मण्डपे वाहनं न्यसेत् ।  
 द्विबाहुरगुडं प्रोक्तः सुचक्षुः स्वक्षिपक्षयुक् ॥ १६१ ॥

मूर्तिः कृष्णवर्णा, सूर्यशक्तिगणेशानां सूर्यस्य शक्तेः गणेशस्य  
 च इत्यर्थः मूर्तिः ताम्रवर्णा स्मृता, वापि अथवा लोहसीस-  
 मयी लोहमयी सीसमयी च यथा उद्दिष्टा शास्त्रे कथिता तथा  
 बुधैः स्मृता ॥ १५७ ॥

चलार्चायामिति । चलार्चायां स्वल्पदिनवृत्तिपूजायां वा  
 स्थिरार्चायां चिरपूजायां प्रासादादिषु उक्तलक्षणं प्रतिमां स्थाप-  
 येत् न अन्याम् उक्तविलक्षणमित्यर्थः अत एव सर्वसौख्यविना-  
 शिनीम् अखिलसुखविध्वंसिनीं प्रतिमामिति शेषः ॥ १५८ ॥

सेव्येति । सेव्यसेवकभावेषु विषयेषु न तु आमोदप्रमोदार्थेषु  
 तत्र यथेच्छकल्पनासम्भवादिति भावः प्रतिमाया लक्षणम् उक्त-  
 रूपं स्मृतं कथितम् ॥ १५९ ॥

प्रतिमाया इति । प्रतिमायाश्च ये दोषाः, ते सर्वथा सर्व-  
 प्रकारेण ईश्वरचित्तस्य ईश्वरानुरक्तस्य अर्चकस्य सेवकस्य तपो-  
 बलात् क्षणात् किल निश्चितं नाशं यान्ति विनश्यन्तीत्यर्थः  
 यदि प्रतिमायां कश्चित् दोषः अस्ति तदा सेवकाः तपोबलेन  
 तज्जनितदुरदृष्टं नाशयितुं शक्नोतीति भावः ॥ १६० ॥

नराकृतिश्चक्षुमुखो मुकुटी कवचाङ्गदी ।  
 वद्वाञ्जलिर्नम्रशीर्षः सेव्यपादाञ्जलोचनः ॥ १६२ ॥  
 वाहनत्वं गता ये ये देवतानां च पक्षिणः ।  
 कामरूपधरास्ते ते तथा सिंहवृषादयः ॥ १६३ ॥  
 खनामाकृतयश्चैते कार्या दिव्या बुधैः सदा ।  
 सुभूषिता देवताग्रमण्डपे ध्यानतत्पराः ॥ १६४ ॥  
 मार्जाराकृतिकः पीतः कृष्णचिह्नो बृहद्वपुः ।  
 असटो व्याघ्र इत्युक्तः सिंहः सूक्ष्मकटिर्महान् ॥ १६५ ॥

देवतायाश्चेति । नराकृतिरिति । देवतायाः पुरतः अग्रतः  
 मण्डपे वाहनं न्यसेत् स्थापयेत् । गरुडः विष्णुवाहनं द्विबाहुः  
 द्विभुजः सुचक्षुः शोभनचक्षुः, स्वक्षिपक्षयुक् शोभनपक्षः सुन-  
 यनः नराकृतिः मानवावयवः चक्षुमुखः मुकुटी मुकुटधारी  
 कवचाङ्गदी कवची अङ्गदवान्, वद्वाञ्जलिः कृताञ्जलिः नम्र-  
 शीर्षः नतशिराः तथा सेव्यस्य स्वप्रभोः पादाञ्जे पादपद्मे लोचने  
 नयने यस्य तथाभूतः स्थाप्य इति शेषः ॥ १६१ ॥ १६२ ॥

वाहनत्वमिति । खनामाकृतय इति । ये ये पक्षिणः तथा  
 सिंहवृषादयः देवतानां वाहनत्वं गताः, ते ते कामरूपधराः  
 स्वेच्छाधीनविग्रहाः । एते च बुधैः विद्वद्भिः खनामाकृतयः  
 खनाम्ना निजनामानुसारेण आकृतयः येषां तथाभूताः दिव्याः  
 सुभूषिताः सुष्ठु अलङ्कृताः तथा ध्यानतत्पराः ध्याननिष्ठाः देव-  
 तानाम् अग्रे सदा कार्याः ॥ १६३ ॥ १६४ ॥

मार्जाराकृतिक इति । बृहदिति । मार्जारस्य आकृतिरिव  
 आकृतिर्यस्य तादृशः पीतः पीतवर्णः कृष्णचिह्नः श्यामलचिह्न-

वृहद्भूगण्डनेत्रस्तु बालवेशो मनोहरः ।

सटावान् धूसरोऽक्ष्णालाञ्छनश्च महाबलः ॥१६६॥

भेदः सटालाञ्छनतो नाकृत्या व्याघ्रसिंहयोः ॥१६७॥

अजाननं नराकारं ध्वस्तकर्णं पृथूदरम् ।

वृहत्संच्छिप्तगहनपीनस्कन्धाङ्घ्रिपाणिनम् ॥१६८॥

वृहच्छुण्डं भग्नवामरदमीप्सितवाहनम् ।

ईषत्कुटिलदण्डायवामशुण्डमदक्षिणम् ।

सन्ध्यस्थिधमनीगूढं कुर्यान्मानमितं सदा ॥१६९॥

विशिष्टः वृहद्वपुः महाकायः असटः जटारहितः जन्तुः व्याघ्र इति उक्तः कथितः । सूक्ष्मकटिः सूक्ष्ममध्यभागः महान् वृहदाकारः वृहद्भूगण्डनेत्रः विशालभ्रूः वृहदगण्डः दीर्घचक्षुः बालवेशः शिशुवेशधरः मनोहरः सटावान् जटावान् धूसरः धूसरवर्णः अक्ष्णालाञ्छनः अश्यामचिह्नः महाबलश्च सिंहः इति उक्तः ॥ १६५ ॥ १६६ ॥

भेद इति । सटाभिः जटाभिः लाञ्छनैः कृष्णचिह्नैश्च व्याघ्रसिंहयोः भेदः, आकृत्या अवयवेन न, आकृतिरनयोः प्रायशस्त्वैव केवलं जटाचिह्नैः भेद इत्यर्थः ॥ १६७ ॥

सम्प्रति गणेशाकृतिं निरूपयति गजाननमिति । वृहदिति । नराकारं ध्वस्तकर्णं लम्बकर्णं पृथूदरं स्थूलोदरं वृहन्तः, संच्छिप्ताः गहनाः घनाः पीनाः स्थूलाश्च स्कन्धौ अङ्घ्रौ चरणौ पाणयः कराश्च यस्य तथोक्तं वृहच्छुण्डं विशालशुण्डादण्डं भग्नवामरदं वामदन्तहीनम् ईप्सितवाहनं प्रियवाहनम् ईषत्कुटिलेन दण्डाग्रेण वामा शोभना शुण्डा यस्य तम् अदक्षिणं

सार्धचतुस्तालमितः शुण्डादण्डः समन्ततः ।

दशाङ्गुलं मस्तकञ्च भूगण्डश्चतुरङ्गुलः ॥१७०॥

नासीत्तरोष्ठरूपा च शेषा शुण्डा सपुष्करा ।

दशाङ्गुलं कर्णदैर्घ्यं तदष्टाङ्गुलविस्तृतम् ॥ १७१ ॥

कर्णयोरन्तरे व्यासो द्वाङ्गुलस्तालसम्मितः ।

मस्तकेऽस्यैव परिधिर्ज्ञेयः षट्त्रिंशदङ्गुलः ॥१७२॥

नेत्रोपान्ते च परिधिः शीर्षतुल्यः सदा मतः ।

नास्ति दक्षिणः अग्रवर्त्ती अग्रे पूजनौयः यस्मात् तादृशं सर्वाग्रे  
पूज्यमित्यर्थः सन्ध्यस्थिधमनीगूढं सन्धिषु अवयवसंस्थेषु अस्थिषु,  
धमनीषु शिरासु च गूढम् अव्यक्तसन्धिम् अव्यक्तास्थिम् अव्यक्त-  
धमनीञ्चेत्यर्थः तथा सदा मानमितं यथाप्रमाणं गजाननं गणेशं  
कुर्यात् ॥ १६८ ॥ १६९ ॥

सार्धेति । समन्ततः सर्वतः सार्धैः चतुर्भिः तालैः मितः  
परिमितः शुण्डादण्डः, दशाङ्गुलम् अङ्गुलदशकमितं मस्तकं,  
चतुरङ्गुलः भूदण्डश्च कार्य्य इति शेषः ॥ १७० ॥

नासेति । शुण्डा नासाया उत्तरः परवर्त्ती य ओष्ठः तद्रूपा  
कियतीत्यर्थः शेषा अवशिष्टा सपुष्कराः पुष्करसहिता कार्य्या  
इति शेषः, कर्णयोः दैर्घ्यं दशाङ्गुलं तयोः कर्णयोः अष्टाङ्गुल-  
विस्तृतम् अङ्गुलाष्टकं विस्तार इत्यर्थः ॥ १७१ ॥

कर्णयोरिति । कर्णयोः अन्तरे मध्ये व्यासः वेधपरिमाण-  
मित्यर्थः द्वाङ्गुलः अङ्गुलद्वयाधिकः तालसम्मितः तालप्रमाणः ।  
अस्यैव गणेशस्य मस्तके परिधिः षट्त्रिंशदङ्गुलः ज्ञेयः ॥१७२॥

नेत्रोपान्ते इति । कराग्रे इति । नेत्रयोः उपान्ते च यः

सद्वाङ्गुलद्वितालः स्यान्नेत्राधःपरिधिः करे ॥१७३॥  
 कराग्रे परिधिर्ज्ञेयः पुष्करे च दशाङ्गुलः ।  
 त्र्यङ्गुलं कण्ठदैर्घ्यं तत्परिधिस्त्रिंशदङ्गुलः ॥१७४॥  
 परिणाहसूदरे च चतुस्तालात्मिकः सदा ।  
 षडङ्गुलो नियोक्तव्याऽष्टाङ्गुलो वापि शिल्पिभिः १७५  
 दन्तः षडङ्गुलो दीर्घस्तन्मूलपरिधिस्तथा ।  
 षडङ्गुलश्चाधरोष्ठः पुष्करं कमलान्वितम् ॥१७६॥  
 ऊरुमूलस्य परिधिः षट्त्रिंशदङ्गुलो मतः ।

परिधिः सः तदा शीर्षतुल्यः मस्तकसदृशः मतः कथितः ।  
 नेत्रयोः अधः निम्नदेशे परिधिश्च सद्वाङ्गुलद्वितालः अङ्गुलद्वय-  
 सहितद्वितालः स्यात् । करे शृङ्गादण्डे कराग्रे शृङ्गाग्रे पुष्करे  
 च परिधिः दशाङ्गुलः ज्ञेयः । कण्ठकस्य दैर्घ्यं त्र्यङ्गुलम्  
 अङ्गुलत्रयपरिमितं तस्य कण्ठस्य परिधिश्च त्रिंशदङ्गुलः ज्ञेय  
 इति शेषः ॥ १७३ ॥ १७४ ॥

परिणाह इति । उदरे च परिणाहः दैर्घ्यं चतुस्तालात्मिकः  
 तालचतुष्टयप्रमाणः षडङ्गुलः अङ्गुलषट्काधिकः वा अष्टा-  
 ङ्गुलः अङ्गुलाष्टकाधिकः शिल्पिभिः निर्मातृभिः सदा नियो-  
 क्तव्यः कार्य इत्यर्थः ॥ १७५ ॥

दन्त इति । दन्तः दैर्घ्यं षडङ्गुलः, तस्य दन्तस्य मूल-  
 परिधिः मूलवेष्टनञ्च तथा षडङ्गुल इत्यर्थः अधरोष्ठश्च षड-  
 ङ्गुलः तथा पुष्करं कमलेन पद्मेन अन्वितं युक्तं कार्यमिति  
 शेषः ॥ १७६ ॥

ऊरुमूलस्येति । ऊरुमूलस्य परिधिः षट्त्रिंशदङ्गुलः मतः,

त्रयोविंशत्यङ्गुलः स्यादूर्वग्रपरिधिस्तथा ॥१७७॥

जङ्गामूले तु परिधिर्विंशत्यङ्गुलसम्मितः ।

परिधिर्बाहुमूलादेरधिको द्वाङ्गुलोऽङ्गुलः ॥ १७८ ॥

कर्णनेत्रान्तरं नित्यं विज्ञेयं चतुरङ्गुलम् ।

मूलमध्याग्रान्तरं तु दशसप्तषडङ्गुलम् ।

नेत्रयोः कथितं तज्ज्ञैर्गणपस्य विशेषतः ॥१७९॥

उत्सेधः पृथुता स्त्रीणां स्तने पञ्चाङ्गुला मता ॥१८०॥

स्त्रीकक्ष्यां परिधिः प्रोक्तस्त्रितालो द्वाङ्गुलाधिकः ।

स्त्रीणामवयवान् सर्वान् सप्ततालैर्विभावयेत् ॥१८१॥

तथा ऊर्वोः अग्रस्य परिधिः त्रयोविंशत्यङ्गुलः स्यात् ॥ १७७ ॥

जङ्गेति । जङ्गयोर्मूले परिधिः विंशत्यङ्गुलसम्मितः, तथा बाहुमूलादेः परिधिः अधिकद्वाङ्गुलः अङ्गुलः अङ्गुलत्रयपरिमित इत्यर्थः ॥ १७८ ॥

कर्णेति । कर्णनेत्रयोः अन्तरं मध्यभागः नित्यं सततं चतुरङ्गुलं, तथा अन्ययोः मूलान्तरं मध्यान्तरम् अप्रान्तरन्तु दशसप्तषडङ्गुलं क्रमेण दशाङ्गुलं सप्ताङ्गुलं षडङ्गुलञ्चेत्यर्थः विज्ञेयम् । तज्ज्ञैः तद्विज्ञैः पण्डितैः गणपस्य गणेशस्य नेत्रयोः विशेषतः विशेषेण नेत्रयोः इत्थं कथितम् ॥ १७९ ॥

उत्सेध इति । स्त्रीणां शक्तिमूर्त्तीनां स्तने उत्सेधः उच्छ्रायः पृथुता स्थूलता च पञ्चाङ्गुला अङ्गुलपञ्चकपरिमिता मता ॥१८०॥

स्त्रीकक्ष्यामिति । स्त्रीणां शक्तिमूर्त्तीणां कक्ष्यां परिधिः द्वाङ्गुलाधिकः अङ्गुलद्वयाधिकः त्रितालः तालत्रयमितः प्रोक्तः कथितः । स्त्रीणां सर्वान् अवयवान् सप्ततालैः सप्तभिः ताला-

सप्ततालादिमानेऽपि मुखं स्याद् द्वादशाङ्गुलम्  
 बालादीनामपि सदा दीर्घता तु पृथक् पृथक् १८  
 शिशोस्तु कन्धरा ऋखा पृथु शीर्षं प्रकीर्तितम् ।  
 कण्ठाधो वर्द्धते यादृक् तादृक् शीर्षं न वर्द्धते ॥ १८०  
 कण्ठाधो मुखमानेन बालः सार्धचतुर्गुणः ।  
 द्विगुणः शिश्वपर्यन्तो ह्यधः शेषन्तु सक्थितः ॥ १८१  
 सपादद्विगुणौ हस्तौ द्विगुणौ वा मुखेन हि ।

व्यप्रमाणैः विभावयेत् विचिन्तयेत् सप्ततालपरिमितान् कुर्वन्  
 दित्यर्थः ॥ १८१ ॥

सप्तेति । सप्ततालादिमाने तालसप्तकादिपरिमाणे सत्यपि  
 मुखं द्वादशाङ्गुलं स्यात् स्त्रीणामिति शेषः । किञ्च बालादीनां  
 देवमूर्त्तिभेदानाम् अपि सदा पृथक् पृथक् दीर्घता ज्ञेया इति  
 शेषः ॥ १८२ ॥

शिशोरिति । शिशोः बालकस्य देवमूर्त्तिभेदस्य कथं  
 ग्रीवा ऋखा खर्वा, तथा शीर्षं मस्तकं पृथु विशालं प्रकीर्तितं  
 यतः कण्ठाधः कण्ठस्य अधः निम्नदेशः यादृक् वर्द्धते शीर्षं  
 तादृक् न वर्द्धते ॥ १८३ ॥

कण्ठाध इति । बालः शिशुः देवमूर्त्तिभेदः मुखमानेन मुखस्य  
 परिमाणपेक्षयेत्यर्थः कण्ठस्य अधः निम्नदेशे सार्धचतुर्गुण  
 अर्द्धसहितचतुर्गुणप्रमाण इत्यर्थः । सक्थितः ऊरुदेशात् शेषः  
 अवशिष्टम् अधः निम्नभागः शिश्वपर्यन्तं लिङ्गपर्यन्तं द्विगुण  
 कार्य इति शेषः ॥ १८४ ॥

सपादेति । हस्तौ मुखेन मुखपरिमाणपेक्षयेत्यर्थः सपाद

स्थौल्ये तु नियमो नास्ति यथाशोभि प्रकल्पयेत् १८५

नित्यं प्रवर्द्धते बालः पञ्चाब्दात् परतो भृशम् ।

स्यात् षोडशेऽब्दे सर्वाङ्गपूर्णा स्त्री विंशतौ पुमान् १८६

ततोऽर्हति प्रमाणन्तु सप्ततालादिकं सदा ।

कश्चिद्बाल्येऽपि शोभाढ्यस्तारुण्ये वार्द्धके क्वचित् १८७

मुखाधस्त्राङ्गुला ग्रीवा हृदयं तु नवाङ्गुलम् ।

तथोदरं च वस्तिश्च सक्थि त्वष्टादशाङ्गुलम् ॥ १८८ ॥

त्राङ्गुलन्तु भवेज्जानु जङ्घा त्वष्टादशाङ्गुला ।

गुल्फाधस्त्राङ्गुलं ज्ञेयं सप्ततालस्य सर्वदा ॥ १८९ ॥

द्विगुणौ वा द्विगुणौ कार्यौ इति शेषः । स्थौल्ये स्थूलतायान्तु

नियमः नास्ति, यथाशोभि तथा प्रकल्पयेत् कुर्यादित्यर्थः ॥ १८५

नित्यमिति । बालः पञ्चाब्दात् पञ्चवत्सरात् परतः ऊर्ध्वं  
नित्यं भृशम् अतिशयेन प्रवर्द्धते वृद्धिं गच्छति । स्त्री षोडशे  
अब्दे वत्सरे सर्वाङ्गपूर्णा, पुमान् पुरुषः विंशतौ अब्दे सर्वाङ्ग-  
पूर्णः स्यात् ॥ १८६ ॥

तत इति । ततः यौवने इत्यर्थः सप्ततालादिकं प्रमाणम्  
अवयवपरिमाणं सदा अर्हति । कश्चित् मूर्त्तिभेदः बाल्येऽपि  
शैशवेऽपि शोभाढ्यः शोभनः, तारुण्ये यौवने, वार्द्धके वृद्धावस्था-  
याश्च क्वचित् शोभाढ्य इति शेषः ॥ १८७ ॥

सप्ततालस्य मूर्त्तिभेदस्य प्रकारमाह मुखाध इति । त्र्यङ्गुल-  
मिति च । मुखस्य अधः निम्नतः ग्रीवा त्र्यङ्गुला अङ्गुलत्रय-  
मिता, हृदयं वक्षः नवाङ्गुलं नवाङ्गुलप्रमाणं, तथा उदरं  
वस्तिः नाभ्यधोभागश्च नवाङ्गुलमिति शेषः, सक्थि ऊरुस्तु

वेदाङ्गुला भवेद् ग्रीवा हृदयन्तु दशाङ्गुलम् ।  
 दशाङ्गुलं चोदरं स्याद् वस्तिश्चैव दशाङ्गुलः ॥१८०॥  
 एकविंशाङ्गुलं सक्थि जानु स्याच्चतुरङ्गुलम् ।  
 एकविंशाङ्गुला जङ्घा गुल्फाधश्चतुरङ्गुलम् ॥१८१॥  
 अष्टतालप्रमाणस्य मानमुक्तमिदं सदा ॥ १८२ ॥  
 त्रयोदशाङ्गुलं ज्ञेयं मुखञ्च हृदयं तथा ॥ १८३ ॥  
 उदरञ्च तथा वस्तिर्दशतालेषु सर्वदा ।  
 गुल्फाधश्च तथा ग्रीवा जानु पञ्चाङ्गुलं स्मृतम् ॥१८४॥  
 षड्विंशत्यङ्गुलं सक्थि तथा जङ्घा प्रकीर्तिता ।  
 एकाङ्गुलो मूर्ध्नि मणिर्दशताले प्रकल्पयेत् ।  
 पञ्चाशदङ्गुलौ बाहू दशताले स्मृतौ सदा ॥१८५॥

अष्टादशाङ्गुलं विज्ञेयमिति । जानु त्र्यङ्गुलं, जङ्घा अष्टादशाङ्गुला तथा गुल्फस्य अधः निम्नभागः चत्र्यङ्गुलम् एतत् सप्ततालस्य सप्ततालमूर्त्तिभेदस्य प्रमाणं सर्वदा ज्ञेयम् ॥१८८॥१८९

अष्टतालप्रमाणमाह वेदेत्यादि । ग्रीवा वेदाङ्गुला चतुरङ्गुला तथा हृदयं दशाङ्गुलं भवेत् । उदरं दशाङ्गुलं वस्तिश्च दशाङ्गुलः स्यात् । सक्थि एकविंशाङ्गुलं तथा जानु चतुरङ्गुलं स्यात् । जङ्घा एकविंशाङ्गुला तथा गुल्फस्य अधः चतुरङ्गुलं स्यात् । अष्टतालप्रमाणस्य मूर्त्तिभेदस्य इदं मानं सदा उक्तम् ॥ १८० ॥ १८१ ॥ १८२ ॥

दशतालप्रमाणमाह त्रयोदशाङ्गुलमित्यादि । दशतालेषु मूर्त्तिभेदेषु मुखं हृदयं जठरं तथा वस्तिश्च सर्वदा त्रयोदशा-

द्वाङ्गुली द्वाङ्गुली चोनौ ततो हीनप्रमाणके ।  
 पाटवं तु यथाशोभि सर्वमानेषु कल्पयेत् ॥१८६॥  
 नवतालप्रमाणेन ह्यूनाधिक्यं प्रकल्पयेत् ॥१८७॥  
 दशताले तु विज्ञेयौ पादौ पञ्चदशाङ्गुली ।  
 एकैकाङ्गुलहीनौस्त स्ततो न्यूनप्रमाणके ।  
 दशतालोर्ध्वमाने तु ताले तालेऽधिकाङ्गुलम् ।  
 कल्पयेन्मुखतो धीमान् शिल्पवित्सु यथा तथा ॥१८८॥

ङ्गुलं ज्ञेयम् । गुल्फस्य अधः, ग्रीवा तथा जानु पञ्चाङ्गुलं  
 स्मृतम् । सक्थि षड्विंशत्यङ्गुलं तथा जङ्घा षड्विंशत्यङ्गुला  
 प्रकीर्तिता । दशताले मूर्ध्नि शिरसि स्तितं मणिम् एकाङ्गुलं  
 प्रकल्पयेत् । तथा दशताले बाह्व पञ्चाशदङ्गुली सदा स्मृतौ ॥  
 १८३ ॥ १८४ ॥ १८५ ॥

द्वाङ्गुलाविति । ततः तेभ्यः दशतालादिभ्यः हीनप्रमाणके  
 न्यूनपरिमाणे सति द्वाङ्गुली द्वाङ्गुली प्रत्येकाङ्गुलम् अङ्गुलद्वय-  
 मित्यर्थः ऊनौ काय्यौ इति शेषः । पाटवं पारिपात्यं सज्जा-  
 दिकमित्यर्थः सर्वमानेषु सर्वप्रकारपरिमाणेषु यथाशोभं कल्प-  
 येत् ॥ १८६ ॥

नवतालेति । नवतालप्रमाणे तु ऊनाधिक्यं नहि नैव  
 ऊनाधिक्यं प्रकल्पयेत् कुर्यादित्यर्थः ॥ १८७ ॥

दशताले इति । दशताले तु पादौ पञ्चदशाङ्गुली काय्यौ  
 इति शेषः । ततः दशतालात् न्यूनप्रमाणके न्यूनपरिमाणे पादौ  
 एकाङ्गुलहीनौ एकेन अङ्गुलेन हीनौ स्तः भवत इत्यर्थः ।  
 पतितम् इति । दशतालात् ऊर्ध्वमाने तु ताले ताले प्रति-

दीर्घोरुजङ्घा विकटा क्रूरा स्याद्भीषणासुरी ।  
 पैशाची प्रतिमा ज्ञेया राक्षसी सुकृशापि वा ॥१९॥  
 न पञ्चाङ्गुलतो हीना न षडङ्गुलतोऽधिका ।  
 करस्य मध्यमा प्रोक्ता सर्वमानेषु तद्विदैः ॥२०॥  
 क्वचित् तु बालसदृशं सदैव तरुणं वपुः ।  
 मूर्त्तीनां कल्पयेच्छिल्पी न वृद्धसदृशं क्वचित् ॥२०॥  
 एवंविधान् नृपो राष्ट्रे देवान् संस्थापयेत् सदा ।  
 प्रतिसंवत्सरं तेषामुत्सवान् सम्यगाचरेत् ॥२०२॥

तालम् अधिकाङ्गुलम् एकाङ्गुलाधिकं कार्यमिति शेषः ।  
 धीमान् शिल्पवित् शिल्पज्ञः मुखतः मुखादारभ्य इत्यर्थः यदा  
 सुष्ठु भवेत् तथा कल्पयेत् ॥ १९८ ॥

दीर्वेति । दीर्घोरुजङ्घा विकटा क्रूरा तथा भीषणा प्रतिमा  
 आसुरी स्यात् । तादृशी अपि सुकृशा अतिक्षीणा प्रतिमा  
 पैशाची वा राक्षसी ज्ञेया ॥ १९९ ॥

नेति । तद्विदैः तद्विज्ञैः पण्डितैः सर्वमानेषु करस्य मध्यमा  
 पञ्चाङ्गुलतः न हीना, षडङ्गुलतश्च नाधिका प्रोक्ता कथिता ॥२००॥  
 क्वचित्त्विति । शिल्पी शिल्पकुशलः सदैव बालसदृशं वा  
 तरुणं वपुः देवमूर्त्तिं शरीरं कल्पयेत्, क्वचित् कदाचित् वृद्ध  
 सदृशं न कल्पयेदित्यर्थः ॥ २०१ ॥

एवंविधानिति । नृपः राष्ट्रे सदा एवंविधान् देवान् संस्था  
 पयेत् तथा प्रतिसंवत्सरं तेषां देवानाम् उत्सवांश्च सम्यक् आच  
 रेत् अनुतिष्ठेत् ॥ २०२ ॥

देवालये मानहीनां मूर्तिं भग्नां न धारयेत् ।  
 प्रासादांश्च देवाञ्जीर्णानुद्धृत्य यत्नतः ॥२०३॥  
 देवतां तु पुरस्कृत्य नृत्यादीन् वीक्ष्य सर्वदा ।  
 न मनः स्त्रोपभोगार्थं विदध्याद् यत्नतो नृपः ॥२०४॥  
 प्रजाभिर्विधृता ये ये ह्युत्सवास्तांश्च पालयेत् ।  
 प्रजानन्देन सन्तुष्येत् तद्दुःखैर्दुःखितो भवेत् ॥२०४॥  
 इति शुक्रनीतौ राष्ट्रे मध्यं चतुर्थाध्यायस्य लोकधर्म-  
 निरूपणं नाम चतुर्थं प्रकरणम् ।

देवालये इति । देवतामिति । नृपः देवालये मानहीनाम्  
 अप्रमाणां तथा भग्नां मूर्तिं न धारयेत् न रक्षेत् तथा जीर्णान्  
 प्रासादान् देवांश्च यत्नतः उद्धृत्य संस्कृत्य सर्वदा देवतां पुरस्कृत्य  
 संपूज्य नृत्यादीन् उत्सवादिव्यापारान् वीक्ष्य दृष्ट्वा मनः चित्तं  
 स्त्रोपभोगार्थं स्वस्य उपभोगाय यत्नतः यत्नेन न विदध्यात् न  
 नियुञ्ज्यात् भोगासक्तं न कुर्यादित्यर्थः ॥ २०३ ॥ २०४ ॥

प्रजाभिरिति । प्रजाभिश्च ये ये उत्सवाः विधृताः कृताः  
 तांश्च पालयेत् रक्षेत्, प्रजानाम् आनन्देन सन्तुष्येत् सन्तुष्टो  
 भवेत् तथा तासां दुःखैश्च दुःखितः भवेत् ॥ २०५ ॥

इति श्रीजीवानन्दविद्यासागरभट्टाचार्यविरचिता

चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थप्रकरणव्याख्या

समाप्ता ।

चतुर्थाध्यायस्य पञ्चमं प्रकरणम् ।

दुष्टनिग्रहणं कुर्याद् व्यवहारानुदर्शनैः ।

स्वाज्ञया वर्तितुं शक्ता स्वाधीना च सदा प्रजा ॥ १ ॥

खेष्टहानिकरः शत्रुर्दुष्टः पापप्रचारवान् ।

दृष्टसम्पादनं न्याय्यं प्रजानां पालनं हि तत् ॥ २ ॥

शत्रोरनिष्टकरणान्निवृत्तिः शत्रुनाशनम् ।

पापाचारनिवृत्तिर्यैर्दुष्टनिग्रहणं हि तत् ॥ ३ ॥

स्वप्रजाधर्मसंस्थानं सदसत्प्रविचारतः ।

जायते चार्थसंसिद्धिर्व्यवहारस्तु येन सः ॥ ४ ॥

दुष्टेति । व्यवहाराणां विवादविषयाणाम् अनुदर्शनैः सम्यक् दर्शनैः दुष्टानां निग्रहं कुर्यात्, प्रजा स्वाधीना चेत् स्वाज्ञया निजाज्ञया खेच्छया इत्यर्थः सदा वर्तितुं व्यवहर्तुं शक्ता भवति, तस्मात् प्रजा यथा खेच्छया न व्यवहरेयुः तथा कार्यमिति भावः ॥ १ ॥

खेष्टेति । दुष्टः पापप्रचारवान् पापाशयः शत्रुः स्वस्य दृष्टहानिकरः, दृष्टस्य अभिलषितस्य च सम्पादनं सम्यक् साधनं न्याय्यं न्यायादनपेतं राज्ञ इति शेषः यथा शत्रुभिरिष्टनाशो न क्रियते तथा कार्यमिति भावः, तत् हि तदेव दृष्टसम्पादनमेव प्रजानां पालनम् ॥ २ ॥

शत्रोरिति । शत्रोः अनिष्टकरणात् निवृत्तिः शत्रुनाशनं पापाचारात् निवृत्तिश्च शत्रोरिति शेषः तत् हि तदेव दुष्टनिग्रहणम् ॥ ३ ॥

खेति । येन सदसत्प्रविचारतः सत्सु असत्सु च प्रविचारतः

धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जितः ।

सप्राड्विवाकः सामात्यः सब्राह्मणपुरोहितः ।

समाहितमतिः पश्येद् व्यवहाराननुक्रमात् ॥५॥

नैकः पश्येच्च कार्याणि वादिनोः शृणुयाद् वचः ।

रहसि च नृपः प्राज्ञः सभ्याश्चैव कदाचन ॥६॥

पक्षपाताधिरोपस्य कारणानि च पञ्च वै ।

रागलोभभयद्वेषा वादिनोश्च रहः श्रुतिः ॥७॥

पौरकार्याणि यो राजा न करोति सुखे स्थितः ।

सम्यक् विचारेण स्वस्य प्रजानां धर्मसंस्थानं धर्मे सम्यक् स्थितिः  
अर्थानां कार्याणां संसिद्धिः समीचीना सिद्धिः जायते सः व्यव-  
हारः ॥ ४ ॥

धर्मशास्त्रेति । राजा क्रोधलोभविवर्जितः सप्राड्विवाकः  
प्राड्विवाकेन सहितः सामात्यः अमात्यपरिवृतः सब्राह्मणपुरो-  
हितः ब्राह्मणैः पुरोहितैश्च सहितः तथा समाहितमतिः अव-  
हितचित्तः सन् धर्मशास्त्रानुसारेण अनुक्रमात् यथाक्रमं व्यव-  
हारान् पश्येत् ॥ ५ ॥

नैक इति । प्राज्ञः नृपः एकः एकाकी रहसि निर्जने  
वादिनोः कार्याणि कदाचन न पश्येत् वचश्च वचनञ्च न शृणु-  
यात्, सभ्याश्च न पश्येयुः नापि शृणुयुरित्यर्थः ॥ ६ ॥

पक्षेति । रागलोभभयद्वेषाः वादिनोः अर्थिप्रत्यर्थिनोः रहः-  
श्रुतिः विजने वाक्यश्रवणञ्च एतानि पञ्च पक्षपाताधिरोपस्य  
पक्षपातरूपदोषस्य कारणानि वैशब्दोऽवधारणे ॥ ७ ॥

पौरेति । यः राजा सुखे स्थितः सुखासक्तः सन् पौराणां

व्यक्तं स नरके घोरे पच्यते नात्र संशयः ॥८॥

यस्त्वधर्मेण कार्याणि मोहात् कुर्यान्नराधिपः ।

अचिरात् तं दुरात्मानं वशे कुर्वन्ति शत्रवः ॥९॥

अस्वर्गा लोकनाशाय परानीकभयावहा ।

आयुर्वीजहरी राज्ञामस्ति वाक्ये स्वयं कृतिः ॥१०॥

तस्माच्छास्त्रानुसारेण राजा कार्याणि साधयेत् ॥११॥

यदा न कुर्यान्नृपतिः स्वयं कार्यविनिर्णयम् ।

तदा तत्र नियुञ्जीत ब्राह्मणं वेदपारगम् ॥ १२ ॥

पुरवासिनां प्रजानामित्यर्थः कार्याणि न करोति, स व्यक्तं निश्चितं घोरे नरके पच्यते, अत्र संशयः नास्ति ॥ ८ ॥

य इति । यः नराधिपः मोहात् अज्ञानात् अधर्मेण कार्याणि कुर्यात्, शत्रवः अचिरात् तं दुरात्मानं वशे कुर्वन्ति ॥ ९ ॥

अस्वर्ग्येति । वाक्ये वादिनोर्वचने स्वयं कृतिः सम्भनिर-  
पेक्षेण स्वयं विचारदर्शनं राज्ञाम् अस्वर्गा अस्वर्गसाधनी तथा  
परानीकभयावहा परानीकेभ्यः शत्रुसैन्येभ्यः भयम् आवहतीति  
तथोक्ता शत्रुवृद्धिकरीत्यर्थः अतएव आयुर्वीजहरी आयुःक्षय-  
करीत्यर्थः सती लोकानां प्रजानां नाशाय अस्ति भवती-  
त्यर्थः ॥ १० ॥

तस्मादिति । तस्मात् राजा शास्त्रानुसारेण कार्याणि साध-  
येत् सम्पश्येत् ॥ ११ ॥

यदेति । दान्तमिति । यदा नृपतिः स्वयं न कुर्यात्, तदा  
तत्र कार्यविनिर्णये विषये वेदपारगं, दान्तं विनीतं, कुलीनं  
सत्कुलप्रसूतं मध्यस्थम् उदासीनम् अपक्षपातिनमित्यर्थः अनु-

दान्तं कुलीनं मध्यस्थमनुद्देगकरं स्थिरम् ।  
 परत्र भीरुं धर्मिष्ठमुद्युक्तं क्रोधवर्जितम् ॥१३॥  
 यदा विप्रो न विद्वान् स्यात् क्षत्रियं तत्र योजयेत् ।  
 वैश्यं वा धर्मशास्त्रज्ञं शूद्रं यत्नेन वर्जयेत् ॥१४॥  
 यद्वर्णजो भवेद्राजा योज्यस्तद्वर्णजः सदा ।  
 तद्वर्ण एव गुणिनः प्रायशः सम्भवन्ति हि ॥१५॥  
 व्यवहारविदः प्राज्ञा वृत्तशीलगुणान्विताः ।  
 रिपौ मित्रे समा ये च धर्मज्ञाः सत्यवादिनः ॥१६॥  
 निरालसा जितक्रोधकामलोभाः प्रियंवदाः ।  
 राज्ञा नियोजितव्यास्ते सभ्याः सर्वासु जातिषु ॥१७॥

द्देगकरं शान्तप्रकृतिं स्थिरम् अचञ्चलं परत्र भीरुं परलोकभय-  
 शीलं धर्मिष्ठं धार्मिकम् उद्युक्तं यत्नवन्तं तथा क्रोधवर्जितं  
 ब्राह्मणं नियुञ्जीत ॥ १२ ॥ १३ ॥

यदेति । यदा विद्वान् विप्रः ब्राह्मणः न स्यात् तदा तत्र  
 कार्यनिर्णये धर्मशास्त्रज्ञं क्षत्रियं वा वैश्यं योजयेत् नियुञ्ज्यात्,  
 शूद्रन्तु यत्नेन वर्जयेत् त्यजेत्, शूद्रो विचारदर्शने न नियोक्तव्य  
 इति भावः ॥ १४ ॥

यदिति । राजा यद्वर्णजः यस्मिन् वर्णे ब्राह्मणादौ जातः  
 भवेत्, तद्वर्णजः तस्मिन् वर्णे जातः ब्राह्मणादिः सदा तत्र योज्यः  
 नियोक्तव्यः, हि यतः तस्मिन् वर्णे एव प्रायशः बाहुल्येन गुणिनः  
 गुणवन्तः जनाः सम्भवन्ति जायन्ते ॥ १५ ॥

व्यवहारविद इति । निरालसा इति । सर्वासु जातिषु

कीनाशाः कारुकाः शिल्पिकुसीदिश्रेणिनर्त्तकाः ।  
 लिङ्गिनस्तस्कराः कुर्युः स्वेन धर्मेण निर्णयम् ॥ १८ ॥  
 अशक्यो निर्णयो ह्यन्यैस्तज्जैरेव तु कारयेत् ॥ १९ ॥  
 आश्रमेषु द्विजातीनां कार्य्ये विवदतां मिथः ।  
 न विब्रूयान्नृपो धर्मे चिकीर्षुर्हितमात्मनः ॥ २० ॥  
 तपस्विनां तु कार्य्याणि त्रैविद्यैरेव कारयेत् ।  
 मायायोगविदाञ्चैव न स्वयं कोपकारणात् ॥ २१ ॥

मध्ये ये जनाः व्यवहारविदः विचारदर्शनाभिज्ञाः प्राज्ञाः बुद्धि-  
 मन्तः वृत्तशीलगुणान्विताः सुचरित्राः सुखभावाश्च इत्यर्थः,  
 रिपौ शत्रौ मित्रे सुहृदि च समाः समदर्शिनः धर्मज्ञाः, सत्य-  
 वादिनः निरालसाः आलस्यवर्जिताः जितक्रोधकामलोभाः  
 कामक्रोधलोभविरहिता इत्यर्थः तथा प्रियंवदाः प्रियभाषिणः,  
 ते राज्ञा नियोक्तव्याः ॥ १६ ॥ १७ ॥

कीनाशा इति । कीनाशाः कृषीबलाः कारुकाः कर्मका-  
 विशेषाः शिल्पिनः कुसीदिनः वृद्धिजीविनः श्रेणयः निहृष्ट-  
 जातीनां सङ्घाः नर्त्तकाः नटजातयः लिङ्गिनः भण्डयोगिप्रध-  
 तयः तथा तस्कराः जातिविशेषाश्च स्वेन निजेन धर्मेण निर्णयं  
 स्वस्वजात्युक्तकार्य्यनिरूपणं कुर्युः ॥ १८ ॥

अशक्य इति । अन्यैः तत्तज्जात्युक्तधर्मानधिज्ञैः निर्णयः  
 अशक्यः कर्तुमिति शेषः, तस्मात् तज्जैः तदभिज्ञैरेव कार-  
 येत् कार्य्यनिर्णयं राजेति शेषः ॥ १९ ॥

आश्रमेष्विति । आत्मनः हितं चिकीर्षुः नृपः आश्रमेषु  
 ब्रह्मचर्यादिषु तिष्ठतामिति शेषः मिथः परस्परं कार्य्ये विवदतां

सम्यग्विज्ञानसम्पन्नो नोपदेशं प्रकल्पयेत् ।

उत्कृष्टजातिशीलानां गुर्वाचार्य्यतपस्विनाम् ॥२२॥

आरण्यास्तु स्वकैः कुर्य्युः सार्थिकाः सार्थिकैः सह ।

सैनिकाः सैनिकैरेव ग्रामेऽप्युभयवासिभिः ॥ २३ ॥

अभियुक्ताश्च ये यत्र यन्निबन्धनियोजनाः ।

तत्रत्यगुणदोषाणां त एव हि विचारकाः ॥२४॥

राजा तु धार्मिकान् सभ्यान् नियुञ्ज्यात् सुपरीक्षितान्

व्यवहारधुरं वोढुं ये शक्ताः पुङ्गवा इव ॥ २५ ॥

द्विजातीनां धर्मे विषये न विव्रयात् विरुद्धं न ब्रूयादित्यर्थः ॥२०॥

तपस्विनामिति । तपस्विनां मायायोगविदां मायिनां योगिनाञ्चेत्यर्थः कार्याणि त्रैविद्यैः त्रिवेदिभिः त्रयीविद्यापारौर्णैरित्यर्थः एव न त्वन्वैरित्यर्थः कारयेत्, कोपकारणात् यदि तेषां कोपो भवेदिति आलोचेत्यर्थः स्वयं न कुर्यादिति शेषः ॥२१॥

सम्यगिति । सम्यग् विज्ञानसम्पन्नः राजा उत्कृष्टजाति-  
शीलानाम् अत्युत्कर्षवतामित्यर्थः गुरुणाम् आचार्याणां तप-  
स्विनाञ्च उपदेशं न प्रकल्पयेत् न दद्यादित्यर्थः ॥ २२ ॥

आरण्या इति । अभियुक्ता इति । आरण्याः वन्याः किरा-  
तादयः स्वकैः आरण्यैः सार्थिकाः सन्भूयकारिणः सार्थिकैः,  
सैनिकाः सैनिकैश्च सह कार्यनिर्णयं कुर्य्युरित्यर्थः, किञ्च ग्रामे-  
ऽपि उभयवासिभिः उभयैः वासिभिः निवासिभिः यत्र विषये  
ये अभियुक्ताः तथा यन्निबन्धनियोजनाः यदर्थनियुक्ताः ते एव  
तत्रत्यानां गुणदोषाणां विचारकाः भवन्तीत्यर्थः ॥ २३ ॥ २४ ॥

राजेति । ये जनाः पुङ्गवाः वृषभा इव व्यवहारधुरं वोढुं

लोकवेदज्ञधर्मज्ञाः सप्त पञ्च त्रयोऽपि वा ।  
 यत्रोपविष्टा विप्राः स्युः सा यज्ञसदृशी सभा ॥२१॥  
 श्रोतारो वणिजस्तत्र कर्त्तव्याः सुविचक्षणाः ॥२२॥  
 अनियुक्तो नियुक्तो वा धर्मज्ञो वक्तुमर्हति ।  
 दैवीं वाचं स वदति यः शास्त्रमुपजीवति ॥२३॥  
 सभा वा न प्रवेष्टव्या वक्तव्यं वा समञ्जसम् ।  
 अब्रुवन् विब्रुवन् वापि नरो भवति किल्बिषी ॥२४॥

शक्ताः समर्थाः भवन्ति, राजा तान् धार्मिकान् सुपरीक्षितान्  
 सभ्यान् नियुञ्ज्यात् ॥ २५ ॥

लोकेति । यत्र सभायां सप्त पञ्च अपि वा अथवा त्रयः  
 लोकवेदज्ञधर्मज्ञाः लोकाचारज्ञाः वेदज्ञाः धर्मज्ञाश्च विप्रा  
 उपविष्टाः सा सभा यज्ञसदृशी यज्ञस्थानसमा अतिपवित्रा  
 इत्यर्थः ॥ २६ ॥

श्रोतार इति । तत्र विचारदर्शनस्थाने सुविचक्षणाः वणिजः  
 श्रोतारः कर्त्तव्याः नियुक्तव्या इत्यर्थः, ते हि यथा स्वर्णादि-  
 परीक्षकाः तथा कार्यनिर्णयस्यापि परीक्षका भवन्तीति  
 भावः ॥ २७ ॥

अनियुक्त इति । धर्मज्ञः धर्मशास्त्रज्ञः जनः अनियुक्तः  
 नियुक्तः वा वक्तुमर्हति, यतः यः शास्त्रम् उपजीवति शास्त्रमनु-  
 सृत्य चलतीत्यर्थः सः दैवीं वाचं देववाणीं वदति, तद्वाक्ये अ-  
 सत्यतायाः असम्भवादिति भावः ॥ २८ ॥

सभेति । सभा विचारसभा न प्रवेष्टव्या वा, समञ्जसं तत्र  
 वा सत्यमेव वक्तव्यं यदि प्रविशति सभायाप्तिरिति शेषः । अब्रुवन्

राज्ञा ये विदिताः सम्यक् कुलश्रेणिगणादयः ।  
 साहसस्तेयवर्ज्यानि कुर्युः कार्य्याणि ते नृणाम् ॥ ३० ॥  
 विचार्य्य श्रेणिभिः कार्य्यं कुलैर्यन्न विचारितम् ।  
 गणैश्च श्रेण्यविज्ञातं गणाज्ञातं नियुक्तकैः ॥ ३१ ॥  
 कुलादिभ्योऽधिकाः सभ्यास्तेभ्योऽध्यक्षोऽधिकः कृतः  
 सर्वेषामधिको राजा धर्माधर्मनियोजकः ॥ ३२ ॥  
 उत्तमाधममध्यानां विवादानां विचारणात् ।  
 उपर्युपरि बुद्धीनां चरन्तीष्वरबुद्धयः ॥ ३३ ॥

ज्ञात्वेति शेषः वा विब्रुवन् विरुद्धं ब्रुवनित्यर्थः नरः किल्बिषी-  
 पापी भवति ॥ २८ ॥

राज्ञेति । ये कुलानि श्रेण्यः गणादयश्च राज्ञा सम्यक्  
 विदिताः न्यायपरायणत्वेन विज्ञाताः, ते नृणां मानवानां  
 तज्जातीयानामित्यर्थः साहसस्तेयवर्ज्यानि दस्युताचौर्य्यव्यति-  
 रिक्तानि कार्य्याणि कुर्युः ॥ ३० ॥

विचार्य्येति । कुलैः प्रथमविचारनियुक्तैः जातिविशेषैः यत्  
 कार्य्यं न विचारितं सिद्धान्तितं, तत् श्रेणिभिः तत्परवर्त्तिभिः  
 विचारकैः जातिविशेषैः विचार्य्यम् । श्रेणिभिः अविज्ञातम्  
 अविदितं कार्य्यं गणैश्च तदुत्तरविचारदर्शिभिः जातिविशेषैः  
 विचार्य्यं, गणाज्ञातं गणैरज्ञातन्तु नियुक्तकैः राजनियुक्तकैः  
 प्राड्विवाकादिभिः विचार्य्यमित्यर्थः ॥ ३१ ॥

कुलादिभ्य इति । उत्तमेति । सभ्याः विचारनियुक्ताः पुरुषाः  
 कुलादिभ्यः अधिकाः श्रेष्ठाः, अध्यक्षः प्रधानविचारपतिः तेभ्यः  
 सभ्येभ्यः अधिकः स्मृतः । धर्माधर्मनियोजकः धर्माधर्मनियन्ता

एकं शास्त्रमधीयानो न विन्द्यात् कार्य्यनिर्णयम् ।  
 तस्माद् बह्वागमः कार्य्यो विवादेषूत्तमो नृपैः ॥३॥  
 स ब्रूते यं धर्मः स्यादेको वाध्यात्मचिन्तकः ॥३५॥  
 एकद्वित्रिचतुर्वारं व्यवहारानुचिन्तनम् ।  
 कार्य्यं पृथक् पृथक् सभ्यै राज्ञा श्रेष्ठोत्तरैः सह ॥३॥  
 अर्थिप्रत्यर्थिनौ सभ्यान् लेखकप्रेक्षकांश्च यः ।  
 धर्मवाक्यै रञ्जयति स सभास्तारतामियात् ॥३७॥

राजा तु उत्तमाधममध्यानाम् उत्तमानाम् अधमानां मध्यमा-  
 नाञ्च विवादानां विचारणात् सर्वेषाम् अधिकः श्रेष्ठतमः, यत्  
 ईश्वरबुद्धयः प्रभूणां मतयः बुद्धीनां सामान्यजनधियाम् उपरि  
 उपरि चरन्ति ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

एकमिति । एकम् एकमात्रं शास्त्रम् अधीयानः पठन्  
 जनः कार्य्यनिर्णयं न विन्द्यात् न जानीयात्, तस्मात् नृपैः  
 विवादेषु विषयेषु बह्वागमः बहुशास्त्रदर्शनमित्यर्थः कार्य्यः ॥३४॥

स इति । यस्तु अध्यात्मचिन्तकः आत्मतत्त्वज्ञानज्ञान, स  
 एकः एकाकी यं धर्मं ब्रूते स वा स एव धर्मं स्यात् ॥ ३५ ॥

एकेति । राज्ञा श्रेष्ठोत्तरैः श्रेष्ठेषु प्रधानैः सभ्यैः सह पृथक्  
 पृथक् एकद्वित्रिचतुर्वारम् एकवारं द्विवारं त्रिवारं चतुर्वारं वा  
 कार्य्यगौरवलाघवापेक्षयेति भावः व्यवहारस्य अनुचिन्तनं  
 तत्त्वनिर्णय इत्यर्थः कार्य्यम् ॥ ३६ ॥

अर्थीति । यः विचारपतिः अन्यो वा सभ्यः अर्थिप्रत्यर्थिनौ  
 वादिप्रतिवादिनौ सभ्यान् लेखकान् प्रेक्षकान् दर्शकांश्च धर्म-  
 वाक्यैः रञ्जयति प्रीणयति सः सभास्तारतां सभाः तारयति

नृपोऽधिकृतसभ्याश्च स्मृतिर्गणकलेखकौ ।

हेमान्यस्वस्वपुरुषाः साधनाङ्गानि वै दश ॥३८॥

एतद्दशाङ्गकरणं यस्यामध्यास्य पार्थिवः ।

न्यायान् पश्येत् कृतमतिः सा सभाध्वरसन्निभा ॥३९॥

दशानामपि चैतेषां कर्म प्रोक्तं पृथक् पृथक् ।

वक्ताध्यक्षो नृपः शास्ता सभ्याः कार्य्यपरीक्षकाः ॥४०॥

स्मृतिर्विनिर्णयं ब्रूते जपं दानं दमं तथा ॥४१॥

पापात् मोचयतीति सभास्तारः अलुक् उपपदसमासः । तस्य भावः ताम् इयात् प्राप्नुयात् ॥ ३७ ॥

नृप इति । नृपः, अधिकृतसभ्याः, स्मृतिः धर्मशास्त्रं, गणकः, लेखकः, हेम काञ्चनम्, अग्निः, अम्बुं जलं स्वं धनं, पुरुषः स्वरूपः एतानि दश साधनस्य कार्य्यनिर्वाहस्य अङ्गानि साधकानीत्यर्थः ॥ ३८ ॥

एतदिति । कृतमतिः मार्जितबुद्धिः पार्थिवश्च यस्यां सभायाम् एतत् पूर्वोक्तं दशाङ्गकरणम् अङ्गदशकरूपं साधनम् अध्यास्य आश्रित्य न्यायान् विचारान् पश्येत्, सा सभा अध्वरसन्निभा यज्ञसदृशी ॥ ३९ ॥

दशानामिति । एतेषां दशानाञ्च पृथक् पृथक् कर्म प्रोक्तम् । अध्यक्षः अधिकृतः पुरुषः वक्ता कार्य्यनिर्णयस्य प्रकाशकः, नृपः शास्ता शासकः, तथा सभ्याः कार्य्यस्य परीक्षकाः ॥ ४० ॥

स्मृतिरिति । स्मृतिः धर्मसंहिता विनिर्णयं कार्य्यनिश्चयं, जपं मन्त्रजपं, दानं, तथा दमम् इन्द्रियादिनिग्रहम् ब्रूते उपदिशति ॥ ४१ ॥

शपथार्थे हिरण्याग्नी अम्बु तृषितक्षुब्धयोः ।  
 गणको गणयेदर्थं लिखेन्न्याय्यं च लेखकः ॥४२॥  
 शब्दाभिधानतत्त्वज्ञौ गणनाकुशलौ शुची ।  
 नानालिपिज्ञौ कर्त्तव्यौ राज्ञा गणकलेखकौ ॥४३॥  
 धर्मशास्त्रानुसारेण ह्यर्थशास्त्रविवेचनम् ।  
 अत्राधिक्रियते स्थाने धर्माधिकरणं हि तत् ॥४४॥  
 व्यवहारान् दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः ।  
 मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत् सभाम् ॥४५॥  
 धर्मासनमधिष्ठाय कार्य्यदर्शनमारभेत् ।

शपथार्थे इति । शपथार्थे दिव्यकरणार्थं हिरण्यम् अग्नि-  
 साधनम् अम्बु जलं तृषितक्षुब्धयोः तृष्णात्तस्य क्षुब्धस्य वायुरो-  
 ग्रस्तस्य साधनम् । गणकः अर्थं कार्य्यस्य शुभाशुभं गणयेत्  
 लेखकश्च न्याय्यं प्रकृतं विषयं लिखेत् ॥ ४२ ॥

शब्देति । शब्दाभिधानतत्त्वज्ञौ शब्दतत्त्वज्ञौ अर्थतत्त्वज्ञौ  
 चेत्यर्थः गणनायां कुशलौ निपुणौ शुची निर्दोषौ नानालिपिज्ञौ  
 विविधलेखनविज्ञौ गणकलेखकौ कर्त्तव्यौ नियोक्तव्यौ ॥ ४३ ॥

धर्मेति । यत्र स्थाने धर्मशास्त्रानुसारेण अर्थशास्त्राणां विवे-  
 चनम् अधिक्रियते अधिकं यथा तथा क्रियते, तत् हि तदे-  
 धर्माधिकरणम् ॥ ४४ ॥

व्यवहारानिति । व्यवहारान् दिदृक्षुः द्रष्टुमिच्छुः पार्थिव-  
 विनीतः सन् मन्त्रज्ञैः मन्त्रणाकुशलैः ब्राह्मणैः मन्त्रभिश्च स-  
 सभां प्रविशेत् ॥ ४५ ॥

धर्मासनमिति । राजा धर्मासनं विचारासनम् अधिष्ठा-

पूर्वोत्तरसमो भूत्वा राजा पृच्छेद् विवादिनौ ॥४६॥

प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः ।

जातिजानपदान् धर्मान् श्रेणिधर्मास्तथैव च ।

समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपालयेत् ॥४७॥

देशजातिकुलानां च ये धर्माः प्राक् प्रवर्त्तिताः ।

तथैव ते पालनीयाः प्रजा प्रक्षुभ्यतेऽन्यथा ॥४८॥

उदूह्यते दाक्षिणात्यैर्मातुलस्य सुता द्विजैः ।

मध्यदेशे कर्मकराः शिल्पिनश्च गवाशिनः ॥ ४९ ॥

कार्यदर्शनम् आरभेत् । पूर्वोत्तरसमः अर्थिप्रत्यर्थिषु समदर्शी  
भूत्वा विवादिनौ अर्थिप्रत्यर्थिनौ पृच्छेत् ॥ ४६ ॥

प्रत्यहमिति । प्रत्यहं प्रतिदिनं देशदृष्टैः लौकिकैरित्यर्थः  
शास्त्रदृष्टैः शास्त्रीयैश्च हेतुभिः जातिजानपदान् जातीयान्  
जानपदान् देशिकांश्चेत्यर्थः धर्मान् श्रेणीनां धर्मान् कुलधर्मांश्च  
समीक्ष्य सम्यक् दृष्ट्वा स्वधर्मं राजधर्मं विचारदर्शित्वरूपं प्रति-  
पालयेत् ॥ ४७ ॥

देशेति । देशानां जातीनां कुलानाञ्च ये धर्माः प्राक् पूर्वं  
प्रवर्त्तिताः प्रचलिताः, ते तथैव पूर्ववदेव पालनीयाः रक्षणीयाः,  
अन्यथा तदपालने इत्यर्थः प्रजा प्रक्षुभ्यते प्रकर्षेण क्षोभं  
प्राप्नोति ॥ ४८ ॥

उदूह्यते इति । दाक्षिणात्यैः दक्षिणदिग्वासिभिः द्विजैः  
मातुलस्य सुता उदूह्यते परिणीयते, मध्यदेशे च कर्मकराः  
कर्माः शिल्पिनश्च सूत्रधरादयः गवाशिनः गोखादकाः ॥४९॥

मत्स्यादाश्च नराः सर्वे व्यभिचाररताः स्त्रियः ।  
 उत्तरे मद्यपा नार्यः स्पृष्ट्या नृणां रजस्वलाः ॥५०॥  
 खशजाताः प्रगृह्णन्ति भ्रातृभार्यामभर्तृकाम् ।  
 अनेन कर्मणा नैते प्रायश्चित्तदमार्हकाः ॥५१॥  
 येषां परम्पराप्राप्ताः पूर्वजैरप्यनुष्ठिताः ।  
 त एव तैर्न दुष्येयुराचाराद्भेतरस्य तु ॥५२॥  
 परस्त्रीधनसंलुब्धा मद्यासक्तरताः कलौ ।  
 विज्ञानलवदुर्दग्धाः प्रायः श्रीसंयुताश्च ये ॥५३॥

मत्स्यादाश्चेति । उत्तरे देशे सर्वे नराः मत्स्यादाः मत्-  
 स्याशिनः, स्त्रियः व्यभिचाररताः यथेच्छं पुरुषान्तरगामिन्य-  
 इत्यर्थः, मद्यपाः सुरापायिन्यः, तथा रजस्वलाः ऋतुमत्यः अपि  
 नृणां स्पृष्ट्याः स्पर्शनीयाः ॥ ५० ॥

खशेति । खशजाताः खशजातीयः नराः अभर्तृकां विधवां  
 भ्रातृभार्यां प्रगृह्णन्ति परिणयन्ति, अनेन कर्मणा भ्रातृभार्या-  
 परिणयेन एते खशाः न प्रायश्चित्तदमार्हकाः न प्रायश्चित्तं  
 नापि दमं दण्डम् अर्हन्तीत्यर्थः ॥ ५१ ॥

येषामिति । येषां जातीयानां देशानाञ्च कुलानाञ्च ये  
 परम्पराप्राप्ताः चिरं प्रचलिताः धर्माः पूर्वजैः पूर्वपुरुषैः अनु-  
 ष्ठिताः, ते धर्माः तैः तथैव अनुष्ठेया इति पूरयित्वा व्याख्येयम्,  
 अतः इतरस्य अपरस्य आचरान् न दुष्येयुः न दूषितान् कुर्यु-  
 रित्यर्थः राजान इति शेषः ॥ ५२ ॥

परस्त्रीति । तन्नेति । कलौ ये श्रीसंयुताः श्रीमन्तः, ते  
 प्रायः बाहुल्येन सदा परस्त्रीधनसंलुब्धाः परस्त्रीषु परधनेषु च

तन्त्रकर्मरता वेदविमुखाः स्युः सदैव हि ।  
 महादण्डेन चैतेषां कुर्यात् संसाधनं नृपः ॥५४॥  
 न्यायान् पश्येत्तु मध्याह्ने पूर्वाह्ने स्मृतिदर्शनम् ।  
 मनुष्यमारणे स्तेये साहसेऽत्ययिके सदा ॥५५॥  
 न कालनियमस्तत्र सद्य एव विवेचनम् ॥५६॥  
 धर्मासनगतं दृष्ट्वा राजानं मन्त्रिभिः सह ।  
 गच्छेन्निवेद्यमानं यत् प्रतिरुद्धमधर्मतः ॥५७॥  
 यथा सत्यं चिन्तयित्वा लिखित्वा च समाहितः ।  
 नत्वा च प्राञ्जलिः प्रह्वो ह्यर्थी कार्य्यं निवेदयेत् ॥५८॥

सम्यक् लुब्धाः, मद्यासक्तारताः सुरापानसक्ताः, विज्ञानलवेन  
 ज्ञानलेशेन दुर्दग्धाः गर्विताः, तन्त्रकर्मणि तन्त्रोक्तकार्य्येषु रताः,  
 तथा वेदविमुखाः वेदवाह्यधर्मावलम्बिनः स्युः भवेयुः । नृपः  
 महादण्डेन एतेषां संसाधनं सम्यक् दण्डं कुर्यात् ॥५३॥५४॥

न्यायानिति । नेति । मध्याह्ने न्यायान् विचारान्, पश्येत्  
 पूर्वाह्ने स्मृतिदर्शनं स्मृतीनां धर्मशास्त्राणां दर्शनं पर्यालोचनं  
 कुर्यात् । मनुष्यमारणे नरहत्यायां, स्तेये चौर्य्ये, साहसे दस्यु-  
 कर्मणि, अत्ययिके नाशजनके अन्यस्मिन् व्यापारे च सदा  
 पूर्वाह्ने मध्याह्ने सायाह्ने वा रात्रौ इत्यर्थः न्यायान् पश्येत् । तत्र  
 कालनियमः नास्ति, सद्य एव विवेचनं विचारः कर्त्तव्य इति  
 शेषः ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

धर्मासनगतमिति । यथेति । धर्मासनगतं विचारासनोप-  
 विष्टं मन्त्रिभिः सह परिवृतं राजानं दृष्ट्वा अर्थी गच्छेत् तत्-

यथार्हमेनमभ्यर्च्य ब्राह्मणैः सह पार्थिवः ।

सान्त्वेन प्रशमय्यादौ स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥५८॥

काले कार्य्यार्थिनं पृच्छेत् प्रणतं पुरतः स्थितम् ।

किं कार्य्यं का च ते पौंडा मा भैषीर्ब्रूहि मानव ! ॥६०॥

केन कस्मिन् कदा कस्मात् पौडितोऽसि दुरात्मना ।

एवं पृष्ट्वा स्वभावोक्तं तस्य संशृणुयाद् वचः ॥६१॥

प्रसिद्धलिपिभाषाभिस्तदुक्तं लेखको लिखेत् ॥६२॥

मन्निधिमिति शेषः, गत्वा च अधर्मतः अधर्मात् प्रतिकुलं निवृ-  
त्तम् अधर्मरहितमित्यर्थः निवेद्यमानं यत् वस्तु, तत् यथासत्त्वं  
चिन्तयित्वा समाहितः अवहितमनाः लिखित्वा च नत्वा च  
प्राञ्जलिः कृताञ्जलिः तथा प्रह्वः नम्रः सन् कार्य्यं निवेदयेत् ॥  
५७ ॥ ५८ ॥

यथार्हमिति । पार्थिवः ब्राह्मणैः सभ्यैः सह एनम् अर्थिनं  
यथार्हं यथायोग्यम् अभ्यर्च्य समान्य सान्त्वेन सान्त्वनादेन आदौ  
प्रशमय्य प्रबोध्य आश्वास्य इत्यर्थः स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥ ५८ ॥

काले इति । काले यथासमये प्रणतं पुरतः अग्रतः स्थितं  
कार्य्यार्थिनं पृच्छेत्, हे मानव ! किं कार्य्यं ते तव पौंडा च का,  
मां भैषीः, ब्रूहि वद ॥ ६० ॥

केनेति । कस्मिन् स्थाने कदा कस्मिन् समये केन दुरात्मना  
कस्मात् कारणात् पौडितोऽसि, एवं पृष्ट्वा तस्य वादिनः स्वभा-  
वोक्तं नतु काल्पनिकमित्यर्थः वचः वचनं संशृणुयात् ॥ ६१ ॥

प्रसिद्धेति । लेखकः तदुक्तं तेन वादिना उक्तं कथितं प्रसि-  
द्धाभिः चलिताभिः लिपिभिः अक्षरैः भाषाभिश्च लिखेत् ॥ ६२ ॥

अन्यदुक्तं लिखेदन्यदोऽर्थिप्रत्यर्थिनां वचः ।

चौरवत् वासयेद्राजा लेखकं द्रागतन्दितः ॥६३॥

लिखितं तादृशं सभ्या न विब्रूयुः कदाचन ।

बलाद् गृह्णन्ति लिखितं दण्डयेत् तांस्तु चौरवत् ॥६४॥

प्राड्विवाको नृपाभावे पृच्छेदेवं सभागतम् ॥६५॥

वादिनौ पृच्छति प्राड्वा विवाको विविनक्तयतः ।

विचारयति सभ्यैर्वा धर्माधर्मान् विवक्ति वा ॥६६॥

सभायां ये हिता योग्याः सभ्यास्ते चापि साधवः ॥६७॥

अन्यदुक्तमिति । यः लेखकः अर्थिनां प्रत्यर्थिनाञ्च अन्यत् उक्तं वचः वाक्यम् अन्यत् अन्यथेत्यर्थः लिखेत्, राजा अतन्दितः अनलसः क्षिप्रकारीत्यर्थः सन् तं लेखकं द्राक् भटिति चौरवत् शासयेत् दण्डयेत् ॥ ६३ ॥

लिखितमिति । सभ्याश्च तादृशं लिखितं कदाचन न विब्रूयुः न अनुमोदेरन्नित्यर्थः यदि ते सभ्या तादृशं लिखितं बलात् बलमाश्रित्य इत्यर्थः गृह्णन्ति तांस्तु तांश्च चौरवत् दण्डयेत् ॥६४॥

प्राड्विवाक इति । प्राड्विवाकः विचारपतिः नृपस्य अभावे सभागतम् अर्थिनम् एवं पूर्ववत् पृच्छेत् ॥ ६५ ॥

वादिनाविति । वादिनौ अर्थिप्रत्यर्थिनौ पृच्छतीति प्राड्, विविनक्ति विचारयतीति विवाकः, अतः असौ विचारपतिः प्राड्विवाक इत्यर्थः । सः वा स एव राजाभावे इत्यर्थः सभ्यैः सह धर्माधर्मान् विचारयति वा विवक्ति विशेषेण वदति ॥६६॥

सभायामिति । सभायां ये हिताः योग्याः कर्मदक्षाः साधवः सुजनाः सभ्याः, ते च कार्यं पश्येयुरिति शेषः ॥ ६७ ॥

स्मृत्याचारव्यपेतेन मार्गेणाधर्षितः परैः ।

आवेदयति चेद्राज्ञे व्यवहारपदं हि तत् ॥ ६८ ॥

नोत्पादयेत् स्वयं कार्य्यं राजा नाप्यस्य पुरुषः ।

न रागेण न लोभेन न क्रोधेन ग्रसेन्नृपः ।

परैरप्रापितानर्थान्न चापि स्वमनीषया ॥ ६९ ॥

कुलानि चापराधांश्च पदानि नृपतेस्तथा ।

स्वयमेतानि गृह्णीयान्नृपस्त्वावेदकैर्विना ।

सूचकस्तोभकाभ्यां वा श्रुत्वा चैतानि तत्त्वतः ॥ ७० ॥

शास्त्रेणानिन्दितस्त्वर्थी नापि राज्ञा प्रचोदितः ।

स्मृतीति । स्मृतिः धर्मशास्त्रम् आचारः सज्जनानुष्ठितः व्यवहारः तद्व्यपेतेन तद्विरुद्धेन मार्गेण यथा कार्य्येणेत्यर्थः परैः अन्यैः आधर्षितः पीडितः जनः चेत् यदि राज्ञे आवेदयति तत् आवेदनं व्यवहारपदं विवादस्थानं हि हिशब्दोऽवधारणार्थः ॥ ६८

नोत्पादयेदिति । राजा स्वयं न, अस्य राज्ञः पुरुषोऽपि न कार्य्यम् उत्पादयेत् विवादं न घटयेदित्यर्थः । किञ्च नृपः रागेण कस्मिन्नपि अनुरागेण न, लोभेन न, क्रोधेन च न ग्रसेत् पीडयेत् कमपीति शेषः । अपरञ्च परैः अर्थिप्रत्यर्थिप्रभृतिभिः अप्रापितान् अनावेदितान् अर्थान् कार्य्याणि स्वमनीषया निजबुद्ध्या न उत्पादयेदिति शेषः ॥ ६९ ॥

कुलानीति । नृपः आवेदकैः निवेदकैः विना निवेदनमन्तरिणेत्यर्थः, स्वयं कुलानि अपराधान् तथा नृपतेः स्वस्य पदानि विवादस्थानानि, तथा सूचकस्तोभकाभ्यां श्रुत्वा एतानि तदुक्तानि तत्त्वतः याथार्थ्येन गृह्णीयात् ॥ ७० ॥

आवेदयन्ति यत् पूर्वं स्तोभकः स उदाहृतः ॥७१॥  
 नृपेण विनियुक्तो यः परदोषानुवीक्षणे ।  
 नृपं संसूचयेज्ज्ञात्वा सूचकः स उदाहृतः ॥७२॥  
 पथिभङ्गी पराक्षेपी प्राकारोपरि लङ्घकः ।  
 निपानस्य विनाशी च तथा चायतनस्य च ॥७३॥  
 परिखापूरकश्चैव राजच्छिद्रप्रकाशकः ।  
 अन्तःपुरं वासगृहं भाण्डागारं महानसम् ॥७४॥  
 प्रविशत्यनियुक्तो यो भोजनञ्च निरीक्षते ।  
 विण्मूत्रश्लेष्मवातानां क्षेप्ता कामान्नृपाग्रतः ॥७५॥

स्तोभकं लक्षयति शास्त्रेणेति । यः शास्त्रेण अनिन्दितः  
 तथा राज्ञा प्रचोदितश्च न, किन्तु पूर्वम् आवेदयति ज्ञापयति  
 सः अर्थी स्तोभक उदाहृतः ख्यातः ॥ ७१ ॥

सूचकं लक्षयति नृपेणेति । यः परदोषानुवीक्षणे परदोष-  
 दर्शनार्थं नृपेण राज्ञा विनियुक्तः सन् नृपं संसूचयेत् नृपसमीपे  
 परदोषान् प्रकाशयेत् स सूचकः उदाहृतः ॥ ७२ ॥

सम्प्रति पञ्चाशच्छ्लान्याह पथीत्यादि । पथिभङ्गी रथ्या-  
 भङ्गकरः १, पराक्षेपी परस्य अन्यस्य आक्षेपकारी अव-  
 माननाकरः २, प्राकारस्य उपरि लङ्घकः प्राचीरलङ्घनकारी ३,  
 निपानस्य पानशालायाः तथा आयतनस्य आवासस्य विनाशी  
 नाशकः ४ । ५, परिखाणां नगरवेष्टनीभूतजलाधारस्य पूरकः  
 मृत्तिकाक्षेपादिति शेषः ६, राज्ञः छिद्रस्य दोषस्य प्रकाशकः ७,  
 यश्च अनियुक्तः अननुमतः सन् अन्तःपुरं वासगृहं भाण्डागारं  
 धनगृहं वा महानसं रन्धनशालां प्रविशति ८ । ९ । १० । ११,

पर्यङ्कासनबन्धी चाप्यग्रस्थानविरोधकः ।

नृपातिरिक्तवेशश्च विधृतः प्रविशेत्तु यः ॥ ७६ ॥

यश्चापद्वारेण विशेदवेलायां तथैव च ।

शय्यासने पादुके च शयनासनरोहणे ॥ ७७ ॥

राजन्यासन्नशयने यस्तिष्ठति समीपतः ।

राज्ञो विद्विष्टसेवी चाप्यदत्तविहितासनः ॥ ७८ ॥

अन्यवस्त्राभरणयोः स्वर्णस्य परिधायकः ।

स्वयंग्राहेण ताम्बूलं गृहीत्वा भक्षयेत्तु यः ॥ ७९ ॥

यश्च भोजनं निरीक्षते भोजनदर्शनस्य निषिद्धत्वादिति भावः १२, विण्मूत्रश्लेष्मवातानां विष्टामूत्रश्लेष्मणाम् अधोवातानाञ्च कामात् क्षेप्ता प्रयोप्ता १३ । १४ ॥ १५ । १६, नृपस्य अग्रतः समक्षं पर्यङ्कासनबन्धी वीरासनोपविष्टः १७, अग्रस्थानस्य सम्मुख-स्थानस्य विरोधकारी १८, नृपातिरिक्तवेशः राजाधिकवेश-धरः १९, तथा यः विधृतः विशेषेण धृतः नतु नियोगमात्रेणेति भावः प्रविशेत् प्रभुसन्निधिमिति शेषः २०, यश्च अपद्वारेण द्वारव्यतिरिक्तेन मार्गेणेत्यर्थः तथा अवेलायाम् अयथासमवे-इत्यर्थः विशेत् परगृहमिति शेषः २१ । २२, शय्यासने शय्या-याम् आसने च तथा पादुके इति नपुंसकनिर्देश आर्षः । पादु-कायामित्यर्थः शयनासनरोहणे शयने आसने उपवेशने रोहणे पादस्पर्शने च सर्वत्र परकीये इति बोद्धव्यम् अननुमत्या तत्तत्-कारीत्यर्थः २३ । २४ । २५, यश्च आसन्नशयने शयनारूढे रात्रि-समीपतः सत्सन्निधौ तिष्ठति २६, राज्ञः विद्विष्टसेवी शत्रुसेवक-२७, अदत्तं विहितं गृहीतम् आसनम् अवस्थानं येन तथोक्तं

अनियुक्तप्रभाषी च नृपाक्रोशक एव च ।

एकवासास्तथाभ्यक्तो मुक्तकेशोऽवकुण्ठितः ॥ ८० ॥

विचित्रिताङ्गः स्रग्वी च परिधानविधूनकः ।

शिरःप्रच्छादकश्चैव छिद्रान्वेषणतत्परः ॥ ८१ ॥

आसङ्गी मुक्तवेशश्च घ्राणकर्णाक्षिदर्शकः ।

दन्तोल्लेखनकश्चैव कर्णनासाविशोधकः ।

राजः समीपे पञ्चाशच्छलान्येतानि सन्ति हि ॥ ८२ ॥

आज्ञोल्लङ्घनकारित्वं स्त्रीवधो वर्णसङ्करः ।

अननुमत्या परगृहस्थायीत्यर्थः २८, अन्यस्य वस्त्राभरणयोः  
स्वर्णस्य च परिधायकः २९ । ३० । ३१, यश्च स्वयंग्राहेण  
वलेन तास्त्रूलं परकीयमिति भावः गृहीत्वा भक्षयेत् ३२,  
अनियुक्तः सन् प्रभाषी वक्ता ३३, नृपाक्रोशकः राजनिन्दकः ३४,  
एकवासाः एकवस्त्रः ३५, अभ्यक्तः तैलाक्तदेहः ३६, मुक्तकेशः  
अबद्धशिराः ३७, अवकुण्ठितः ३८, विचित्रिताङ्गः चित्रित-  
शरीरः ३९, स्रग्वी ४०, परिधानस्य परिधेयवसनस्य विधूनकः  
कम्पकः ४१, शिरःप्रच्छादकः अवगुण्ठितः ४२, छिद्रान्वेषण-  
तत्परः, परदोषानुसन्धायी ४३, आसङ्गी व्यसनासक्तः ४४,  
मुक्तवेशः त्यक्तपरिच्छदः ४५, घ्राणकर्णाक्षिदर्शकः नासाकर्ण-  
नेत्राणां प्रदर्शनकारी ४६ । ४७ । ४८, दन्तोल्लेखनकः दन्ता-  
नाम् उल्लेखनकारी ४९, तथा कर्णनासाविशोधकः ५०, राजः  
समीपे एतानि पञ्चाशत् कलानि दोषाः सन्ति हि शब्दोऽवधार-  
णार्थः ॥ ७३—८२ ॥

आज्ञेति । वागिति । आज्ञाया उल्लङ्घनकारित्वम् आज्ञा-

परस्त्रीगमनं चौर्यं गर्भश्चैव पतिं विना ॥८३॥  
 वाक्पारुष्यमवाच्याद्यं दण्डपारुष्यमेव च ।  
 गर्भस्य पातनं चैवेत्यपराधा दशैव तु ॥८४॥  
 उत्कृती शस्यघाती चाप्यग्निदश्च तथैव च ।  
 राज्ञो द्रोहप्रकर्त्ता च तन्मुद्राभेदकस्तथा ॥८५॥  
 तन्मन्त्रस्य प्रभेत्ता च बहस्य च विमोचकः ।  
 अस्वामिविक्रयं दानं भागं दण्डं विचिन्वति ॥८६॥  
 पटहाघोषणाच्छादी द्रव्यमस्वामिकञ्च यत् ।  
 राजावलीढद्रव्यं च यच्चैवाङ्गविनाशनम् ॥८७॥  
 द्वाविंशतिपदान्याहुर्नृपज्ञेयानि पण्डिताः ॥८८॥

लङ्घनं १, स्त्रीबधः २, वर्णसङ्करः ३, परस्त्रीगमनं ४, चौर्यं ५,  
 पतिं विना गर्भः अन्येनेति भावः ६, वाक्पारुष्यं ७, अवाच्या-  
 द्यम् अवक्तव्यवाक्यप्रयोगादि ८, दण्डपारुष्यं प्रहारः ९, गर्भस्य  
 पातनञ्च १०, एते दश अपराधाः ॥ ८३ ॥ ८४ ॥

उत्कृतीत्यादि । उत्कृती उद्देजकः १, शस्यघाती शस्त्र-  
 नाशकः २, अग्निदः गृहादिषु अग्निदायी ३, राज्ञः द्रोहकर्त्ता  
 अनिष्टकारकः ४, तन्मुद्राभेदकः तस्य राज्ञः मुद्राभेदकः चिह्न-  
 नाशकः ५, तस्य मन्त्रस्य प्रभेत्ता प्रकाशकः ६, बहस्य कारा-  
 स्थितस्य विमोचकः विमोचनकारी ७, यः अस्वामिविक्रयं  
 स्वामिशून्यस्य द्रव्यस्य विक्रयं दानं भागं दण्डञ्च विचिन्वति  
 अन्विच्छति सः ८, पटहेन वाद्यविशेषेण यत् आघोषणं तस्य  
 आच्छादी गोपनकारकः, ९, एतेषां कार्याणीति शेषः किञ्च

उद्धतः क्रूरवाग्वेशो गर्वितश्चण्ड एव हि ।

सहासनश्चातिमानी वादी दण्डमवाप्नुयात् ॥८८॥

अर्थिना कथितं राज्ञे तदावेदनसंज्ञकम् ।

कथितं प्राड्विवाकादौ सा भाषाखिलबोधिनी ८०

स पूर्वपक्षः सभ्यादिस्तं विमृश्य यथार्थतः ।

अर्थितः पूरयेद्दीनं तत्साध्यमधिकं त्यजेत् ॥८१॥

वादिनश्चिह्नितं साध्यं कृत्वा राजा विमुद्रयेत् ॥८२॥

अस्वामिकं द्रव्यं १०, राजावलीढद्रव्यं राजग्रस्तम् अन्यस्वामिकं द्रव्यमित्यर्थः ११, तथा अङ्गविनाशनम् अङ्गहानिकरणम् १२, एतानि पूर्वोक्तदशापराधसहितानि द्वाविंशतिपदानि विवादस्थानानि नृपेण ज्ञेयानि इति पण्डिताः आहुः कथयन्ति ॥ ८५ ॥ ८६ ॥ ८७ ॥ ८८ ॥

उद्धत इति । वादी उद्धतः कर्कशः, क्रूरवाक् निष्ठुरभाषी, क्रूरवेशः निष्ठुरकार्यकरणोपयोगिवेशः, गर्वितः चण्डः कोपनः सहासनः विचारपतिना सहासनोपविष्टः, अतिमानी च चेत् तदा दण्डम् अवाप्नुयात् ॥ ८८ ॥

अर्थिनेति । स इति । अर्थिना राज्ञे यत् कथितं तत् आवेदनसंज्ञकम् आवेदनमिति कथितमित्यर्थः, प्राड्विवाकादौ कथितं यत् सा अखिलबोधिनी समग्रप्रबोधिका भाषा । स पूर्वपक्षश्च उच्यते इति शेषः । सभ्यादिः विचारालयनियुक्तः, पुरुषादिः अर्थितः प्रार्थितः सन् अर्थिनेति शेषः तं पूर्वपक्षं यथार्थतः विमृश्य विविच्य हीनं चेत् पूरयेत्, अधिकञ्च तत् साध्यं तस्य पूर्वपक्षस्य साध्यं त्यजेत् ॥ ८० ॥ ८१ ॥

अशोधयित्वा पक्षं ये ह्युत्तरं दापयन्ति तान् ।  
 रागाल्लोभाद् भयाद् वापि स्मृत्यर्थे वाधिकारिणः ।  
 सभ्यादीन् दण्डयित्वा तु ह्यधिकारान्निवर्त्तयेत् ॥८६॥  
 ग्राह्याग्राह्यं विवादन्तु सुविमृश्य समाश्रयेत् ।  
 सञ्ज्ञातपूर्वपक्षं तु वादिनं संनिरोधयेत् ॥८७॥  
 राजाक्षया सत्पुरुषैः सत्यवाग्भिर्मनोहरैः ।  
 निरालसेङ्गितज्ञैश्च दृढशस्त्रास्त्रधारिभिः ॥८८॥  
 वक्तव्येऽर्थे ह्यतिष्ठन्तमुत्क्रामन्तं च तद्वचः ।  
 आसेधयेद् विवादार्थी यावदाह्वानदर्शनम् ।

वादिन इति । राजा साक्ष्यं वादिनः चिह्नितं कृत्वा विमृ-  
 दयेत् विशेषेण सुद्राङ्गितं कुर्यात् ॥ ८२ ॥

अशोधयित्वेति । ये अधिकारिणः राजपुरुषाः रागाद्  
 लोभाद् भयाद् वा पक्षं पूर्वपक्षम् अशोधयित्वा उत्तरं दाप-  
 यन्ति तान् सभ्यादीन् स्मृत्यर्थे एतत् गर्हितं कृतमिति स्मरण-  
 र्थमित्यर्थः दण्डयित्वा अधिकारात् तत्तत्पदात् निवर्त्तयेत्  
 भ्रंशयेत् ॥ ८३ ॥

ग्राह्येति । राजेति । राजा विवादं ग्राह्याग्राह्यं ग्राह्यम्  
 अग्राह्यं वा सुविमृश्य सुविविच्य ग्राह्यञ्चेत् समाश्रयेत् गृह्य-  
 यात् । किञ्च सञ्ज्ञातपूर्वपक्षं कृतपूर्वपक्षं वादिनम् आक्षया स्व-  
 आदेशेन सत्यवाग्भिः मनोहरैः निरालसैः इङ्गितज्ञैः दृढशस्त्रा-  
 स्त्रधारिभिः सत्पुरुषैः संनिरोधयेत् आसेधयेत् ॥ ८४ ॥ ८५ ॥

वक्तव्ये इति । विवादार्थी जनः वक्तव्ये अर्थे अतिष्ठन्  
 तद्वचः तस्य वचनम् उत्क्रामन्तम् अतिक्रामन्तं प्रत्यर्पितं

प्रत्यर्थिनं तु शपथैराज्ञया वा नृपस्य च ॥८६॥

स्थानसेधः कालकृतः प्रवासात् कर्मणस्तथा ।

चतुर्विधः स्यादासेधो नासिद्धस्तं विलङ्घयेत् ॥८७॥

यस्त्विन्द्रियनिरोधेन व्याहारोच्छासनादिभिः ।

आसेधयदनासेधैः स दण्ड्यो न त्वतिक्रमी ॥८८॥

आसेधकाल आसिद्ध आसेधं योऽतिवर्त्तते ।

स विनेयोऽन्यथा कुर्वन्नासेद्धा दण्डभाग् भवेत् ॥८९॥

यस्याभियोगं कुरुते तत्त्वेनाशङ्कयाथवा ।

शपदाज्ञानदर्शनम् आह्वानानन्तरदर्शनमात्रेणेत्यर्थः शपथैः वा

नृपस्य आज्ञया आसेधयेत् अवरोधयेत् ॥ ८६ ॥

स्थानासेध इति । आसेधः चतुर्विधः, स्थानासेधः, कालकृतः,

प्रवासात् प्रवासासेध इत्यर्थः तथा कर्मणः कर्मासेध इत्यर्थः ।

आसिद्धः तथा अवरुद्धः जनः तम् आसेधं न विलङ्घयेत् ॥ ८७ ॥

य इति । यस्तु इन्द्रियनिरोधेन इन्द्रियाणां मलमूत्रादि-

काराणां निरोधेन व्याहारेण कटुवाक्येन उच्छासनादिभिः उत्-

तशसनादिभिश्च अनासेधैः अयोग्यासेधप्रकारैरित्यर्थः आसे-

धयेत् अवरोधयेत् वादिनं प्रतिवादिनं वा इति शेषः सः

दण्ड्यः दण्डनीयः, न तु अतिक्रमी एतद् वैपरीत्येन आसेध-

कारी न तु दण्ड्य इति भावः ॥ ८८ ॥

आसेधकाल इति । यः आसेधकाले अवरोधकाले आसिद्धः

अवरुद्धः आसेधम् अतिवर्त्तते लङ्घयतीत्यर्थः सः विनेयः दण्ड्यः,

नासेद्धा च अन्यथा कुर्वन् दण्डभाक् भवेत् ॥ ८९ ॥

यस्येति । तत्त्वेन याथार्थ्येन अथवा आशङ्कया सन्देहेन

तमेवाह्वानयेद्राजा मुद्रया पुरुषेण वा ॥१००॥  
 शङ्कासतां तु संसर्गादनुभूतकृतेस्तथा ।  
 होढाभिदर्शनात् तत्त्वं विजानाति विचक्षणः ॥१०१॥  
 अकल्यबालस्थविरविषमस्थक्रियाकुलान् ।  
 कार्यातिपातिव्यसनिनृपकार्योत्सवाकुलान् ।  
 मत्तोन्मत्तप्रमत्तार्त्तभृत्यान् नाह्वानयेन्नृपः ॥१०२॥  
 न हीनपक्षां युवतीं कुले जातां प्रसूतिकाम् ।  
 सर्ववर्णोत्तमां कन्यां नाज्ञातप्रभुकाः स्त्रियः ॥१०३॥

यस्य अभियोगं कुरुते, राजा मुद्रया स्वनामाङ्कितलेख्येन वा  
 पुरुषेण राजपुरुषेण तम् एव आह्वानयेत् आह्वयेदित्यर्थः ॥१००॥

शङ्केति । असतां दुर्जनानां संसर्गात् तथा अनुभूतकृते  
 अनुभूता अनुमिता या कृतिः क्रिया तथा अनुमापककार्या-  
 दित्यर्थः शङ्का तथा होढाभिदर्शनात् होढा लोभम् अपहृत-  
 द्रव्यमित्यर्थः तस्य अभिदर्शनात् विचक्षणः विज्ञो जनः तत्त्वं  
 निश्चयं विजानति ॥ १०१ ॥

अकल्येति । नृपः अकल्यान् रोगिणः बालान् शिशून्  
 स्थविरान् वृद्धान् विषमस्थान् विपन्नान् क्रियाकुलान् बहुभिः  
 क्रियाभिरनतिक्रमणीयाभिः आकुलान् व्यस्तान् कार्याति-  
 पातिनः अभियोगकाले अनुपस्थितान् व्यसनिनः कामादि-  
 व्यसनासक्तान् नृपकार्यैः वा उत्सवैः आकुलान् मत्तान् सुरापान-  
 मत्तान् उन्मत्तान् क्षिप्तान् प्रमत्तान् अनवधायिनः आर्त्तान्  
 तथा भृत्यान् न आह्वानयेत् ॥ १०२ ॥

नेति हीनपक्षाम् अनाथां युवतीं, कुले जातां कुलौनां

निर्वेष्टुकामो रोगार्त्तो यियक्षुर्व्यसने स्थितः ।

अभियुक्तस्तथान्येन राजकार्योद्यतस्तथा ॥१०४॥

गवां प्रचारे गोपालाः शस्यावापे कृषीवलाः ।

शिल्पिनश्चापि तत्कालमायुधीयाश्च विग्रहे ॥१०५॥

अप्राप्तव्यवहारश्च दूतो दानोन्मुखो व्रती ।

विषमस्थाश्च नासेध्या न चैतानाह्वयेनृपः ॥१०६॥

नदीसन्तारकान्तारदुर्देशोपप्लवादिषु ।

आसिद्धस्तं परासेधमुक्तामन् नापराध्रुयात् ॥१०७॥

कन्यां, प्रसूतिकां प्रसविनीं सर्ववर्णोत्तमां सर्वजातिश्रेष्ठां कन्यां.  
न, तथा अज्ञातः प्रभुः पतिर्यासां तादृशीः स्त्रियश्च न आह्वान-  
येदिति पूर्वण सम्बन्धः ॥ १०३ ॥

निर्वेष्टुकाम इत्यादि । निर्वेष्टुकामः विवाहार्थी, रोगार्त्तः  
यियक्षुः यागार्थी, व्यसने मृगयादौ स्थितः आसक्तः, अन्येन  
अभियुक्तः, राजकार्योद्यतः, गवां प्रचारे गोचारणकाले  
गोपालाः, शस्यावापे शस्यवपनकर्मकाले कृषीवलाः कर्षकाः,  
तत्काले शिल्पकर्मकाले शिल्पिनः, विग्रहे संग्रामकाले आयु-  
धीयाः सैनिकपुरुषाः, अप्राप्तव्यवहारः ऊनषोडशवर्षः, दूतः  
दौत्यकार्योद्यतः, दानोन्मुखः दानकर्मणि उद्युक्तः, व्रती, वैधः  
कर्मणि नियुक्तः तथा विषमस्थाः विपन्नाश्च जनाः न आसेध्याः  
न अवरोधनीयाः । नृपः एतान् निर्वेष्टुकामादींश्च न आह्वान-  
येत् । अत्र च आसेधांशे विधिराह्वानांशे अनुवादो विशेष-  
बोधार्थ इति सुधीभिर्विभाव्यम् ॥ १०४ ॥ १०५ ॥ १०६ ॥

नदीति । नदीसन्तारणे, कान्तारे दुर्गमवनमार्गे, दुर्देशे

कालं देशं च विज्ञाय कार्य्याणां च बलावलम् ।  
 अकल्यादीनपि शनैर्यानैराह्वानयेन्नृपः ॥१०८॥  
 ज्ञात्वाभियोगं येऽपि स्युर्वने प्रव्रजितादयः ।  
 तानप्याह्वानयेद्राजा गुरुकार्येष्वकोपयन् १०९॥  
 व्यवहारानभिज्ञेन ह्यन्यकार्याकुलेन च ।  
 प्रत्यर्थिनार्थिना तज्ज्ञः कार्य्यः प्रतिनिधिस्तदा ११०॥  
 अप्रगल्भजङ्गोन्मत्तवृद्धस्त्रीबालरोगिणाम् ।  
 पूर्वोत्तरं वदेद् बन्धुर्नियुक्तो वाथवा नरः ॥१११॥

उषष्वादिषु राजोपद्रवादिषु आसिद्धः जनः तं परासेधं परस्व  
 आसेधं परकर्तृकमवरोधम् उत्क्रामन् अतिक्रामन् न अपरा-  
 ध्यात् न अपराधी भवेदित्यर्थः ॥ १०७ ॥

कालमिति । नृपः कालं देशं कार्य्याणां बलावलं गौरव-  
 लाघवञ्च विज्ञाय अकल्यादीन् रोगिप्रभृतीनपि यानैः शिविका-  
 दिभिः शनैः मन्दं मन्दम् आह्वानयेत् ॥ १०८ ॥

ज्ञात्वेति । ये जनाः अभियोगं ज्ञात्वा वने प्रव्रजितादयः  
 सञ्चासिधर्मावलम्बिप्रभृतयः आदिपदेन वानप्रस्थब्रह्मचारिणो-  
 ग्रहणम् । स्युः भवेयुः, राजा गुरुकार्य्येषु तान् अपि अकोपयन्  
 सन् आह्वानयेत् ॥ १०९ ॥

व्यवहारानभिज्ञेनेति । प्रत्यर्थिना प्रतिवादिना अर्थिना  
 वादिना च व्यवहारानभिज्ञेन व्यवहारे अभियोगव्यापारे अन-  
 भिज्ञेन अविचक्षणेन वा अन्यकार्याकुलेन कार्य्यान्तरासक्तेन  
 सता तदा तज्ज्ञः व्यवहारज्ञः प्रतिनिधिः कार्य्यः ॥ ११० ॥

अप्रगल्भेति । बन्धुः पितृस्वस्त्रीयादिः अथवा नियुक्तः प्रति-

पिता माता सुहृद् बन्धुर्भाता सम्बन्धिनोऽपि च ।  
यदि कुर्युरुपस्थानं वादं तत्र प्रवर्त्तयेत् ॥ ११२ ॥  
यः कश्चित् कारयेत् किञ्चिन्नियोगाद् येन केनचित्  
तत् तेनैव कृतं ज्ञेयमनिवार्यं हि तत् स्मृतम् १३१  
नियोगितस्यापि भृतिं विवादात् षोडशांशिकीम् ।  
विंशत्यंशां तदर्द्धां वा तदर्द्धां च तदर्द्धिकाम् ॥ ११४  
यथा द्रव्याधिकं कार्य्यं हीना हीना भृतिस्तथा ।

निधित्वेनेति भावः नरः अप्रगल्भानाम् अचतुराणां जड़ानाम्  
उन्मत्तानां वृद्धानां स्त्रीणां बालानां रोगिणाञ्च पूर्वोत्तरम् अभि-  
योगं प्रत्यभियोगञ्च वदेत् ॥ १११ ॥

पितेति । पिता, माता, सुहृत्, बन्धुः भाता अथवा सम्ब-  
न्धिनः यदि उपस्थानम् अभियोगादेरुपस्थितिं कुर्युः तदा  
तत्र वादं विचारं प्रवर्त्तयेत् चालयेत् ॥ ११२ ॥

य इति । येन केनचित् जनेन नियोगात् यः कश्चित् जनः  
किञ्चित् कार्य्यं कारयेत् तत् तेनैव नियोजकेनेत्यर्थः कृतं ज्ञेयम्  
तत् नियुक्तकृतम् अनिवार्यं ग्राह्यमित्यर्थः स्मृतम् ॥ ११३ ॥

नियोगितस्येति । नियोगितस्य नियुक्तस्य भृतिं वेतनं  
विवादात् विवादीयधनात् षोडशांशिकीं षोडशभागमितं  
विंशत्यंशां विंशभागैकभागमितां तदर्द्धां दशभागपरिमितां  
तदर्द्धां पञ्चमभागमितां तदर्द्धिकां सार्द्धद्वितीयभागसम्भृतां वा  
कार्य्यगौरवलाघवापेक्षो विकल्प इति बोध्यम् । दद्यादिति  
अध्याहृतेन क्रियापदेन सम्बन्धः ॥ ११४ ॥

यथेति । यदि बहुनियोगी बहुजननियुक्तकारी स्यात्

यदि बहुनियोगी स्यादन्यथा तस्य पोषणम् ॥११५॥  
 धर्मज्ञो व्यवहारज्ञो नियोक्तव्योऽन्यथा न हि ।  
 अन्यथा भृतिगृह्णन्तं दण्डयेच्च नियोगिनम् ॥११६॥  
 कार्य्यो नित्यो नियोगी न नृपेण स्वमनीषया ।  
 लोभेन त्वन्यथा कुर्वन् नियोगी दण्डमर्हति ॥११७॥  
 यो न भ्राता न च पिता न पुत्रो न नियोगकृत् ।  
 परार्थवादी दण्ड्यः स्याद् व्यवहारेषु विव्रुवन् ॥११८॥

तदा कार्य्यं यथा द्रव्याधिकम् अधिकद्रव्ययुक्तं, तथा हीना  
 हीना भृतिः कार्य्या इति शेषः अन्यथा अधिकधनाभियोगे  
 बहुभ्यः पूर्वोक्तांशरूपभृतिदाने बहुधनक्षयसम्भवादिति भावः ।  
 अन्यथा वेतनदानाशक्तौ तस्य नियुक्तस्य पोषणं प्रतिपालनं  
 कार्य्यमिति शेषः ॥ ११५ ॥

धर्मज्ञ इति । व्यवहारज्ञः अभियोगादिव्यापारकुशलः जनः  
 धर्मज्ञः धार्मिकश्चेत् नियोक्तव्यः प्रतिनिधित्वेनेति भावः ।  
 अन्यथा अधार्मिकत्वे इत्यर्थः न हि नैव नियोक्तव्य इत्यर्थः ।  
 किञ्च अन्यथा अयुक्तरूपेणेत्यर्थः भृतिगृह्णन्तं वेतनम् आद-  
 दानम् अत्र समासस्त्वार्थः । नियोगिनं नियुक्तं प्रतिनिधिमित्यर्थः  
 दण्डयेच्च राजेति शेषः ॥ ११६ ॥

कार्य्य इति । नृपेण स्वमनीषया निजबुद्ध्या नित्यं सततं  
 नियोगी नियुक्तः न कार्य्यः विवादिनैव कार्य्य इत्यर्थः, नियोगी  
 लोभेन अन्यथा कुर्वन् नियुक्तकार्य्यमतिक्रामन् दण्डमर्हति  
 दण्डनीयो भवतीत्यर्थः ॥ ११७ ॥

य इति । यः भ्राता न, पिता न, पुत्रः न, नियोगकृत्

तदधीनकुटुम्बिन्यः स्वरिण्यो गणिकाश्च याः ।

निष्कुला याश्च पतितास्तासामाह्वानमिष्यते ॥ ११६

प्रवर्त्तयित्वा वादन्तु वादिनौ तु मृतौ यदि ।

तत्पुत्रो विवदेत् तज्ज्ञो ह्यन्यथा तु निवर्त्तयेत् १२०

मनुष्यमारणे स्तेये परदाराभिमर्शने ।

अभक्ष्यभक्षणे चैव कन्याहरणदूषणे ॥ १२१ ॥

पारुष्ये कूटकरणे नृपद्रोहे च साहसे ।

प्रतिनिधिर्न दातव्यः कर्त्ता तु विवदेत् स्वयम् १२२

नियुक्तश्च न विवादिना इति शेषः सः चेत् परार्थवादी परार्थं  
अन्यार्थं वादी सन् व्यवहारेषु विब्रुवन् विरुद्धं वदन् विरुद्धवादी  
भवतीत्यर्थः तदा दण्ड्यः स्यात् ॥ ११८ ॥

तदधीनेति । याः स्त्रियः तदधीनकुटुम्बिन्यः स्वाधीनपरि-  
जनाः, स्वरिण्यः स्वेच्छावर्त्तिन्यः गणिकाः वेश्या निष्कुलाः  
अकुलीनाश्च तथा याश्च पतिताः ब्रह्महत्यादिपञ्चविधान्यतम-  
पापकारिण्यः, तासाम् आह्वानं विचारालये इति भावः इष्यते  
॥ ११८ ॥

प्रवर्त्तयित्वेति । वादं विवादं प्रवर्त्तयित्वा प्रक्रम्य वादिनौ  
अर्थिप्रत्यर्थिनौ यदि मृतौ भवतः, तदा तज्ज्ञः विवादज्ञः तत्-  
पुत्रः तस्य वादिनः प्रतिवादिनश्च पुत्रः विवदेत् वादं चालयेत्  
अन्यथा अनभिज्ञत्वे तु निवर्त्तयेत् विरमेदित्यर्थः ॥ १२० ॥

मनुष्यमारणे इति । पारुष्ये इति । मनुष्यमारणे नर-  
हत्यायां स्तेये चौर्ये, परदाराभिमर्शणे परस्त्रीवलात्कारे, अभ-  
क्ष्यभक्षणे, कन्याहरणदूषणे कन्यायाः अनूदायाः हरणे वा,

आहूतो यत्र नागच्छेद् दर्पाद् बन्धुबलान्वितः ।  
 अभियोगानुरूपेण तस्य दण्डं प्रकल्पयेत् ॥ १२२ ॥  
 दूतेनाह्वानितं प्राप्ताधर्षकं प्रतिवादिनम् ।  
 दृष्ट्वा राज्ञा तयोश्चिन्त्यो यथार्हप्रतिभूस्त्वतः ॥ १२३ ॥  
 दास्याम्यदत्तमेतेन दर्शयामि तवान्तिके ।  
 एनमाधिं दापयिष्ये ह्यस्मात्ते न भयं क्वचित् ॥ १२४ ॥  
 अकृतञ्च करिष्यामि ह्यनेनायञ्च वृत्तिमान् ।  
 अस्तीति न च मिथ्यैतदङ्गीकुर्यादतन्द्रितः ॥ १२५ ॥

पारुष्ये वाक्प्रावृष्यदण्डपारुष्योभयरूपे, कूटकरणे जालानुष्ठाने  
 नृपद्रोहे राजानिष्टकरणे तथा साहसे दस्युहत्यादौ विवाद-  
 विषये प्रतिनिधिः न दातव्यः कर्त्ता तु कर्त्ता एव स्वयं विवेक-  
 ॥ १२१ ॥ १२२ ॥

आहूत इति । यत्र विवादे विषये आहूतः राज्ञेति शेषः ।  
 बन्धुबलान्वितः बन्धुबलसहायवान् जनः दर्पात् अहङ्कारात् न  
 आगच्छेत् विचारालयमिति शेषः, तस्य अनागतस्य जनस्य  
 अभियोगानुसारेण अभियोगस्य गौरवलाघवापेक्षया इत्यर्थः  
 दण्डं प्रकल्पयेत् ॥ १२३ ॥

दूतेनेति । दूतेन राजवार्त्ताहरेण आह्वानितं कृताह्वानं  
 प्राप्ताधर्षकं प्राप्तपीडं वादिनमित्यर्थः तथा प्रतिवादिनं दृष्ट्वा  
 अतः अस्मात् परमित्यर्थः राज्ञा तयोः वादिनोः यथार्हप्रतिभू-  
 यथायोग्यप्रतिरूपः चिन्त्यः ॥ १२४ ॥

प्रतिभूप्रकारमाह दास्यामीत्यादि । अहम् एतेन अदत्तं  
 दास्यामि एतेन दानप्रतिभूरुक्तः । अहम् एनं तव अन्ति-

प्रगल्भो बहुविश्वस्तानधीनो विश्रुतो धनी ।  
 उभयोः प्रतिभूर्ग्राह्यः समर्थः कार्यनिर्णये ॥ १२७ ॥  
 विवादिनौ सन्निरुध्य ततो वादं प्रवर्त्तयेत् ।  
 स्वपुष्टौ परपुष्टौ वा स्वभृत्या पुष्टरक्षकौ ।  
 ससाधनौ तत्त्वमिच्छुः कूटसाधनशङ्कया ॥ १२८ ॥  
 प्रतिज्ञादोषनिर्मुक्तं साध्यं सत्कारणान्वितम् ।  
 निश्चितं लोकसिद्धञ्च पक्षं पक्षविदो विदुः ॥ १२९ ॥

समीपे दर्शयामि एतेन दर्शनप्रतिभूरुक्तः । एनं जनम् आधि-  
 द्रव्यं दापयिष्ये बन्धकत्वेनेति शेषः, अस्मात् जनात् क्वचित्  
 कदाचिदपीत्यर्थः ते तव भयं न अस्तीति शेषः, अनेन अकृतं  
 कार्यम् अहं करिष्यामि, अयञ्च वृत्तिमान् संस्थानसम्पन्नः अत-  
 द्भितः अनलसश्च अस्ति इति हेतोः एतत् न च मिथ्या अङ्गी-  
 कुर्यात् एतेन प्रत्ययप्रतिभूरुक्तः । प्रगल्भः चतुरः बहुविश्वस्तः  
 बहुजनेषु विश्वासी, अनधीनः स्वाधीनः विश्रुतः विख्यातः धनी  
 तथा समर्थः यथोक्तवचनानुरूपानुष्ठाने सक्षमः उक्तरूपः  
 त्रिविधः प्रतिभूः उभयोः वादिप्रतिवादिनोः कार्यनिर्णये कार्य-  
 निरूपणार्थं ग्राह्यः ॥ १२५ ॥ १२६ ॥ १२७ ॥

विवादिनाविति । ससाधनौ विवादसाधनसमेतौ, स्वपुष्टौ  
 स्वाधीनौ, परपुष्टौ पराधीनौ वा स्वभृत्या निजवेतनेन पुष्ट-  
 रक्षकौ पोष्यपालकौ विवादिनौ सन्निरुध्य ततः अनन्तरं कूट-  
 साधनशङ्कया अलीकसाधनसन्देहेन तत्त्वं याथार्थ्यम् इच्छुः सन्  
 वादं प्रवर्त्तयेत् राजेति शेषः ॥ १२८ ॥

प्रतिज्ञेति । पक्षविदः भाषाभिज्ञाः पण्डिताः प्रतिज्ञादोष-

अन्यार्थमर्थहीनं च प्रमाणागमवर्जितम् ।

लेख्यहीनाधिकं भ्रष्टं भाषादोषा उदाहृताः ॥१३०॥

अप्रसिद्धं निराबाधं निरर्थं निष्प्रयोजनम् ।

असाध्यं वा विरुद्धं वा पक्षाभासं विवर्जयेत् ॥१३१॥

न केनचिच्छ्रुतो दृष्टः सोऽप्रसिद्ध उदाहृतः ।

अहं मूकेन संशप्तो बन्ध्यापुत्रेण ताडितः ॥१३२॥

अधीते सुस्वरं गाति स्वगेहे विहरत्ययम् ।

निर्मुक्तं प्रतिज्ञा प्रथमनिर्देशः तस्याः दोषेण निर्मुक्तं रहितं  
सत्कारणान्वितं सुसाधनसम्पन्नं निश्चितम् असन्दिग्धं लोकसिद्धं  
न त्वलौकिकमित्यर्थः साध्यम् अभियोगविषयं पक्षं विदुः जा-  
नन्ति ॥ १२९ ॥

अन्यार्थमिति । अन्यार्थम् अपरार्थबोधकम् अर्थहीनम्  
अभिप्रेतार्थविरहितं प्रमाणागमवर्जितं प्रमाणेन आगमेन हेतु-  
विशेषेण च वर्जितं लेख्यहीनाधिकं हीनलेख्यम् अधिकलेख्यं  
वा भ्रष्टं च्युतं केनापि अंशेनेत्यर्थः एते भाषादोषाः भाषायाः  
प्रतिज्ञावाक्यस्य दोषाः उदाहृताः उक्ताः ॥ १३० ॥

अप्रसिद्धमिति । अप्रसिद्धं निराबाधं निर्बाधं निष्प्रयोजनम्  
असाध्यं साध्यातीतं वा विरुद्धं साध्यं पक्षाभास उच्यते इति  
शेषः तं पक्षाभासं विवर्जयेत् न गृह्णीयात् राजेति शेषः ॥१३१॥

नेति । यः केनचित् न श्रुतः दृष्टश्च सः अप्रसिद्धः उदाहृतः  
उक्तः, यथा अहं मूकेन वर्णानुच्चारकेण शप्तः, तथा बन्ध्या-  
पुत्रेण बन्ध्यायाः अजातपुत्रायाः पुत्रेण ताडित इति ॥ १३२ ॥

अधीते इति । निराबाधं यत् निष्प्रयोजनञ्च तत् यथा अयं

धत्ते मार्गमुखद्वारं मम गेहसमीपतः ।

इति ज्ञेयं निराबाधं निष्प्रयोजनमेव तत् ॥ १३३ ॥

सदा मद्वत्तकन्यायां जामाता विहरत्ययम् ।

गर्भं धत्ते न बन्धेयं स्मृतोऽयं न प्रभाषते ।

किमर्थमिति तज्ज्ञेयमसाध्यञ्च विरुद्धकम् ॥ १३४ ॥

मददुःखसुखतो लोको दूयते न न नन्दति ।

निरर्थमिति वा ज्ञेयं निष्प्रयोजनमेव वा १३५ ॥

आवयित्वा तु यत् कार्यं त्यजेदन्यद् वदेदसौ ।

अन्यपक्षाश्रयाद् वादी हीनो दण्डाश्च स्मृतः १३६

सगृहे निजगृहे सुखरम् अधीते पठति गाति गायतीत्यर्थः

आर्षोऽयं प्रयोगः । तथा विहरति, किञ्च मम गेहसमीपतः

मद्वत्तकसमीपे मार्गस्य पथः सुखे द्वारं धत्ते ददाति इति ॥ १३३ ॥

सदेति । अयं जामाता मद्वत्तकन्यायां सदा विहरति,

तद्यापि गर्भं न धत्ते, इयञ्च बन्ध्या किमर्थमिति असाध्यम् ।

अयं स्मृतः न प्रभाषते न कथयति किमर्थमिति विरुद्धकं

ज्ञेयम् ॥ १३४ ॥

मददुःखेति । लोकः मम दुःखेन सुखेन च न दूयते न

दुःखितो भवति न च नन्दति इति निरर्थं वा निष्प्रयोजनं वा

ज्ञेयम् ॥ १३५ ॥

आवयित्वेति । यः वादी कार्यम् एकमित्यर्थः आवयित्वा

त्यजेत् तत् इति शेषः, असौ वादी अन्यत् वदेच्च सः वादी

अन्यपक्षाश्रयात् हीनः अभियोगात् भ्रष्टः अग्राह्याभियोग

इत्यर्थः दण्डाश्च स्मृतः ॥ १३६ ॥

विनिश्चिते पूर्वपक्षे ग्राह्याग्राह्यविशोधिते ।  
 प्रतिज्ञाते स्थिरीभूते लेखयेदुत्तरं ततः ॥ १३७ ॥  
 तत्राभियोक्ता प्राक् पृष्टो ह्यभियुक्तस्त्वनन्तरम् ।  
 प्राड्विवाकः सदस्याद्यैर्दाप्यते ह्युत्तरं ततः ॥ १३८ ॥  
 श्रुतार्थस्योत्तरं लेख्यं पूर्वावेदकसन्निधौ ।  
 पक्षस्य व्यापकं सारमसन्दिग्धमनाकुलम् ।  
 अव्याख्यागम्यमित्येतन्निर्दुष्टं प्रतिवादिना ॥ १३९ ॥  
 सन्दिग्धमन्यत् प्रकृतादत्यल्पमतिभूरि च ।

विनिश्चिते इति । प्रतिज्ञाते पूर्वपक्षे ग्राह्याग्राह्याभ्याम्  
 अंशाभ्यां विशोधिते संस्कृते अत एव विनिश्चिते तथा स्थिरी  
 भूते सति ततः उत्तरं लेखयेत् प्रतिवादिनेति शेषः ॥ १३७ ॥

तत्रेति । तत्र विवादे प्राक् अभियोक्ता अर्थी, तदनन्तरम्  
 अभियुक्तः प्रत्यर्थी पृष्टः जिज्ञासितः स्यात्, ततः उभयोः पृच्छा-  
 नन्तरं सदस्याद्यैः विचारनियुक्तपुरुषादिभिः प्राड्विवाकः उत्तरं  
 दाप्यते सिद्धान्तपक्षमाश्रित्य प्राड्विवाको विचारयेदिति  
 भावः ॥ १३८ ॥

श्रुतार्थस्येति । प्रतिवादिना पूर्वावेदकस्य वादिनः सन्निधौ  
 श्रुतार्थस्य अभियोगविषयीभूतस्य पक्षस्य व्यापकम् आच्छा-  
 दकम् सारम् असन्दिग्धं सन्देहरहितम् अनाकुलं सुखेन बोध्यं  
 प्रतिपाद्यमित्यर्थः अव्याख्यागम्यं सुबोधमित्यर्थः उत्तरं लेख्यं  
 इति एवरूपम् एतत् उत्तरं निर्दुष्टं दोषरहितं भवतीति  
 शेषः ॥ १३९ ॥

सन्दिग्धमिति । सन्दिग्धं सन्देहयुक्तम् इदं वा एतदेति द्वे

पक्षैकदेशे व्याप्यं यत् तत् नैवोत्तरं भवेत् ॥१४०॥

न चाहृतो वदेत् किञ्चिद्दीनो दण्डाश्च स स्मृतः १४१

पूर्वपक्षे यथार्थे तु न दद्यादुत्तरन्तु यः ।

प्रत्यर्थी दापनीयः स्याद् सामादिभिरुपक्रमैः ॥१४२

मोहाद् वा यदि वा शाठ्याद् यन्नोक्तं पूर्ववादिना ।

उत्तरान्तर्गतं वा तत् प्रश्नैर्ग्राह्यं द्वयोरपि ॥१४३॥

सत्यं मिथ्योत्तरञ्चैव प्रत्यवस्कन्दनं तथा ।

पूर्वन्यायविधिश्चैवमुत्तरं स्याच्चतुर्विधम् ॥ १४४ ॥

युक्तं प्रकृतात् प्रसूतात् अन्यत् भिन्नम् अत्यल्पम् अतिभूरि  
अत्यधिकं वा तथा पक्षैकदेशे एकस्मिन् पक्षांशे व्याप्यं नतु  
सर्वस्मिन्नित्यर्थः यत् तत् उत्तरं नैव भवेत् ॥ १४० ॥

न चेति । यः अर्थी प्रत्यर्थी वा आहृतः सन् न किञ्चित्  
वदेत् सः हीनः पराजितः दण्डाश्च भवेत् ॥ १४१ ॥

पूर्वपक्षे इति । यथार्थे पूर्वपक्षे सति यः प्रत्यर्थी उत्तरं न  
दद्यात् सः सामादिभिः सान्त्ववादादिभिः उपक्रमैः उपायैः  
दापनीयः अभियुक्तधनमिति शेषः स्यात् ॥ १४२ ॥

मोहादिति । मोहात् अज्ञानात् वा शाठ्यात् वा पूर्ववादिना  
अर्थिना यत् न उक्तं पूर्वपक्षे इति भावः, यच्च उत्तरान्तर्गतं  
प्रतिवादिनः उत्तरवाक्यमध्यपतितं मोहनिबन्धनं शाठ्यनिबन्धनं  
वा किञ्चित्, तत् सर्वम् उभयोः वादिप्रतिवादिनोः सकाशात्  
प्रश्नैः पृच्छाभिः ग्राह्यं प्रश्नचातुर्येण मोहस्खलितं वा शाठ्य-  
विजृम्भितं बहिष्करणीयमिति भावः ॥ १४३ ॥

अङ्गीकृतं यथार्थं यद्वाद्युक्तं प्रतिवादिना ।  
 सत्योत्तरन्तु तज्ज्ञेयं प्रतिपत्तिश्च सा स्मृता ॥१४४॥  
 श्रुत्वा भाषार्थमन्यस्तु यदि तं प्रतिषेधति ।  
 अर्थतः शब्दतो वापि मिथ्या तज्ज्ञेयमुत्तरम् ॥१४५॥  
 मिथ्यैतन्नाभिजानामि तदा तत्र न सन्निधिः ।  
 अजातश्चास्मि तत्काले इति मिथ्या चतुर्विधम् ॥१४६॥  
 अर्थिना लिखितो ह्यर्थः प्रत्यर्थी यदि तं तथा ।  
 प्रपद्य कारणं ब्रूयात् प्रत्यवस्कन्दनं हि तत् ॥१४७॥

सत्यमिति । उत्तरं चतुर्विधं स्यात् । यथा—सत्यं, मिथ्यो-  
 त्तरं तथा प्रत्यवस्कन्दनं, पूर्वन्यायविधिश्च ॥ १४४ ॥

अङ्गीकृतमिति । वादिना उक्तं यथार्थं यत् वाक्यं प्रति-  
 वादिना अङ्गीकृतञ्चेत् तत् सत्योत्तरं विज्ञेयं सा च प्रतिपत्तिः  
 स्मृता ॥ १४५ ॥

श्रुत्वेति । अन्यस्तु प्रतिवादी तु भाषार्थं पूर्वपक्षं श्रुत्वा  
 अर्थतः शब्दतश्च यदि तं प्रतिषेधति न स्वीकरोतीत्यर्थः तदा  
 तत् मिथ्योत्तरं ज्ञेयम् ॥ १४६ ॥

मिथ्येति । मिथ्या च चतुर्विधम् यथा—एतत् मिथ्या, एतत्  
 अहं न अभिजानामि, तदा यत्कालिकः अभियोग इत्यर्थः तत्र  
 तस्मिन् स्थाने न सम सन्निधिः सन्निधानम् अवस्थानमित्यर्थः,  
 तत् काले अहम् अजातश्च अस्मि इति ॥ १४७ ॥

अर्थिनेति । अर्थिना यः अर्थः लिखितः, प्रत्यर्थी यदि तं  
 लिखितम् अर्थं तथा प्रपद्य स्वीकृत्य कारणं ब्रूयात् तदा तत्  
 प्रत्यवस्कन्दनं हि, हिशब्दः अवधारणार्थः ॥ १४८ ॥

अस्मिन्नर्थे समानेन वादः पूर्वमभूत् तदा ।  
जितोऽयमिति चेद्भूयात् प्राङ्न्यायः स उदाहृतः १४८  
जयपत्रेण सभ्यैर्वा साक्षिभिर्भावयाम्यहम् ।  
मया जितः पूर्वमिति प्राङ्न्यायस्त्रिविधः स्मृतः १५०  
अन्योऽन्ययोः समक्षत्वाद्वादिनोः पक्षमुत्तरम् ।  
न हि गृह्णन्ति ये सभ्या दण्ड्यास्ते चौरवत् सदा १५१  
लिखिते शोधिते सम्यक् सति निर्दोष उत्तरे ।  
अर्थिप्रत्यर्थिनोर्वापि क्रिया कारणमिष्यते ॥ १५२ ॥  
पूर्वपक्षः स्मृतः पादो द्वितीयश्चोत्तरात्मकः ।

अस्मिन्निति । अस्मिन् अर्थे विषये पूर्वम् अनेन मम वादः  
अभूत्, तदा अयं जितः मया पराजित इति प्रत्यर्थी यदि  
भूयात् तदा सः प्राङ्न्यायः उदाहृतः उक्तः ॥ १४८ ॥

जयपत्रेणेति । प्राङ्न्यायः त्रिविधः स्मृतः—यथा । अयं  
मया पूर्वं जित इति जयपत्रेण, सभ्यैः, वा साक्षिभिः भावयामि  
प्रतिपादयामि, उपायस्य त्रैविध्यादिति भावः ॥ १५० ॥

अन्योऽन्ययोरिति । ये सभ्याः विचारनियुक्ताः पुरुषाः  
वादिनोः अर्थिप्रत्यर्थिनोः अन्योऽन्ययोः परस्परयोः समक्षं पक्षं  
वा उत्तरं न हि गृह्णन्ति, ते चौरवत् सदा दण्ड्याः ॥ १५१ ॥

लिखिते इति । लिखिते उत्तरे सम्यक् शोधिते अत एव  
निर्दोषे सति अतःपरमित्यर्थः अर्थिप्रत्यर्थिनोः क्रिया साक्षि-  
भ्योऽदिप्रमाणप्रदर्शनादिरूपा कारणं जयपदस्येति भावः  
इत्यते ॥ १५२ ॥

पूर्वपक्ष इति । पूर्वपक्षः पादः प्रथम इति भावः, उत्तरा-

क्रियापादस्तृतीयस्तु चतुर्थी निर्णयाभिधः ॥१५३॥  
 कार्य्यं हि साध्यमित्युक्तं साधनन्तु क्रियोच्यते ।  
 अर्थी तृतीयपादे तु क्रियया प्रतिपादयेत् ॥१५४॥  
 चतुष्पाद् व्यवहारः स्यात् प्रतिपत्त्युत्तरं विना ॥१५५॥  
 क्रमागतान् विवादांस्तु पश्येद् वा कार्य्यगौरवात् ॥१५६॥  
 यस्य वाभ्यधिका पीडा कार्य्यं वाभ्यधिकं भवेत् ।  
 वर्णानुक्रमतो वापि नयेत् पूर्वं विवादयेत् ॥१५७॥

लोकः द्वितीयः पादः, क्रियापादः तृतीयः, चतुर्थस्तु पादः  
 निर्णयाभिधः सिद्धान्तरूप इत्यर्थः एतेन व्यवहारस्य चतुष्पाद-  
 त्वयुक्तम् ॥ १५३ ॥

कार्य्यमिति । साध्यं कार्य्यमिति उक्तं, क्रिया साचिलेख्यादिः  
 साधनं साध्यस्य प्रमाणम् उच्यते, तस्मात् अर्थी तृतीयपादे  
 व्यवहारस्य तृतीयचरणे क्रियया उक्तरूपया प्रतिपादयेत् साध्यं  
 प्रमाणयेदित्यर्थः ॥ १५४ ॥

चतुष्पादिति । प्रतिपत्तिरूपम् उत्तरं विना अपरेषु त्रिषु  
 उत्तरेषु इत्यर्थः व्यवहारः चतुष्पाद् स्याद्, प्रतिपत्त्युत्तरेषु  
 द्विपादे च तत्र क्रियापादस्य निर्णयपादस्य वा प्रयोजनकत्वा-  
 दिति भावः ॥ १५५ ॥

क्रमागतानिति । क्रमागतान् यथाक्रमेण उपस्थितान्  
 विवादान् क्रमेण वा कार्य्यस्य गौरवात् गौरवमपेक्ष्य इत्यर्थः  
 यवर्थे पञ्चमी । पश्येत् ॥ १५६ ॥

यस्येति । यस्य वा पीडा अभ्यधिका, वा कार्य्यम् अभ्य-  
 धिकम् अत्यधिकं भवेत् एवं विविचेति शेषः वापि अथवा

कल्पयित्वोत्तरं सभ्यैर्दातव्यैकस्य भावना ॥१५८॥  
 साध्यस्य साधनार्थं हि निर्दिष्टा यस्य भावना ।  
 विभावयेत्प्रतिज्ञातं सोऽखिलं लिखितादिना ॥१५९॥  
 न चैकस्मिन् विवादे तु क्रिया स्याद् वादिनोर्द्वयोः १६०  
 मिथ्या क्रिया पूर्ववादे कारणे प्रतिवादिनि ।  
 प्राङ्न्यायकारणोक्तौ तु प्रत्यर्थी निर्दिशेत्क्रियाम् १६१  
 कारणात् पूर्वपक्षोऽपि उत्तरत्वं प्रपद्यते ॥१६२॥

वर्णानुक्रमतः ब्राह्मणादिक्रमेण पूर्वं नयेत् विवादयेच्च अभि-  
 योगं गृहीत्वा विचारयेदित्यर्थः ॥ १५७ ॥

कल्पयित्वेति । सभ्यैः राजपुरुषैः उत्तरं कल्पयित्वा यथोक्त-  
 रूपेण प्रतिवादिनः सकाशात् आदाय इत्यर्थः एकस्य वादिनः  
 भावना चिन्ता साध्यसाधनार्थं चिन्तावसर इत्यर्थः दातव्या ॥१५८॥

साध्यस्येति । साध्यस्य पक्षस्य साधनार्थं प्रामाण्यार्थं यस्य  
 वादिनः भावना निर्दिष्टा कथिता, सः लिखितादिना साधनेन  
 अखिलं समस्तं प्रतिज्ञातं विभावयेत् प्रतिपादयेत् प्रमापये-  
 दित्यर्थः ॥ १५९ ॥

न चेति । एकस्मिन् विवादे द्वयोः वादिनोः अर्थिप्रत्यर्थिनोः  
 क्रिया साधननिर्देशार्थं प्रयासः न च स्यात् एकेनैव क्रिया  
 निर्देश्या इति भावः ॥ १६० ॥

मिथ्येति । मिथ्योत्तरे पूर्ववादे प्रथमवादिनि, तथा कारणे  
 प्रत्यवस्कन्दने उत्तरे प्रतिवादिनि क्रिया साधननिर्देशभारः  
 स्यादित्यर्थः, प्राङ्न्यायकारणोक्तौ तु प्रत्यर्थी प्रतिवादी क्रियां  
 निर्दिशेत् ॥ १६१ ॥

ततोऽर्थीं लेखयेत् सद्यः प्रतिज्ञातार्थसाधनम् ।  
 तत् साधनन्तु द्विविधं मानुषं दैविकं तथा ॥ १६३ ॥  
 क्रिया स्याल्लिखितं भुक्तिः साक्षिणश्चेति मानुषम् ।  
 दैवं धटादि तद्भव्यं भूतालाभान्नियोजयेत् ॥ १६४ ॥  
 तत्त्वच्छलानुसारित्वाद् भूतं भव्यं द्विधा स्मृतम् ।  
 तत्त्वं सत्यार्थाभिधायि कूटाद्यभिहितं क्लृप्तम् ॥ १६५ ॥  
 क्लृप्तं निरस्य भूतेन व्यवहारान् नयेन्नृपः ।  
 युक्त्यानुमानतो नित्यं सामादिभिरुपक्रमैः ॥ १६६ ॥

कारणादिति । पूर्वपक्षोऽपि कारणात् कस्मादपि हेतो-  
 रित्यर्थः कदाचित् उत्तरत्वम् उत्तरपक्षत्वं प्रपद्यते अवलम्बते ॥  
 १६२ ॥

तत इति । ततः उत्तरदानानन्तरम् अर्थी सद्यः तत्क्षणात्  
 प्रतिज्ञातस्य अर्थस्य विषयस्य साधनं प्रमाणमूतं कारणं लेख-  
 येत्, तत् साधनन्तु द्विविधं, मानुषं तथा वैदिकम् ॥ १६३ ॥

क्रियेति । लिखितं, भुक्तिः भोगः, साक्षिणश्च इति त्रिविधा  
 क्रिया मानुषं, धटादि तुलादण्डादिरूपं दैवम् । भूतस्य यद्यर्थस्य  
 अलाभात् अप्राप्तेः तद् भव्यं धटादि नियोजयेत् ॥ १६४ ॥

तत्त्वेति । तत्त्वस्य क्लृप्तस्य च अनुसारित्वात् साधनं द्विविधं  
 भूतं भव्यञ्च । सत्यार्थस्य अभिधायि प्रतिपादकं साधनं तत्त्वं,  
 कूटाद्यभिहितं कपटादियुक्तं साधनं क्लृप्तम् ॥ १६५ ॥

क्लृप्तमिति । नृपः युक्त्याः अनुमानतः अनुमानेन च सामा-  
 दिभिः उपक्रमैः उपायैश्च क्लृप्तं निरस्य भूतेन याथार्थ्येन व्यव-  
 हारान् नित्यं सदा नयेत् पश्येदित्यर्थः ॥ १६६ ॥

न कालहरणं कार्यं राजा साधनदर्शने ।

महान् दोषो भवेत् कालाधर्मव्यापत्तिलक्षणः ॥ १६७ ॥

अर्थिप्रत्यर्थिप्रत्यक्षं साधनानि प्रदर्शयेत् ।

अप्रत्यक्षं तयोर्नैव गृह्णीयात् साधनं नृपः ॥ १६८ ॥

साधनानाञ्च ये दोषा वक्तव्यास्ते विवादिना ।

गूढास्तु प्रकटाः सभ्यैः काले शास्त्रप्रदर्शनात् ॥ १६९ ॥

अन्यथा दूषयन् दण्डाः साध्यार्थादेव हीयते ।

विमृश्य साधनं सम्यक् कुर्यात् कार्यविनिर्णयम् ॥ १७० ॥

कूटसाधनकारौ तु दण्डाः कार्यानुरूपतः ।

नेति । राजा साधनदर्शने कालहरणं न कार्यं, कालात्  
कालहरणात् धर्मव्यापत्तिलक्षणः धर्महानिरूपः महान् दोषः  
भवेत् ॥ १६७ ॥

अर्थीति । नृपः अर्थिप्रत्यर्थिनोः प्रत्यक्षं साधनानि प्रदर्शयेत्,  
तयोः अप्रत्यक्षम् असमक्षं साधनं नैव गृह्णीयात् ॥ १६८ ॥

साधनानामिति । साधनानां प्रमाणानां ये दोषाः, ते विवा-  
दिना अर्थिना प्रत्यर्थिना वा वक्तव्याः, गूढाः गुप्तास्तु दोषाः  
सभ्यैः विचारनिधुक्तैः पुरुषैः काले विचारकाले शास्त्राणां प्रदर्श-  
नात् प्रकटाः प्रस्फुटाः यथा तथा वक्तव्या इति शेषः ॥ १६९ ॥

अन्यथेति । अन्यथा अन्येन प्रकारेण अशास्त्रमार्गेणेत्यर्थः  
दूषयन् दण्डाः दण्डनीयः भवति, साध्यार्थात् साधनीयात्  
विषयात् हीयते प्रभ्रश्यते च । तस्मात् साधनं सम्यक् विमृश्य  
विविच्य कार्यनिर्णयं कुर्यात् ॥ १७० ॥

कूटेति । कूटं कपटं साधनं करोतीति तथोक्तः वादी वा

द्विगुणं कूटसाक्षी तु साक्ष्यलोपी तथैव च ॥१७१॥

अधुना लिखितं वच्मि यथावदनुपूर्वशः ।

अनुभूतस्मारकन्तु लिखितं ब्रह्मणा कृतम् ॥१७२॥

राजकीयं लौकिकञ्च द्विविधं लिखितं स्मृतम् ।

स्वहस्तलिखितं वान्यहस्तेनापि विलिखितम् ।

असाक्षिमत् साक्षिमच्च सिद्धिर्देशस्थितेस्तयोः ॥१७३॥

भागदानक्रियादानसंविद्धानऋणादिभिः ।

सप्तधा लौकिकं चैतत् द्विविधं राजशासनम् ।

शासनार्थं ज्ञापनार्थं निर्णयार्थं तृतीयकम् ॥१७४॥

प्रतिवादी कार्यानुरूपतः कार्यस्य अनुरूपात् गौरवलाघवानु-  
सारादित्यर्थः दण्ड्यः । कूटसाक्षी तथा साक्ष्यलोपी साक्ष्य-  
मन्यथा कुर्वन्नित्यर्थः जनः द्विगुणं यथा तथा दण्ड्य इति  
शेषः ॥ १७१ ॥

अधुनेति । अधुना सम्प्रति यथावत् अनुपूर्वशः अनुक्रमेण  
लिखितं साधनमित्यर्थः वच्मि ब्रवीमि । ब्रह्मणा विधात्वा  
अनुभूतस्मारकं पूर्वकृतस्मरणार्थमित्यर्थः लिखितं कृतं निमित्त-  
तम् ॥ १७२ ॥

राजकीयमिति । लिखितं द्विविधं स्मृतं राजकीयं लौकि-  
कञ्च । तदपि द्विविधं स्वहस्तलिखितम् अन्यहस्तलिखितं वा ।  
पुनश्च द्विविधम् असाक्षिकं साक्षिमच्च, देशस्थितेः स्थानानु-  
सारेण उभयोः ससाक्षिकासाक्षिकयोः सिद्धिः भवेदित्यर्थः ॥१७३॥

भागेति । लौकिकञ्च लिखितम् एतत् भागदानक्रियादान-  
संविद्धानऋणादिभिः निमित्तभूतैः सप्तधा सप्तविधमित्यर्थः,

साक्षिमद्रिक्थ्यभिमतं भागपत्रं सुभक्तियुक् ।  
 सिद्धिक्त्वन्यथा पित्रा कृतमप्यकृतं स्मृतम् ॥ १७५ ॥  
 दायादाभिमतं दानक्रयविक्रयपत्रकम् ।  
 स्थावरस्य ग्रामपादिसाक्षिकं सिद्धिक्त्वं स्मृतम् १७६  
 राज्ञा स्वहस्तसंयुक्तं स्वमुद्राचिह्नितं तथा ।  
 राजकीयं स्मृतं लेख्यं प्रकृतिभिश्च मुद्रितम् ॥ १७७ ॥  
 निवेश्य कालं वर्षं च मासं पक्षं तिथिं तथा ।  
 वेलां प्रदेशं विषयं स्थानं जात्याकृती वयः ॥ १७८ ॥

राजशासनन्तु त्रिविधं, शासनार्थम् एकं, ज्ञापनार्थं द्वितीयं,  
 निर्णयार्थं तृतीयम् ॥ १७४ ॥

साक्षिमदिति । साक्षिमत् ससाक्षिकं रिक्थिभिः दायादैः  
 अभिमतं सुभक्तियुक् सुष्ठुरचनायुक्तं भागपत्रं वण्टनलेख्यं  
 सिद्धिक्त्वं, अन्यथा अतथात्वे इत्यर्थः पित्रा कृतमपि भाग-  
 पत्रम् अकृतं स्मृतम् अग्राह्यमित्यर्थः ॥ १७५ ॥

दायादेति । स्थावरस्य भूम्यादेः दानविक्रयपत्रं दानपत्रं  
 विक्रयपत्रं क्रयपत्रञ्च दायादाभिमतं दायादैः अभिमतं सम्मतं  
 ग्रामपादिसाक्षिकं ग्रामाध्यक्षसाक्ष्यसमेतं सत् सिद्धिक्त्वं स्मृतम्  
 ॥ १७६ ॥

राज्ञेति । राजकीयं लेख्यं राज्ञा स्वहस्तसंयुक्तं स्वहस्ता-  
 क्षरितं वा स्वस्य मुद्रया चिह्नितम् अथवा राजानुमत्या प्रकृ-  
 तिभिः राजपुरुषैः मुद्रितं भवतीति शेषः ॥ १७७ ॥

सम्प्रति । लेखनप्रकारमाह निवेश्येत्यादि पक्षे साध्ये  
 कालं वर्षं मासं पक्षं तिथिं वेलां प्रदेशं विषयं स्थानं जात्या-

साध्यं प्रमाणं द्रव्यं च सङ्ख्यां नाम तथात्मनः ।  
 राज्ञां च क्रमशो नाम निवासं साध्यनाम च ।  
 क्रमात् पितृणां नामानि पीडामहर्तृदायकौ ।  
 क्षमालिङ्गानि चान्यानि पक्षे सङ्कीर्त्य लेखयेत् ॥ १५० ॥  
 यत्रैतानि न लिख्यन्ते हीनं लेख्यं तदुच्यते ।  
 भिन्नक्रमं व्युत्क्रमार्थं प्रकीर्णार्थं निरर्थकम् ॥ १५१ ॥  
 अतीतकाललिखितं न स्यात् तत् साधनक्षमम्  
 अप्रगल्भेन च स्त्रिया बलात्कारेण यत् कृतम् ॥ १५२ ॥  
 सङ्गिलेख्यैः साक्षिभिश्च भोगैर्दिव्यैः प्रमाणताम् ।

कृती जातिम् आकृतिश्चेत्यर्थः वयः यौवनादिकं साध्यं प्रमा  
 द्रव्यं संख्याम् आत्मनः नाम च निवेष्ट्य, तथा क्रमशः यथाक्र  
 राज्ञां नाम, निवासं साध्यनाम, पितृणाम् आत्मनः राज्ञाश्च  
 शेषः, नामानि, पीडाम् अभियोगहेतुभूतामित्यर्थः, आह  
 दायकौ अर्जकं दत्तारश्चेत्यर्थः, क्षमालिङ्गानि क्षमाया  
 चिङ्गानि अन्यानि आवश्यकानि च संकीर्त्य लेखयेत् ॥ १५० ॥  
 १७८ ॥ १८० ॥

यत्रेति । अतीतेति । यत्र एतानि उक्तानि न लिख्यन्ते  
 तत् लेख्यं हीनम् अप्रमाणमित्यर्थः उच्यते । यत् भिन्नक्रमं  
 क्रमभङ्गयुतं व्युत्क्रमार्थं विपरीतार्थं प्रकीर्णार्थं विक्षिप्तप्रति  
 पद्यं निरर्थकम् अर्थशून्यं वा अतीतकाललिखितं कालान्त  
 लिखितं, यच्च अप्रगल्भेन अचतुरेण निर्वोधेनेत्यर्थः, वा स्त्री  
 स्त्रीलोकेन अथवा बलात्कारेण कृतं लिखितं तत् लेख्यं साध  
 नक्षमं प्रामाणिकं न स्यात् ॥ १५१ ॥ १५२ ॥

व्यवहारे नरो याति चेहामुवाश्रुते सुखं ॥१८३॥  
 खेतरः कार्यविज्ञानी यः स साक्षी त्वनेकधा ।  
 दृष्टार्थश्च श्रुतार्थश्च कृतश्चैवाकृतो द्विधा ॥१८४॥  
 अर्थिप्रत्यर्थिसान्निध्यादनुभूतं तु प्राग् यथा ।  
 दर्शनैः श्रवणैर्येन स साक्षी तुल्यवाग् यदि ॥१८५॥  
 यस्य नोपहता बुद्धिः स्मृतिः श्रोत्रं च नित्यशः ।  
 सुदीर्घेणापि कालेन स वै साक्षित्वमर्हति ॥१८६॥  
 अनुभूतः सत्यवाग्यः सैव साक्षित्वमर्हति ।

सङ्गिरिति । नरः सङ्गिः निर्दोषैः लेख्यैः साक्षिभिः भोगैश्च  
 तथा दिव्यैः धटादिभिश्च व्यवहारे प्रमाणतां याति प्राप्नोति,  
 इह अस्मिन् लोके अमुत्र परलोके च सुखम् अश्रुते ॥ १८३ ॥

खेतर इति । यः खेतरः स्वस्मात् आत्मनः इतरः अन्यः सन्  
 कार्यविज्ञानी कार्यज्ञानवान् भवति सः साक्षी, स तु त्वने-  
 कधा, दृष्टार्थः श्रुतार्थश्चेति द्विविधः, स पुनः कृतः अकृतश्चेति  
 द्विविधः ॥ १८४ ॥

अर्थीति । येन प्राक् पूर्वम् अर्थिप्रत्यर्थिसान्निध्यात् वादि-  
 प्रतिवादिसकाशात् दर्शनैः श्रवणैर्वा यथा अनुभूतम् अनुभवं  
 विषयीकृतं सः यदि तुल्यवाक् अविरुद्धवाक् भवति तदा साक्षी  
 भवति ॥ १८५ ॥

यस्येति । यस्य बुद्धिः स्मृतिः श्रोत्रञ्च सुदीर्घेणापि बहु-  
 नापि कालेन न उपहता न विलुप्ता भवति, स वै स एव  
 नित्यशः सततं साक्षित्वम् अर्हति ॥ १८६ ॥

अनुभूत इति । यः अनुभूतः अनुभवशक्तिसम्पन्नस्तथा सत्यः

उभयानुमतः साक्षी भवत्येकोऽपि धर्मवित् ॥ १८९ ॥  
 यथाजाति यथावर्णं सर्वे सर्वेषु साक्षिणः ।  
 गृहिणो नपराधीनाः सूरयश्चाप्रवासिनः ॥ १९० ॥  
 युवानः साक्षिणः कार्य्याः स्त्रियः स्त्रीषु च कीर्तिताः ॥ १९१ ॥  
 साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसंग्रहणेषु च ।  
 वाग्दण्डयोश्च पारुष्ये न परीक्षेत साक्षिणः ॥ १९२ ॥  
 बालोऽज्ञानादसत्यात् स्त्री पापाभ्यासाच्च कूटकत्  
 विब्रूयाद् बान्धवः स्नेहाद्वैरनिर्य्यातनादरिः ॥ १९३ ॥  
 वाक् सैव स एव ( सन्धिरार्षः ) साक्षित्वम् अर्हति । यश्च धर्म-  
 वित् धार्मिकः उभयानुमतः वादिप्रतिवादिभ्यां सम्मतः  
 एकोऽपि साक्षी भवति ॥ १८७ ॥

यथेति । यथाजाति जात्यनुसारेण यथावर्णं वर्णानुसारेण  
 सर्वेषु विषयेषु सर्वे गृहिणः गृहस्थाः न पराधीनाः साक्षीनाः  
 इत्यर्थः सूरयः विद्वांसः तथा अप्रवासिनः जनाः साक्षिणः भव-  
 न्तीति शेषः ॥ १८८ ॥

युवान इति । युवानः न तु बालका वा वृद्धा इत्यर्थः साक्षिणः  
 तथा स्त्रीषु विषयेषु स्त्रियः साक्षिण्य इत्यर्थः कीर्तिताः ॥ १८९ ॥  
 साहसेष्विति । सर्वेषु साहसेषु दस्युव्यवहारेषु स्तेयसंग्रह-  
 णेषु चौर्येषु बलात्कारेषु च तथा वाग्दण्डयोः पारुष्ये साक्षिणः  
 न परीक्षेत ये केचन साक्षिणो भवन्तीति भावः ॥ १९० ॥

बाल इत्यादि । बालः शिशुः अज्ञानात्, स्त्री असत्यात्  
 कूटकत् कपटकारी पापाभ्यासात् पापानुष्ठानसातत्यात्  
 बान्धवः स्नेहात्, अरिः शत्रुः वैरनिर्य्यातनात्, विजातिः अ-

अभिमानाच्च लोभाच्च विजातिश्च शठस्तथा ।

उपजीवनसङ्कोचाद्भृत्यश्चैते ह्यसाक्षिणः ।

नार्थसम्बन्धिनो विद्यायौनसम्बन्धिनोऽपि न ॥ १८२

श्रेण्यादिषु च वर्गेषु कश्चिच्चेद् द्वेष्यतामियात् ।

तस्य तेभ्यो न साक्ष्यं स्याद्द्वेष्टारः सर्व एव ते ॥ १८३

न कालहरणं कार्यं राज्ञा साक्षिप्रभाषणे ।

अर्थिप्रत्यर्थिसान्निध्ये साध्यार्थेऽपि च सन्निधौ ॥ १८४

प्रत्यक्षं वादयेत् साक्ष्यं न परोक्षं कथञ्चन ।

नाङ्गीकरोति यः साक्ष्यं दण्ड्यः स्याद्देशितो यदि ॥ १८५

कृष्टजातिः अभिमानात् आत्मनः मानवर्द्धनप्रत्याशयोगादि-  
त्यर्थः शठः लोभात्, तथा भृत्यः उपजीवनसङ्कोचात् उपजीव-  
नस्य जीविकायाः सङ्कोचो भवेदिति भयादित्यर्थः विब्रूवात्  
विरुद्धं वदेत्, तस्मात् एते बालादयः असाक्षिणः साक्षित्वं  
नार्हन्तीत्यर्थः, किञ्च अर्थसम्बन्धिनः अर्थेन सम्बन्धवन्तः न,  
तथा विद्यायौनसम्बन्धिनः सहाध्यायिनः जामात्रादयश्चेत्यर्थः  
न साक्षिणो भवन्तीत्यर्थः ॥ १८१ ॥ १८२ ॥

श्रेण्यादिषु इति । श्रेण्यादिषु जातिविशेषेषु वर्गेषु गणेषु  
सम्प्रदायविशेषेषु च मध्ये चेत् यदि कश्चित् जनः द्वेष्यतां शत्रु-  
ताम् इयात् तदा तेभ्यः श्रेण्यादिभ्यः वर्गेभ्यश्च सकाशात् तस्य  
विद्वेषिणः जनस्य साक्ष्यं न स्यात्, यस्मात् ते सर्व एव द्वेष्टारः  
विद्वेषिणः भवन्तीति शेषः ॥ १८३ ॥

नेति । राज्ञा अर्थिप्रत्यर्थिनोः सान्निध्ये समक्षं साक्षि-  
प्रभाषणे साक्षिणां प्रभाषणे वचने तथा सन्निधौ तयोः समक्ष-

यः साक्षान्नैव निर्दिष्टो नाहृतो नैव देशितः ।

ब्रूयात् मिथ्येति तथ्यं वा दण्ड्यः सोऽपि नराधमः ॥१८६॥

द्वैधे बहूनां वचनं समेषु गुणिनां वचः ।

तत्राधिकगुणानां च गृह्णीयाद्वचनं सदा ॥१८७॥

यत्रानियुक्तोऽपि चेत् शृणुयाद्वापि किञ्चन ।

पृष्टस्तत्रापि सो ब्रूयाद् यथादृष्टं यथाश्रुतम् ॥१८८॥

विभिन्नकाले यज्ज्ञातं साक्षिभिश्चांशतः पृथक् ।

एकैकं वादयेत्तत्र विधिरेष सनातनः ॥१८९॥

मित्यर्थः साध्यार्थं साधनीये अर्थे विषयेऽपि कालहरणं न कार्यम् । किञ्च प्रत्यक्षम् उभयोः समक्षं साक्ष्यं वादयेत्, कश्चन परोक्षं न वादयेदित्यर्थः । यश्च देशितः यदि आदिष्टोऽपीत्यर्थः साक्ष्यं न अङ्गीकरोति, सः दण्ड्यः स्यात् ॥१८४॥१८५॥

य इति । यः साक्षात् विचारकसन्निधाने इत्यर्थः निर्दिष्टः साक्षित्वेन प्रदर्शित इत्यर्थः न, आहुतः न देशितः आदिष्टश्च न, स चेत् मिथ्या वा तथ्यं ब्रूयात् सदा सः अपि नराधमः दण्ड्यः दण्डनीयो भवतीत्यर्थः ॥ १८६ ॥

द्वैधे इति । द्वैधे साक्षिणां वचनेषु अनैक्यवशात् संशये सतीत्यर्थः बहूनां वचनं, समेषु तुल्येषु समसंख्येषु भिन्नवचनेष्वित्यर्थः मध्ये गुणिनां गुणवतां वचः, तत्रापि सर्वेषु गुणेष्वित्यर्थः अधिकगुणानां वचनं सदा गृह्णीयात् ॥ १८७ ॥

यत्रेति । यत्र अनियुक्तोऽपि जनः यदि किञ्चन ईचेत् वा शृणुयात् तत्र सः पृष्टः सन् यथादृष्टं यथाश्रुतं ब्रूयात् ॥ १८८ ॥

विभिन्नकाले इति । विभिन्नकाले पृथक् पृथक् समये

स्वभावोक्तं वचस्तेषां गृह्णीयान्न बलात् क्वचित् ।  
 उक्ते तु साक्षिणा साक्ष्ये न प्रष्टव्यं पुनः पुनः॥२००॥  
 आह्वय साक्षिणः पृच्छेन्नियम्य शपथैर्भृशम् ।  
 पौराणैः सत्यवचन-धर्ममाहात्म्यकीर्त्तनैः ।  
 अनृतस्यातिदोषैश्च भृशमुक्तासयेच्छनैः ॥२०१॥  
 देशे काले कथं कस्मात् किं दृष्टं वा श्रुतं त्वया ।  
 लिखितं लेखितं यत् तद् वद सत्यं तदेव हि॥२०२

साक्षिभिः अंशतः पृथक् पृथक् यत् ज्ञातं, तत् एकैकं वादयेत्,  
 वाचयेत्, तत्र एषः विधिः एकैकवादनरूपः सनातनः चिर-  
 प्रचलितः ॥ १८८ ॥

स्वभावोक्तमिति । तेषां साक्षिणां स्वभावोक्तं स्वाभाविकं  
 वचः गृह्णीयात् बलात् बलमाश्रित्य इत्यर्थः क्वचित् कदाचित्  
 न गृह्णीयादित्यर्थः । साक्षिणा च साक्ष्ये उक्ते सति पुनः पुनः  
 न प्रष्टव्यं तं साक्षिणं प्रतीति शेषः ॥ २०० ॥

आह्वयेति । साक्षिणः आह्वय शपथैः भृशम् अत्यर्थं नियम्य  
 आयत्तीकृत्य पृच्छेत् तथा पौराणैः पुराणोक्तैः सत्यवचनरूप-  
 धर्मस्य माहात्म्यकीर्त्तनैः, अनृतस्य असत्यस्य अतिदोषैः अति-  
 दोषकीर्त्तनैश्च वक्ष्यमाणैरिति शेषः भृशम् अत्यर्थं शनैः मन्द-  
 मन्दम् उक्तासयेत् ॥ २०१ ॥

पृच्छाप्रकारमाह देशे इति । देशे कस्मिन् स्थाने, काले  
 कस्मिन् समये, कथं केन प्रकारेण कस्मात् हेतोः त्वया किं दृष्टं  
 वा श्रुतं, यच्च लिखितं लेखितञ्च तत् तत् सत्यं वद हिशब्दः  
 अवधारणार्थः ॥ २०२ ॥

सत्यं साध्यं ब्रुवन् साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान्  
 इह चानुत्तमां कीर्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता ॥२०३॥  
 सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्द्धते ।  
 तस्मात् सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः ॥२०४॥  
 आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मैव ह्यात्मनः ।  
 मावसंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षित्वमुत्तमम् ॥२०५॥  
 मन्यते वै पापकारी न कश्चित् पश्यतीति माम् ।  
 तांश्च देवाः प्रपश्यन्ति तथा ह्यन्तरपुरुषः ॥२०६॥

सत्यमिति । साक्षी सत्यं साध्यं ब्रुवन् पुष्कलान् महतः  
 लोकान्, इह च अनुत्तमां कीर्तिम् आप्नोति एषा वाक् ब्रह्म-  
 पूजिता ब्रह्मणा प्रशंसिता ॥ २०३ ॥

सत्येनेति । साक्षी सत्येन पूयते पवित्रो भवति, धर्मः सत्येन  
 सत्यकथनेन वर्द्धते । तस्मात् सर्ववर्णेषु साक्षिभिः सत्यं हि सत्य-  
 मेव वक्तव्यम् ॥ २०४ ॥

आत्मैवेति । आत्मा एव अन्तर्यामी पुरुष एव आत्मनः  
 जीवस्य साक्षी पापपुण्यकर्मणां द्रष्टा, आत्मा एव आत्मनः  
 गतिः आश्रयः तस्मात् त्वं नृणाम् अभियोगमापन्नानाम् उत्तमं  
 साक्षिणम् आत्मानं मा अवसंस्थाः अवमानितं मा कार्षी-  
 रित्यर्थः ॥ २०५ ॥

मन्यते इति । पापकारी जनः, कश्चित् मां न पश्यतीति  
 मन्यते वैशब्दोऽवधारणार्थः । देवाः तथा अन्तरपुरुषः अन्त-  
 र्यामी तान् साक्षिणः प्रपश्यन्ति ॥ २०६ ॥

सुकृतं यत् त्वया किञ्चित् जन्मान्तरशतैः कृतम् ।

तत् सर्वं तस्य जानीहि यं पराजयसे मृषा ।

समाप्नोषि च तत्पापं शतजन्मकृतं सदा ॥२०७॥

साक्षिणं श्रावयेदेव सभायामरहोगतम् ॥२०८॥

दद्यादेशानुरूपं तु कालं साधनदर्शने ।

उपाधिं वा समीक्ष्यैव दैवराजकृतं सदा ॥२०९॥

विनष्टे लिखिते राजा साक्षिभोगैर्विचारयेत् ।

लेखसाक्षिविनाशे तु सङ्गोगादेव चिन्तयेत् ॥२१०॥

सङ्गोगाभावतः साक्षिलेखतो विमृशेत् सदा ।

सुकृतमिति । समाप्नोषीति । त्वया जन्मान्तरशतैः यत् किञ्चित् सुकृतं कृतं तत् सर्वं, यं मृषा असत्यवचनेन पराजयसे तस्य भवेदिति शेषः जानीहि बुध्यस्व । किञ्च शतजन्मकृतं तत्पापं तस्य पराजेतुमिष्टस्य जनस्य पापं सदा समाप्नोषि लभसे च, एवंप्रकारेण सभायाम् अरहोगतं सर्वसमक्षवर्तिनं साक्षिणं श्रावयेत् ॥ २०७ ॥ २०८ ॥

दद्यादिति । राजा सदा देशानुरूपं स्थानोपयुक्तं वा दैवराजकृतम् उपाधिं निमित्तं समीक्ष्य विविच्य साधनदर्शने प्रमाणप्रदर्शने कालं समयं दद्यात् ॥ २०९ ॥

विनष्टे इति । लिखिते लेख्ये प्रमाणे विनष्टे सति राजा साक्षिभिः भोगैश्च प्रमाणैः विचारयेत् । तथा लेखस्य साक्षिणश्च विनाशे सति सदभोगात् उत्तमात् अक्षुषादित्यर्थः भोगात् एव चिन्तयेत् विचारयेत् ॥ २१० ॥

सङ्गोगाभावत इति । सङ्गोगाभावतः उत्तमभोगाभावे सती-

केवलेन च भोगेन लेखेनापि च साक्षिभिः ॥२११॥  
 कार्य्यं न चिन्तयेद्राजा लोकदेशादि धर्मतः ॥२१२॥  
 कुशला लेख्यविम्बानि कुर्वन्ति कुटिलाः सदा ।  
 तस्मान्न लेख्यसामर्थ्यात् सिद्धिरैकान्तिकी मता ॥२१३॥  
 स्नेहलोभभयक्रोधैः कूटसाक्षित्वशङ्कया ।  
 केवलैः साक्षिभिर्नैव कार्य्यं सिध्यति सर्वदा ॥२१४॥  
 अस्वामिकं स्वामिकं वा भुङ्क्ते यद् बलदर्पतः ।  
 इति शङ्कितभोगैर्न कार्य्यं सिध्यति केवलैः ॥२१५॥

त्यर्थः सदा साक्षिलेखतः साक्षिभिः लेख्यैश्च विमृशेत् विचार-  
 येत् । किञ्च केवलेन भोगेन, केवलेन लेखेन वा केवलैः  
 साक्षिभिश्च विमृशेत् ॥ २११ ॥

कार्य्यमिति । लोकदेशादिधर्मतः लोकं देशादिं स्थान-  
 प्रभृतिं धर्मञ्च अनुरुध्य इत्यर्थः यवर्थे पञ्चमी । अयं महान् वा  
 निकृष्टः अयम् उत्कृष्टोदेशः वा नीचदेशः अयं परधर्मः वा  
 नीचधर्म इत्येवं विविच्य इत्यर्थः कार्य्यं न चिन्तयेत् न विचार-  
 येत् इत्यर्थः ॥ २१२ ॥

कुशला इति । कुशलाः निपुणाः कुटिलाः दुर्जनाः सदा  
 लेख्यविम्बानि अनुरूपाणि लेख्यानि कुर्वन्ति, तस्मात् लेख्यस्य  
 सामर्थ्यात् बलात् ऐकान्तिकी सिद्धिः न मता ॥ २१३ ॥

स्नेहेति । स्नेहेन, लोभेन, भयेन, क्रोधेन च तथा कूटसाक्षि-  
 त्वशङ्कया केवलैः साक्षिभिः सर्वदा कार्य्यं नैव सिध्यति ॥२१४॥

अस्वामिकमिति । यत् यस्मात् लोकः बलदर्पतः बलात्  
 दर्पाच्च अस्वामिकं स्वामिकं सस्वामिकमित्यर्थः वा भुङ्क्ते, इति

शङ्कितव्यवहारेषु शङ्कयेदन्यथा न हि ।

अन्यथा शङ्कितान् सभ्यान् दण्डयेच्चोरवन्नृपः ॥ २१६ ॥

अन्यथा शङ्कनान्नित्यमनवस्था प्रजायते ।

लोको विभिद्यते धर्मो व्यवहारश्च हीयते ॥ २१७ ॥

सागमो दीर्घकालश्च निराक्रोशो निरन्तरः ।

प्रत्यर्थिसन्निधानश्च भुक्तो भोगः प्रमाणवत् ॥ २१८ ॥

सम्भोगं कीर्तयेद्यस्तु केवलं नागमं क्वचित् ।

भोगच्छलापदेशेन विज्ञेयः स तु तत्स्करः ॥ २१९ ॥

शङ्कितभोगैः इत्थं शङ्कायुक्तैः केवलैः भोगैरित्यर्थः कार्यं न सिध्यति ॥ २१५ ॥

शङ्कितेति । नृपः शङ्कितव्यवहारेषु शङ्कायुक्तेषु व्यवहारेषु शङ्कयेत् अन्यथा न हि नैव शङ्कयेदित्यर्थः । अन्यथा शङ्कितान् सभ्यान् चोरवत् दण्डयेत् ॥ २१६ ॥

अन्यथेति । अन्यथा शङ्कनात् नित्यं सततम् अनवस्था अस्थितिः प्रजायते, लोकः विभिद्यते भेदं गच्छति, धर्मः व्यवहारश्च हीयते विच्युतो भवति ॥ २१७ ॥

सागम इति । सागमः आगमेन प्रतिग्रहक्रयादिरूपेण अर्जनेन सहितः, दीर्घकालः बहुकालिकः निराक्रोशः अन्याक्रोशरहितः निरन्तरः क्रमागतः प्रत्यर्थिसन्निधानः प्रतिवादि-सन्निहितश्च भुक्तः भोगः प्रमाणवत् प्रमाणतुल्यः ॥ २१८ ॥

सम्भोगमिति । यस्तु केवलं सम्भोगं कीर्तयेत् क्वचित् कदाचित् आगमं न, स तु भोगच्छलापदेशेन भोगरूपच्छलावलम्बेन तत्स्करः चौरः विज्ञेयः ॥ २१९ ॥

आगमेऽपि बलं नैव भुक्तिस्तोकापि यत्र नो ॥२२०॥  
 यं कञ्चिदशवर्षाणि सन्निधौ प्रेक्षते धनी ।  
 भुज्यमानं परैरर्थं न स तं लब्धुमर्हति ॥२२१॥  
 वर्षाणि विंशतिर्यस्य भूर्भुक्ता तु परैरिह ।  
 सति राज्ञि समर्थस्य तस्य सेह न सिध्यति ॥२२२॥  
 अनागमं तु यो भुङ्क्ते बह्वन्यद्दशतान्यपि ।  
 चौरदण्डेन तं पापं दण्डयेत् पृथिवीपतिः ॥२२३॥  
 अनागमापि या भुक्तिर्विच्छेदोपरमोज्झिता ।  
 षष्टिवर्षात्मिका सापहर्तुं शक्या न केनचित् ॥२२४॥

आगमेऽपि इति । यत्र स्तोका अल्पापि भुक्तिः नो, न  
 विद्यते इत्यर्थः तत्र आगमेऽपि बलं न अस्तीति शेषः । एतेन  
 सागमो भोग एव प्रमाणमित्युक्तम् ॥ २२० ॥

यमिति । धनी यं कञ्चित् अर्थं परैः अन्यैः सन्निधौ स्व-  
 मीपे इत्यर्थः दशवर्षाणि व्याप्य भुज्यमानं प्रेक्षते, सः तम् अर्थं  
 लब्धुं न अर्हति न समर्थो भवतीत्यर्थः ॥ २२१ ॥

वर्षाणीति । इह जगति यस्य भूः भूमिः विंशतिः वर्षाणि  
 व्याप्य परैः भुक्ता, सति राज्ञि राजनि विद्यमानेऽपि समर्थस्य  
 बलवतोऽपि तस्य सा भूः इह संसारे न सिध्यति न घटते  
 इत्यर्थः ॥ २२२ ॥

अनागममिति । यः बह्वनि अद्दशतानि वर्षशतानि व्याप्य  
 अनागमम् आगमं विना परद्रव्यं भुङ्क्ते, पृथिवीपतिः चौर-  
 दण्डेन तं पापं दण्डयेत् ॥ २२३ ॥

अनागमापीति । या भुक्तिः अनागमा आगमेन विरहितापि

आधिः सीमा बालधनं निक्षेपोपनिधिस्तथा ।

राजस्वं श्रोत्रियस्वं च न भोगेन प्रणश्यति ॥२२५॥

उपेक्षां कुर्वतस्तस्य तूष्णीम्भूतस्य तिष्ठतः ।

काले विपन्ने पूर्वोक्ते तत् फलं नाप्नुते धनी ॥२२६॥

भोगः संक्षेपतश्चोक्तस्तथा दिव्यमयोच्यते ।

प्रमादाद्भनिनो यत्र त्रिविधं साधनं न चेत् ॥२२७॥

अर्थं चापङ्गुते वादी ततोक्तस्त्रिविधो विधिः ॥२२८॥

षष्टिवर्षात्मिका षष्टिवर्षव्यापिनी तथा विच्छेदोपरमोज्जिता  
विच्छेदेन उपरमेण निवृत्त्या च उज्जिता हीना भवति, सा  
केनचित् केनऽपि अपहर्तुं न शक्या ॥ २२४ ॥

आधिरिति । आधिः बन्धकद्रव्यं, सीमा, बालधनम् अप्राप्त-  
वयस्कस्य धनं निक्षेपः गच्छितद्रव्यम् उपनिधिः विश्वासात्  
परहस्ते न्यासीकृतं गृहक्षेत्रादि निक्षेपोपनिध्योरस्थावरत्व-  
स्थावरत्वाभ्यां विशेषोऽवगन्तव्यः । तथा राजस्वं श्रोत्रियस्त्वञ्च  
ब्रह्मस्वमित्यर्थः भोगेन न प्रणश्यति ॥ २२५ ॥

उपेक्षामिति । उपेक्षां कुर्वतः तूष्णीम्भूतस्य तिष्ठतः तस्य  
धनिन इत्यर्थः पूर्वोक्ते निर्धारिते काले द्रव्यभोगस्येति भावः  
विपन्ने अतीते सति धनी तत् फलं तस्य द्रव्यस्य फलं न आप्नुते  
न लभते कालातिक्रमस्य स्वत्वध्वंसकत्वेन निर्धारणादिति  
भावः ॥ २२६ ॥

भोग इति । भोगः संक्षेपतः संक्षेपेण तथा तेन प्रकारेण  
उक्तः कथितः, अथ इदानीं दिव्यं प्रमाणम् उच्यते, यत्र धनिनः  
प्रमादात् अनवधानवशात् त्रिविधम् उक्तरूपं लेख्यसाक्षिभोगा-

चोदनाप्रतिकालश्च युक्तिलेशस्तथैव च ।

तृतीयः शपथः प्रोक्तस्तैरेवं साधयेत् क्रमात् ॥२२८॥

विशिष्टतर्किता या च शास्त्रशिष्टाविरोधिनी ।

योजना स्वार्थसंसिद्धौ सा युक्तिस्तु न चान्यथा ॥२३०॥

दानं प्रज्ञापना भेदः सम्प्रलोभक्रिया च या ।

चित्तापनयनं चैव हेतवो हि विभावकाः ॥२३१॥

अभीक्ष्णं चोद्यमानोऽपि प्रतिहन्यान्न तद्वचः ।

त्रिचतुःपञ्चकृत्वो वा परतोऽर्थं स दाप्यते ॥२३२॥

तत्कं साधनं प्रमाणं न चेत् घटते वादी च अर्थम् अपङ्गुते वञ्च-  
यति तत्र त्रिविधः विधिः उपायः उक्तः ॥ २२७ ॥ २२८ ॥

चोदनेति । चोदनाप्रतिकालः प्रथमः युक्तिलेशः द्वितीयः,  
शपथः तृतीयः प्रोक्तः कथितः तैः त्रिभिर्विधिभिः क्रमात्  
साधयेत् तत्त्वं निश्चिनुयादित्यर्थः ॥ २२८ ॥

विशिष्टेति । विशिष्टतर्किता विशिष्टतर्कसमेता शास्त्र-  
शिष्टे च अवरोधिनी शास्त्रशिष्टसम्प्रता इत्यर्थः या योजना सा  
युक्तिः सा एव स्वार्थस्य स्वकार्यस्य संसिद्धौ सम्यक् सिद्धे  
भवति, अन्यथा न हि नैव ॥ २३० ॥

दानमिति । दानं प्रज्ञापना प्रकर्षेण ज्ञापनं भेदः मनोभङ्गः  
सम्प्रलोभक्रिया सम्यक् लोभप्रदर्शनं तथा चित्तस्य मनसः अप-  
नयनम् अपसारणं निश्चितविषयेभ्य इति शेषः एते पञ्च विभा-  
वकाः साधका हेतवः ॥ २३१ ॥

अभीक्ष्णमिति । अभीक्ष्णं पुनः पुनः त्रिचतुःपञ्चकृत्वो वा  
चोद्यमानः अनुरुध्यमानः अपि यदा तत् वचः अनुरोधवचनं

युक्तिष्वप्यसमर्थासु दिव्यैरेनं विमर्दयेत् ॥२३३॥

यस्मादेवैः प्रयुक्तानि दुष्कारार्थे महात्मभिः ।

परस्परविशुद्ध्यर्थं तस्माद्दिव्यानि नामतः ॥२३४॥

सप्तर्षिभिश्च भिस्मार्थे स्वीकृतान्यात्मशुद्ध्ये ॥२३५॥

स्वमहत्वाच्च यो दिव्यं न कुर्यात् ज्ञानदर्पतः ।

वसिष्ठाद्याश्रितं नित्यं स नरो धर्मतस्करः ॥२३६॥

प्राप्ते दिव्येऽपि न शपेद् ब्राह्मणो ज्ञानदुर्बलः ।

संहरन्ति च धर्मार्थं तस्य देवा न संशयः ॥२३७॥

न प्रतिहन्त्यात् तदा परतः अनन्तरं सः अर्थं दाप्यते ॥ २३२ ॥

युक्तिष्विति । युक्तिषु असमर्थासु अवसन्नासु सतीषु दिव्यैः  
शपथादिभिः एवं प्रतिवादिनं विमर्दयेत् शासयेत् ॥ २३३ ॥

यस्मादिति । यस्मात् महात्मभिः देवैः दुष्कारार्थे असाध्य-  
विषये परस्परविशुद्ध्यर्थं प्रयुक्तानि, तस्मात् नामतः नाम्ना  
दिव्यानि उच्यन्ते इति शेषः ॥ २३४ ॥

सप्तर्षिभिरिति । सप्तर्षिभिः मरीचादिभिश्च भिस्मार्थे  
अन्वार्थे आत्मशुद्ध्ये अन्नहरणदोषक्षालनायेत्यर्थः दिव्यानि  
स्वीकृतानि अङ्गीकृतानि ॥ २३५ ॥

सहत्वादिति । यश्च स्वस्य महत्त्वात् ज्ञानदर्पतः ज्ञानदर्पाच्च  
नित्यं वसिष्ठादिभिः सप्तर्षिभिः आश्रितं स्वीकृतं दिव्यं न कुर्यात्  
स नरः धर्मतस्करः ॥ २३६ ॥

प्राप्ते इति । यः ज्ञानदुर्बलः ज्ञानहीनः ब्राह्मणः दिव्ये प्राप्ते  
उपस्थितेऽपि न शपेत् न दिव्यं कुर्यात् देवाः तस्य धर्मार्थं  
धर्मम् अर्थश्च संहरन्ति न संशयः ॥ २३७ ॥

यस्तु स्वशुद्धिमन्विच्छन् दिव्यं कुर्यादतन्द्रितः ।  
 विशुद्धो लभते कीर्त्तिं स्वर्गं चैवान्यथा न हि ॥२३८॥  
 अग्निर्विषं धटस्तोयं धर्माधर्मौ च तण्डुलाः ।  
 शपथाश्चैव निर्दिष्टा मुनिभिर्दिव्यनिर्णये ॥२३९॥  
 पूर्वं पूर्वं गुरुतरं कार्यं दृष्ट्वा नियोजयेत् ।  
 लोकप्रत्ययतः प्रोक्तं सर्वं दिव्यं गुरु स्मृतम् ॥२४०॥  
 तप्तायोगोलकां धृत्वा गच्छेन्नवपदं करे ।  
 तप्ताङ्गारेषु वा गच्छेत् पद्भ्यां सप्त पदानि हि ॥२४१॥  
 तप्ततैलगतं लोहमाषं हस्तेन निर्हरेत् ।  
 सुतप्तलोहपत्रं वा जिह्वया संलिहेदपि ॥२४२॥

य इति । यस्तु स्वशुद्धिम् अन्विच्छन् अनुसरन् अतन्द्रितः  
 अनलसः सन् दिव्यं कुर्यात्, सः विशुद्धः सन् कीर्त्तिं स्वर्गं  
 लभते, अन्यथा, दिव्याकरणे इत्यर्थः न हि, नैव लभते इत्यर्थः  
 ॥ २३८ ॥

अग्निरिति । अग्निः, विषं, धटः, तोयं जलं, धर्मः अधर्मः  
 तण्डुलाः शपथाश्च एते मुनिभिः दिव्यनिर्णये निर्दिष्टाः ॥२३९॥

पूर्वमिति । कार्यं दृष्ट्वा लोकप्रत्ययतः लोकानां विज्ञासात्  
 पूर्वं पूर्वं गुरुतरं दिव्यं नियोजयेत्, किन्तु प्रोक्तं कथितं सर्वं  
 दिव्यं गुरु स्मृतम् ॥ २४० ॥

अग्निपरीक्षामाह तप्तेति । करे हस्ते तप्तम् अयोगोदा  
 लौहपिण्डं धृत्वा नवपदं गच्छेत् । वा अथवा तप्तेषु ज्वल  
 अङ्गारेषु पद्भ्यां सप्तपदानि गच्छेत् । किंवा हस्तेन तप्ततैलगतं

गरं प्रभक्षयेद्वस्तैः कृष्णसर्पं समुद्धरेत् ॥२४३॥

कृत्वा स्वस्य तुलासाम्यं हीनाधिक्यं विशोधयेत् ॥२४४॥

खेष्टदेवस्त्रपनजमद्यादुदकमुत्तमम् ।

यावन्नियमितः कालस्तावदप्सु निमज्जयेत् ॥२४५॥

अधर्मधर्ममूर्तीनामदृष्टहरणं तथा ॥२४६॥

कर्षमावांस्तण्डुलांश्च चर्वयेच्च विशङ्कितः ॥२४७॥

तेषु तैलेषु स्थितं लोहमापं मापपरिमितं लोहं निर्हरेत्

स्मात् निष्काशयेदित्यर्थः । वा अथवा जिह्वया सुतप्तम् अति-

प्तं ज्वलदित्यर्थः लोहपत्रं लोहदण्डं संलिङ्हेत् सस्यक् स्पृशे-

दित्यर्थः ॥ २४१ ॥ २४२ ॥

विषपरीक्षामाह गरमिति । गरं विषं प्रभक्षयेत् वा हस्तैः

कृष्णसर्पं समुद्धरेत् ॥ २४३ ॥

धटपरीक्षामाह कृत्वेति । स्वस्य आत्मनः तुलासाम्यं कृत्वा

हीनाधिक्यं विशोधयेत् यदि हीनः वा अधिकः भवति तदा

विशेदिति भावः ॥ २४४ ॥

तोयपरीक्षामाह खेष्टेति । स्वस्य आत्मनः यः इष्टदेवः तस्य

पनात् जनितम् उत्तमम् उदकम् अद्यात् पिबेत् अभियुक्तं

ति शेषः । ततः यावन्नियमितः निर्धारितः कालः, तावत्

कालं व्याप्येत्यर्थः अप्सु जलेषु निमज्जयेत् अभियुक्तं राजेति

द्वयमूह्यम् ॥ २४५ ॥

धर्माधर्मपरीक्षामाह अधर्मेति । अधर्ममूर्तीनां पापानां

धर्ममूर्तीनां सुकृतानाञ्च अदृष्टस्य फलजनकापूर्वस्य हरणं वर्धनं

पश्येत्यर्थः कर्तव्यमिति शेषः अयमर्थः यदि मया एतत्

कृतं कृतं तदा मम सर्वाणि सुकृतानि विफलानि भवन्तु

स्पर्शयेत् पूज्यपादांश्च पुत्रादीनां शिरांसि च ।  
 धनानि संस्पृशेद्राक् तु सत्येनापि शपेत् तथा ।  
 दुष्कृतं प्राप्नुयां यद्यत् सर्वं नश्येत्तु सत्कृतम् ॥२४८॥  
 सहस्रेऽपहृते चाग्निः पादोने च विषं स्मृतम् ।  
 त्रिभागोने धटः प्रोक्तो ह्यर्धे च सलिलं तथा ॥२४९॥  
 धर्माधर्मौ तदर्धे च ह्यष्टमांशे च तण्डुलाः ।  
 षोडशंशे च शपथा एवं दिव्यविधिः स्मृतः ॥२५०॥

दुष्कृतानि च वर्द्धन्ताम् इत्येवंरूपः शपथः कर्त्तव्य इति ॥२४८॥

तण्डुलपरीक्षामाह—कर्षमात्रानिति । विशङ्कितः निःशङ्कः  
 सन् कर्षमात्रान् कर्षपरिमितान् तण्डुलान् चर्वयेच्च ॥ २४७ ॥

अन्यान् शपथानाह । स्पर्शयेदिति । पूज्यपादान् गुरुषु  
 स्पर्शयेत्, पुत्रादीनां शिरांसि धनानि संस्पृशेत् तथा द्राक्  
 भटिति सत्येनापि शपेत् यदि मया एतत् दुष्कृतं कृतं तदा  
 मम गुरवः नरके निपतन्तु, पुत्रादयः धनानि च नश्यन्तु,  
 सत्यञ्च सर्वं मिथ्या भवतु इत्येवं शपथं कुर्यादिति भावः ।  
 किञ्च यत् यत् दुष्कृतमस्ति तत्तत् अहं प्राप्नुयां, सर्वञ्च सत्कृतं  
 नश्येत् तुशब्दः अवधारणार्थः ॥ २४८ ॥

सहस्र इति । सहस्रे अपहृते अग्निः स्मृतः । पादोने चतुर्थं  
 भागहीने सहस्रे पञ्चाशदधिकसप्तशते इत्यर्थः अपहृते विषं  
 स्मृतम् । त्रिभागेण ऊने तृतीयभागहीने सहस्रे अपहृते धटः  
 प्रोक्तः । अर्धे पञ्चशते अपहृते तु इत्यर्थः सलिलं स्मृतम् ॥ २४९ ॥

धर्मेति । तदर्धे पञ्चशदधिकशतद्वये अपहृते इत्यर्थः धर्मा  
 धर्मौ स्मृतौ अष्टमांशे पञ्चविंशत्यधिकशते अपहृते इत्यर्थः

एषा संख्या निष्कृष्टानां मध्यानां द्विगुणा स्मृता ।  
 चतुर्गुणोत्तमानां च कल्पनीया परीक्षकैः ॥२५१॥  
 शिरोवर्त्ती यदा न स्यात् तदा दिव्यं न दीयते ।  
 अभियोक्ता शिरः स्थाने दिव्येषु परिकीर्त्यते ॥२५२॥  
 अभियुक्ताय दातव्यं दिव्यं श्रुतिनिदर्शनात् ।  
 न कश्चिदभियोक्तारं दिव्येषु विनियोजयेत् ॥२५३॥  
 इच्छया त्वितरः कुर्यादितरो वर्त्तयेच्छिरः ॥२५४॥

तण्डुलाः स्मृताः । षोडशांशे सार्द्धद्विषष्टिसंख्यके अपहृते इत्यर्थः  
 अन्ये शपथाः स्मृताः । एवम् उक्तरूपः दिव्यविधिः स्मृतः  
 कथितः ॥ २५० ॥

एषेति । परीक्षकैः राजपुरुषैः निष्कृष्टानां नीचानाम् एषा  
 उक्तरूपा संख्या, मध्यानां मानवानाम् एतद् द्विगुणा स्मृता ।  
 उत्तमानाञ्च चतुर्गुणा कल्पनीया ॥ २५१ ॥

शिर इति । यदा अभियोक्ता शिरोवर्त्ती अग्रवर्त्ती सम्मुख-  
 स्थितः न स्यात् तदा दिव्यं न दीयते अभियोक्ता दिव्येषु दीय-  
 मानेष्वित्यर्थः शिरः स्थाने परिकीर्त्यते शिरोवर्त्ती भवेदिति  
 कथ्यते ॥ २५२ ॥

अभियुक्तायेति श्रुतिनिदर्शनात् वेदविधानात् अभियुक्ताय  
 दिव्यं दातव्यम् । कश्चित् जनः अभियोक्तारं दिव्येषु न विनि-  
 योजयेत् ॥ २५३ ॥

इच्छयेति । इच्छया तु अभियुक्तस्येति भावः इतरः अभि-  
 योक्ता कुर्यात् दिव्यमिति शेषः । तदा इतरः स एव शिरः  
 वर्त्तयेत् अभियोक्तृशिरसि तिष्ठेदित्यर्थः ॥ २५४ ॥

पार्थिवैः शङ्कितानां च निर्दिष्टानां च दस्युभिः ।  
 आत्मशुद्धिपराणां च दिव्यं देयं शिरो विना ॥२५५॥  
 परदाराभिशापे च ह्यगम्यागमनेषु च ।  
 महापातकशस्ते च दिव्यमेव न चान्यथा ॥२५६॥  
 चौर्याभिशङ्कायुक्तानां तप्तमाषो विधीयते ॥२५७॥  
 प्राणान्तिकविवादे तु विद्यमानेऽपि साधने ।  
 दिव्यमालम्बते वादी न पृच्छेत् तत्र साधनम् २५८॥  
 सोपधं साधनं यत्र तद्राज्ञे आवितं यदि ।

पार्थिवैरिति । दस्युभिः निर्दिष्टानां दूषितत्वेन प्रदर्शितानां  
 अत एव पार्थिवैः राजभिः शङ्कितानाम् आत्मशुद्धिपराणां स्व-  
 दोषद्वालनार्थिनां मानवानां शिरः कस्यापि शिरसि अवस्थानं  
 विना दिव्यं देयम् ॥ २५५ ॥

परदारिति । परदाराभिशापे परस्त्रीगमनाभियोगे, अग-  
 म्यानां विमातृप्रभृतीनां गमनेषु तथा महापातकशस्ते ब्रह्म-  
 हत्यादि महापापाभियोगे च दिव्यमेव शोधनमित्यर्थः अन्यथा  
 न शुद्धिरित्यर्थः ॥ २५६ ॥

चौर्येति । चौर्याभिशङ्कायुक्तानां चौर्यापवादग्रस्तानां मान-  
 वानां तप्तमाषः तप्ततैलगतमाषपरिमितलोहपिण्डं विधी-  
 यते ॥ २५७ ॥

प्राणान्तिकेति । प्राणान्तिकविवादे उपस्थिते इत्यर्थः साधने  
 अन्यस्मिन् प्रमाणे विद्यमानेऽपि वादी दिव्यं प्रमाणम् आलम्बते  
 आश्रयति, तत्र साधनम् अन्यदिति भावः न पृच्छेत् ॥२५८॥

सोपधमिति । यत्र साधनं प्रमाणं सोपधं कापव्यपूर्णं, तत्र

शोधयेत्तत्तु दिव्येन राजा धर्मासनस्थितः ॥२५८॥

यन्नामगोत्रैर्यत्नेष्वत्युत्थं लेख्यं यदा भवेत् ।

अगृहीतधने तत्र कार्यो दिव्येन निर्णयः ॥२६०॥

मानुषं साधनं न स्यात्तत्र दिव्यं प्रदापयेत् ।

अरण्ये निर्जने रात्रावन्तर्वंशमनि साहसे ॥२६१॥

स्त्रीणां शीलाभियोगेषु सर्वार्थापङ्गवेषु च ।

प्रदुष्टेषु प्रमाणेषु दिव्यैः कार्यं विशोधनम् ॥२६२॥

महापापाभिशापेषु निक्षेपहरणेषु च ।

दिव्यैः कार्यं परीक्षेत राजा सत्स्वपि साक्षिषु ॥२६३॥

यदि राज्ञे आवितं स्यात् तदा धर्मासनगतः राजा दिव्येन तत्  
शोधयेत् ॥ २५८ ॥

यदिति । यदा यत् लेख्यं यन्नामगोत्रैः यथायथनामगोत्रैः  
लेख्यस्य तात्त्विकस्य तुल्यं भवेत् तदा तत्र अभियुक्ते अगृहीत-  
धने धनाग्राहिणि वादिसकाशात् आत्मानम् अगृहीतधनत्वेन  
मन्यमाने इत्यर्थः दिव्येन निर्णयः कार्यः ॥ २६० ॥

मानुषमिति । स्त्रीणामिति । यत्र मानुषं साधनं लौकिकं  
प्रमाणं न स्यात् न विद्यते, तत्र दिव्यं प्रदापयेत् । तथा च  
अरण्ये, निर्जने, रात्रौ, अन्तर्वंशमनि गृहाभ्यन्तरे, साहसे  
दस्युतायां, स्त्रीणां शीलाभियोगेषु चरितद्रूपणेषु सर्वेषाम् अर्था-  
नाम् अपङ्गवेषु तथा प्रमाणेषु लौकिकेषु प्रदुष्टेषु प्रकर्षेण दूषि-  
तेषु च दिव्यैः विशोधनं कार्यम् ॥ २६१ ॥ २६२ ॥

महेति । राजा महापापाभिशापेषु महापातकाभियोगेषु  
तथा निक्षेपाणां न्यस्तद्रव्याणां हरणेषु च साक्षिषु सत्स्वपि

प्रथमा यत्र भिद्यन्ते साक्षिणश्च तथा परे ।

परेभ्यश्च तथा चान्ये तं वादं सपथैर्नयेत् ॥२६४॥

स्थावरेषु विवादेषु पूगश्रेणिगणेषु च ।

दत्तादत्तेषु भृत्यानां स्वामिनां निर्णये सति ॥२६५॥

विक्रयादानसम्बन्धे क्रीत्वा धनमनिच्छति ।

साक्षिभिर्लिखितेनाथ भुक्त्या चैतान् प्रसाधयेत् २६६

विवाहोत्सवद्यूतेषु विवादे समुपस्थिते ।

साक्षिणः साधनं तत्र न दिव्यं न च लेख्यकम् २६७

विद्यमानेषु अपि दिव्यैः कार्यं परीक्षेत ॥ २६३ ॥

प्रथमा इति । यत्र प्रथमाः श्रेष्ठाः तथा परे मध्यमा इत्यर्थः, तथा परेभ्यश्च अन्ये साक्षिणः भिद्यन्ते भेदं गच्छन्ति तत्र सपथैः वादं नयेत् निष्पादयेदित्यर्थः ॥ २६४ ॥

स्थावरेष्विति । विक्रयेति । स्थावरेषु भूम्यादिषु विषयेषु पूगश्रेणिगणेषु पूगाः जातिविशेषसङ्घाः श्रेणयः विभिन्नजातिसङ्घाः गणाः एकविधजातिसङ्घाः तेषु, भृत्यानां दत्तादत्तेषु वेतनस्येति भावः विवादे तथा स्वामिनां निर्णये के अस्य स्वामिनः इत्येवं निश्चये सति, विक्रयादानसम्बन्धे विक्रीय अदाने इत्यर्थः तथा धनं द्रव्यं क्रीत्वा अनिच्छति अगृह्णति सति साक्षिभिः लिखितेन तथा भुक्त्या एतान् विवादान् प्रसाधयेत् निष्पादयेत् ॥ २६५ ॥ २६६ ॥

विवाहेति । विवाहे उत्सवे तथा द्यूतेषु विवादे समुपस्थिते सति तत्र साक्षिणः साधनं प्रमाणं, दिव्यं न, लेख्यकञ्च न साधनमित्यर्थः ॥ २६७ ॥

द्वारमार्गक्रियाभोग्यजलवाहादिषु तथा ।  
 भुक्तिरेव तु गुर्वीं स्यान्न दिव्यं न च साक्षिणः २६८  
 यद्येको मानुषीं ब्रूयादन्यो ब्रूयात्तु दैविकीम् ।  
 मानुषीं तत्र गृह्णीयान्न तु दैवीं क्रियां नृपः ॥ २६९ ॥  
 यद्येकदेशप्राप्तापि क्रिया विद्येत मानुषी ।  
 सा ग्राह्या न तु पूर्णापि दैविकी वदतां नृणाम् २७०  
 प्रमाणैर्हेतुचरितैः शपथेन नृपाज्ञया ।  
 वादिसम्प्रतिपत्त्या वा निर्णयः षड्विधः स्मृतः २७१

द्वारेति । द्वारमार्गक्रियाभोग्यजलवाहादिषु द्वारानुष्ठाने  
 मार्गकरणे भोग्यानां क्रमागतं जलनिःसारणादिषु भुक्तिः भोगः  
 एव सुर्वीं प्रमाणं स्यात्, दिव्यं न साक्षिणश्च न प्रमाणमि-  
 त्यर्थः ॥ २६८ ॥

यदीति । यदि एकः जनः मानुषीं क्रियां ब्रूयात्, अन्यस्तु  
 प्रतिवादी तु दैविकीं ब्रूयात् तत्र नृपः मानुषीं क्रियां गृह्णी-  
 यात् न तु दैवीम् ॥ २६९ ॥

यदीति । यदि मानुषी क्रिया एकदेशप्राप्तापि अभियोगस्य  
 कियत्यपि अंशे प्राप्तापि विद्यते, तदा सा ग्राह्या पूर्णापि  
 दैविकी वदतां नृणां न तु ग्राह्या इत्यर्थः ॥ २७० ॥

प्रमाणैरिति । प्रमाणैः साक्षिलेख्यादिभिः हेतुभिः कारणैः,  
 चरितैः, आचरणैः, शपथेन, नृपाज्ञया राजादेशेन, वादिनः  
 सम्प्रतिपत्त्या सम्प्रत्या वा एभिः षड्विधः निष्पाद्यत्वात् निर्णयः  
 निष्पत्तिः षड्विधः स्मृतः ॥ २७१ ॥

लेख्यं यत्र न विद्येत न भुक्तिर्न च साक्षिणः ।  
 न च दिव्यावतारोऽस्ति प्रमाणं तत्र पार्थिवः ॥ १७  
 निश्चेतुं ये न शक्याः स्युर्वादाः सन्दिग्धरूपिणः ।  
 सीमाद्यास्तत्र नृपतिः प्रमाणं स्यात् प्रभुर्यतः ॥ २७  
 स्वतन्त्रः साधयन्नर्थान् राजापि स्याच्च किल्बिषी ।  
 धर्मशास्त्राविरोधेन ह्यर्थशास्त्रं विचारयेत् ॥ २७४  
 राजामात्यप्रलोभेन व्यवहारस्तु दुष्यति ।  
 लोकोऽपि च्यवते धर्मात् कूटार्थे सम्प्रवर्तते ॥ २७५  
 अतिकामक्रोधलोभैर्व्यवहारः प्रवर्तते ।

लेख्यमिति । यत्र लेख्यं न भुक्तिश्च न विद्यते, साक्षिणश्च  
 न सन्ति, दिव्यावतारश्च न अस्ति, तत्र पार्थिवः राजा प्रमाणं  
 यथाभिमतं कुर्यादित्यर्थः ॥ २७२ ॥

निश्चेतुमिति । ये सन्दिग्धरूपिणः सन्देहसङ्कुलाः सीमाद्याः  
 सीमादिसंज्ञान्ताः वादा विवादाः निश्चेतुं न शक्याः स्युः, तत्र  
 नृपतिः प्रमाणं स्यात्, यतः सः प्रभुः ॥ २७३ ॥

स्वतन्त्र इति । राजापि स्वतन्त्रः स्वेच्छाचारी अर्थान्  
 कार्याणि साधयन् समादधानः किल्बिषी पापी स्यात् ।  
 तस्मात् धर्मशास्त्राविरोधेन अर्थशास्त्रं विचारयेत् तथात्वे पाप-  
 स्पर्शो न भवेदिति भावः ॥ २७४ ॥

राजेति । राज्ञः अमात्यानाञ्च प्रलोभेन लोभातिशयेन  
 व्यवहारः विचारः दुष्यति सदोषो भवति, लोकोऽपि धर्मात्  
 च्यवते भ्रश्यति यथेच्छं व्यवहरतीत्यर्थः कूटार्थे कपटकार्यं  
 सम्प्रवर्तते च ॥ २७५ ॥

कर्तृनयो साक्षिणश्च सभ्यान् राजानमेव च ।  
 व्याप्नोत्यतस्तु तन्मूलं कृत्वा तं विमृशं नयेत् २७६  
 अनर्थं वार्थवत् कृत्वा दर्शयन्ति नृपाय ये ।  
 अविचिन्त्य नृपस्तथ्यं मन्यते तैर्निदर्शितम् ।  
 स्वयं करोति तद्वृत्तौ भुज्यतेऽष्टगुणं त्वघम् ॥२७७॥  
 अधर्मतः प्रवृत्तं तं नोपेक्षेरन् सभासदः ।  
 उपेक्ष्यमाणाः सनृपा नरकं यान्त्यधोमुखाः ॥२७८॥

अतीति । अतिकामक्रोधलोभैः कामातिशयेन क्रोधाति-  
 शयेन लोभातिशयेन च यदि व्यवहारः प्रवर्तते चलति तदा  
 एव तज्जनितं पापं कर्तृन् पापकारिणः साक्षिणः सभ्यान्  
 राजानञ्च व्याप्नोति आश्रयति, अतः तस्य पापस्य मूलं कामा-  
 दोनाम् आतिशय्यं कृत्वा निरस्य तं व्यवहारं विमृशं विशिष्ट-  
 विवेकं नयेत् प्रापयेत् विविच्य विचारयेदित्यर्थः ॥ २७६ ॥

अनर्थमिति । ये अमात्याः अनर्थम् अनिष्टम् अर्थवत् दृष्ट-  
 वत् कृत्वा नृपाय दर्शयन्ति, यश्च नृपः अविचिन्त्य अविविच्य  
 तैः अमात्यैः निदर्शितं प्रदर्शितं तथ्यं सत्यं मन्यते तथा स्वयं  
 करोति तेषां मतानुसारेण वादं निष्पादयति, तैः राज्ञा अमा-  
 ल्यैश्च तद्वृत्तौ तथा व्यवहारे सति अष्टगुणम् अघं पापं  
 भुज्यते ॥ २७७ ॥

अधर्मत इति । सभासदः अमात्यादयः अधर्मतः अधर्मे  
 प्रवृत्तं तं नृपं न उपेक्षेरन् वारयेयुरित्यर्थः, उपेक्ष्यमाणाः अवा-  
 रयन्तः सनृपाः नृपसहिताः अधोमुखाः नरकं यान्ति गच्छन्ति  
 ॥ २७८ ॥

धिग्दण्डस्त्वथ वाग्दण्डः सभ्यायत्तौ तु तावुभौ ।  
 अर्थदण्डवधावुत्तौ राजायत्तावुभावपि ॥ २७६ ॥  
 तीरितं चानुशिष्टञ्च यो मन्येत विधर्मतः ।  
 द्विगुणं दण्डमाधाय पुनस्तत् कार्यमुद्धरेत् ॥ २८० ॥  
 साक्षिसभ्यावसन्नानां दूषणे दर्शनं पुनः ।  
 स्वचर्चावसितानां च प्रोक्तः पौनर्भवो विधिः ॥ २८१ ॥  
 अमात्यः प्राड्विवाको वा ये कुर्युः कार्यमन्यथा ।

धिगिति । धिग्दण्डः त्वां धिक् इत्येवं निर्भर्त्सनरूपो दण्डः  
 तथा वाग्दण्डः वाक्येन तिरस्करणरूपः दण्डः तौ उभौ अपि  
 सभ्यानाम् आयत्तौ अधीनौ, सभ्याः एतौ एवं दण्डौ कर्तुं  
 शक्नुवन्तीत्यर्थः । अर्थदण्डः बधदण्डश्च उभौ अपि राजायत्तौ  
 नृपाधीनौ उत्तौ, नृपः अर्थदण्डं बधदण्डं कर्तुं शक्नोती-  
 त्यर्थः ॥ २७६ ॥

तीरितमिति । यः विवादी तीरितं निष्पादितम् अनुशिष्टं  
 आह्वयञ्च पराजयलक्षणं विधर्मतः अधर्मेण युक्तमिति भावः  
 विशेषणे तृतीया । मन्येत, सः द्विगुणं दण्डम् आधाय दत्त्वा  
 पुनस्तत् कार्यम् उद्धरेत् चालयेत् ॥ २८० ॥

साक्षीति । साक्षिभिः सभ्यैरमात्यैश्च अवसन्नानां हारितानां  
 दूषणे पराजयपत्रस्येति भावः बहिष्कृते सतीत्यर्थः पुनर्दर्शनं  
 पुनर्विचारः कर्तव्य इति शेषः किञ्चेति चार्थः स्वस्य राज्ञश्चर्चया  
 व्यवहारदर्शनेन अवसितानां निष्पादितानाञ्च पौनर्भवः विधिः  
 पुनर्विचार इत्यर्थः प्रोक्तः ॥ २८१ ॥

अमात्य इति । अमात्यः प्राड्विवाको वा विचारपतिर्वा वे

तत्सर्वं नृपतिः कुर्यात्तान् सहस्रन्तु दण्डयेत् २८२  
न हि जातु विना दण्डं कश्चिन्मार्गेऽवतिष्ठते ।  
सन्दर्शिते सभ्यदोषे तदुद्धृत्य नृपो नयेत् ॥ २८३ ॥  
प्रतिज्ञाभावनाद्वादी प्राङ्विवाकादिपूजनात् ।  
जयपत्रस्य चादानाज्जयी लोके निगद्यते ॥ २८४ ॥  
सभ्यादिभिर्विनिर्णिक्तं विधृतं प्रतिवादिना ।  
दृष्ट्वा राजा तु जयिने प्रदद्याज्जयपत्रकम् ॥ २८५ ॥  
अन्यथा ह्यभियोक्तारं निरुध्याद् बहुवत्सरम् ।

चान्ये सभ्याः कार्यम् अन्यथा कुर्युः, तत् सर्वं कार्यं नृपतिः  
कुर्यात् तत्त्वेन निष्पादयेत्, तांश्च अमात्यादीन् सहस्रं दण्ड-  
येत् ॥ २८२ ॥

नेति । दण्डं विना कश्चिदपि जनः जातु कदाचित् मार्गे  
सदाचाररूपे पथि न हि नैव अवतिष्ठते । सभ्यानां दोषे सन्द-  
र्शिते सम्यक् प्रदर्शिते सति विवादिनेति शेषः, नृपः तत् दूष-  
णम् उद्धृत्य नयेत् विवादं निष्पादयेत् ॥ २८३ ॥

प्रतिज्ञेति । वादी प्रतिज्ञायाः साध्यस्य भावनात्, प्रमाणी-  
करणात्, प्राङ्विवाकादीनां पूजनात् सत्याभियोक्तृत्वेन प्रशंस-  
नात् तथा जयपत्रस्य आदानात् ग्रहणाच्च लोके जयीति निग-  
द्यते कथ्यते ॥ २८४ ॥

सभ्यादिभिरिति । राजा तु सभ्यादिभिः विचारनियुक्तैः  
विनिर्णिक्तं विशेषेण निर्द्धारितं तथ्यतया अवधारितं प्रतिवा-  
दिना च विधृतं स्वीकृतं साध्यमिति शेषः दृष्ट्वा जयिने जय-  
पत्रकं प्रदद्यात् ॥ २८५ ॥

मिथ्याभियोगसदृशमर्हयेदभियोगिनम् ॥२८६॥  
 कामक्रोधौ तु संयम्य योऽर्थान् धर्मेण पश्यति ।  
 प्रजास्तमनुवर्तन्ते समुद्रमिव सिन्धवः ॥२८७॥  
 जीवतोरस्वतन्त्रः स्याज्जरयापि समन्वितः ।  
 तयोरपि पिता श्रेयान् वीजप्राधान्यदर्शनात् ॥२८८॥  
 अभावे वीजिनो माता तदभावे तु पूर्वजः ।  
 स्वातन्त्र्यं तु स्मृतं ज्येष्ठे ज्यैष्ठ्यं गुणवयःकृतम् ॥२८९॥

अन्यथेति । अन्यथा अभियोगस्य अतात्त्विकत्वे इत्यर्थः  
 अभियोक्तारं मिथ्याभियोगसदृशम् अलीकाभियोगोपयुक्तं यदा  
 तथा बहुवत्सरं निरुध्यात् कारायां वासयेत् । तथा अभि-  
 योगिनम् अभियुक्तं जनम् अर्हयेत् पूजयेत् ॥ २८६ ॥

कामक्रोधाविति । यः कामक्रोधौ संयम्य धर्मेण अर्थान्  
 कार्याणि पश्यति, प्रजाः, सिन्धवः नद्यः समुद्रमिव तम् अनु-  
 वर्तन्ते ॥ २८७ ॥

सम्पति दायप्रकरणमुद्दिशति जीवतोरिति । जरया बाह-  
 केन समन्वितोऽपि पुत्र इति शेषः जीवतोः मातापित्रोः अस्व-  
 तन्त्रः अस्वेच्छाचारौ भवेदित्यर्थः, तयोः मातापित्रोः मध्येऽपि  
 वीजस्य प्राधान्यदर्शनात् पिता श्रेयान् श्रेष्ठतरः ॥ २८८ ॥

अभावे इति । वीजिनः पितुः अभावे माता श्रेयसी, तद-  
 भावे तस्या मातुरभावे पूर्वजः ज्येष्ठः श्रेयान् यतः ज्येष्ठे  
 स्वातन्त्र्यं स्वाधीनत्वं स्मृतं, ज्यैष्ठ्यञ्च ज्येष्ठत्वञ्च गुणेन वयसा  
 च कृतं केवलं वयसा ज्यैष्ठ्यं न श्रेष्ठं गुणेन वयसा च उभा-  
 भ्यान्तु श्रेष्ठमित्यर्थः ॥ २८९ ॥

याः सर्वाः पितृपत्न्याः स्युस्तासु वर्त्तेत मातृवत् ।  
 स्वसमैकेन भागेन सर्वास्ताः प्रतिपालयन् ॥२८०॥  
 अस्वतन्त्राः प्रजाः सर्वाः स्वतन्त्रः पृथिवीपतिः ।  
 अस्वतन्त्रः स्मृतः शिष्य आचार्ये तु स्वतन्त्रता २८१  
 सुतस्य सुतदाराणां वशित्वमनुशासने ।  
 विक्रये चैव दाने च वशित्वं न सुते पितुः ॥२८२॥  
 स्वतन्त्राः सर्व एवैते परतन्त्रेषु नित्यशः ।  
 अनुशिष्टौ विसर्गे वाऽविसर्गे चेश्वरा मताः ॥२८३

या इति । याः सर्वाः पितुः पत्न्याः स्युः, तासु मातृवत्  
 वर्त्तेत व्यवहरेत् तथा स्वस्य आत्मनः समेन समानेन एकेन  
 एकेन भागेन ताः सर्वाः मातृः प्रतिपालयेत् ॥ २८० ॥

अस्वतन्त्रा इति । सर्वाः प्रजाः अस्वतन्त्राः पराधीनाः,  
 पृथिवीपतिस्तु स्वतन्त्रः स्वाधीनः । शिष्यः अस्वतन्त्रः स्मृतः,  
 आचार्ये तु स्वतन्त्रता अस्तीति शेषः ॥ २८१ ॥

सुतस्येति । सुतस्य पुत्रस्य सुतदाराणां स्नुषाणाञ्च अनु-  
 शासने उपदेशे दमने वा वशित्वं स्वातन्त्र्यम् अस्तीति शेषः,  
 किन्तु सुते पुत्रे विषये विक्रये दाने च पितुः वशित्वं स्वातन्त्र्यं  
 न अस्तीति शेषः ॥ २८२ ॥

स्वतन्त्रा इति । परतन्त्रेषु पराधीनेषु मध्ये एते सर्वे पुत्रा  
 एव नित्यशः सततं स्वतन्त्राः प्रायेण स्वाधीना इत्यर्थः स्वाधीन-  
 वदाचरन्तीति भावः यतः अनुशिष्टौ अनुशासने पित्रा सह  
 तन्त्रेण विसर्गे दाने अविसर्गे च ईश्वराः स्वाधीनाः मताः  
 कथिताः ॥ २८३ ॥

मणिमुक्ताप्रवालानां सर्वस्यैव पिता प्रभुः ।

स्थावरस्य तु सर्वस्य न पिता न पितामहः ॥२८॥

भार्या पुत्रश्च दासश्च त्वय एवाधनाः स्मृताः ।

यत् ते समधिगच्छन्ति यस्यैते तस्य तद्वनम् ॥२९॥

वर्त्तते यस्य यद्वस्ते तस्य स्वामी स एव न ।

अन्यस्वमन्यहस्तेषु चौर्यादयैः किं न दृश्यते ? ॥३०॥

तस्माच्छास्त्रत एव स्यात् स्वाम्यं नानुभवादपि ।

अस्यापहृतमेतेन न युक्तं वक्तुमन्यथा २८७॥

मणीति । पिता मणीनां मुक्तानां प्रवालानाम् अन्येषां  
सर्वस्य अस्थावरस्य इत्यर्थः प्रभुः यथेच्छं व्यवहारक्षम इत्यर्थः  
किन्तु सर्वस्य स्थावरस्य पिता न पितामहश्च न प्रभुरित्यर्थः  
स्थावरे पितुः स्वाधीनता नास्तीति भावः सर्वस्येत्युपादानात्  
कियदंशस्थावरदानादिषु पितुः स्वाधीनतेति सूच्यते ॥ २८४ ॥

भार्या इति । भार्या पत्नी, पुत्रः दासः भृत्यश्च एते त्वय  
एव अधनाः अस्वामिनः अस्वतन्त्राः इत्यर्थः स्मृताः उक्ताः, ते  
भार्यादयः यत् धनं समधिगच्छन्ति अर्जयन्ति, तत् धनम् एते  
भार्यादयः यस्य, तस्य भवतीति शेषः ॥ २८५ ॥

वर्त्तते इति । यत् धनं यस्य हस्ते वर्त्तते तिष्ठति, स एव  
तस्य धनस्य स्वामी न, तथाहि चौर्यादयैः हेतुभिः अन्यस्वम्  
अपरधनम् अन्यहस्तेषु अपरजनानां तस्करादीनामित्यर्थः  
हस्ते किं न दृश्यते ? अपितु दृश्यत एव ॥ २८६ ॥

तस्मादिति । तस्मात् शास्त्रतः एव शास्त्रानुसारेणैव स्वाम्यं  
स्यात्, अनुभवात् प्रत्यक्षदर्शनादिकारणात् अपि न स्वाम्यं

विदितोऽर्थागमः शास्त्रे तथा वर्णः पृथक् पृथक् ।  
 शास्त्रि तच्छास्त्रधर्मं यत्स्नेच्छानामपि तत् सदा  
 पूर्वाचार्यैस्तु कथितं लोकानां स्थितिहेतवे ॥२६८॥  
 समानभागिनः कार्य्याः पुत्राः स्वस्य च वै स्त्रियः ।  
 स्वभागार्द्धहरा कन्या दौहित्रस्तु तदर्द्धभाक् ॥२६९॥  
 मृतेऽधिपेऽपि पुत्राद्या उक्तभागहरा स्मृताः ॥३००॥  
 मात्रे दद्याच्चतुर्थांशं भगिन्यै मातुरर्द्धकम् ।  
 तदर्द्धं भागिनेयाय शेषं सर्वं हरेत् सुतः ॥३०१॥

मित्यर्थः । अन्यथा अनेन अस्य जनस्य अपहृतम् इति वक्तुं न  
 युक्तम् अपहर्तुः तत्र स्वाम्यादिति भावः ॥ २६७ ॥

विदित इति । यथावर्णं वर्णानुसारेण पृथक् पृथक् अर्था-  
 गमः धनार्जनोपायः स्वामीरिक्त्य कृतेत्यादि शास्त्रे विदितः ।  
 तस्य शास्त्रस्य यत् धर्मं तत् सदा स्नेच्छानामपि शास्त्रि  
 स्नेच्छानामिति कर्मणि षष्ठी । स्नेच्छा अपि तं शास्त्रमनु-  
 स्मृत्य अर्थागमेषु व्यवहरन्तीत्यर्थः । एतच्च लोकानां स्थितिहेतवे  
 सदाचाररक्षणाय पूर्वाचार्यैः पूर्वपण्डितैः कथितम् ॥ २६८ ॥

समानेति । स्वस्य आत्मनः पुत्राः स्त्रियश्च समानभागिनः  
 कार्य्याः, कन्या अनूढा दुहिता तदभागार्द्धहराः तस्य पुत्रस्य यो  
 भागः तस्य अर्द्धहरा, दौहित्रस्तु तदर्द्धभाक् तस्य कन्याप्राप्या-  
 यस्य अर्द्धभाक् भवेदित्यर्थः ॥ २६९ ॥

मृते इति । अधिपे स्वामिनि पितरि इत्यर्थः मृतेऽपि पुत्राद्या  
 पुत्रप्रभृतयः उक्तभागहराः समभागिन इत्यर्थः स्मृताः ॥३००॥

मात्रे इति । सुतः मात्रे चतुर्थांशं स्वचतुर्थभागैकभागं

पुत्रो नप्ता धनं पत्नी हरेत् पुत्री च तत्सुतः ।

माता पिता च भ्राता च पूर्वालाभाच्च तत्सुतः ॥ ३०० ॥

सौदायिकं धनं प्राप्य स्त्रीणां स्वातन्त्र्यमिष्यते ।

विक्रये चैव दाने च यथेष्टं स्थावरेष्वपि ॥ ३०३ ॥

ऊढया कन्यया वापि पत्युः पितृगृहाच्च यत् ।

मातृपितृादिभिर्दत्तं धनं सौदायिकं स्मृतम् ॥ ३०४ ॥

पितृादिधनसम्बन्धहीनं यद्यदुपार्जितम् ।

येन सः काममश्नीयादविभाज्यं धनं हि तत् ॥ ३०५ ॥

भगिन्यै मातुः अर्द्धकम् अष्टमभागैकभागमित्यर्थः तथा भागि-  
नेयाय तदर्द्धं षोडशभागैकभागमित्यर्थः दद्यात्, शेषम् अव-  
शिष्टं सर्वं स्वयं हरेत् गृह्णीयात् ॥ ३०१ ॥

पुत्र इति । पुत्रः, नप्ता पौत्रः, पत्नी, पुत्री कन्या, तत्सुतः  
दौहित्रः, माता, पिता भ्राता च यथाक्रमं, तथा पूर्वेषाम्  
उक्तानां पुत्रादीनाम् अलाभात् अभावाच्च तत्सुतः भ्रातृसुतः,  
धनं हरेत् ॥ ३०२ ॥

सौदायिकमिति । स्त्रीणां सौदायिकं धनं प्राप्य स्वातन्त्र्यम्  
इष्यते, स्थावरेषु अपि सौदायिकेषु इत्यर्थः विषयेषु विक्रये दाने  
च यथेष्टं स्वातन्त्र्यमस्तीति शेषः ॥ ३०३ ॥

ऊढयेति । ऊढया परिणीतया कन्यया अनूढया अपि  
पत्युः सकाशात् पितृगृहाच्च मातृपितृादिभिः दत्तं यत् धनं  
प्राप्तमिति शेषः तत् सौदायिकं स्मृतम् ॥ ३०४ ॥

पितृादीति । पितृादिधनसम्बन्धहीनं पैतृकधनसाहाय्यं  
विनेत्यर्थः यत् यत् उपार्जितं तत् तत् सः उपार्जकः कामं

जलतस्करराजाग्निव्यसने समुपस्थिते ।

यस्तु स्वशक्त्या संरक्षेत् तस्यांशो दशमः स्मृतः ३०६

हेमकारादयो यत्र शिल्पं सम्भूय कुर्वते ।

कार्यानुरूपं निर्वेशं लभेरंस्ते यथार्हतः ॥ ३०७ ॥

संस्कर्त्ता तत्कलाभिज्ञः शिल्पी प्रोक्तो मनीषिभिः ३०८

हर्म्यं देवगृहं वापि वापिकोपस्कराणि च ।

सम्भूय कुर्वतां तेषां प्रमुख्यो द्व्यंशमर्हति ॥ ३०९ ॥

यथेष्टम् अश्रीयात् उपभुञ्ज्यात् हि यतः तत् धनम् अविभाज्यं  
भ्रात्रादिभिर्न विभजनीयम् ॥ ३०५ ॥

जलेति । यत्तु जलतस्करराजाग्निव्यसने जलरूपे चोररूपे  
राजरूपे तथा अग्निरूपे व्यसने विपदि समुपस्थिते सति स्व-  
शक्त्या निजसामर्थ्येन संरक्षेत् अपरधनमिति शेषः तस्य दशमः  
अंशः स्मृतः, तद्वनात् स दशमभागं लभेत्यर्थः ॥ ३०६ ॥

हेमेति । यत्र हेमकारादयः स्वर्णकारप्रभृतयः व्यवसायिनः  
इत्यर्थः सम्भूय मिलित्वा शिल्पं कुर्वते, ते यथार्हतः यथायोग्यं  
कार्यानुरूपं निर्वेशं भृतिं भोगं वा निर्वेशो भृतिभोगयोरित्य-  
मरः । लभेरन् ॥ ३०७ ॥

संस्कर्त्तंति । संस्कर्त्ता संस्कारकः कार्यशोधक इत्यर्थः तत्-  
कलासु संस्कारकार्यविभागेषु अभिज्ञः जनः मनीषिभिः विद्वद्भिः  
शिल्पी प्रोक्तः ॥ ३०८ ॥

हर्म्यमिति । हर्म्यं देवगृहं वा वापिकां दीर्घिकाम् उप-  
स्कराणि गृहोपकरणानि च सम्भूय कुर्वतां तेषां व्यवसायिनां  
मध्ये प्रमुख्यः प्रधानतमः द्व्यंशं द्वौ भागौ अर्हति लभते ॥ ३०९ ॥

नर्त्तकानामेव धर्मः सङ्गिरेष उदाहृतः ।

तालज्ञो लभतेऽर्थार्द्धं गायनास्तु समांशिनः ॥३१०॥

परराष्ट्राद्धनं यत् स्याच्चौरैः स्वाम्याज्ञया हृतम् ।

राज्ञे षष्ठांशमुद्धृत्य विभजेरन् समांशकम् ॥३११॥

तेषां चेत् प्रसृतानां च ग्रहणं समवाप्नुयात् ।

तन्मोक्षार्थं च यद्वत्तं वहेयुस्ते समांशतः ॥३१२॥

प्रयोगं कुर्वते ये तु हेमधान्यरसादिना ।

समन्यूनाधिकैरंशैर्लाभस्ते षां तथाविधः ॥३१३॥

नर्त्तकानामिति । नर्त्तकानाम् एव शब्दोऽप्यर्थः नटानामपीत्यर्थः एषः धर्मः विधिः सङ्गिः साधुभिः उदाहृतः निरूपितः । यथा तालज्ञः अर्थार्द्धं धनस्य अर्जितस्य अर्द्धं लभते, अन्ये गायनास्तु समांशिनः समभागिनः भवन्ति ॥ ३१० ॥

परराष्ट्रादिति । स्वामिनः आज्ञया चौरैः परराष्ट्रात् यत् धनं हृतं, ते तस्य षष्ठांशं राज्ञे स्वामिने उद्धृत्य दत्त्वा समांशकं विभजेरन् ॥ ३११ ॥

तेषामिति । प्रसृतानां चौर्यकर्मणि प्रवृत्तानां तेषां मध्ये यदि कश्चित् ग्रहणं समवाप्नुयात् धृतो भवेदित्यर्थः तदा तस्य मोक्षार्थम् उद्धारार्थं यत् दत्तं तत् परिजनैरिति भावः ते चौराः तत् दत्तं धनं समांशतः वहेयुः दद्यादित्यर्थः ॥ ३१२ ॥

प्रयोगमिति । ये तु हेमधान्यरसादिना हेन्ना धान्येन रसादिना द्रव्येण प्रयोगं सम्भूय बाणिज्यमित्यर्थः कुर्वते, तेषां कार्यानुरूपतः अर्थानुरूपतश्च समन्यूनाधिकैः अंशैः तथाविधः लाभः भवतीत्यर्थः ॥ ३१३ ॥

समो न्यूनोऽधिको ह्यंशो योऽनुक्षिप्तस्तथैव सः ।  
 व्ययं दद्यात् कर्म कुर्यात् लाभं गृह्णीत चैव हि ३१४  
 वणिजानां कर्षकाणामेष एव विधिः स्मृतः ॥ ३१५  
 सामान्यं याचितं न्यास आधिर्दासश्च तद्वनम् ।  
 अन्वाहितं च निक्षेपः सर्वस्वं चान्वये सति ।  
 आपत्स्वपि न देयानि नव वस्तूनि पण्डितैः ॥ ३१६  
 अदेयं यश्च गृह्णाति यश्चादेयं प्रयच्छति ।  
 तावुभौ चौरवच्छास्यौ दाप्यौ चोत्तमसाहसम् ३१७

सम इति । यः समः तुल्यः, न्यूनः अल्पः अधिको वा अंशः  
 अनुक्षिप्तः निर्धारितः पूर्वमिति शेषः सः भागः तथैव स्यात् ।  
 व्ययं यथाभागं दद्यात् कर्म यथाभागं कुर्यात् तथा लाभं यथा-  
 भागं गृह्णीत हिशब्दः अवधारणार्थः ॥ ३१४ ॥  
 वणिजानामिति । वणिजानां कर्षकाणाञ्च एषः एव विधिः  
 स्मृतः कथितः ॥ ३१५ ॥

सामान्यमिति । सामान्यं साधारणं धनं, याचितं प्रत्यर्पयि-  
 षामीत्युक्ता प्रार्थ्य आनीतं, न्यासः गच्छितं धनम् आधिः  
 दास्यकं दासः, तद्वनं दासधनम् अन्वाहितम् अन्यहस्ते अर्पितं  
 न निक्षेपः शिल्पिहस्ते संस्कारार्थं निक्षिप्तं द्रव्यं तथा अन्वये  
 नन्तानि सति सर्वस्वं सर्वं धनम् एतानि नववस्तूनि पण्डितैः  
 आपत्सु अपि न देयानि न अन्यहस्ते दानविक्रयादिना  
 नर्पणीयानीत्यर्थः ॥ ३१६ ॥

अदेयमिति । यः अदेयं दाने प्रतिपिद्धं वस्तु गृह्णाति, रश्च

अस्वामिकेभ्यश्चौरैभ्यो विगृह्णाति धनं तु यः ।  
 अव्यक्तमेव क्रीणाति स दण्डाश्चौरवन्तृपैः ॥३१८॥  
 ऋत्विक् याज्यमदुष्टं यस्त्यजेदनपकारिणम् ।  
 अदुष्टं चत्विजं याज्यो विनेयौ तावुभावपि ॥३१९॥  
 द्वात्रिंशांशं षोडशांशं लाभं पण्ये नियोजयेत् ।  
 नान्यथा तद्व्ययं ज्ञात्वा प्रदेशादनुरूपतः ॥३२०॥  
 वृद्धिं हित्वा ह्यर्द्धधनैर्वाणिज्यं कारयेत् सदा ॥३२१॥  
 मूलात्तु द्विगुणा वृद्धिर्गृहीता चाधमर्णिकात् ।

अदेयं प्रयच्छति ददाति तौ उभौ चौरवत् शास्त्रौ उत्तमसाहचरं  
 दाप्यौ च ॥ ३१७ ॥

अस्वामिकेभ्य इति । यः अस्वामिकेभ्यः चौरैभ्यः धनं विगृह्णाति अव्यक्तं गूढं यथा तथा क्रीणाति च सः नृपैः चौरवत् दण्ड्यः ॥ ३१८ ॥

ऋत्विगिति । यः ऋत्विक् पुरोहितः अदुष्टं निर्दोषम् अनपकारिणं याज्यं यजमानं, तथा याज्यः यजमानश्च अदुष्टम् ऋत्विजं त्यजेत् तौ उभौ अपि विनेयौ दण्ड्यौ भवतः ॥ ३१९ ॥

द्वात्रिंशांशमिति । वणिक् पण्ये विक्रये वस्तुनि प्रदेशदीनां देशकालादीनाम् अनुरूपतः तद् व्ययं तस्य पण्यस्य व्ययं ज्ञात्वा द्वात्रिंशांशं षोडशांशं वा लाभं नियोजयेत् व्यवस्थापयेत् अन्यथा न ततोऽधिकं नेत्यर्थः ॥ ३२० ॥

वृद्धमिति । वृद्धिं हित्वा वृद्धिं न ग्रहीष्यामीत्युक्त्वा अर्द्धधनैर् अर्द्धानि वाणिज्यलब्धानि धनानि दास्यामीति अङ्गीकारवचनं सदा वाणिज्यं कारयेत् ॥ ३२१ ॥

तदीत्तमर्णमूलं तु दापयेन्नाधिकं ततः ॥३२२॥

धनिकाश्चक्रवृद्धादिमिषतस्तु प्रजाधनम् ।

संहरन्ति ह्यतस्तेभ्यो राजा संरक्षयेत् प्रजाम् ॥३२३॥

समर्थः सन्न ददाति गृहीतं धनिकाधनम् ।

राजा सन्दापयेत्तस्मात् सामदण्डविकर्षणैः ॥३२४॥

लिखितं तु यदा यस्य नष्टं तेन प्रबोधितम् ।

विज्ञाय साक्षिभिः सम्यक् पूर्ववद्दापयेत्तदा ॥३२५॥

अदत्तं यश्च गृह्णाति सुदत्तं पुनरिच्छति ।

दण्डनीयावुभावेतौ धर्मज्ञेन महीक्षिता ॥३२६॥

मूलादिति । यदा मूलात् मूलधनात् द्विगुणा वृद्धिः अध-  
मर्णिकात् गृहीता, तदा उत्तमर्णस्य मूलन्तु मूलमेव दापयेत्  
राजेति शेषः न अधिकं दापयेदित्यर्थः ॥ ३२२ ॥

धनिका इति । धनिकाः धनिनः चक्रवृद्धिः वृद्धेर्वृद्धिः तस्याः  
मिषतः कृलात् प्रजानां धनं संहरन्ति हि, अतः राजा तेभ्यः  
धनिकेभ्यः प्रजाः संरक्षयेत् स्वार्थं जग्रन्तोऽयं रक्षधातुः ॥ ३२३ ॥

समर्थ इति । यः समर्थः शक्तः सन् धनिकात् गृहीतं धनं  
न ददाति, राजा सामदण्डविकर्षणैः सान्त्ववादैः दण्डप्रयोगैश्च  
तस्मात् अधमर्णात् सन्दापयेत् ॥ ३२४ ॥

लिखितमिति । यदा यस्य लिखितं ऋणलेख्यं नष्टं तदा  
तेन धनस्वामिना प्रबोधितं विज्ञापितं राज्ञे इति शेषः  
साक्षिभिः सम्यक् विज्ञाय प्रमाणीकृत्य पूर्ववत् अनष्टलेख्यवत्  
सदा दापयेत् धनिकाय राजेति पदद्वयमध्याहार्यम् ॥ ३२५ ॥

अदत्तमिति । यश्च अदत्तं गृह्णाति यश्च सुदत्तं धनं पुनः

कूटपण्यस्य विक्रेता स दण्डश्चौरवत् सदा ॥३२७॥  
 दृष्ट्वा कार्याणि च गुणान् शिल्पिनां भृतिमावहेत् ३२८  
 पञ्चमांशं चतुर्थांशं तृतीयांशं तु कर्षयेत् ।  
 अर्द्धं वा राजताद्राजा नाधिकं तु दिने दिने ॥३२९॥  
 विद्रुतं न तु हीनं स्यात् स्वर्णं पलशतं शुचि ।  
 चतुःशतांशं रजतं ताम्रं न्यूनं शतांशकम् ॥३३०॥  
 वङ्गं च जसदं सीसं हीनं स्यात् षोडशांशकम् ।  
 अयोऽष्टांशं त्वन्यथा तु दण्डः शिल्पी सदा नृपैः ॥३३१॥

ग्रहीतुम् इच्छति, एतौ उभौ धर्मज्ञेन महीक्षिता राज्ञा दण्ड-  
 नीयौ ॥ ३२६ ॥

कूटेति । यः कूटपण्यस्य कपटविक्रेयस्य विक्रेता, सः सदा  
 चौरवत् दण्डः ॥ ३२७ ॥

दृष्ट्वेति । शिल्पिनां कार्याणि गुणांश्च दृष्ट्वा भृतिं वेतनम्  
 आवहेत् दद्यात् ॥ ३२८ ॥

पञ्चमांशमिति । राजा दिने दिने प्रतिदिनं राजतात् रौप्य-  
 विक्रयात् पञ्चमांशं चतुर्थांशं तृतीयांशं वा अर्द्धं कर्षयेत् गृह्णी-  
 यात् न अधिकम् अर्द्धादप्यधिकं न गृह्णीयादित्यर्थः ॥ ३२९ ॥

विद्रुतमिति । पलशतं शतपलमितं शुचि निर्दोषं स्वर्णं  
 विद्रुतं विगलितं सत् हीनं तौल्ये अल्पं न तु नैव स्यात् । रजतं  
 चतुःशतांशं, तथा ताम्रं शतांशकं न्यूनं स्यात् ॥ ३३० ॥

वङ्गमिति । वङ्गं रङ्गमित्यर्थः जसदं धातुविशेषः तथा सीसं  
 षोडशांशकं हीनं स्यात् । अयः लौहस्तु अष्टांशं हीनं स्यादि-

सुवर्णं द्विशतांशं तु रजतं च शतांशकम् ।  
 हीनं सुघटिते कार्य्ये सुसंयोगे तु वर्द्धते ॥३३२॥  
 षोडशांशं त्वन्यथा हि दण्डः स्यात् स्वर्णकारकः ।  
 संयोगघटनं दृष्ट्वा वृद्धिं क्वासं प्रकल्पयेत् ॥३३३॥  
 स्वर्णस्योत्तमकार्य्ये तु भृतिस्त्रिंशंशकी मता ।  
 षष्ठ्यंशकी मध्यकार्य्ये हीनकार्य्ये तदर्द्धकी ।  
 तदर्द्धा कटके ज्ञेया विद्रुते तु तदर्द्धकी ॥३३४॥

त्यर्थः, अन्यथा तु उक्ताधिक्यहानौ इत्यर्थः नृपैः शिल्पी तत्त-  
 दातुशिल्पकरः सदा दण्डः ॥ ३३१ ॥

सुवर्णमिति । सुघटितकार्य्यं सुवर्णं द्विशतांशं, रजतं शतां-  
 शकं हीनं भवति, सुसंयोगे तु शोभनद्रव्यसंयोगे तु वर्द्धते वृद्धिं  
 गच्छति ॥ ३३२ ॥

षोडशांशमिति । अन्यथा उक्ताधिक्यहानौ इत्यर्थः स्वर्ण-  
 कारकः षोडशांशं दण्डः स्यात् । किञ्च संयोगघटनं सुसंयोगं  
 कुसंयोगं वा दृष्ट्वा वृद्धिं क्वासं वा प्रकल्पयेत् यदि सुसंयोगो  
 भवेत् तदा वृद्धिः, सुसंयोगे तु क्वास एवेत्यर्थः ॥ ३३३ ॥

स्वर्णस्येति । स्वर्णस्य उत्तमकार्य्ये उत्कृष्टनिर्माणे त्रिंशं-  
 शकी त्रिंशभागैकभाग इत्यर्थः, मध्यकार्य्ये षष्ठ्यंशकी षष्टि-  
 भागैकभाग इत्यर्थः तथा हीनकार्य्ये अपक्वकर्मणि तदर्द्धकी  
 विंशत्यधिकशततमभागैकभाग इत्यर्थः भृतिः वेतनं मता ।  
 कटके बलये कार्य्ये इत्यर्थः तदर्द्धा चत्वारिंशदधिकशतद्वय-  
 भागैकभाग इत्यर्थः तथा विद्रुते गलितमात्रे कार्य्ये तदर्द्धकी  
 अशीत्यधिकचतुःशततमभागैकभाग इत्यर्थः भृतिः ज्ञेया ॥३३४॥

उत्तमे राजते त्वर्द्धा तदर्द्धा मध्यमे स्मृता ।  
 हीने तदर्द्धा कटके तदर्द्धा सम्प्रकीर्तिता ॥३३५॥  
 पादमात्रा भृतिस्ताम्ने वङ्गे च जसदे तथा ।  
 लोहेऽर्द्धा वा समा वापि द्विगुणाष्टगुणायवा ॥३३६॥  
 धातूनां कूटकारी तु द्विगुणो दण्डमर्हति ॥३३७॥  
 लोकप्रचारैरुत्पन्नो मुनिभिर्विधृतः पुरा ।  
 व्यवहारोऽनन्तपथः स वक्तुं नैव शक्यते ॥३३८॥  
 उक्तं राष्ट्रप्रकरणं समासात् पञ्चमं तथा ।

उत्तमे इति । उत्तमे राजते कार्य्ये अर्द्धा, मध्यमे राजते  
 तदर्द्धा चतुर्थभाग इत्यर्थः भृतिः स्मृता । हीने अपक्वष्टे राजते  
 तदर्द्धा अष्टमभाग इत्यर्थः तथा कटके तदर्द्धा षोडशभाग इत्यर्थः  
 भृतिः सम्प्रकीर्तिता ॥ ३३५ ॥

पादमात्रेति । ताम्ने वङ्गे जसदे च कार्य्ये पादमात्रा चतुर्थ-  
 भागः, लोहे अर्द्धा वा समा वा द्विगुणा अथवा अष्टगुणा भृतिः  
 ज्ञेयेति शेषः विकल्पश्च कार्य्यगौरवलाघवापेक्षो बोध्यव्यः ॥३३६॥

धातूनामिति । धातूनां स्वर्णादीनां कूटकारी जालकरः  
 द्विगुणं दण्डम् अर्हति लभते ॥ ३३७ ॥

लोकेति । लोकानां प्रचारैः गतिभिः उत्पन्नः जातः पुरा  
 पूर्वस्मिन् काले मुनिभिः विधृतः निरूपितः व्यवहारः अनन्त-  
 पथः अशेष इत्यर्थः सः व्यवहारः वक्तुं साकल्येनेति भावः नैव  
 शक्यते ॥ ३३८ ॥

उक्तमिति । पञ्चमं राष्ट्रप्रकरणं समासात् संचेपेण उक्तम् ।

अत्रानुक्ता गुणा दोषास्ते ज्ञेया लोकशास्त्रतः ३३८

इति शुक्रनीतौ राष्ट्रेऽन्यं चतुर्थेऽध्याये

राजधर्मनिरूपणं नाम

पञ्चमं प्रकरणम् ।

चतुर्थाध्यायस्य षष्ठं प्रकरणम् ।

षष्ठं दुर्गप्रकरणं प्रवक्ष्यामि समासतः ।

खातकण्टकपाषाणैर्दुष्पथं दुर्गमैरिणम् ॥ १ ॥

परितस्तु महाखातं पारिखं दुर्गमेव तत् ।

इष्टकोपलमृद्धिभिः प्राकारं पारिघं स्मृतम् ॥ २ ॥

अत्र प्रकरणे गुणा दोषाश्च अनुक्ताः अकथिताः ते गुणदोषाः

लोकशास्त्रतः लोकतः शास्त्रतश्च ज्ञेया ॥ ३३८ ॥

इति श्रीजीवानन्दविद्यासागरविरचिता चतुर्थाध्यायस्य

पञ्चमप्रकरणव्याख्या समाप्ता ।

षष्ठमिति । षष्ठं दुर्गप्रकरणं समासतः संक्षेपेण प्रवक्ष्यामि

खातकण्टकपाषाणैः खातेन कण्टकेन पाषाणेन च दुष्पथं

दुर्गममित्यर्थः दुर्गम् ऐरिणं स्मृतमिति शेषः ॥ १ ॥

परित इति । परितः सर्वतः चतुर्दिक्षु इत्यर्थः महाखातं

महत्खातं यस्य तादृशं तत् दुर्गं पारिखमेव तथा इष्टकैः

उपलैः पाषाणैः मृद्धिर्वा भित्तिप्राकारो यस्य तादृशं दुर्गं

पारिघं स्मृतम् ॥ २ ॥

महाकण्टकवृक्षौघैर्व्याप्तं तद्वनदुर्गमम् ।

जलाभावस्तु परितो धन्वदुर्गं प्रकीर्तितम् ॥ ३ ॥

जलदुर्गं स्मृतं तज्ज्ञैरासमन्ताम्भहाजलम् ।

सुवारिपृष्ठोच्चधरं विविक्ते गिरिदुर्गमम् ॥ ४ ॥

अभेद्यं व्यूहविद्वीरव्याप्तं तत् सैन्यदुर्गमम् ।

सहायदुर्गं तज्ज्ञेयं शूरानुकूलबान्धवम् ॥ ५ ॥

परिखादैरिणं श्रेष्ठं पारिघं तु ततो वनम् ।

ततो धन्व जलं तस्माद्गिरिदुर्गं ततः स्मृतम् ॥ ६ ॥

महेति । महाकण्टकवृक्षसमूहैः व्याप्तं वेष्टितं तत् दुर्गं वनदुर्गमं वनदुर्गमित्यर्थः । परितः समन्तात् यस्य जलाभावः, तत् धन्वदुर्गं प्रकीर्तितम् ॥ ३ ॥

जलेति । आसमन्तात् महाजलं चतुर्दिक्षु महाजलाशय-वेष्टितं दुर्गं तज्ज्ञैः दुर्गाभिज्ञैः जलदुर्गं स्मृतम् । तथा विविक्ते विजने सुवारीणि पृष्ठे यस्य तथाभूतम् उच्चधरम् उन्नतगृहं यस्मिन् तथोक्तं दुर्गं गिरिदुर्गमं गिरिदुर्गम् ॥ ४ ॥

अभेद्यमिति । अभेद्यं शत्रुभिः दुर्भेद्यं व्यूहविद्धिः बलवि-न्यासविज्ञैः वीरैः व्याप्तं तत् दुर्गं सैन्यदुर्गमं सैन्यदुर्गम् । तथा शूराः बलवन्तः अनुकूलाः बान्धवा यस्मिन् तथोक्तं तत् दुर्गं सहायदुर्गं ज्ञेयम् ॥ ५ ॥

पारिखादिति । पारिखात् दुर्गात् ऐरिणं दुर्गं ततः ऐरि-णात् पारिघं, ततः पारिघात् वनं वनदुर्गं ततः वनदुर्गात् धन्व-दुर्गं ततः धन्वदुर्गात् जलं, जलदुर्गं, तस्मात् जलदुर्गात् गिरि-दुर्गं श्रेष्ठं स्मृतम् ॥ ६ ॥

सहायसैन्यदुर्गे तु सर्वदुर्गप्रसाधके ।  
 ताभ्यां विनान्यदुर्गाणि निष्फलानि महीभुजाम् ॥७॥  
 श्रेष्ठं तु सर्वदुर्गेभ्यः सेनादुर्गं स्मृतं बुधैः ।  
 तत्साधकानि चान्यानि तद्रक्षेत्रपतिः सदा ॥८॥  
 सेनादुर्गं तु यस्य स्यात् तस्य वश्या तु भूरियम् ।  
 विना तु सैन्यदुर्गेण दुर्गमन्यत्तु बन्धनम् ॥ ९ ॥  
 आपत्कालेऽन्यदुर्गाणामाश्रयश्चोत्तमो मतः ॥१०॥  
 एकःशतं योधयति दुर्गस्थोऽस्त्रधरो यदि ।  
 शतं दशसहस्राणि तस्माद्दुर्गं समाश्रयेत् ॥११॥

सहायेति । सहायसैन्यदुर्गे सहायदुर्गं सैन्यदुर्गञ्च सर्वेषां  
 दुर्गाणां प्रसाधके अलङ्कारके सम्पादके वा, यतः ताभ्यां सहाय-  
 सैन्याभ्यां विना महीभुजां राज्ञाम् अन्यानि दुर्गाणि निष्फलानि  
 भवन्तीत्यर्थः ॥ ७ ॥

श्रेष्ठमिति । सेनादुर्गं सर्वदुर्गेभ्यः श्रेष्ठं बुधैः स्मृतम्, अन्यानि  
 दुर्गाणि तत्साधकानि तेषां पोषकाणि अथवा तानि साधकानि  
 येषां तथोक्तानि तदुपजीव्यानीत्यर्थः । तस्मात् नृपतिः सदा  
 तत् सैन्यदुर्गं रक्षेत् ॥ ८ ॥

सेनादुर्गमिति । यस्य सेनादुर्गं स्यात् तस्य इयं भूः वश्या वश-  
 वर्तिनी भवेदित्यर्थः सैन्यदुर्गेण विना तु अन्यत् दुर्गं बन्धनं  
 कारातुल्यमित्यर्थः ॥ ९ ॥

आपत्काले इति । आपत्काले तु दुर्गाणाम् आश्रयः उत्तमः  
 श्रेयस्करः मतः ॥ १० ॥

एक इति । दुर्गस्थः जनः यदि अस्त्रधरः भवेत् तदा सः  
 न—४३

शूरस्य सैन्यदुर्गस्य सर्वं दुर्गमिव स्थलम् ।  
 युद्धसम्भारपुष्टानि राजा दुर्गाणि धारयेत् ।  
 धान्यवीरास्त्रपुष्टानि कोशपुष्टानि वै तथा ॥१२॥  
 सहायपुष्टं यद्दुर्गं तत्तु श्रेष्ठतरं मतम् ।  
 सहायपुष्टदुर्गेण विजयो निश्चयात्मकः ॥१३॥  
 यद्यत् सहायपुष्टं तु तत्सर्वं सफलं भवेत् ।  
 परस्परानुकूल्यं तु दुर्गाणां विजयप्रदम् ॥१४॥  
 इति शुक्रनीतौ चतुर्थाध्याये दुर्गनिरूपणं नाम  
 षष्ठं प्रकरणम् ।

एकोऽपि शतं योधयति, शतं शतसङ्घप्रकः जन इत्यर्थः दश-  
 सहस्राणि योधयेत् तस्मात् दुर्गं समाययेत् ॥ ११ ॥

शूरस्येति । शूरस्य अतिबलवतः सैन्यदुर्गस्य सर्वं स्थलं स्थानं  
 दुर्गमिव भवति । किञ्च राजा युद्धसम्भारपुष्टानि संग्रामोप-  
 करणपूर्णानि धान्यवीरैः अस्त्रैश्च पुष्टानि तथा कोशपुष्टानि  
 धनपूर्णानि दुर्गाणि धारयेत् आश्रयेत् ॥ १२ ॥

सहायेति । सहायपुष्टं सहायैः पूर्णं यत् दुर्गं तत्तु श्रेष्ठतरं  
 मतम् । सहायपुष्टदुर्गेण विजयः निश्चयात्मकः निश्चितः ॥ १३ ॥

यदिति । यत् यत् दुर्गं सहायपुष्टं तत् सर्वं सफलं भवेत् ।  
 दुर्गाणां परस्परानुकूल्यम् अन्योऽन्यसाहाय्यं विजयप्रदं विजया-  
 वहं भवति ॥ १४ ॥

इति श्रीजीवानन्दविद्यासागरभट्टाचार्यविरचिता

चतुर्थाध्यायस्य षष्ठप्रकरणव्याख्या

समाप्ता ।

चतुर्थाध्ययस्य सप्तमं प्रकरणम् ।

दौर्गं संचेपतः प्रोक्तं सैन्यं सप्तममुच्यते ।

सेना शस्त्रास्त्रसंयुक्तमनुष्यादिगणात्मिका ॥१॥

स्वगमान्यगमा चेति द्विधा सैव पृथक् त्रिधा ।

दैव्यासुरी मानवी च पूर्वपूर्वा बलाधिका ॥२॥

स्वगमा या स्वयं गन्त्री यानगाऽन्यगमा स्मृता ।

पादातं स्वगमं चान्यद्रथाश्चगजगं त्रिधा ॥३॥

सैन्याद्विना नैव राज्यं न धनं न पराक्रमः ।

बलिनो वशगाः सर्वे दुर्बलस्य च शत्रवः ।

दौर्गमिति । दौर्गं दुर्गविषयं प्रकरणं संचेपतः प्रोक्तम् ।

सप्तमं प्रकरणं सैन्यं सेनासंक्रान्तम् उच्यते । शस्त्रैः अस्त्रैश्च संयुक्ता ये मनुष्यादयः पादातहस्त्यश्चरथा इत्यर्थः तेषां गणः आत्मा यस्याः तथोक्ताः सेना उच्यते इति शेषः ॥ १ ॥

स्वगमेति । सा स्वगमा अन्यगमा चेति द्विधा, पृथक् पुनश्च सा एव दैवी आसुरी मानवी चेति त्रिधा, तासु पूर्वपूर्वा बलाधिका अधिकबलशालिनीत्यर्थः तथाच दैवी सर्वश्रेष्ठा, ततः आसुरी, ततश्च मानवीति भावः ॥ २ ॥

स्वगमेति । या सेना स्वयं गन्त्री सा स्वगमा, यानगा अन्यगमा स्मृता । यथा पादातं पदातिवर्गः स्वगमं स्वयं पादचारेण गच्छतीत्यर्थः । अन्यत् अन्यगं रथाश्चगजगमिति त्रिधा तथाच केचित् रथैः, केचिदश्वैः केचिच्च गजैर्गच्छन्तीत्यर्थः ॥ ३ ॥

सैन्यादिति । सैन्यात् विना राज्यं न, धनं न, पराक्रमश्च

भवन्त्यल्पजनस्यापि नृपस्य तु न किं पुनः ? ॥४॥  
 शरीरं हि बलं शौर्यबलं सैन्यबलं तथा ।  
 चतुर्थमास्त्रिकबलं पञ्चमं धीबलं स्मृतम् ।  
 षष्ठमायुर्बलं त्वेतैरुपेतो विष्णुरेव सः ॥५॥  
 न बलेन विनाप्यल्पं रिपुं जेतुं क्षमाः सदा ।  
 देवासुरनरास्त्वन्योपायैर्नित्यं भवन्ति हि ॥६॥  
 बलमेव रिपोर्नित्यं पराजयकरं परम् ।  
 तस्माद् बलमभेद्यं तु धारयेद्यत्नतो नृपः ॥७॥

न तिष्ठेदित्यर्थः, यदा सर्वे जनाः बलिनः बलवतः जनस्य  
 वशगाः वशवर्तिनः, दुर्बलस्य च शत्रवः भवन्ति, तदा अल्प-  
 जनस्य अनधिकसैन्यवतः नृपस्यापि किं पुनः न शत्रवो  
 भवन्ति ? अपितु भवन्त्येवेत्यर्थः ॥ ४ ॥

शरीरमिति । शरीरं बलं, शौर्यबलं स्ववीर्यबलं सैन्यबलं  
 चतुर्थम् आस्त्रिकबलम् अस्त्रप्रयोगसामर्थ्यं मित्यर्थः पञ्चमं धीबलं  
 बुद्धिबलं षष्ठम् आयुर्बलं जीवनसामर्थ्यं स्मृतम् यस्तु एतैः बलैः  
 उपेतः अन्वितः, सः विष्णुरेव ॥ ५ ॥

नेति । बलेन विना जनाः अल्पं क्षुद्रमपि रिपुं शत्रुं सदा  
 जेतुं न क्षमाः न समर्थाः, हि यतः देवासुरनराः सुरदैत्य-  
 मानवाः अन्योपायैः स्वबलव्यतिरिक्तैः उपायैः सैन्यादिवलैः तु  
 एव तुशब्दश्चावधारणे नित्यं भवन्ति उद्युञ्जते इत्यर्थः ॥ ६ ॥

बलमिति । बलमेव रिपोः शत्रोः नित्यं परं श्रेष्ठं पराजय-  
 करम् । तस्मात् नृपः अभेद्यं शत्रुदुर्धर्षं बलमेव यत्नतः धार-  
 येत् ॥ ७ ॥

सेनावलं तु द्विविधं स्वीयं मैत्रं च तद् द्विधा ।  
 मौलसाद्यस्कभेदाभ्यां सारासारं पुनर्द्विधा ॥८॥  
 अशिक्षितं शिक्षितञ्च गुल्मीभूतमगुल्मकम् ।  
 दत्तास्त्रादि स्वशस्त्रास्त्रं स्ववाहि दत्तवाहनम् ॥९॥  
 सौजन्यात् साधकं मैत्रं स्वीयं भृत्या प्रपालितम् ।  
 मौलं बह्वद्भानुबन्धि साद्यस्कं यत् तदन्यथा ॥१०॥  
 सुयुद्धकामुकं सारमसारं विपरीतकम् ।  
 शिक्षितं व्यूहकुशलं विपरीतमशिक्षितम् ॥११॥

सेनावलमिति । सेनावलं स्वीयं मैत्रञ्चेति द्विविधम् । तच्च  
 मौलसाद्यस्कभेदाभ्यां क्रमागताधुनिकभेदाभ्यां कियन्ति क्रमा-  
 गतानि कियन्ति वा आधुनिकानीति विशेषाभ्यां द्विधा, तदपि  
 पुनः सारम् असारञ्चेति द्विधा ॥ ८ ॥

अशिक्षितमिति । किञ्च तत् सेनावलम् अशिक्षितं, गुल्मी-  
 भूतम्, अगुल्मकं, दत्तास्त्रादि दत्तानि अस्त्रादीनि यस्मै तत्,  
 स्वशस्त्रास्त्रं निजशस्त्रास्त्रयुक्तं, स्ववाहि, निजवाहनान्वितं दत्त-  
 वाहनं दत्तं वाहनम् अस्त्रादि यस्मै तथाभूतमिति प्रत्येकं  
 द्वैधीभावेन बहुविधमिति भावः ॥ ९ ॥

सौजन्यादिति । सौजन्यात् साधकं कार्यनिर्वाहकं सैन्यं  
 मैत्रं, भृत्या वेतनेन प्रपालितं पारिपालितं सैन्यं स्वीयम् ।  
 बह्वद्भानु वत्सरान् अनुवध्नाति इति तथोक्तं सैन्यं मौलं  
 मूलायतत्वादिति भावः, तदन्यथा तद्भिन्नम् अल्पदिननियुक्त-  
 मित्यर्थः सैन्यं साद्यस्कं सद्यो भवत्वादिति भावः ॥ १० ॥

सुयुद्धेति । सुयुद्धकामुकं सुयुद्धे समुत्तुकं सैन्यं सारं विप-

गुल्मीभूतं साधिकारि स्वस्वामिकमगुल्मकम् ।

दत्तास्त्रादि स्वामिना यत् स्वशस्त्रास्त्रमतोऽन्यथा ॥ १० ॥

कृतगुल्मं स्वयंगुल्मं तद्वच्च दत्तवाहनम् ।

आरण्यकं किरातादि यत् स्वाधीनं स्वतेजसा ॥ ११ ॥

उत्सृष्टं रिपुणा वापि भृत्यवर्गे निवेशितम् ।

भेदाधीनं कृतं शत्रोः सैन्यं शत्रुबलं स्मृतम् ।

उभयं दुर्बलं प्रोक्तं केवलं साधकं न तत् ॥ १४ ॥

रीतकं तद्भिन्नम् असारम् व्यूहेषु कुशलं निपुणं शिचितं, विप-  
रीतम् अकुशलमित्यर्थः अशिचितम् ॥ ११ ॥

गुल्मीभूतमिति । साधिकारि स्वस्वामिकं सेनापतिसहित-  
मित्यर्थः सैन्यं गुल्मीभूतं, स्वस्वामिकं स्वाधीनमित्यर्थः सैन्यम्  
अगुल्मकम् । स्वामिना यदित्यव्ययं यस्मै इत्यर्थः अस्त्रादि दीयते  
इति शेषः तत् दत्तास्त्रादि, अतः अन्यथा एतदव्यतिरिक्तं सैन्यं  
स्वशस्त्रास्त्रम् ॥ १२ ॥

कृतेति । तद्वत् तथा कृतगुल्मं स्वामिना सेनापत्यधिष्ठितेषु  
सैन्येषु निवेशितं, स्वयं गुल्मं स्वेच्छया गुल्माधिपतीभूत-  
मित्यर्थः, दत्तवाहनं पूर्वमुक्तम् । यत् स्वतेजसा स्वाधीनं किरा-  
तादि, तत् आरण्यकं सैन्यमित्यर्थः ॥ १३ ॥

उत्सृष्टमिति । रिपुणा शत्रुणा उत्सृष्टं त्यक्तं सत् भृत्यवर्गं  
सैन्यदले निवेशितं वापि अथवा शत्रोः भेदाधीनं भेदेन विच्छे-  
देन अधीनम् आयत्तं सैन्यं शत्रुबलं स्मृतम् । एतदुभयं सैन्यं  
दुर्बलं प्रोक्तं कथितम् अविश्वसनीयत्वादिति भावः तस्मात्

समैर्नियुद्धकुशलैर्व्यायामैर्नतिभिस्तथा ।

वर्द्धयेद् बाहुयुद्धार्थं भोज्यैः शारीरकं बलम् ॥१५॥

मृगयाभिस्तु व्याघ्राणां शस्त्रास्त्राभ्यासतः सदा ।

वर्द्धयेच्छूरसंयोगात् सम्यक् शौर्य्यबलं नृपः ॥१६॥

सेनाबलं सुभृत्या तु तपोऽभ्यासैस्तथास्त्रिकम् ।

वर्द्धयेच्छास्त्रचतुरसंयोगाद्भीबलं सदा ॥१७॥

सत्क्रियाभिश्चिरस्थायि नित्यं राज्यं भवेद्यथा ।

स्वगोत्रे तु तथा कुर्यात् तदायुर्बलमुच्यते ।

यावद्गोत्रे राज्यमस्ति तावदेव स जीवति ॥१८॥

केवलं स्वसैन्यासमभिव्याहृतं तत् न साधकं न कार्यनिर्वाहकः  
मित्यर्थः ॥ १४ ॥

समैरिति । समैः तुल्यबलैः नियुद्धकुशलैः संग्रामदक्षैः वीरैः  
सह बाहुयुद्धार्थं व्यायामैः अङ्गचालनाभिः, नतिभिः गुरुजन-  
प्रणतिभिः तथा भोज्यैः बलकरैरन्नादिभिः शारीरं बलं वर्द्धयेत्  
गुरुजनप्रणत्या तेषाम् आशीर्वादाद् बलवृद्धिरिति भावः ॥१५॥

मृगयाभिरिति । नृपः व्याघ्राणाम् उपलक्षणमेतत् हिंस-  
जन्तूनामित्यर्थः मृगयाभिः शरव्यकरणैः, सदा शस्त्रास्त्राणाम्  
अभ्यासतः पुनः पुनः चालनेन तथा शूराणां वीराणां संयोगात्  
संसर्गात् शौर्य्यबलं सम्यक् वर्द्धयेत् ॥ १६ ॥

सेनाबलमिति । सुभृत्या सुवेतनेन सेनाबलं, तपोभिः  
अभ्यासैश्च आस्त्रिकम् अस्त्रप्रयोगबलं तथा सदा शास्त्राणां  
चतुराणाञ्च संयोगात् संसर्गात् धीबलं बुद्धिबलं वर्द्धयेत् ॥१७॥

सत्क्रियाभिरिति । यथा नित्यं सततं सत्क्रियाभिः राज्यं

- चतुर्गुणं हि पादातमश्वतो धारयेत् सदा ।  
 पञ्चमांशांस्तु वृषभानष्टांशांश्च क्रमेलकान् ॥१९॥  
 चतुर्थांशान् गजानुष्टाद्वजार्द्धांश्च रथान् सदा ।  
 रथात्तु द्विगुणं राजा बृहन्नालीकमेव च ॥२०॥  
 पदातिबहुलं सैन्यं मध्याश्वं तु गजाल्पकम् ।  
 तथा वृषोष्ट्रसामान्यं रक्षेन्नागाधिकं न हि ॥२१॥  
 सवयः सारवेशोच्चशस्त्रास्त्रं तु पृथक् शतम् ।  
 लघुनालिकयुक्तानां पदातीनां शतत्रयम् ॥२२॥

चिरस्थायि भवेत् तथा स्वगोत्रे निजसन्ताने कुर्यात् तदेव  
 आयुर्बलम् उच्यते, यस्मात् गोत्रे स्वसन्ताने यावत् राज्यम्  
 अस्ति तिष्ठति, सः तावदेव तावत्कालपर्यन्तमित्यर्थः जीवति ॥१८॥  
 चतुर्गुणमिति । चतुर्थांशानिति राजा अश्वतः अश्वसैन्यात्  
 चतुर्गुणं पादातं पदातिसैन्यं, पञ्चमांशान् वृषभान्, तथा अष्टां-  
 शान् क्रमेलकान् उष्ट्रान् उष्ट्रात् उष्ट्रसैन्यात् चतुर्थांशान् गजान्  
 गजार्द्धान् गजसैन्यात् अर्द्धसंख्यकान् रथान् तथा रथात् द्विगुणं  
 बृहन्नालीकं बृहन्नालीकास्त्रसैन्यं सदा धारयेत् रक्षेत् ॥१९॥२०॥

पदातीति । पदातिबहुलं बहुसंख्यकपदातिवर्गं मध्याश्वं  
 मध्यविधसंख्यकतुरङ्गं गजाल्पकम् अल्पसंख्यकगजं तथा वृषोष्ट्र-  
 सामान्यं साधारणसंख्यकवृषोष्ट्रं सैन्यं रक्षेत् नागाधिकम् अ-  
 धिकगजं न हि नैव रक्षेदित्यर्थः ॥ २१ ॥

सवय इत्यादि । वल्लरे लक्षकर्षभाक् लक्षमुद्रागमवान्  
 नृपतिः राजा सवयः समानवयस्कं सारवेशं कठिनपरिच्छेदम्  
 उच्चानि उन्नतानि शस्त्राणि अस्त्राणि यस्य तादृशं पृथक्

अशीत्यश्वान् रथं चैकं बृहन्नालद्वयं तथा ।  
 उष्ट्रान् दश गजौ द्वौ तु शकटौ षोडशर्षभान् ॥२३॥  
 तथा लेखकषट्कं हि मन्त्रित्वितयमेव च ।  
 धारयेन्नृपतिः सम्यग्वत्सरे लक्षकर्षभाक् ॥२४॥  
 सम्भारदानभोगार्थं धनं सार्धसहस्रकम् ।  
 लेखकार्थं शतं मासि मन्त्रार्थं तु शतत्रयम् ॥२५॥  
 त्रिशतं दारपुत्रार्थं विद्वदर्थं शतद्वयम् ।  
 साद्यश्वपदगार्थं हि राजा चतुःसहस्रकम् ॥२६॥  
 गजोष्ट्रवृषनालार्थं व्ययीकुर्याच्चतुःशतम् ।  
 शेषं कोशे धनं स्थाप्यं राज्ञा सार्धसहस्रकम् ॥२७॥

विभिन्नं शतं शतसङ्ख्यापादातं लघुनालिकयुक्तानां क्षुद्रनालि-  
 कास्त्रधारिणां पदातीनां शतत्रयम्, अशीतिसंख्यकान् अश्वान्  
 एकं रथं बृहन्नालद्वयं बृहन्नालिकास्त्रधारिणौ द्वौ, दश उष्ट्रान्  
 द्वौ गजौ द्वौ शकटौ षोडश ऋषभान् वृषभान् लेखकषट्कं  
 षट् लेखकान् तथा मन्त्रित्वितयं त्रीन् मन्त्रिणः सम्यक् यथा  
 तथा धारयेत् रक्षेत् ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥

लक्षमुद्राणां व्ययनियममाह सम्भारैति । राजा मासि  
 प्रतिमासं सम्भारार्थं दानार्थं निजभोगार्थञ्च सार्धसहस्रकं पञ्च-  
 दशशतानि इत्यर्थः १५००, लेखकार्थं लेखकानां निमित्तं शतं  
 १००, मन्त्रार्थं मन्त्रिणां निमित्तं शतत्रयं ३००, दारपुत्रार्थं  
 स्त्रीपुत्रनिमित्तं त्रिशतं ३००, विद्वदर्थं विदुषां सम्मानार्थं शत-  
 द्वयं २००, साद्यश्वपदगार्थं सादिनाम् अश्वारोहिणाम् अश्वानां

प्रतिवर्षं स्ववेशार्थं सैनिकेभ्यो धनं हरेत् ॥२८॥

लोहसारमयश्चक्रसुगमो मञ्चकासनः ।

स्वान्दोलायितरूढस्तु मध्यमासनसारथिः ॥२९॥

शस्त्रास्त्रसन्धार्युदर द्रष्टृच्छायो मनोरमः ।

एवंविधो रथो राज्ञा रक्ष्यो नित्यं सदश्वकः ॥३०॥

नीलतालुनीलजिह्वो वक्रदन्तो ह्यदन्तकः ।

दीर्घद्वेषी क्रूरमदस्तथा पृष्ठविधूनकः ॥३१॥

पदगानां पदातीनाञ्च निमित्तं चतुःसहस्रकं ४०००, गजानाम्  
उद्घाणां वृषाणां नालानां नालिकास्थ्यास्त्रधारिणां निमित्तं  
चतुःशतं ४००, व्ययीकुर्यात् । राज्ञा शेषम् अवशिष्टं साह-  
सहस्रकं १५००, कोशे भाण्डारे स्थाप्यम् ॥ २५—२७ ॥

प्रतिवर्षमिति । प्रतिवर्षं वर्षे वर्षे स्ववेशार्थं निजनिजपरि-  
च्छदार्थं सैनिकेभ्यः धनं हरेत् दद्यादित्यर्थः ॥ २८ ॥

लोहेति । शस्त्रेति । लोहसारमयः उत्कृष्टलौहनिर्मितः,  
चक्रसुगमः चक्रैः सुखेन गच्छतीति तथोक्तः, मञ्चकम् आसनं  
यस्मिन् सः पर्यङ्कासनसहितः स्वेन आत्मना आन्दोलितः रूढः  
आरोही यस्मिन् तथाभूतः, मध्यमम् आसनं यस्य तादृशः  
सारथिर्यस्मिन् सः, शस्त्राणि अस्त्राणि च सन्धारयतीति तादृ-  
शम् उदरम् अभ्यन्तरं यस्य तथोक्तः द्रष्टृच्छायः अभिलषित-  
छायः मनोरथः तथा सदश्वकः उत्कृष्टाश्वसंयुतः एवंविधः  
रथः राज्ञा नित्यं सततं रक्ष्यः ॥ २९ ॥ ३० ॥

नीलेति । दशेति । नीलतालुः नीलवर्णतालुदेशः, नील-  
जिह्वः, वक्रदन्तः वा अदन्तकः, दीर्घद्वेषी दीर्घकालस्थायि-

दशाष्टोननखो मन्दो भूविशोधनपुच्छकः ।  
 एवंविधोऽनिष्टगजो विपरीतः शुभावहः ॥३२॥  
 भद्रो मन्द्रो मृगो मिश्रो गजो जात्या चतुर्विधः ३३  
 मध्वाभदन्तः सबलः समाङ्गो वर्तुलाकृतिः ।  
 सुमुखोऽवयवश्रेष्ठो ज्ञेयो भद्रगजः सदा ॥३४॥  
 स्थूलकुक्षिः सिंहदृक् च वृहत्त्वगलशुण्डकः ।  
 मध्यमावयवो दीर्घकायो मन्द्रगजः स्मृतः ॥३५॥

क्रोधः, क्रूरमदः विष्टङ्गलमदवर्षी पृष्ठविधूनकः पृष्ठकम्पकः,  
 दशाष्टोननखः दशभिः अष्टाभिर्वा ऊनाः नखाः यस्य तादृशः  
 मन्दः अल्पगामी, भूविशोधनपुच्छकः पुच्छेन भूमेर्विशोधन-  
 कारीत्यर्थः एवंविधः गजः अनिष्टः अशुभकरः, विपरीतस्तु  
 शुभावहः ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

भद्र इति । गजः भद्रः, मन्द्रः, मृगः, मिश्रः इति जात्या  
 जातिभेदेन चतुर्विधः ॥ ३३ ॥

तत्र भद्रमाह मध्वाभेति । मध्वाभदन्तः मधुनः आभा इव  
 आभा ययोः तादृशौ दन्तौ यस्य तथोक्तः सबलः अतिबलान्  
 समाङ्गः समानि न तु विसदृशानीत्यर्थः अङ्गानि यस्य सः,  
 वर्तुलाकृतिः सुगोलावयवः सुमुखः तथा अवयवेषु अङ्गेषु  
 अन्येभ्यः श्रेष्ठः गजः सदा भद्रगजः ज्ञेयः ॥ ३४ ॥

मन्द्रमाह स्थूलेति । स्थूलकुक्षिः वृहदुदरः सिंहदृक् सिंह-  
 दृष्टिः वृहत्त्वगलशुण्डकः वृहत्त्वः त्वचः गन्तः शुण्डा च यस्य  
 तथोक्तः मध्यमावयवः मध्यमशरीरः तथा दीर्घकायः गजः  
 मन्द्रगजः स्मृतः ॥ ३५ ॥

तनुकरणदन्तकर्णशुण्डः स्थूलाक्ष एव हि ।  
 सुक्रस्वाधरमेद्रस्तु वामनो मृगसंज्ञकः ॥३६॥  
 एषां लक्ष्मैर्विमिलितो गजो मिश्र इति स्मृतः ।  
 भिन्नं भिन्नं प्रमाणन्तु त्रयाणामपि कीर्तितम् ॥३७॥  
 गजमाने ह्यङ्गुलं स्यादष्टभिस्तु यवोदरैः ।  
 चतुर्विंशत्यङ्गुलैस्तैः करः प्रोक्तो मनीषिभिः ॥३८॥  
 सप्तहस्तोन्नतिर्भद्रे ह्यष्टहस्तप्रदीर्घता ।  
 परिणाहो दशकर उदरस्य भवेत् सदा ॥३९॥  
 प्रमाणं मन्द्रमृगयोर्हस्तहीनं क्रमादतः ।

मृगमाह तन्विति । तनुकरणदन्तकर्णशुण्डः चुद्रकरणदन्त-  
 कर्णशुण्डः स्थूलाक्षः स्थूलनेत्रः सुक्रस्वाधरमेद्रः अतिचुद्राधरः  
 अतिचुद्रोपस्थश्च तथा वामनः खर्वकायः गजः मृगसंज्ञकः मृग-  
 गज इति ख्यातः ॥ ३६ ॥

मिश्रमाह एषामिति । एषां भद्रादीनां त्रयाणां लक्ष्मैः  
 चिह्नैः विमिलितः विशेषेण मिलितः गजः मिश्रः इति स्मृतः ।  
 अन्येषां त्रयाणां गजानां प्रमाणं भिन्नं भिन्नं पृथक् पृथक्  
 कीर्तितम् ॥ ३७ ॥

गजमाने इति । गजमाने हस्तिपरिमाणे अष्टभिः यवोदरैः  
 अङ्गुलं स्यात्, तैः चतुर्विंशत्यङ्गुलैः मनीषिभिः करः प्रोक्तः ॥३८॥  
 सप्तेति । भद्रे हस्तिनि सप्तहस्ता उन्नतिः, अष्टहस्तप्रदी-  
 र्घता अष्टहस्ताः दीर्घता, उदरस्य परिणाहः विस्तारः दशकरः  
 सदा भवेत् ॥ ३९ ॥

प्रमाणमिति । मन्द्रमृगयोः गजयोः प्रमाणम् अतः भद्र-

कथितं दैर्घ्यसाम्यन्तु मुनिभिर्भद्रमन्द्रयोः ॥४०॥  
 बृहद्भूगण्डफालस्तु धृतशौर्षगतिः सदा ।  
 गजःश्रेष्ठस्तु सर्वेषां शुभलक्षणसंयुतः ॥४१॥  
 पञ्चयवाङ्गुलेनैव वाजिमानं पृथक् स्मृतम् ॥४२॥  
 चत्वारिंशाङ्गुलमुखो वाजी यश्चोत्तमोत्तमः ।  
 षट्त्रिंशदङ्गुलमुखो ह्युत्तमः परिकीर्तितः ॥४३॥  
 द्वात्रिंशदङ्गुलमुखो मध्यमः स उदाहृतः ।  
 अष्टाविंशत्यङ्गुलो यो मुखे नीचः प्रकीर्तितः ॥४४॥  
 वाजिनां मुखमानेन सर्वावयवकल्पना ।

गजात् क्रमात् क्रमेण हस्तहीनं तथा भद्रमन्द्रयोः दैर्घ्यसाम्यं  
 मुनिभिः कथितम् ॥ ४० ॥

बृहदिति । बृहद्भूगण्डफालः विशालभूगण्डदेशः सदा  
 धृतशौर्षगतिः गृहीतोत्कृष्टगतिः शुभलक्षणसंयुतः गजः सर्वेषां  
 गजानां श्रेष्ठः ॥ ४१ ॥

पञ्चेति । पञ्चभिर्यवैः अङ्गुलेन पृथक् वाजिमानम् अश्व-  
 परिमाणं स्मृतम् ॥ ४२ ॥

चत्वारिंशेति । यः वाजी अश्वः चत्वारिंशत् अङ्गुलानि परि-  
 माणमस्येति तथोक्तं मुखं यस्य तथाभूतः, सः उत्तमोत्तमः अत्यु-  
 त्तमः । षट्त्रिंशदङ्गुलमुखः वाजी उत्तमः परिकीर्तितः ॥ ४३ ॥

द्वात्रिंशदिति । द्वात्रिंशदङ्गुलमुखः यः वाजी सः मध्यमः  
 उदाहृतः कथितः । यश्च मुखे अष्टाविंशत्यङ्गुलः, सः नीचः  
 प्रकीर्तितः ॥ ४४ ॥

वाजिनामिति । वाजिनाम् अश्वानां मुखमानेन मुखपरि-

मुखार्द्धं पुच्छदण्डं च शिश्न आण्डौ तदङ्गका ।  
 कर्णः षडङ्गुलो दीर्घश्चतुःपञ्चाङ्गुलः क्वचित् ॥५४॥  
 परिणाहः शफस्योक्तो मुखार्द्धेनाङ्गुलाधिकः ।  
 तदर्द्धो मणिवन्धस्य जङ्गायाः परिधिः स्मृतः ॥५५॥  
 दशैकाङ्गुलपरिधी रम्योरोः कीर्त्तितो बुधैः ।  
 पृष्ठोरुपरिधिर्मूले त्रिः षष्ठांशो मुखेषु च ॥५६॥  
 वहिरन्तर्धनुःखण्डसदृशाः सरभोग्रजाः ।  
 मणिवन्धमणैर्ज्ञेयः परिधिश्च नवाङ्गुलः ।  
 अन्यजङ्गादिपरिधिर्विज्ञेयः पूर्ववद् बुधैः ॥५७॥

मुखार्द्धमिति । पुच्छदण्डं शिश्नश्च मुखार्द्धं मुखस्य अर्द्धम्  
 अर्द्धपरिमितम् । आण्डौ अण्डौ एव आण्डौ स्वार्थे णप्रत्ययः ।  
 अण्डकोषौ तदर्द्धांशे शिश्नार्द्धपरिमितौ । कर्णः षडङ्गुलः, क्वचित्  
 दीर्घः कर्णस्य दैर्घ्यमित्यर्थः चतुःपञ्चाङ्गुलः चतुरङ्गुलः पञ्चा-  
 ङ्गुलश्च ॥ ५४ ॥

परिणाहमिति । शफस्य खुरस्य परिणाहः विस्तारः अङ्गुला-  
 धिकः मुखार्द्धेन मुखार्द्धपरिमाणेन तुल्यः एकाङ्गुलाधिकः  
 मुखार्द्धपरिमाणतुल्यः । मणिवन्धस्य जङ्गायाश्च परिधिः वेष्टनं  
 तदर्द्धः स्मृतः ॥ ५५ ॥

दशेति । रम्यस्य रमणीयस्य ऊरोः दशैकाङ्गुलपरिधिः  
 एकादशाङ्गुलमितः परिधिः बुधैः कीर्त्तितः । पृष्ठस्य पश्चिमस्य  
 ऊरोः परिधिः मूले त्रिः अङ्गुलत्रयमितः, मुखेषु अग्रेषु च  
 षष्ठांशः ॥ ५६ ॥

मणिवन्धेति । मणिवन्धस्य मणैः चिह्नविशेषस्य परिधिः

अथोर्वोरन्तरे चिह्नमङ्गुष्ठं पक्षमूलयोः ॥५८॥  
 सार्द्धाङ्गुलं सटास्थानं ग्रीवोपरि सुविस्तृतम् ।  
 शिरोमणिं समारभ्य दीर्घं स्कन्धान्तमुत्तमम् ॥५९॥  
 अधोगमा सटा कार्या हस्तमात्रायता शुभा ।  
 सार्द्धहस्ता द्विहस्ता वा पुच्छवालाः सुशोभनाः ॥६०॥  
 सप्ताष्टनवदशभिरङ्गुलैः कर्णदीर्घता ।  
 तथा तद्विस्तृतिर्ज्ञेया त्र्यङ्गुला चतुरङ्गुला ॥६१॥  
 न स्थूला नापि चिपिटा ग्रीवा मयूरसन्निभा ।  
 ग्रीवाग्रपरिधिस्तुल्यो मुखेनाधिकमुष्टिकः ॥६२॥

नवाङ्गुलः तथा अन्यजङ्घादिपरिधिः पूर्ववत् प्रथमवत् बुधैः  
 ज्ञेयः ॥ ५७ ॥

अथेति । ऊर्वोः अन्तरे मध्ये पार्श्वमूलयोः चिह्नम् अङ्गुलम्  
 अङ्गुलपरिमितम् ॥ ५८ ॥

सार्द्धाङ्गुलमिति । ग्रीवाया उपरि सुविस्तृतं शिरोमणिं  
 समारभ्य स्कन्धान्तं स्कन्धपर्यन्तम् उत्तमं सटानां जटानां  
 स्थानं सार्द्धाङ्गुलं दीर्घः ॥ ५९ ॥

अधोगमेति । अधोगमा अधोलम्बमाना हस्तमात्रायता  
 हस्तमात्रदीर्घा शुभा जटा कार्या । पुच्छस्य वालाः केशाः  
 सार्द्धहस्ताः वा द्विहस्ताः सुशोभनाः कार्या इति शेषः ॥ ६० ॥

सप्तेति । कर्णस्य दीर्घता सप्तभिः अष्टभिः नवभिः दशभिर्वा  
 अङ्गुलैः भवति । तथा तस्य कर्णस्य विस्तृतिः त्र्यङ्गुला अङ्गुल-  
 त्रयमिता वा चतुरङ्गुला अङ्गुलचतुष्टयमिता ज्ञेया ॥ ६१ ॥

नेति । ग्रीवा अश्वस्येति शेषः मयूरसन्निभा शिखिसदृशी,

ग्रीवामूलस्य परिधिर्द्विगुणो विदशाङ्गुलः ।  
 तृतीयांशविहीनं तु सत्क्रोडं वक्ष ईरितम् ॥६३॥  
 नेत्रोपरि परीणाहो मुखेनाष्टाङ्गुलाधिकः ।  
 नासिकोपरि नेत्राधो मुखस्य परिधिस्तु यः ।  
 तृतीयांशविहीनेन मुखेन सदृशो भवेत् ॥६४॥  
 द्व्यङ्गुलं नेत्रविस्तृतिस्त्र्यङ्गुला तस्य दीर्घता ।  
 अर्द्धाङ्गुलाधिका वापि विस्तृतिर्दीर्घताङ्गुला ॥६५॥  
 मुखतृतीयांशमेतदूर्वोर्मध्येऽन्तरं स्मृतम् ।

न स्थूला, नापि चिपिटा चिपिटाकृतिः भवतीति शेषः । ग्रीव-  
 ग्रस्य परिधिः मुखेन मुखपरिमाणेन तुल्यः अधिकमुष्टिक-  
 एकमुष्ट्यधिकमुखपरिमाणतुल्य इत्यर्थः ॥ ६२ ॥

ग्रीवामूलस्येति । ग्रीवामूलस्य परिधिः विदशाङ्गुलः दशा-  
 ङ्गुलः हीनः द्विगुणः मुखस्येति शेषः । तथा सत्क्रोडम् उल्कृष्टो-  
 त्सङ्गं वक्षः वक्षःस्थलं तृतीयांशेन विहीनं मुखस्येति शेषः  
 ईरितम् उक्तम् ॥ ६३ ॥

नेत्रोपरीति । नेत्रस्य उपरि परिणाहः विस्तारः मुखेन  
 सदृशः अष्टाङ्गुलाधिकश्च । नासिकोपरि नेत्राधः मुखस्य यः  
 परिधिः, सः तृतीयांशविहीनेन मुखेन मुखपरिमाणेन सदृशः  
 भवेत् ॥ ६४ ॥

द्व्यङ्गुलमिति । नेत्रस्य विस्तृतिः द्व्यङ्गुलं तस्य नेत्रस्य  
 दीर्घता त्र्यङ्गुला । वापि अथवा विस्तृतिः अर्द्धाङ्गुलाधिका,  
 सार्धद्व्यङ्गुला इत्यर्थः, दीर्घता च अङ्गुला अङ्गुलाधिका त्र्यङ्गुला  
 इत्यर्थः ॥ ६५ ॥

नेत्राग्रयोरन्तरं तु पञ्चमांशं मुखस्य हि ॥६६॥

कर्णयोरन्तरं तद्वत् कर्णनेत्रान्तरं तथा ।

भूस्थयोः शफयोः प्रोक्तं यदेतत् कर्णसम्मितम् ॥६७॥

मणिनेत्रप्रान्तरञ्च भ्रुवोरन्तरमेव हि ।

सक्थ्यङ्गुलं तृतीयांशं नासानेत्रान्तरं तथा ॥६८॥

त्रिभागपूरणं प्रोथः सोष्ठश्च परिकीर्तितः ।

नासारन्ध्रान्तरं चैव तद्वैर्ध्वनवमांशकम् ॥ ६९ ॥

कायो नराद्धविस्तारस्त्रिके हृदयसम्मितः ।

चतुर्थांशं तु हृदयं बाहुमूलादधः स्मृतम् ॥७०॥

मुखेति । ऊर्वोः मध्ये एतत् अन्तरं मुखतृतीयांशं तथा  
नेत्राग्रयोः अन्तरन्तु मुखस्य पञ्चमांशं स्मृतम् ॥ ६६ ॥

कर्णयोरिति । कर्णयोः अन्तरं तद्वत् तथा कर्णनेत्रान्तरं  
तथा भूस्थयोः शफयोः यत् एतत् अन्तरमित्यर्थः तत् कर्ण-  
सम्मितं कर्णपरिमाणतुल्यं प्रोक्तम् ॥ ६७ ॥

मणीति । मणिनेत्रयोः प्रान्तरम् अन्तरमित्यर्थः भ्रुवोः  
अन्तरं तथा नासानेत्रयोरन्तरं सक्थः ऊरोरङ्गुलानां तृतीयांशं  
ज्ञेयमिति शेषः ॥ ६८ ॥

त्रिभागेति । सोष्ठः ओष्ठसहितः प्रोथः मुखाग्रभागः त्रिभाग-  
पूरणः मुखस्य तृतीयांश इत्यर्थः परिकीर्तितः । तथा नासा-  
रन्ध्रयोरन्तरं तयोः वैर्ध्वस्य नवमांशकं ज्ञेयमिति शेषः ॥६९॥

काय इति । कायः शरीरं नराद्धविस्तारः मनुष्याद्धविस्तृतिः  
त्रिके षष्ठवंशाधोभागे हृदयसम्मितः वक्षःसदृशः विस्तार  
इत्यर्थः । तथा हृदयं बाहुमूलात् अधः चतुर्थांशं स्मृतम् ॥७०॥

षष्ठांशमन्तरं बाह्वोर्हृत्समीपे प्रकीर्तितम् ।  
 अधरोष्ठोऽनुचिवुकं सार्द्धाङ्गुलमयोन्नतम् ॥७१॥  
 शोभते चोन्नतग्रीवो नतपृष्ठः सदा हयः ॥७२॥  
 यद्रूपं कर्तुमुद्युक्तस्तद् विम्बं वीक्ष्य सर्वतः ।  
 अदृष्ट्वा कस्य यद्रूपं न कर्तुं क्षमते हि तत् ॥७३॥  
 शिल्पाग्रे वाजिनं ध्यात्वा कुर्यादवयवानतः ।  
 दिशानया च विभूतेः सर्वमानानि वाजिनाम् ॥७४॥  
 श्लशुहीनमुखः कान्तप्रगल्भोत्तुङ्गनासिकः ।  
 दीर्घोद्धतग्रीवमुखो ऋस्वकुक्षिखुरश्रुतिः ॥ ७५ ॥

षष्ठांशमिति । हृत्समीपे वक्षः सन्निधौ बाह्वोः भुजयोः  
 अन्तरं षष्ठांशं प्रकीर्तितम् । अधरोष्ठादथ अनुचिवुकं सार्द्धा-  
 ङ्गुलम् उन्नतम् ॥ ७१ ॥

शोभते इति । उन्नतग्रीवः नतपृष्ठः हयः सदा शोभते ॥७२॥

यदिति । यस्य रूपम् आकृतिं कर्तुम् उद्युक्तः, सर्वतः वीक्ष्य  
 तस्य विम्बं प्रतिकृतिं कुर्यादिति शेषः कस्य कस्यापीत्यर्थः यत्  
 रूपं तत् अदृष्ट्वा तत् प्रतिविम्बं कर्तुं न क्षमते कोऽपीत्यर्थः ॥७३॥

शिल्पीति । अतः अस्मात् कारणात् शिल्पी अग्रे वाजिनम्  
 अश्वं ध्यात्वा चिन्तयित्वा अवयवान् कुर्यात् । अनया दिशा  
 रीत्या वाजिनां विभूतेः विभवस्य सर्वाणि मानानि परिमाणानि  
 कार्याणीति शेषः ॥ ७४ ॥

श्लशुहीनेति । तुरगेति । श्लशुभिः हीनं मुखं यस्य तादृशं,  
 कान्तः सुन्दरः प्रगल्भः तथा उत्तुङ्गा उन्नता नासिका यस्य  
 तथाभूतः, दीर्घा उद्धता उल्कण्ठा ग्रीवा यस्य तादृशं मुखं यस्य

तुरप्रचण्डवेगश्च हंसमेघसमस्वनः ।

नातिक्रूरो नातिमृदुर्देवसत्त्वो मनोरमः ।

सुकान्तिगन्धवर्णश्च सद्गुणभ्रमरान्वितः ॥७६॥

भ्रमरस्तु द्विधावर्त्तो वामदक्षिणभेदतः ।

पूर्णोऽपूर्णः पुनर्द्विधा दीर्घो ऋस्वस्तथैव च ॥७७॥

स्त्रीपुंदेहे वामदक्षौ यथोक्तफलदौ क्रमात् ।

न तथा विपरीतौ तु शुभाशुभफलप्रदौ ॥७८॥

नीचोर्द्ध्वतिर्य्यङ्मुखतः फलभेदो भवेत्तयोः ॥७९॥

तथोक्तः ऋस्वाः कुक्षिः उदरं खुराः श्रुतयः कर्णा यस्य सः,  
प्रचण्डवेगः, हंसस्य मेघस्य च समस्वनः तुल्यध्वनिः, नातिक्रूरः,  
नातिमृदुः देवसत्त्वः अलौकिकबलसम्पन्नः, शोभनाः कान्ति-  
गन्धवर्णाः यस्य तादृशः सद्गुणेन भ्रमरेण आवर्त्तविशेषेण च  
अन्वितः तुरगः मनोरमः अतिहृद्यः ॥ ७५ ॥ ७६ ॥

भ्रमर इति । वामदक्षिणभेदतः वामांशदक्षिणांशभेदात्  
द्विधा द्विप्रकारः आवर्त्तः घूर्णरूपचिह्नविशेषः भ्रमरः । स तु  
पूर्णः अपूर्णः तथा दीर्घः ऋस्वश्चेति पुनर्द्विधा द्विविधः ॥ ७७ ॥

स्त्रीति । वामदक्षौ वामांशदक्षिणांशस्थितौ तौ भ्रमरौ  
स्त्रीपुंदेहे क्रमात् यथोक्तफलदौ, अश्वाया वामांशे अश्वस्य  
दक्षिणांशे स्थिताविति भावः, वामभागस्तु नारीणां पुंसां  
येष्टस्तु दक्षिण इति वचनात् विपरीतौ तु तथा शुभाशुभफल-  
प्रदौ न भवत इति शेषः ॥ ७८ ॥

नीचेति । तयोः भ्रमरयोः नीचोर्द्ध्वतिर्य्यङ्मुखतः निम्नमुखतः  
ऊर्ध्वमुखतः तिर्य्यङ्मुखतश्च फलभेदः फलानां प्रभेदः भवेत् ॥७९॥

शङ्खचक्रगदापद्मवेदिस्वस्तिकसन्निभः ।

प्रासादतोरणधनुः सुपूर्णकलशाकृतिः ।

स्वस्तिकस्रङ्गीनखङ्गश्रीवत्साभः शुभो भ्रमः ॥८०॥

नासिकाग्रे ललाटे च शङ्खे कण्ठे च मस्तके ।

आवर्त्तो जायते येषां ते धन्यास्तुरगोत्तमाः ॥८१॥

हृदि स्कन्धे गले चैव कटिदेशे तथैव च ।

नाभौ कुक्षौ च पार्श्वग्रे मध्यमाः सम्प्रकीर्त्तिताः ॥८२॥

ललाटे यस्य चावर्त्तद्वितयस्य समुद्भवः ।

मस्तके च तृतीयस्य पूर्णहर्षोऽश्व उत्तमः ॥८३॥

भ्रमरस्यास्य आकृतिभेदं शुभकरत्वञ्च दर्शयति शङ्केति ।

शङ्खचक्रगदापद्मवेदि स्वस्तिकसन्निभः शङ्खसदृशः चक्रसदृशः

गदासदृशः पद्मसदृशः वेदिसदृशः स्वस्तिकं माङ्गलिकद्रव्यभेदः

तत्सदृशः तथा प्रासादतोरणधनुः सुपूर्णकलशाकृतिः हर्म्यसदृशः

तोरणप्रभः धनुषां तुल्यः सुपूर्णकुम्भाकृतिः किञ्च स्वस्तिकस्रङ्-

गीनखङ्गश्रीवत्साभः स्वस्तिकस्रक् माङ्गलिका माला, तत्समः

मीनरूपः खङ्गाकृतिः श्रीवत्सः मणिविशेषः, तत्समः भ्रमः

भ्रमरः शुभः ॥ ८० ॥

नासिकाग्रे इति । येषां नासिकाग्रे, ललाटे, शङ्खे ललाटास्थि  
कर्णसमीपस्थास्थि वा कण्ठे मस्तके च आवर्त्तः भ्रमरचिह्नं  
जायते ते तुरगोत्तमाः धन्याः ॥ ८१ ॥

हृदीति । हृदि वक्षसि, स्कन्धे, गले, कटिदेशे, नाभौ,  
कुक्षौ, पार्श्वग्रे च येषाम् आवर्त्तः ते मध्यमा सम्प्रकीर्त्तिताः ॥८२॥  
ललाटे इति । यस्य ललाटे आवर्त्तद्वितयस्य मस्तके च

पृष्ठवंशे यदावर्त्तो यस्यैकः सम्प्रजायते ।

स करोत्यश्वसङ्घातान् स्वामिनः सूर्यसंज्ञकः ॥ ८४ ॥

त्रयो यस्य ललाटस्था आवर्त्तास्तिर्य्यगुत्तराः ।

त्रिकूटः स परिज्ञेयो वाजिहृदिकरः सदा ॥ ८५ ॥

एवमेव प्रकारेण त्रयो ग्रीवां समाश्रिताः ।

समावर्त्ताः स वाजीशो जायते नृपमन्दिरे ॥ ८६ ॥

कपोलस्थो यदावर्त्तो दृश्येते यस्य वाजिनः ।

यशोवृद्धिकरौ प्रोक्तौ राज्यवृद्धिकरौ मतौ ॥ ८७ ॥

एको वाय कपोलस्थो यस्यावर्त्तः प्रदृश्यते ।

द्वितीयस्य आवर्त्तस्य समुद्भवः, सः पूर्णहर्षः पूर्णहर्षवर्द्धकत्वात्  
पूर्णानन्दः अश्वः उत्तमः ॥ ८३ ॥

पृष्ठवंशे इति । यदा यस्य पृष्ठवंशे एकः आवर्त्तः सम्प्रजायते,  
सः, सूर्यसंज्ञकः सूर्याख्यः अश्वः स्वामिनः अश्वसङ्घातान् अश्व-  
समूहान् करोति वर्द्धयति ॥ ८४ ॥

त्रय इति । यस्य ललाटस्थाः त्रयः आवर्त्ताः तिर्य्यगुत्तराः  
कुटिलप्रधानाः, सः त्रिकूटः त्रिकूटनामा अश्वः सदा वाजिनां  
वृद्धिकरः ॥ ८५ ॥

एवमिति । एवंप्रकारेण एव यस्य त्रयः समावर्त्ताः ग्रीवां  
समाश्रिताः, ग्रीवायामुत्पन्ना इत्यर्थः, स वाजीशः अश्वश्रेष्ठः  
नृपमन्दिरे जायते भवति तिष्ठतीत्यर्थः ॥ ८६ ॥

कपोलस्थाविति । यदा यस्य वाजिनः अश्वस्य कपोलस्थौ  
यौ आवर्त्तौ दृश्येते, तदा तस्य तौ आवर्त्तौ यशोवृद्धिकरौ प्रोक्तौ  
तथा राज्यवृद्धिकरौ मतौ ॥ ८७ ॥

सर्वनामा स विख्यातः स इच्छेत् स्वामिनाशनम् ॥८८॥  
 गण्डसंस्थो यदावर्त्तौ वाजिनो दक्षिणाश्रितः ।  
 स करोति महासौख्यं स्वामिनं शिवसंज्ञकः ॥८९॥  
 तद्वद्वामाश्रितः क्रूरः प्रकरोति धनक्षयम् ।  
 इन्द्राक्षौ तावुभौ शस्तौ नृपराज्यविवृद्धिदौ ॥९०॥  
 कर्णमूले यदावर्त्तौ स्तनमध्ये तथापरौ ।  
 विजयाख्यौ उभौ तौ तु युद्धकाले यशःप्रदौ ॥९१॥  
 स्कन्धपार्श्वे यदावर्त्तौ स भवेत् पद्म लक्षणः ।  
 करोति विविधान् पद्मान् स्वामिनः सततं सुखम् ॥९२॥

एक इति । अथ वा यस्य एकः कपोलस्थः आवर्त्तः प्रदृश्यते,  
 स अश्वः सर्वनामा विख्यातः, स च स्वामिनाशनम् इच्छेत् ॥८८॥  
 गण्डेति । यदा यस्य वाजिनः गण्डसंस्थः आवर्त्तः दक्षिणा-  
 श्रितः दक्षिणगण्डस्थित इत्यर्थः सः शिवसंज्ञकः शिवाख्यः  
 अश्वः स्वामिनं महासौख्यम् अतिसुखिनं करोति ॥ ८९ ॥

तद्वदिति । तद्वत् तथा वामाश्रितः वामगण्डस्थ इत्यर्थः  
 आवर्त्तः क्रूरः सन् धनक्षयं प्रकरोति । तौ उभौ युगपत् उभय-  
 गण्डस्थौ चेत् इन्द्राक्षौ शस्तौ कथितौ, नृपस्य राज्यवृद्धिदौ  
 च ॥ ९० ॥

कर्णमूले इति । यदा कर्णमूले आवर्त्तौ, तथा स्तनमध्ये  
 अपरौ द्वौ आवर्त्तौ भवेतां तदा तौ उभौ विजयाख्यौ युद्धकाले  
 यशः प्रदौ च ॥ ९१ ॥

स्कन्धपार्श्वे इति । यदा स्कन्धयोः पार्श्वे आवर्त्तौ भवेतां  
 तदा सः अश्वः पद्मलक्षणः पद्मनामा भवेत्, स च स्वामिनः

नासामध्ये यदावर्त्त एको वा यदि वा त्रयम् ।  
 चक्रवर्त्ती स विज्ञेयो वाजी भूपालसंज्ञकः ॥८३॥  
 कण्ठे यस्य महावर्त्ती एकः श्रेष्ठः प्रजायते ।  
 चिन्तामणिः स विज्ञेयश्चिन्तितार्थमुखप्रदः ॥८४॥  
 शुल्काख्यौ भालकण्ठस्थौ आवर्त्तौ वृद्धिकीर्त्तिदौ ॥८५॥  
 यस्यावर्त्तौ वक्त्रगतौ कुक्ष्यन्ते वाजिनो यदि ।  
 स नूनं मृत्युमाप्नोति कुर्याद्वा स्वामिनाशनम् ॥८६॥  
 जानुसंस्था यदावर्त्ताः प्रवासक्लेशकारकाः ।  
 वाजिमेढ्रे यदावर्त्तौ विजयश्रीविनाशनः ॥८७॥

विविधान् पद्मान् पद्मसंख्यकधनानि इत्यर्थः तथा सततं सुखं करोति ॥ ८२ ॥

नासेति । यदा नासायाः नासिकायाः मध्ये एको वा आवर्त्तः यदि वा त्रयम् आवर्त्तानामिति शेषः स्यात् स वाजी भूपालसंज्ञकः भूपालाख्यः चक्रवर्त्ती अश्वसम्नाट् विज्ञेयः ॥८३॥

कण्ठे इति । यस्य कण्ठे एकाः श्रेष्ठः उत्कृष्टः महान् आवर्त्तः प्रजायते । सः अश्वः चिन्तामणिः विज्ञेयः चिन्तामणिनामा चिन्तितार्थेषु अभिलषितार्थेषु सुखप्रदः ॥ ८४ ॥

शुल्काविति । भालकण्ठस्थौ कपालकण्ठवर्त्तिनौ आवर्त्तौ शुल्काख्यौ वृद्धिकीर्त्तिदौ अभ्युदययशस्करो च ॥ ८५ ॥

यस्येति । यदि यस्य वाजिनः वक्त्रगतौ मुखवर्त्तिनौ तथा कुक्ष्यन्ते जठरप्रान्ते च आवर्त्तः, सः नूनं निश्चितं मृत्युमाप्नोति वा स्वामिघातनं कुर्यात् ॥ ८६ ॥

जान्विति । यदावर्त्ताः ये आवर्त्ताः जानुसंस्थाः, ते प्रवासे

त्रिकसंस्थो यदावर्त्तस्त्रिवर्गस्य प्रणाशनः ।

पुच्छमूले यदावर्त्तो धूमकेतुरनर्थकृतं ॥६८॥

गुह्यपुच्छत्रिकावर्त्ती स कृतान्तो भयप्रदः ॥६९॥

मध्यदण्डा पार्श्वगमा सैव शतपदी कचे ।

अतिदुष्टाङ्गुष्ठमिता दीर्घा दुष्टा यथा यथा ॥१००॥

अश्रुपातो हनुगण्डहृद्गलप्रोथवस्तिषु ।

कटिशङ्खजानुमुष्कककुन्नाभिगुदेषु च ।

दक्षकुक्षौ दक्षपादे त्वशुभो भ्रमरः सदा ॥१०१॥

यः क्लेशः तं कुर्वन्तीति तथोक्ताः भवन्ति । वाजिनः मेद्रे शिश्ने

यः आवर्त्तः, सः विजयश्रीविनाशनः भवति ॥ ६७ ॥

त्रिकेति । य आवर्त्तः त्रिकसंस्थः पृष्ठवंशाधोभागस्थः, सः त्रिवर्गस्य त्रयाणां वर्गः त्रिवर्गः तस्य धर्मार्थकामानामित्यर्थः प्रणाशनः । पुच्छमूले यः आवर्त्तः, सः धूमकेतुः धूमकेतुनामा अत एव अनर्थकृतं अनिष्टकारकः ॥ ६८ ॥

गुह्येति । यः अश्वः गुह्ये मलहारे, पुच्छे, त्रिके च आवर्त्तो आवर्त्तवान् सः कृतान्तः कृतान्तनामा अत एव भयप्रदः ॥६९॥

मध्यदण्डेति । पार्श्वगमा पार्श्ववर्त्तिनी मध्यदण्डा अश्वस्य तदाख्यचिह्नविशेष इत्यर्थः अङ्गुष्ठमिता चेत् अतिदुष्टा, सैव शतपदी शतचरणा शतशाखा करे केशे वर्त्तमाना सती यथा यथा दीर्घा तथा तथा दुष्टा भवतीत्यर्थः ॥ १०० ॥

अश्रुपातेति । हनुगण्डहृद्गलप्रोथवस्तिषु हनुः कपोलस्य उपरिभागः, गण्डः कपोलः, हृद् हृदयं गलः कण्ठः, प्रोथः मुखाग्रभागः, वस्तिः नाभ्यधोभागः, तेषु तथा कटिशङ्खजानु-

गलमध्ये पृष्ठमध्ये उत्तरोष्ठेऽधरे तथा ।

कर्णनेत्रान्तरे वामकुक्षौ चैव तु पार्श्वयोः ।

ऊरुषु च शुभावर्त्ता वाजिनामग्रपादयोः ॥१०२॥

आवर्त्ता सान्तरौ भाले सूर्यचन्द्रौ शुभप्रदौ ।

मिलितौ तौ मध्यफलौ ह्यतिलग्नौ तु दुष्फलौ १०३

आवर्त्तद्वितयं भाले शुभं चोर्द्ध्वन्तु सान्तरम् ।

अशुभं चातिसंलग्नमावर्त्तद्वितयं तथा ॥१०४॥

त्रिकोणं द्वितयं भाले आवर्त्तानां तु दुःखदम् ।

मुष्कककुन्नाभिगुदेषु कटिः मध्यदेशः, शङ्खः ललाटास्थि, जानु, मुष्कः, ककुद्, नाभिः गुदम् अपानदेशः तेषु च भ्रमरः अशु-  
पातः क्रन्दनकारकः, किञ्च दक्षकुक्षौ दक्षपादे च सदा  
अशुभः ॥ १०१ ॥

गलमध्ये इति । वाजिनाम् अश्वानां गलमध्ये, पृष्ठमध्ये,  
उत्तरोष्ठे, अधरे, कर्णनेत्रयोः अन्तरे मध्ये वामकुक्षौ पार्श्वयोः  
ऊरुषु तथा अग्रपादयोः सम्मुखस्थपादयोः शुभावर्त्तौ आवर्त्तौ  
शुभकरावित्यर्थः ॥ १०२ ॥

आवर्त्ताविति । भाले ललाटे सान्तरौ पृथक् स्थानस्थौ  
आवर्त्तौ सूर्यचन्द्रौ सूर्यचन्द्रनामानौ शुभप्रदौ भवतः । तौ  
मिलितौ अपृथक्स्थौ मध्यफलौ, अतिलग्नौ परस्परातिसन्नि-  
हितौ तु दुष्फलौ, मन्दफलौ भवतः ॥ १०३ ॥

आवर्त्तति । भाले ऊर्द्धम् ऊर्द्धमुखं सान्तरं पृथक्स्थम्  
आवर्त्तद्वितयं शुभम् । तथा अतिसंलग्नम् अतिसन्निहितम्  
आवर्त्तद्वितयम् अशुभम् ॥ १०४ ॥

गलमध्ये शुभस्त्वेकः सर्वाशुभनिवारणः ॥१०५॥

अधोमुखः शुभः पादे भाले चोर्ध्वमुखो भ्रमः ।

न चैवात्यशुभा पृष्ठमुखी शतपदी मता ॥१०६॥

मेढ्रस्य पश्चाद् भ्रमरी स्तनी वाजी स चाशुभः ।

भ्रमः कर्णसमीपे तु शृङ्गी चैकः स निन्दितः ॥१०७॥

ग्रीवोर्ध्वपार्श्वे भ्रमरी ह्येकरश्मिः स चैकतः ।

पादोर्ध्वमुखभ्रमरी कीलोत्पाटी स निन्दितः ॥१०८॥

शुभाशुभौ भ्रमौ यस्मिन् स वाजी मध्यमः स्मृतः ।

त्रिकोणमिति । भाले आवर्त्तानां त्रिकोणं त्रितयं त्रिकोणा-  
वर्त्तत्रयमित्यर्थः दुःखदम् । गलमध्ये तु एकः आवर्त्तः शुभः शुभ-  
करः, सर्वेषाम् अशुभानां निवारणश्च भवति ॥ १०५ ॥

अधोमुख इति । पादे अधोमुखः, तथा भाले ऊर्ध्वमुखः  
भ्रमः आवर्त्तः शुभः । पृष्ठमुखी प्रत्यङ्मुखी शतपदी अत्यशुभा  
अत्यन्ताशुभकरी न च मता ॥ १०६ ॥

मेढ्रस्येति । यः वाजी अश्वः मेढ्रस्य पश्चात् भ्रमरी भ्रमर-  
वान् वा स्तनी स्तनाकारचिह्नविशेषशाली, स च अशुभः ।  
कर्णसमीपे यस्य भ्रमः, स शृङ्गी, स च एकः केवलः निन्दितः ॥  
१०७ ॥

ग्रीवेति । यः ग्रीवाया ऊर्ध्वपार्श्वे भ्रमरी भ्रमरवान्, एकतः  
एकस्मिन् पार्श्वे एकरश्मिश्च एकः रश्मिः तदाख्यचिह्नविशेष  
इत्यर्थः यस्य तथाभूतः तथा पादोर्ध्वमुखभ्रमरी पादानाम्  
ऊर्ध्वे अग्रे मुखे मूले च भ्रमरी किञ्च कीलोत्पाटी कीलं शङ्कुम्  
उत्पाटयतीति तथोक्तः, सः निन्दितः ॥ १०८ ॥

मुखे पल्लु सितः पञ्चकल्याणोऽश्वः सदा मतः ॥ १०८

स एव हृदये स्कन्धे पुच्छे श्वेतोऽष्टमङ्गलः ।

कर्णे श्यामः श्यामकर्णः सर्वतस्त्वेकवर्णभाक् ।

तत्रापि सर्वतः श्वेतो मेध्यः पूज्यः सदैव हि ॥ ११०

वैदूर्यसन्निभे नेत्रे यस्य स्तो जयमङ्गलः ।

मिश्रवर्णस्त्वेकवर्णः पूज्यः स्यात् सुन्दरो यदि ॥ १११

कृष्णपादो हरिर्निन्द्यस्तथा श्वेतैकपादपि ।

रूक्षो धूसरवर्णश्च गर्दभाभोऽपि निन्दितः ॥ ११२ ॥

कृष्णतालुः कृष्णजिह्वः कृष्णोष्ठश्च विनिन्दितः ।

शुभाशुभाविति । यस्मिन् वाजिनि भ्रमौ शुभाशुभौ, स वाजौ मध्यमः स्मृतः । यश्च मुखे पल्लु पादेषु च सितः श्वेतः,

स अश्वः पञ्चकल्याणः पञ्चधा शुभकरः सदा मतः ख्यातः ॥ १०८

स इति । स एव अश्वः हृदये स्कन्धे तथा पुच्छे श्वेतः,

कर्णे च श्यामश्चेत् अष्टमङ्गलः अष्टमङ्गलजनकः । किञ्च श्याम-

कर्णः किन्तु सर्वतः सर्वस्मिन् अवयवे एकवर्णभाक्, तत्रापि

सर्वतः श्वेतवर्णश्चेत् सदैव मेध्यः पूज्यः हिशब्दः अवधारणे ॥ ११०

वैदूर्येति । यस्य अश्वस्य नेत्रे नयने वैदूर्यसन्निभे वैदूर्य-

रत्नसदृशे स्तः भवतः, सः चेत् मिश्रवर्णः नानावर्णः, तदा जय-

मङ्गलः जयमङ्गलसाधकः भवति । तत्रापि एकवर्णः अथच

सुन्दरः यदि स्यात् तदा पूज्यः ॥ १११ ॥

कृष्णपाद इति । कृष्णपादः कृष्णवर्णचरणः तथा श्वेतैकपात्

श्वेतवर्णैकचरणः अपि हरिः अश्वः निन्द्यः । किञ्च रूक्षवर्णः

धूसरवर्णः तथा गर्दभाभः गर्दभसदृशवर्णः अपि निन्दितः ॥ ११२

सर्वतः कृष्णवर्णी यः पुच्छे श्वेतः स निन्दितः ॥११॥

उच्चैः पदन्यासगतिर्द्विपव्याघ्रगतिश्च यः ।

मयूरहंसतित्तिरपारावतगतिश्च यः ।

मृगोष्ट्रवानरगतिः पूज्यो वृषगतिर्हयः ॥११४॥

अतिभुक्तोऽतिपीतोऽपि यया सादी न पीड्यते ।

श्रेष्ठा गतिस्तु सा ज्ञेया स श्रेष्ठस्तुरगो मतः ॥११५॥

सुश्वेतभालतिलको विद्धो वर्णान्तरेण च ।

स वाजी दलभञ्जी तु यस्य सैवातिनिन्दितः ॥११६॥

कृष्णतालुरिति । कृष्णतालुः कृष्णवर्णतालुदेशः कृष्णजिह्वः  
कृष्णवर्णरसनः तथा कृष्णोष्ठश्च विनिन्दितः । यस्य सर्वतः सर्व-  
स्मिन् अवयवे कृष्णवर्णः किन्तु पुच्छे श्वेतः, सः निन्दितः ॥११३॥

उच्चैरिति । यः उच्चैः पदानां न्यासा यत्र तादृशी गतिर्यस्य  
तथोक्तः, यस्य द्विपस्य हस्तिनः व्याघ्रस्य च इव गतिर्यस्य तथा-  
भूतः, तथा मयूरस्य हंसस्य पारावतस्य इव गतिर्यस्य सः, किञ्च  
यः मृगस्य उष्ट्रस्य वानरस्येव गतिर्यस्य तादृशः तथा वृषस्येव  
गतिर्यस्य तथाभूतः हयः अश्वः पूज्यः ॥ ११४ ॥

अतिभुक्त इति । सादी आरोही अतिभुक्तः अधिकाहारः  
तथा अतिपीतः अत्यधिकपानकारी अपि यया गत्या न पीड्यते  
क्लिश्यते सा गतिस्तु गमनमेव श्रेष्ठा ज्ञेया सः तादृशगतिशीलः  
तुरगः श्रेष्ठः मतः ॥ ११५ ॥

सुश्वेतेति । यः वाजी सुश्वेतं भाले तिलकुं तिलकाका-  
चिह्नविशेषः यस्य सः वर्णान्तरेण श्वेतातिरिक्तेन वर्णेन वि-  
युक्तः तथा दलभञ्जी दलानाम् अश्वीयानां भङ्गकारकः सः

संहन्याद्वर्णजान् दोषान् स्निग्धवर्णो भवेद् यदि ।  
 वलाधिकश्च सुगतिर्महान् सर्वाङ्गसुन्दरः ॥२१७॥  
 नातिक्रूरः सदा पूज्यो भ्रमाद्यैरपि दूषितः ॥२१८॥  
 वाजिनामत्यवहनात् सुदोषाः सम्भवन्ति हि ।  
 कृशो व्याधिपरीताङ्गो जायतेऽत्यन्तवाहनात् ॥२१९॥  
 अवाहितो भवेन्मन्दः सर्वकर्मसु निन्दितः ।  
 अपोषितो भवेत् क्षीणो रोगी चाल्यन्तपोषणात् ॥२२०॥  
 सुगतिदुर्गतिर्नित्यं शिचकस्य गुणागुणैः ॥२२१॥

किञ्च यस्य च सः वाजी अस्ति स च अतिनिन्दितः । सैवेति  
 सन्धिरार्षः ॥ २१६ ॥

संहन्यादिति । यदि अश्वः स्निग्धवर्णः वलाधिकः सुगतिः  
 महान् तथा सर्वाङ्गेषु सुन्दरः भवेत् तदा वर्णजान् विरुद्धवर्ण-  
 जातान् दोषान् संहन्यात् नाशयेत् ॥ २१७ ॥

नेति । भ्रमाद्यैः आवर्त्ताद्यैः चिह्नैः दूषितोऽपि नातिक्रूरः  
 सौम्यदर्शनः अश्वः सदा पूज्यः ॥ २१८ ॥

वाजिनामिति । अत्यवहनात् अतिशयेन अवाहनात् वहना-  
 भावात् वाजिनां सुदोषाः हि निश्चितं सम्भवन्ति । किञ्च अ-  
 त्यन्तवहनात् कृशः व्याधिपरीताङ्गः रुग्णदेहश्च जायते ॥२१९॥

अवाहित इति । अवाहितः एकान्तं न वाहितः मन्दः  
 जडः, सर्वकर्मसु निन्दितश्च भवेत् । किञ्च अपोषितः अपा-  
 लितः क्षीणः दुर्बलः कृश इत्यर्थः तथा अत्यन्तपोषणात् अत्या-  
 हारदानात् रोगी भवेत् ॥ २२० ॥

सुगतिरिति । अश्वः शिचकस्य गुणागुणैः गुणदोषैः नित्यं

जान्वधश्चलपादः स्यादृजुकायः स्थिरासनः ।

तुलाधृतखलीनः स्यात् काले देशे सुशिञ्जकः ॥१२२॥

मृदुना नातितीक्ष्णेन कशाघातेन ताडयेत् ।

ताडयेन्मध्यघातेन स्थाने स्वश्वं सुशिञ्जकः ॥१२३॥

हेषिते कक्षयोर्हन्यात् खलिते पक्षयोस्तथा ।

भीते कर्णान्तरे चैव ग्रीवासून्मार्गगामिनि ॥१२४॥

कुपिते बाहुमध्ये च भ्रान्तचित्ते तथोदरे ।

सततं सुगतिः सुन्दरगमनः दुर्गतिः मन्दगमनश्च भवेत् ॥१२१॥

जान्विति । यः जान्वीः अश्वस्येति भावः अधः निम्नदेशे चली पादौ यस्य सः ऋजुपादः सरलशरीरः तथा स्थिरं निश्चलम् आसनं यस्य तादृशः स्यात् तथा काले समये देशे स्थानभेदे तुलया साम्येन धृतं खलीनं कविका येन तादृशः स्यात् सः सुशिञ्जकः ॥ १२२ ॥

मृदुनेति । सुशिञ्जकः मृदुना कोमलेन नातितीक्ष्णेन कशाघातेन स्वश्वं शोभनम् अश्वं ताडयेत् । किञ्च मध्यघातेन नातिमृदुना नातिक्रूरेण च प्रहारेण इत्यर्थः स्थाने मर्मादिव्यतिरिक्ते अवयवे इत्यर्थः स्वश्वं ताडयेत् ॥ १२३ ॥

हेषिते इति । हेषिते हेषा अश्वस्य शब्दविशेषः सा अश्वजाता इति हेषितः तस्मिन् इतोऽस्य जाते इति इतच्प्रत्ययः । हेषाशब्दं कुर्वति सति कक्षायोः खलिते पादखलने पक्षयोः पार्श्वयोः, भीते सति कर्णान्तरे कर्णमध्ये, तथा उन्मार्गगामिनि कुपयगे सति ग्रीवासु हन्यात् प्रहरेत् ॥ १२४ ॥

कुपिते इति । प्राज्ञैः विज्ञैः जनैः कुपिते सति बाहुमध्ये

अश्वः सन्ताड्यते प्राञ्चैर्नान्यस्थानेषु कर्हिचित् १२५  
 अथवा हेषिते स्कन्धे खलिते जघनान्तरे ।  
 भीते वक्षःस्थलं हन्याद् वक्त्रमुन्मार्गगामिनि ।  
 कुपिते पुच्छसङ्घाते भ्रान्ते जानुद्वयं तथा ॥१२६॥  
 नासकृत् ताडयेदश्वमकाले च विदेशके ।  
 अकालस्थानघातेन वाजिदोषान् वितन्वते ॥१२७॥  
 तावद् भवन्ति ते दोषा यावज्जीवत्यसौ हयः ।  
 दुष्टं दण्डेनाभिभवेन्नारोहेद्दण्डवर्जितः ॥१२८॥  
 गच्छेत् षोडशमात्राभिरुत्तमोऽश्वो धनुः शतम् ।  
 तथा भ्रान्तचित्ते उद्भ्रान्तचेतसि सति उदरे अश्वः सन्ताड्यते  
 सम्यक् आहन्यते, कर्हिचित् कदाचित् अन्यस्थानेषु न ॥१२५॥  
 अथवेति । अथवा किंवा हेषिते सति स्कन्धे खलिते सति  
 जघनान्तरं जघनमध्यं, भीते सति वक्षःस्थलं, उन्मार्गगामिनि  
 सति वक्त्रं मुखं, कुपिते सति पुच्छसङ्घातं, तथा भ्रान्ते जानुद्वयं  
 हन्यात् ॥ १२६ ॥  
 नेति । अकाले असमये विदेशके अस्थाने च असकृत् पुनः  
 पुनः अश्वं न ताडयेत् यतः अकालस्थानघातेन असमयस्थान-  
 प्रहारेण वाजिदोषान् वितन्वते विस्तारयन्ति जनयन्ति इत्यर्थः  
 ॥ १२७ ॥  
 तावदिति । यावत् असौ हयः अश्वः जीवति तावत् ते  
 दोषाः वाजिदोषाः भवन्ति । दुष्टम् अश्वं दण्डेन अभिभवेत्  
 तथा दण्डवर्जितः कशारहितः न आरोहेत् ॥ १२८ ॥  
 गच्छेदिति । उत्तमः अश्वः षोडशमात्राभिः पूर्णमानैरित्यर्थः

यथा यथा न्यूनगतिरश्वो हीनस्तथा तथा ॥१२८॥  
 सहस्रचापप्रमितं मण्डलं गतिशिच्छणे ।  
 उत्तमं वाजिनो मध्यं नीचमर्द्धं तदर्द्धकम् ॥१३०॥  
 अल्पं शतधनुः प्रोक्तमत्यल्पं च तदर्द्धकम् ॥१३१॥  
 शतयोजनगन्ता स्याद् दिनैकेन यथा हयः ।  
 गतिं संवर्द्धयेन्नित्यं तथा मण्डलविक्रमैः ॥१३२॥  
 सायं प्रातश्च हेमन्ते शिशिरे कुसुमागमे ।  
 सायं ग्रीष्मे तु शरदि प्रातरश्वं वहेत् सदा ॥१३३॥

धनुःशतं चतुःशतहस्तं गच्छेत् एकप्रयत्नेनेति भावः । अश्वः  
 यथा यथा न्यूनगतिः, तथा तथा हीनः भवेत् ॥ १२८ ॥

सहस्रेति । वाजिनः अश्वस्य गतिशिच्छणे गतिशिच्छायां  
 सहस्रचापप्रमितं चतुःसहस्रहस्तमितं मण्डलं मण्डलाकारेण  
 भ्रमणम् उत्तमं श्रेष्ठम् अर्द्धं पञ्चशतहस्तमितं मध्यमं, तदर्द्धकं  
 पञ्चाशदधिकशतद्वयहस्तं नीचम् ॥ १३० ॥

अल्पमिति । शतधनुः चतुःशतहस्तमितं मण्डलमिति  
 शेषः अल्पं, तथा तदर्द्धकं द्विशतहस्तमितम् अत्यल्पं प्रोक्तम् ३३१

शतेति । हयः अश्वः यथा दिनैकेन एकेन दिनेन शत-  
 योजनगन्ता स्यात्, नित्यं सततं मण्डलविक्रमैः मण्डलाकार-  
 भ्रमणैः तथा गतिं संवर्द्धयेत् ॥ १३२ ॥

सायमिति । हेमन्ते, शिशिरे, कुसुमागमे वसन्ते च सायं  
 प्रातश्च, ग्रीष्मे तु सायं शरदि तु प्रातः, सदा सर्वस्मिन् दिने  
 अश्वं वहेत् ॥ १३३ ॥

वर्षासु न वहेदौषत्तथा विषमभूमिषु ॥१३४॥  
 सुगत्याग्निर्वलं दाढ्यमारोग्यं वर्द्धते हरेः ॥१३५॥  
 भारमार्गपरिश्रान्तं शनैश्चङ्ग्रामयेद्वयम् ।  
 स्नेहं सम्पादयेत् पश्चाच्छर्करासक्तुमिश्रितम् ॥१३६॥  
 हरिमन्यांश्च माषांश्च भक्षणार्थं मकुष्ठकान् ।  
 शुष्कानाद्रांश्च मांसानि सुखिन्नानि प्रदापयेत् ॥१३७॥  
 यद्यत्र खलितं गात्रं तत्र दण्डं न पातयेत् ।  
 नावतारितपल्यासां हयं मार्गसमागतम् ।  
 दत्त्वा गुडं सलवणं बलसंरक्षणाय च ॥१३८॥

वर्षास्त्विति । वर्षासु तथा विषमभूमिषु उन्नतानतप्रदेशेषु  
 वर्षत् अल्पमपि न वहेत् अश्वमिति शेषः ॥ १३४ ॥

सुगत्येति । सुगत्या शोभनेन गमनेन हरेः अश्वस्य अग्निः,  
 वलं दाढ्यं शरीरकाठिन्यञ्च वर्द्धते ॥ १३५ ॥

भारेति । भारेण मार्गेण अध्वगसनेन च परिश्रान्तं हयम्  
 अश्वं शनैः मन्दं मन्दं चङ्ग्रामयेत् पुनः पुनः भ्रामयेत् पश्चान्  
 चङ्ग्रामणानन्तरं शर्कराभिः शक्तुभिश्च मिश्रितं स्नेहं तैलभेदं  
 सम्पादयेत् ॥ १३६ ॥

हरौति । किञ्चेति चार्थः भक्षणार्थं हरिमन्यान् चणकान्  
 माषान् मकुष्ठकान् वन्यसुहान् शुष्कान् आर्द्रान् आर्द्रकान्  
 सुखिन्नानि सुपक्वानि मांसानि च प्रदापयेत् ॥ १३७ ॥

यदौति । यदि अपिरत्राध्याहार्यः अत्रापि चिकित्सिते-  
 ऽपीत्यर्थः गात्रं खलितं श्लथीभूतम् अस्ति, तदा तत्र दण्डं न

गतस्वेदस्य शान्तस्य सुरूपमुपतिष्ठतः ।

मुक्तपृष्ठादिवन्धस्य खलीनमवतारयेत् ॥ १३६ ॥

मर्दयित्वा तु गात्राणि पांशुमध्ये विवर्त्तयेत् ।

स्नानपानावगाहैश्च ततः सम्यक् प्रपोषयेत् ॥ १४० ॥

सर्वदोषहरोऽश्वानां मद्यजङ्गलयोः रसः ।

शक्त्या सम्पाययेत् क्षीरं घृतं वा वारि सक्तुकम् ॥ १४१ ॥

अन्नं भुक्त्वा जलं पीत्वा तत्क्षणाद्वाहितो हयः ।

उत्पद्यन्ते तदाश्वानां कासश्वासादिका गदाः ॥ १४२ ॥

पातयेत् । किञ्च अवतारितं नामितं पल्याणं पृष्ठास्तरणं यस्य  
तथोक्तं मार्गसमागतं पथः समायातं हयं तथा बलसंरक्षणाय  
सलवणं गुडं दत्त्वा न ग्रहरेदिति शेषः ॥ १३८ ॥

गतस्वेदस्येति । गतस्वेदस्य विगतघर्मस्य शान्तस्य सुरूपं  
शोभनं यथा तथा उपतिष्ठतः स्थितस्य मुष्कपृष्ठादिषु बन्धो यस्य  
तादृशस्य अश्वस्य खलीनं कविकाम् अवतारयेत् भ्रंशयेत् ॥ १३८ ॥

मर्दयित्वेति । अथ गात्राणि मर्दयित्वा पांशुमध्ये धूलिमध्ये  
विवर्त्तयेत् उल्लुण्ठयेत् ततः अनन्तरं स्नानपानावगाहैः स्नानेन  
पानेन अवगाहनेन च सम्यक् पोषयेत् पुष्टिं नयेत् ॥ १४० ॥

सर्वेति । मद्यजङ्गलयोः सुरायाः जङ्गलस्य भांसस्य च रसः  
सर्वेषां दोषाणां हरः नाशकः शान्तिकर इत्यर्थः । किञ्च शक्त्या  
शक्त्यनुसारेण क्षीरं दुग्धं घृतं वा सशक्तुकं शक्तुसहितं वारि वा  
सम्पाययेत् ॥ १४१ ॥

अन्नमिति । अन्नं भुङ्क्त्वा जलं पीत्वा स्थित इति शेषः  
हयः अश्वः तत्क्षणात् वाहितः भवति चेत् तदा अश्वस्य कास-

यवाश्च चणकाः श्रेष्ठा मध्या माषा मकुष्ठकाः ।  
 नौचा मसूरा मुद्गाश्च भोजनार्थं तु वाजिनः ॥१४३॥  
 गतयः षड्विधा धारास्कन्दितं रेचितं प्लुतम् ।  
 धौरीतकं वल्लितञ्च तासां लक्ष्म पृथक् पृथक् ॥१४४॥  
 धारागतिः सा विज्ञेया यातिवेगतरा मता ।  
 पार्णितोदातिनुदितो यस्यां भ्रान्तो भवेद्द्वयः ॥१४५॥  
 आकुञ्चिताग्रपादाभ्यामुत्प्लुत्योत्प्लुत्य या गतिः ।  
 आस्कन्दिता च सा ज्ञेया गतिविद्भिस्तु वाजिनाम् ॥१४६॥  
 ईषदुत्प्लुत्य गमनमखण्डं रेचितं हि तत् ।

ज्ञापादिकाः गदाः रोगाः उत्पद्यन्ते ॥ १४२ ॥

यवा इति । वाजिनः अश्वस्य भोजनार्थं यवाः चणकाश्च  
 श्रेष्ठाः माषाः मकुष्ठकाः वन्यमुद्गाः मध्याः मसूरा मुद्गाश्च नौचाः  
 अधमाः ॥ १४३ ॥

गतय इति । अश्वानां गतयः षड्विधाः, धारा १ । आस्क-  
 न्दितं २ । रेचितं ३ । प्लुतं ४ । धौरीतकं ५ । वल्लितञ्च ६ ।  
 तासां गतीनां लक्ष्म लक्ष्णं पृथक् पृथक् विभिन्नमित्यर्थः ॥१४४॥  
 धारेति । या गतिः अतिवेगतरा अतिवेगवती मता,  
 यस्याच्च द्वयः पार्णिभ्यां तोदेन प्रहारेण अतिनुदितः अति-  
 प्रेरितः सन् भ्रान्तः भवेत् सा धारा विज्ञेया ॥ १४५ ॥

आकुञ्चितेति । आकुञ्चिताभ्याम् अग्रपादाभ्याम् उत्प्लुत्य  
 उत्प्लुत्य या गतिः सा वाजिनां गतिविद्भिः आस्कन्दिता च  
 ज्ञेया ॥ १४६ ॥

ईषदिति । ईषत् उत्प्लुत्य अखण्डं क्रमिकं गमनं यत् तत्

पादैश्चतुर्भिरुत्प्लुत्य मृगवत् सा मृता गतिः॥१४७॥

असंवलितपद्मां तु सुव्यक्तं गमनं तुरम् ।

धौरीतकं च तज्ज्ञेयं रथसंवाहने वरम् ॥१४८॥

प्रसंवलितपद्मां यो मयूरो धृतकन्धरः ।

दोलायितशरीरार्द्धकायो गच्छति वलितम् ॥१४९॥

परिणाहो वृषमुखादुदरे तु चतुर्गुणः ।

सककुत् त्रिगुणोच्चन्तु सार्द्धत्रिगुणदीर्घता ॥१५०॥

सप्ततालो वृषः पूज्यो गुणैरेभिर्युतो यदि ॥१५१॥

हि रेचितम् । या चतुर्भिः पादैः उत्प्लुत्य मृगवत् गतिः सा मृता ॥ १४७ ॥

असंवलितेति । असंवलिताभ्याम् अकुञ्चिताभ्यां पद्मां यत् सुव्यक्तं तुरं द्रुतं गमनं तत् धौरीतकं ज्ञेयं तत्तु रथसंवाहने वरं श्रेष्ठम् ॥ १४८ ॥

प्रसंवलितेति । मयूरः इव यः अश्वः धृतकन्धरः उन्नतघ्रीवः तथा दोलायितः शरीरस्य अर्द्धकायः अर्द्धभागः यस्य तथाभूतः सन् प्रसंवलिताभ्यां कुञ्चिताभ्यां पद्मां यत् गच्छति तत् वलितम् ॥ १४९ ॥

सम्यति वृषस्य विवरणमाचष्टे परिणाह इति । वृषस्य मुखात् उदरे परिणाहः उदरविस्तार इत्यर्थः चतुर्गुणः । सककुत् सककुत्सहितम् उदरं त्रिगुणं मुखादिति शेषः उच्चम् उन्नतम् । सार्द्धत्रिगुणदीर्घता मुखात् उदरस्य दीर्घता सार्द्धत्रिगुणा ॥ १५० ॥

सप्तताल इति । सप्ततालः तालः परिमाणविशेषः सप्त

न स्थायी न च वै मन्दः सुवोढा स्वङ्गसुन्दरः ।

नातिक्रूरः सुपृष्ठश्च वृषभः श्रेष्ठ उच्यते ॥ १५२ ॥

त्रिंशद्योजनगन्ता वा प्रत्यहं भारवाहकः ।

नवतालश्च सुदृढः सुमुखोद्गः प्रशस्यते ॥ १५३ ॥

शतमायुर्मनुष्याणां गजानां परमं स्मृतम् ।

मनुष्यगजयोर्वाल्यं यावद्विंशतिवत्सरम् ॥ १५४ ॥

नृणां हि मध्यमं यावत् षष्टिवर्षं वयः स्मृतम् ।

अशीतिवत्सरं यावद्गजस्य मध्यमं वयः ॥ १५५ ॥

चतुस्त्रिंशत् वर्षाणामश्वस्यायुः परं स्मृतम् ।

तालाः परिमाणमस्येति सप्ततालः वृषः यदि एभिर्वक्ष्यमाणैः  
गुणैः युतः भवेत् तदा पूज्यः ॥ १५१ ॥

गुणानाह नेति । यः वृषः न स्थायी न स्थितिशीलः, न च  
मन्दः मृदुः, सुवोढा सुवाहकः, स्वङ्गसुन्दरः शोभनाङ्गतया  
सुन्दर इत्यर्थः नातिक्रूरः नातितीक्ष्णः सुपृष्ठश्च सः वृषभश्रेष्ठः  
वृषभेषु श्रेष्ठः उच्यते ॥ १५२ ॥

उद्गमाह त्रिंशदिति । त्रिंशद्योजनगन्ता विंशत्यधिकशत-  
क्रोशगामी प्रत्यहं भारवाहकः भारवहनशीलः नवतालः नव-  
तालपरिमितः सुदृढः कठिनशरीरः सुमुखः उद्गः प्रशस्यते ॥ १५३ ॥

शतमिति । मनुष्याणां गजानाञ्च परमम् आयुः जीवन-  
कालः शतं शतवर्षं स्मृतम् । मनुष्यगजयोः वाल्यञ्च विंशति-  
वत्सरं यावत् विंशतिवर्षपर्यन्तमित्यर्थः ॥ १५४ ॥

नृणामिति । नृणां मानवानां मध्यमं वयः षष्टिवर्षं यावत्  
तथा गजस्य अशीतिवत्सरं यावत् मध्यमं वयः स्मृतम् ॥ १५५ ॥

पञ्चविंशतिवर्षं हि परमायुर्दृषोद्वयोः ॥१५६॥

बाल्यमश्ववृषोद्वाणां पञ्चमं वत्सरं मतम् ।

मध्यं यावत् षोडशाब्दं वार्द्धक्यन्तु ततः परम् ॥१५७॥

दन्तानामुद्गमैर्वर्णैरायुर्ज्ञेयं वृषाश्वयोः ॥१५८॥

अश्वस्य षट् सिता दन्ताः प्रथमाब्दे भवन्ति हि ।

कृष्णलोहितवर्णास्तु द्वितीयेऽब्दे ह्यधोगताः ॥१५९॥

तृतीयेऽब्दे तु सन्दंशौ क्रमात् कृष्णौ षडब्दतः ।

तत्पार्श्ववर्त्तिनौ तौ तु चतुर्थे पुनरुद्गतौ ॥१६०॥

चतुस्त्रिंशदिति । अश्वस्य परम् आयुः वर्षाणां चतुस्त्रिंशत्  
चतुस्त्रिंशद्वर्षमित्यर्थः, तथा वृषोद्वयोः वृषस्य उद्वस्य च पर-  
मायुः पञ्चविंशतिवर्षं स्मृतम् ॥ १५६ ॥

बाल्यमिति । अश्ववृषोद्वाणाम् अश्वानां वृषाणाम् उद्वाणाञ्च  
बाल्यं शैशवं पञ्चमं वत्सरं यावत्, मध्यं यौवनमित्यर्थः षोडशाब्दं  
यावत् ततः परं वार्द्धक्यं स्मृतम् ॥ १५७ ॥

दन्तानामिति । दन्तानाम् उद्गमैः जननैः वर्णैश्च वृषाश्वयोः  
वृषस्य अश्वस्य च आयुः ज्ञेयम् ॥ १५८ ॥

अश्वस्येति । अश्वस्य प्रथमाब्दे जननप्रथमवत्सरे षट् सिता  
श्वेतवर्णाः दन्ताः भवन्ति । द्वितीयेऽब्दे कृष्णलोहितवर्णाः  
अधोगताः निम्नगामिनः भवन्ति हिशब्दश्चावधारणार्थः ॥१५९॥

तृतीये इति । तृतीयेऽब्दे वत्सरे तु सन्दंशौ, दशनौ च  
षडब्दतः षड्वर्षपर्यन्तं क्रमात् कृष्णौ भवतः । चतुर्थे तु वर्षे  
तयोः दशनयोः पार्श्ववर्त्तिनौ तौ दशनौ पुनः उदगतौ भवत  
इति शेषः ॥ १६० ॥

अन्यौ द्वौ पञ्चमाब्दे तु सन्दंशौ पुनरुद्गती ।  
 मध्यपार्श्वान्तगौ द्वौ द्वौ क्रमात् कृष्णौ षडब्दतः ॥१६१॥  
 नवमाब्दात् क्रमात् पीतौ तौ सितौ द्वादशाब्दतः ।  
 दशपञ्चाब्दतस्तौ तु काचाभौ क्रमशः स्मृतौ ॥१६२॥  
 अष्टादशाब्दतस्तौ हि मध्वाभौ भवतः क्रमात् ।  
 शङ्खाभौ चैकविंशाब्दाच्चतुर्विंशाब्दतः सदा ।  
 छिद्रं सञ्चलनं पातो दन्तानाञ्च त्रिके त्रिके ॥१६३॥  
 प्रोथे सुवलयस्त्रिस्रः पूर्णायुर्यस्य वाजिनः ।  
 यथा यथा तु हीनास्ता हीनमायुस्तथा ॥१६४॥

अन्याविति । पञ्चमाब्दे पञ्चमवर्षे अन्यौ अन्तेभवौ द्वौ  
 सन्दंशौ पुनरुद्गती भवतः । मध्यपार्श्वान्तगौ मध्यपार्श्वयोः  
 अन्तगौ द्वौ द्वौ दशनौ षडब्दतः षड्वर्षं यावत् क्रमात् कृष्णौ  
 भवतः ॥ १६१ ॥

नवमाब्दादिति । तौ दशनौ क्रमात् नवमाब्दात् पीतौ,  
 ततः पुनः द्वादशाब्दतः सितौ श्वेतौ । ततश्च दशपञ्चाब्दतः  
 पञ्चदशवर्षात् तौ क्रमशः काचाभौ काचवदुज्ज्वलौ स्मृतौ ॥१६२॥

अष्टादशाब्दत इति । पुनश्च तौ अष्टादशाब्दतः अष्टादश-  
 वर्षात् क्रमात् मध्वाभौ मधुसदृशौ भवतः । ततश्च एकविंशा-  
 द्दात् शङ्खाभौ भवतः । ततः चतुर्विंशाब्दतः त्रिके त्रिके तृतीये  
 तृतीये वर्षे क्रमात् दन्तानां छिद्रं, सञ्चलनं पातश्च भवति १६३  
 प्रोथे इति । यस्य वाजिनः अश्वस्य पूर्णायुः आयुः पूर्ण-  
 मित्यर्थः तस्य प्रोथे मुखाग्रे तिस्रः सुवलयः सुष्ठु वलयः रेखा-

जानूत्पाता त्वोष्ठवाद्यो धूतपृष्ठो जलासनः ।  
 गतिमध्यासनः पृष्ठपाती पश्चाद्गमोर्द्ध्वात् ॥१६५॥  
 सर्पजिह्वश्चर्चकान्तिभीरुश्चोऽतिनिन्दितः ।  
 सच्छिद्रभालतिलकी निन्द्य आश्रयकृतया ॥१६६॥  
 वृषस्याष्टौ सिता दन्ताश्चतुर्थेऽब्देऽखिलाः स्मृताः ।  
 द्वावन्थौ पतितोत्पन्नौ पञ्चमेऽब्दे हि तस्य वै १६७॥

विशेषाः भवन्तीत्यर्थः । ताः रेखाः यथा यथा हीनाः, तथा  
 तथा आयुः हीनं भवति ॥ १६४ ॥

जानूत्पाता इति । सर्पजिह्व इति । जानूनि उत्पाति उत्-  
 क्षिपतीति जानूत्पाता जानूत्क्षेपणशीलः, ओष्ठवाद्यः ओष्ठेन  
 वाद्यकारकः, धूतपृष्ठः कम्पितपृष्ठदेशः, जलासनः जलस्थान-  
 स्थितः, गतिमध्यासनः गतिमध्ये गमनमध्ये आसनम् उपवेशनं  
 यस्य सः गच्छन् गच्छन् स्थितिशील इत्यर्थः, पृष्ठपाती पृष्ठ-  
 पातकः, पश्चाद्गमः पश्चाद्गमनशीलः ऊर्द्ध्वात् उत्क्षिप्तचरणः,  
 सर्पस्येव जिह्वा यस्य सः, ऋचकान्तिः भङ्गकप्रभः, तथा भीरुः  
 अश्वः अतिनिन्दितः । तथा सच्छिद्रभालतिलकी सच्छिद्रं  
 सरन्ध्रं भाले यत् तिलकं तिलकाकृतचिह्नविशेषः तद्विशिष्टः  
 आश्रयकृत आश्रयं कृण्वतीति क्षिण्वतीति तथोक्तः आश्रयध्वंस-  
 कारकः अश्वः निन्द्यः ॥ १६५ ॥ १६६ ॥

वृषस्येति । वृषस्य चतुर्थे अब्दे अखिलाः समग्राः सिताः  
 श्वेतवर्णाः अष्टौ दन्ताः स्मृताः । तस्य पञ्चमे अब्दे वर्षे अन्थौ  
 चरसौ द्वौ दन्तौ पतितोत्पन्नौ पतित्वा पुनरुत्पन्नौ भवत  
 इत्यर्थः हिशब्दः अवधारणार्थः, वैशब्दश्च पादपूरणार्थः ॥१६७॥

षष्ठे तूपान्थौ भवतः सप्तमे तत्समीपगौ ।

अष्टमे पतितोत्पन्नौ मध्यमौ दशनौ खलु ॥१६८॥

कृष्णपीतसितारक्तशङ्खच्छायौ द्विके द्विके ।

क्रमादब्दे च भवतश्चलनं पतनं ततः ॥१६९॥

उद्गस्योक्तप्रकारेण वयोज्ञानन्तु वा भवेत् ॥१७०॥

प्रेरकाकर्षकमुखोऽङ्गुशो गजविनिग्रहे ।

हस्तिपकैर्गजस्तेन विनेयः सुगमाय हि ॥१७१॥

षष्ठे इति । षष्ठे तु वर्षे उपान्थौ अन्यसमीपस्थौ दशनौ भवतः । सप्तमे वर्षे तयोः दशनयोः समीपगौ समीपस्थौ अपरौ दशनौ भवतः । मध्यमौ दशनौ अष्टमे वर्षे खलु निश्चितं पति-  
तोत्पन्नौ पतित्वा पुनरुत्पन्नौ भवतः ॥ १६८ ॥

कृष्णेति । ततः अष्टमाब्दात् परं द्विके द्विके द्वितीये द्वि-  
तीये वर्षे दशमे द्वादशे इत्यादावित्यर्थः तौ दशनौ क्रमात्  
कृष्णपीतसितारक्तशङ्खच्छायौ कृष्णप्रभौ, पीतप्रभौ, सितप्रभौ  
आरक्तप्रभौ तथा शङ्खप्रभौ भवतः । ततः अनन्तरं चलनं पश्चात्  
पतनं दन्तानामिति शेषः भवति ॥ १६९ ॥

उद्गस्येति । उक्तप्रकारेण अश्वोक्तरीत्या उद्गस्य तु उद्गस्यापि  
तुगब्दोऽप्यर्थः । वयसः जीवनकालस्य ज्ञानं भवेत् वागब्दश्चाव-  
धारणार्थः ॥ १७० ॥

प्रेरकेति । प्रेरकं सञ्चालकम् आकर्षकम् आकर्षतुल्यं सुखं  
स्य तादृशः अङ्गुशः गजानां विनिग्रहे दमने दमनार्थमित्यर्थः  
मृत इति शेषः, हस्तिपकैः गजपालकैः सुगमाय सुगमनाय  
न अङ्गुशेन गजः विनेयः दण्ड्यः ॥ १७१ ॥

खलीनस्योर्ध्वखण्डौ द्वौ पार्श्वगौ द्वादशाङ्गुलौ ।  
 तत्पार्श्वान्तर्गताभ्यास्तु सुदृढाभ्यां तथैव च ॥१७२॥  
 वारकाकर्षखण्डाभ्यां रज्ज्वर्थबलयैर्युतौ ।  
 एवंविधखलीनेन वशीकुर्यात्तु वाजिनम् ॥१७३॥  
 नासिकाकर्षरज्ज्वा तु वृषोष्ट्रं विनयेद् भृशम् ।  
 तीक्ष्णाग्रीयः सप्तफालः स्यादेषां मलशोधने ॥१७४॥  
 सुताडनैर्विनेया हि मनुष्याः पशवः सदा ।  
 सैनिकास्तु विशेषेण न ते वै धनदण्डतः ॥१७५॥

खलीनस्येति । खलीनस्य कविकायाः पार्श्वगौ पार्श्व-  
 वर्त्तिनौ द्वादशाङ्गुलौ द्वौ ऊर्ध्वखण्डौ तयोः पार्श्वान्तर्गताभ्यां  
 तथा सुदृढाभ्यां कठिनाभ्यां वारकाकर्षखण्डाभ्यां वारकौ  
 निवारकौ यौ आकर्षखण्डौ आकर्षाकृतिखण्डौ ताभ्यां तथा  
 रज्ज्वर्थबलयैः रज्जुनिमित्तबलयैः युतौ कार्याविति शेषः ।  
 एवंविधेन खलीनेन कविकया वाजिनम् अश्वं वशीकुर्यात्  
 दमयेत् ॥ १७२ ॥ १७३ ॥

नासिकेति । नासिकाकर्षरज्ज्वा नासिकायां या आकर्षा  
 आकर्षणी रज्जुः तथा वृषोष्ट्रं वृषम् उष्ट्रञ्च भृशम् अत्यर्थं विनयेत्  
 दण्डयेत् । एषां वृषोष्ट्राणां मलशोधने दोषनिराकरणे तीक्ष्णम्  
 अग्रं यस्य स एव तीक्ष्णाग्रीयः सप्तफालः दण्डविशेषः स्यात् ॥१७४॥

सुताडनैरिति । मनुष्याः पशवश्च सदा सुताडनैः उपयुक्त-  
 दण्डैरित्यर्थः सदा विनेयाः दमनीयाः सैनिकास्तु विशेषेण  
 सुताडनैः विनेया इति यतः ते सैनिकाः धनदण्डतः अर्थदण्डेन  
 न विनेया भवन्ति वैशब्दः अवधारणार्थः ॥ १७५ ॥

अनूपे तु वृषाश्वानां गजोष्ट्राणान्तु जङ्गले ।  
 साधारणे पदातीनां निवेशाद्रक्षणं भवेत् ॥१७६॥  
 शतं शतं योजनान्ते सैन्यं राष्ट्रे नियोजयेत् ॥१७७॥  
 गजोष्ट्रवृषभाश्वाः प्राक् श्रेष्ठाः सम्भारवाहनैः ।  
 सर्वेभ्यः शकटाः श्रेष्ठा वर्षाकालं विना स्मृताः ॥१७८॥  
 न चाल्पसाधनो गच्छेदपि जेतुमरिं लघुम् ।  
 महतात्यन्तसाद्यस्कवलेनैव सुबुद्धियुक् ॥१७९॥  
 अशिक्षितमसारञ्च साद्यस्कं तूलवच्च तत् ।

अनूपे इति । अनूपे सजलदेशे वृषाणाम् अश्वानाञ्च,  
 जङ्गले जङ्गलमये देशे गजानाम् उष्ट्राणाञ्च, तथा, साधारणे  
 सर्वथा स्थितिविधायके इत्यर्थः स्थाने पदातीनां निवेशात्  
 स्थापनात् रक्षणं भवेत् ॥ १७६ ॥

शतमिति । राष्ट्रे राज्ये योजनान्ते प्रतिचतुःक्रोशान्ते शतं  
 शतं सैन्यं नियोजयेत् स्थापयेत् ॥ १७७ ॥

गजेति । प्राक् प्रथमं सम्भारवाहने सम्भाराणां सामग्रीणां  
 वाहने विषये गजाः उष्ट्राः वृषभाः अश्वान् श्रेष्ठाः । वर्षाकालं  
 विना शकटाः सर्वेभ्यः वाहकेभ्य इत्यर्थः श्रेष्ठाः स्मृताः ॥१७८॥

नेति । अल्पसाधनः अल्पबलः सन् लघुमपि क्षुद्रमपि अरिं  
 शत्रुं जेतुं न गच्छेत् । सुबुद्धियुक् सुप्राज्ञः नृपः महता बहुना  
 अत्यन्तसाद्यस्कवलेन एव अत्यन्तेन प्रबलेन साद्यस्कवलेन  
 पूर्वोक्तेन न तु मौलेन तस्य प्रबलारिषु यानस्थौचित्यादिति  
 भावः बलेन सैन्येन एव गच्छेदित्यर्थः ॥ १७९ ॥

अशिक्षितमिति । मतिमान् बुद्धिमान् नृपः अशिक्षितम्

युद्धं विनान्यकार्येषु योजयेत् मतिमान् सदा ॥१८०॥  
 विकर्तुं यततेऽल्पोऽपि प्राप्ते प्राणाल्ययेऽनिशम् ।  
 न पुनः किन्तु बलवान् विकारकरणक्षमः ॥१८१॥  
 अपि बहुबलोऽशूरो न स्थातुं क्षमते रणे ।  
 किमल्पसाधनाशूरः स्थातुं शक्तोऽरिणा समम्? ॥१८२॥  
 सुसिद्धाल्पबलः शूरो विजेतुं क्षमते रिपुम् ।  
 महान् सुसिद्धबलयुक् शूरः किं न विजेष्यति? ॥१८३॥  
 मौलशिचित्तसारेण गच्छेद्राजा रणे रिपुम् ।

असारं साद्यस्कम् आधुनिकं बलं तूलवत् तूलेन तुल्यम् अतिलघु  
 इत्यर्थः । तत् बलं युद्धं विना अन्यकार्येषु सदा योजयेत् ॥१८०॥

विकर्तुमिति । प्राणाल्यये जीवनविनाशे प्राप्ते उपस्थिते  
 सति अल्पः क्षुद्रः जनः विकर्तुं विपरीतमाचरितुम् अपि अनिशं  
 सततं यतते, किन्तु बलवान् विकारकरणक्षमः विपरीताचरण-  
 क्षमः अपि न पुनः नैव विपरीतमाचरितुं यतते इत्यर्थः ॥१८१॥

अपीति । बहुबलः अपि अशूरः अपराक्रमी जनः रणे  
 स्थातुं न क्षमते न शक्नोति । अल्पसाधनः अल्पबलः अथच  
 अशूरः जनः अरिणा शत्रुणा समं सह स्थातुं किं शक्तः? न  
 समर्थ इत्यर्थः ॥ १८२ ॥

सुसिद्धेति । सुसिद्धं सुशिचित्तम् अल्पं बलं यस्य यथोक्तः  
 शूरः विक्रान्तः जनः रिपुं विजेतुं क्षमते । महान् प्रबलः सुसिद्ध-  
 बलयुक् सुशिचित्तबलशाली शूरः किं कथं न विजेष्यति? अपि  
 तु जेष्यत्येवेत्यर्थः ॥ १८३ ॥

मौलेति । राजा मौलेन मूलायातेन शिचित्तसारेण शिद्धि-

प्राणात्ययेऽपि मौलं न स्वामिनं त्यक्तुमिच्छति १८४

वाग्दण्डपरूपेणैव भृतिक्लासेन भीतितः ।

नित्यं प्रवासायासाभ्यां भेदोऽवश्यं प्रजायते ॥ १८५ ॥

बलं यस्य तु संभिन्नं मनागपि जयः कुतः ? ।

शत्रोः स्वस्यापि सेनाया अतो भेदं विचिन्तयेत् ॥ १८६ ॥

यथा हि शत्रुसेनाया भेदोऽवश्यं भवेत्तथा ।

कौटिल्येन प्रदानेन द्राक् कुर्यात् नृपतिः सदा १८७

सेवयात्यन्तप्रबलं नत्या चारिं प्रसाधयेत् ।

तेषु मध्ये सारेण स्थिरतरेण बलेन रणे रिपुं गच्छेत् शत्रुं प्रति  
यायात् । यस्मात् मौलं बलं प्राणात्ययेऽपि स्वामिनं त्यक्तुं न  
इच्छति ॥ १८४ ॥

वागिति । वाग्दण्डपरूपेण वाक्पारुष्येण दण्डपारुष्येण  
चेत्यर्थः । भृतिक्लासेन वेतनलघूकरणेन भीतितः भयप्रदर्शनेन,  
नित्यं प्रवासायासाभ्यां विदेशस्थित्या परिश्रमेण चेत्यर्थः । अवश्यं  
भेदः भङ्गः बलानामिति शेषः प्रजायते ॥ १८५ ॥

बलमिति । यस्य बलं संभिन्नं सम्यक् भेदं प्राप्तं तस्य  
मनाक् अपि अल्पोऽपि जयः कुतः ? न कुतोऽपि तस्य जयो  
भवतीत्यर्थः । अतः अस्मात् कारणात् शत्रोः स्वस्यापि आत्मनो-  
ऽपि सेनायाः भेदं विचिन्तयेत् यथा शत्रोर्बलभङ्गः स्यात्  
आत्मनो न तथा विविच्य व्यवहरेदित्यर्थः ॥ १८६ ॥

यथेति । यथा येन प्रकारेण शत्रुसेनायाः अवश्यं भेदः  
भवेत् नृपतिः सदा कौटिल्येन कापव्येन प्रदानेन अर्थदानेन  
द्राक् भृतिं शत्रुसैन्यं तथा कुर्यात् ॥ १८७ ॥

प्रबलं मानदानाभ्यां युद्धैर्हीनबलं तथा ।

मैत्र्या जयेत् समबलं भेदैः सर्वान् वशं नयेत् ॥ १८८ ॥

शत्रुसंसाधनोपायो नान्यः सुबलभेदतः ।

तावत् परो नीतिमान् स्याद्यावत् सुबलवान् स्वयम्

मित्रं तावच्च भवति पुष्टाग्नेः पवनो यथा ॥ १८९ ॥

त्यक्तं रिपुबलं धार्यं न समूहसमीपतः ।

पृथक् नियोजयेत् प्राग्वा युद्धार्थं कल्पयेच्च तत् ।

मैत्र्यमारात् पृष्ठभागे पार्श्वयोर्वा बलं न्यसेत् ॥ १९० ॥

सिध्येति । अत्यन्तप्रबलम् अरिं सेवया नत्या च, प्रबलम् अरिं मानदानाभ्यां तथा हीनबलं दुर्बलम् अरिं युद्धैः प्रसाधयेत् वशीकुर्यात् । किञ्च मैत्र्या सौजन्येन समबलम् अरिं भेदैः मनोभङ्गकरणैः सर्वान् वशं नयेत् वशीकुर्यात् ॥ १८८ ॥

शत्रुसंसाधनोपाय इति । सुबलानां सुशिक्षितसैन्यानां भेदतः भेदात् अन्यः शत्रूणां संसाधने वशीकरणे उपायः न अस्तीति शेषः । यावत् स्वयं सुबलवान् सुशिक्षितबलसम्पन्नः भवेत् तावत् परः शत्रुः नीतिमान् स्यात् । किञ्च पुष्टाग्नेः पुष्टस्य वृद्धिं गतस्य अग्नेः पवनः यथा पवन इव तावत् मित्रं भवति ॥ १८९ ॥

त्यक्तमिति । त्यक्तं शत्रुणेति शेषः रिपोः शत्रोः बलं समूहसमीपतः साधारणसमच्चं न धार्यं न ग्रहणीयम् । तच्च प्राक् एकान्ते गृहीतमिति शेषः रिपुबलं पृथक् नियोजयेत् युद्धार्थं कल्पयेच्च किञ्च मित्रम् आरात् समीपे आत्मसम्मुखे इत्यर्थः पृष्ठभागे पार्श्वयोर्वा बलम् अपरसैन्यं न्यसेत् ॥ १९० ॥

अस्यते क्षिप्यते यत्तु मन्त्रयन्त्राग्निभिश्च तत् ॥ १८१ ॥

अस्त्रं तदन्यतः शस्त्रमसिकुन्तादिकञ्च यत् ।

अस्त्रन्तु द्विविधं ज्ञेयं नालिकं मान्निकं तथा ॥ १८२ ॥

यदा तु मान्निकं नास्ति नालिकं तत्र धारयेत् ।

सह शस्त्रेण नृपतिर्विजयार्थन्तु सर्वदा ॥ १८३ ॥

लघुदीर्घाकारधाराभेदैः शस्त्रास्त्रनामकम् ।

प्रथयन्ति नवं भिन्नं व्यवहाराय तद्विदः ॥ १८४ ॥

नालिकं द्विविधं ज्ञेयं बृहत्क्षुद्रविभेदतः ॥ १८५ ॥

अस्यते इति । यत्तु मन्त्रयन्त्राग्निभिः मन्त्रेण यन्त्रेण अग्निना वा अस्यते निःसार्यते वा क्षिप्यते तत् अस्त्रं तदन्यतः तदभिन्नं यत् असिकुन्तादिकं तत् शस्त्रम् ॥ १८१ ॥

अस्त्रमिति । अस्त्रं द्विविधं ज्ञेयं नालिकं तथा मान्निकम् ॥ १८२ ॥

यदेति । यदा तु मान्निकं मन्त्रप्रयोज्यं न अस्ति, तत्र तदा नृपतिः विजयार्थं सर्वदा शस्त्रेण सह नालिकं धारयेत् ॥ १८३ ॥

लघ्विति । तद्विदः शस्त्रज्ञाः जनाः व्यवहाराय लघुदीर्घाकारधाराभेदैः लघवः क्षुद्राः दीर्घाः महान्तः ये आकाराः अवयवाः तेषां धाराभेदाः प्रयोगरीतिविशेषाः तैः शस्त्रास्त्रनामकं शस्त्राणाम् अस्त्राणाञ्च नामानीत्यर्थः नवं नूतनं भिन्नं विशेषितं यथा तथा प्रथयन्ति प्रकाशयन्ति ॥ १८४ ॥

नालिकमिति । नालिकम् अस्त्रं बृहत्क्षुद्रविभेदतः गुरु लघुभेदादित्यर्थः द्विविधं ज्ञेयं बृहन्नालिकं क्षुद्रनालिकञ्चेत्यर्थः ॥

१८५ ॥

तिर्य्यगूर्ध्वच्छिद्रमूलं नालं पञ्चवितस्तिकम् ।  
 मूलाग्रयोर्लक्ष्यभेदितिलविन्दुयुतम् सदा ॥१८६॥  
 यन्वाघाताग्निक्लृद् ग्रावचूर्णधृक्कर्णमूलकम् ।  
 सुकाष्ठोपाङ्गबुधञ्च मध्याङ्गुलविलान्तरम् ॥१८७॥  
 स्वान्तेऽग्निचूर्णसन्धात् शलाकासंयुतं दृढम् ।  
 लघुनालिकमप्येतत् प्रधार्य्यं पत्तिसादिभिः ॥१८८॥  
 यथा यथा तु त्वक्सारं यथा स्थूलविलान्तरम् ।  
 यथा दीर्घं बृहद्गोलं दूरभेदि तथा तथा ॥१८९॥  
 मूलकीलभ्रमाल्लक्ष्यसमसन्धानभाजि यत् ।

तिर्य्यगित्यादि । तिर्य्यक् वक्रम् ऊर्ध्वं छिद्रं मूले यस्य तत्,  
 पञ्चवितस्तिकं सार्धद्विहस्तं, मूलाग्रयोः मूले अग्रे च लक्ष्यभेदि  
 लक्ष्यभेदकं यत् तिलविन्दु तेन युतं, यन्त्रस्य आघातेन अग्नि-  
 क्लृत् अग्न्युद्दीपकं यत् ग्रावचूर्णं प्रस्तरचूर्णं तस्य धृक् धारकः  
 कर्णमूलं यस्य तादृशं सुकाष्ठस्य उपाङ्गे अङ्गसमीपे अवयवप्रान्ते  
 इत्यर्थः बुधं मूलं यस्य तत्, मध्यम् अङ्गुलविलम् अन्तरे यस्य  
 तत् स्वान्ते स्वस्य अन्ते अग्निचूर्णसन्धात् अग्निचूर्णं (वारुद  
 इति प्रसिद्धः) तस्य सन्धात् धारकं शलाकया संयुतं दृढं कठिनं  
 नालं (वन्दुक) इति प्रसिद्धम् । एतत् लघुनालिकमपि पत्तिभिः  
 पादातैः सादिभिश्च सन्धार्य्यम् ॥ १८६—१८८ ॥

यथेति । त्वक्सारं वंशः यथा यथा, यथा च स्थूलं बृहत्  
 विलं रन्ध्रम् अन्तरे यस्य तथोक्तं, यथा वा दीर्घं बृहत् गोलञ्च,  
 तथा तथा दूरभेदि दूरस्थलक्ष्यभेदकं भवति ॥ १८९ ॥

मूलेति । यत् पूर्वोक्तरूपं त्वक्सारं मूले यः कीलः शुङ्गः

वृहन्नालिकसंज्ञं तत् काष्ठवुध्रविनिर्मितम् ।  
 प्रवाह्यं शकटाद्यैस्तु सुयुक्तं विजयप्रदम् ॥२००॥  
 सुवर्चिलवणात् पञ्च पलानि गन्धकात् पलम् ।  
 अन्तर्धूमविपक्वाकस्रुद्धाद्यङ्गारतः पलम् ॥२०१॥  
 शुद्धात् संग्राह्य सञ्चूर्ण्य सम्मील्य प्रपुटेद्रसैः ।  
 स्रुद्धार्काणां रसोनस्य शोषयेदातपेन च ।  
 पिष्ट्वा शर्करवच्चैतदग्निचूर्णं भवेत् खलु ॥२०२॥

तस्य भ्रमात् भ्रमणात् लक्ष्यस्य समं योग्यम् अनुरूपमित्यर्थः  
 यत् सन्धानं तत् भजते इति तथाभूतं काष्ठस्य यत् वुध्रं मूलं  
 ग्रन्थिरित्यर्थः तेन विनिर्मितं तत् वृहन्नालिकसंज्ञं वृहन्नालिकं  
 नाम ( कामान् ) इति भाषा । शकटाद्यैः प्रवाह्यं प्रवहनीयं  
 बहुभारवत्त्वात् न मनुष्येण नापि हस्तिप्रभृतिभिः पशुभि-  
 रिति भावः सुयुक्तं सुप्रयुक्तमित्यर्थः विजयप्रदं जयसाधनं  
 भवति ॥२००॥

अग्निचूर्णं निरूपयति । सुवर्चिलवणादिति । सुवर्चिलव-  
 णात् (सोरा) इति प्रसिद्धात् पञ्च पलानि कर्षचतुष्टयपरि-  
 माणानि, गन्धकात् पलं कर्षचतुष्टयमितं गन्धकमित्यर्थः, तथा  
 अन्तर्धूमः सधूमः अग्निः तेन विपक्वा दग्धाः ये अर्काः आक-  
 न्देति प्रसिद्धा वृक्षाः स्रुद्धादयः सिजवृक्षादयश्च तेषाम् अङ्गा-  
 रात् शुद्धात् अविमिश्रादित्यर्थः पलं संग्राह्य सम्यक् गृहीत्वा  
 संचूर्ण्य तथा संमील्य मिश्रयित्वा स्रुहीनाम् अर्काणाञ्च रसैः  
 प्रपुटेत् पचेत् । ततश्च रसोनस्य पाकेन क्षीणरसस्य कर्मणि  
 षष्ठी आतापेन शोषयेत् । अनन्तरं शर्करवत् एतत् पिष्ट्वा चूर्ण-

सुवर्चिलवणाङ्गागाः षड्वा चत्वार एव वा ।  
 नालास्त्रार्थाग्निचूर्णे तु गन्धाङ्गारौ तु पूर्ववत् ॥२०३॥  
 गोलो लोहमयो गर्भघुटिकः केवलोऽपि वा ।  
 सौसस्य लघुनालार्थे ह्यन्तधातुभवोऽपि वा ॥२०४॥  
 लोहसारमयं वापि नालास्त्रं त्वन्यधातुजम् ।  
 नित्यसम्भार्जनस्वच्छमस्त्रपातिभिरावृतम् ॥२०५॥  
 अङ्गारस्यैव गन्धस्य सुवर्चिलवणस्य च ।  
 शिलाया हरितालस्य तथा सौसमलस्य च ॥२०६॥

यित्वा यत् लब्धमिति शेषः तत् खलु अग्निचूर्णं भवेत् ॥  
 २०१ ॥ २०२ ॥

सुवर्चीति । नालास्त्राणामर्थे निमित्ते यत् अग्निचूर्णं तस्मिन्  
 सुवर्चिलवणात् षट् वा चत्वार एव वा भागाः नियोक्तव्या  
 इत्यर्थः गन्धाङ्गारौ गन्धकानि अङ्गाराश्च इत्यर्थः पूर्ववत् पल-  
 परिमितावित्यर्थः ॥ २०३ ॥

गोल इति । लघुनालार्थे क्षुद्रनालास्त्रनिमित्तं केवलः  
 अविमिश्र इत्यर्थः लोहमयः गोलः गर्भघुटिकः अथवा सौसस्य  
 गर्भघुटिकः अपि वा अन्यधातुमयः गर्भघुटिकः ग्राह्य इति  
 शेषः ॥ २०४ ॥

लोहसारमयमिति । नालास्त्रं लोहसारमयं वा अन्यधातुजं  
 चेत् नित्यसम्भार्जनेन सततपरिष्करणेन स्वच्छं तथा अस्त्र-  
 पातिभिः अस्त्रक्षेपिभिः वीरैः आवृतं कार्यमिति शेषः ॥२०५॥

पुनश्च । अग्निचूर्णानि निरूपयति अङ्गारस्येत्यादि । अङ्गार-  
 रस्य, गन्धस्य गन्धकस्य, सुवर्चिलवणस्य, शिलायाः प्रस्तरस्य,

हिङ्गुलस्य तथा कान्तरजसः कर्पूरस्य च ।

जतोनील्याश्च सरलनिर्व्यासस्य तथैव च ॥२०७॥

समन्यूनाधिकैरंशैरग्निचूर्णान्यनेकशः ।

कल्पयन्ति च तद्विद्याश्चन्द्रिकाभादिमन्ति च ॥२०८॥

क्षिपन्ति चाग्निसंयोगाद्गोलं लक्ष्ये सुनालगम् ॥२०९॥

नालास्त्रं शोधयेदादौ दद्यात्तत्राग्निचूर्णकम् ।

निवेशयेत्तद्वण्डेन नालमूले यथा दृढम् ॥२१०॥

ततः सुगोलकं दद्यात् ततः कर्णेऽग्निचूर्णकम् ।

कर्णचूर्णाग्निदानेन गोलं लक्ष्ये निपातयेत् ॥२११॥

हरितालस्य, सीसमलस्य हिङ्गुलस्य, कान्तरजसः लोहचूर्णस्य, कर्पूरस्य, जतोः, नील्याः तथा सरलनिर्व्यासस्य सर्जरसस्य समैः न्यूनैः अधिकैश्च यथोक्तैः अंशैः अनेकशः बहुविधानि चन्द्रिकाभादिमन्ति ज्योत्स्नाप्रभादियुक्तानि अग्निचूर्णानि तद्विद्याः तेषु विद्या येषां तादृशाः तदभिज्ञा इत्यर्थः जनाः कल्पयन्ति ॥ २०६ ॥ २०७ ॥ २०८ ॥

क्षिपन्तीति । अग्निसंयोगात् सुनालगं सुनालात् गच्छतीति तादृशं गोलं गोलाकारं गर्भघुटिकं लक्ष्ये लक्षणीये अरौ इति शेषः क्षिपन्ति तद्विद्या इति शेषः ॥ २०९ ॥

नालास्त्रमिति । आदौ नालास्त्रं शोधयेत् परिष्कुर्यात् ततः तत्र अग्निचूर्णकं पूर्वोक्तं दद्यात्, नालमूले दण्डेन यथा दृढं दृढं यथा तथेत्यर्थः तत् अग्निचूर्णं निवेशयेत् प्रवेशयेत् ॥ २१० ॥ तत इति । ततः अग्निचूर्णनिवेशनानन्तरं तत्र सुगोलकं,

लक्ष्यभेदी यथा बाणो धनुर्ज्याविनियोजितः ।

भवेत् तथा तु सन्धाय द्विहस्तश्च शिलीमुखः ॥२१२॥

अष्टाश्रा पृथुबुध्ना तु गदा हृदयसन्मिता ।

पट्टीशः स्वसमो हस्तबुध्नश्चोभयतोमुखः ॥२१३॥

ईषद्वक्रश्चैकधारो विस्तारे चतुरङ्गुलः ।

क्षुरप्रान्तो नाभिसमो दृढमुष्टिः सुचन्द्ररुक् ॥२१४॥

खड्गः प्रासश्चतुर्हस्तदण्डबुध्नः क्षुराननः ।

दशहस्तमितः कुन्तः फालाग्रः शङ्खबुध्नकः ॥२१५॥

ततश्च कर्णे अग्निचूर्णकं दद्यात् । अनन्तरं कर्णे चूर्णाग्निदानेन  
कर्णस्थाग्निचूर्णे अग्निदानेन लक्ष्ये गोलं निपातयेत् ॥ २११ ॥

लक्ष्यभेदीति । यथा बाणः धनुर्ज्याविनियोजितः धनुषो-  
विक्षिप्त इत्यर्थः सन् लक्ष्यभेदी भवेत् तथा सन्धाय द्विहस्तः  
हस्तद्वयमितः शिलीमुखः बाणः कार्य्य इति शेषः ॥ २१२ ॥

अष्टेति । पृथुबुध्ना स्थूलमूलदेशा अष्टाश्रा अष्टकोणा हृदय-  
सन्मिता वक्षःस्थलसमाना गदा कार्थ्या इति शेषः । पट्टीशः  
अस्त्रविशेषः स्वसमः क्षेमृसमपरिमाणः हस्तबुध्नश्च हस्तप्रमाणः  
वा, उभयतोमुखः मूलाग्रमुखः कार्य्य इति शेषः ॥ २१३ ॥

ईषदिति । एकधारः अस्त्रविशेषः ईषद्वक्रः, विस्तारे चतु-  
रङ्गुलः, अङ्गुलचतुष्टयप्रमाणः, क्षुरप्रान्तः अस्त्रभेदः नाभिसमः  
क्षेमृनाभिपर्यन्तपरिमाणः दृढमुष्टिः तथा सुचन्द्ररुक् शोभन-  
चन्द्रप्रभः कार्य्य इति शेषः ॥ २१४ ॥

खड्ग इति । खड्गः प्रासश्च अस्त्रभेदः चतुर्हस्तदण्डबुध्नः  
चतुर्हस्तदण्डप्रमाणः क्षुराननः क्षुरवत् आननं यस्य सः । कुन्तः

चक्रं षड्ढस्तपरिधि क्षुरप्रान्तं सुनाभियुक् ।  
 त्रिहस्तदण्डस्त्रिशिखो लोहरज्जुः सुपाशकः ॥२१६॥  
 गोधूमसन्मितस्थूलपत्रं लोहमयं दृढम् ।  
 कवचं सशिरस्त्राणमूर्ध्वं कायविशोभनम् ॥२१७॥  
 तीक्ष्णाग्रं करजं श्रेष्ठं लोहसारमयं दृढम् ॥२१८॥  
 यो वै सुपुष्टसम्भारस्तथा षड्गुणमन्त्रवित् ।  
 बह्वस्त्रसंयुतो राजा योद्धुमिच्छेत् स एव हि ।  
 अन्यथा दुःखमाप्नोति स्वराज्याङ्गश्रयतेऽपि च ॥२१९॥

दशहस्तमितः फालाग्रः फालस्य लाङ्गलमुखवर्तिनो लौहस्य  
 इव अग्रं यस्य तथाभूतः, तथा शङ्खुबुध्नकः शङ्खुसदृश इत्यर्थः ॥२१५॥  
 चक्रमिति । चक्रं चक्राकारः अस्त्रविशेषः षड्ढस्तपरिधि  
 हस्तषट्कवेष्टनं क्षुरस्येव प्रान्तं यस्य तत्, तथा सुनाभियुक्  
 सुमध्यमित्यर्थः । सुपाशकः पाशनामा अस्त्रविशेषः त्रिहस्त-  
 दण्डः हस्तत्रयमितः दण्डाकृतिश्च इत्यर्थः त्रिशिखः शिखात्रय-  
 युतः तथा लोहरज्जुः लौहतारवान् ॥ २१६ ॥

गोधूमेति । गोधूमेन सन्मितं तुल्यं स्थूलं पत्रं यस्य तत्  
 लोहमयं दृढं कठिनं सशिरस्त्राणं शिरस्त्राणप्रहितम् ऊर्ध्वं-  
 कायविशोभनम् ऊर्ध्वं देहशोभाजनकं कवचं कार्यमिति शेषः ॥  
 २१७ ॥

तीक्ष्णाग्रं सुधारं लोहसारमयम् उत्कृष्टलोहमयं दृढं  
 करजम् अस्त्रविशेषः कार्यमिति शेषः ॥ २१८ ॥

य इति । यः राजा सुपुष्टसम्भारः परिपुष्टसामग्रीकः, षड्-  
 गुणमन्त्रवित् षट् गुणाः सन्ध्यादयः सन्धिर्नाविग्रहो यानमासनं

आविभ्रतोः शत्रुभावमुभयोः संयतात्मनोः ।

अस्त्राद्यैः स्वार्थसिद्धार्थं व्यापारो युद्धमुच्यते ॥२२०॥

मन्त्रास्त्रैर्दैविकं युद्धं नालाद्यस्त्रैस्तथाऽसुरम् ।

शस्त्रबाहुसमुत्पन्तु मानवं युद्धमीरितम् ॥२२१॥

एकस्य बहुभिः सार्धं बहूनां बहुभिश्च वा ।

एकस्यैकेन वा द्वाभ्यां द्वयोर्वा तद्ववेत् खलु ॥२२२॥

कालं देशं शत्रुबलं दृष्ट्वा स्वीयबलं ततः ।

उपायान् षड्गुणं मन्त्रं भवेच्च युद्धकामुकः ॥२२३॥

वैधमाश्रयः षट् गुणा इत्यमरः । मन्त्राश्च तान् वेत्तीति तयोक्तः  
तथा बहुभिः अस्त्रैः संयुतः, स एव योद्धुम् इच्छेत्, अन्यथा युद्ध-  
करणे दुःखम् आप्नोति, स्वराज्यात् भ्रश्यते च विच्युतः भवति  
च ॥ २१८ ॥

आविभ्रतोरिति । शत्रुभावम् आविभ्रतोः धारयतोः संयता-  
त्मनोः निश्चलमनसोः उभयोः स्वार्थसिद्धार्थम् अस्त्राद्यैः व्यापारः  
युद्धम् उच्यते ॥ २२० ॥

मन्त्रास्त्रैरिति । मन्त्रास्त्रैर्दैविकं, नालादिभिः अस्त्रैः आ-  
सुरं शस्त्रबाहुसमुत्पन्नं शस्त्रैः तलवारादिभिः बाहुभिश्च समुत्पन्नं  
मानवं युद्धम् ईरितम् उक्तम् ॥ २२१ ॥

एकस्येति । तत् युद्धम् एकस्य बहुभिः सार्धं सह, बहूनां  
बहुभिश्च, सार्धम् एकस्य एकेन सार्धं द्वयोः द्वाभ्यां वा सार्धं  
खलु निश्चितं भवेत् ॥ २२२ ॥

कालमिति । कालं समयं देशं स्थानं शत्रुबलं स्वीयबलम्  
उपायान् सामादीन् सामदानभेददण्डमित्युपायचतुष्टयमित्य-

शरद्धेमन्तशिशिरकालो युद्धेषु चोत्तमः ।

वसन्तो मध्यमो ज्ञेयोऽधमो ग्रीष्मः स्मृतः सदा २२४

वर्षासु न प्रशंसन्ति युद्धं साम स्मृतं तदा ॥२२५॥

युद्धसम्भारसम्पन्नो यदाधिकबलो नृपः ।

मनोत्साही सुशकुनोत्पाती कालस्तदा शुभः ॥२२६॥

कार्येऽत्यावश्यकं प्राप्ते कालो नो चेद्यदा शुभः ।

विधाय हृदि विश्वेशं गेहे भक्त्या न्वियात् तदा २२७

न कालनियमस्तत्र गोस्त्रीविप्रविनाशने ॥२२८॥

मरः । षड्गुणं सन्ध्यादिकं मन्त्रञ्च दृष्ट्वा समीक्ष्य युद्धकामुकः  
संग्रामार्थी भवेत् ॥ २२३ ॥

शरदिति । युद्धेषु शरत् हेमन्तः शिशिरकालश्च उत्तमः.  
वसन्तः मध्यमः ज्ञेयः ग्रीष्मस्तु सदा अधमः स्मृतः ॥ २२४ ॥

वर्षास्विति । वर्षासु युद्धं न प्रशंसन्ति, तदा वर्षास्वित्यर्थः  
साम सन्धिः स्मृतम् ॥ २२५ ॥

युद्धेति । यदा नृपः युद्धसम्भारसम्पन्नः संग्रामसामग्रीपरि-  
पुष्टः अधिकबलः मनोत्साही उत्साहान्वितमनाः सन्धिरत्रार्पः ।  
तदा सुशकुनोत्पाती सुशकुनानां सुलक्षणानाम् उत्पातः उत्-  
पतनम् उदय इत्यर्थः यस्मिन् तदाभूतः अतएव शुभः सुमङ्गलः  
कालः संग्रामस्येति शेषः ॥ २२६ ॥

कार्यं इति । यदा चेत् यदि शुभः कालः नो प्राप्यते इत्यर्थः  
तदा अत्यावश्यकं कार्यं प्राप्ते आपतिते हृदि हृदयरूपे गेहे  
विश्वेशं भक्त्या विधाय नु निधाय इयात् गच्छेत् संग्रामायेति  
शेषः ॥ २२७ ॥

यस्मिन् देशे यथाकालं सैन्यव्यायामभूमयः ।  
 परस्य विपरीताश्च स्मृतो देशः स उत्तमः ॥२२६॥  
 आत्मनश्च परेषां च तुल्यव्यायामभूमयः ।  
 यत्र मध्यम उद्दिष्टो देशः शास्त्रविचिन्तकैः ॥२२७॥  
 अरातिसैन्यव्यायाममुपर्य्याप्तमहीतलः ।  
 आत्मनो विपरीतश्च स वै देशोऽधमः स्मृतः ॥२२८॥  
 स्वसैन्यात् तु तृतीयांशहीनं शत्रुबलं यदि ।  
 अशिक्षितमसारं वा साद्यस्कं स्वजयाय वै ॥२२९॥

नेति । गोस्त्रीविप्रविनाशने गवां स्त्रीणां विप्राणां वा  
 विनाशने सति तत्र युद्धे न कालनियमः सर्वस्मिन्नेव काले  
 संग्रामाय यायादिति भावः ॥ २२८ ॥

यस्मिन्निति । यस्मिन् देशे यथाकालं समये समये इत्यर्थः  
 सैन्यानां व्यायामभूमयः रणव्यापारशिक्षाभ्यासस्थानानि स-  
 न्तीति शेषः तथा परस्य शत्रोः विपरीताः, न सन्तीति भावः  
 सः देशः उत्तमः स्मृतः ॥ २२९ ॥

आत्मन इति । यत्र यस्मिन् देशे आत्मनः परेषां शत्रूणाञ्च  
 तुल्याः समानाः व्यायामभूमयः सन्तीति शेषः स देशः शास्त्र-  
 विचिन्तकैः मध्यमः उद्दिष्टः कथितः ॥ २३० ॥

अरातीति । यः देशः अरातिसैन्यानां शत्रुबलानां व्याया-  
 मेषु सुपर्य्याप्तं महीतलं यस्मिन् तथाभूतः, आत्मनः विपरीतश्च  
 न तथेत्यर्थः सः अधमः स्मृतः ॥ २३१ ॥

खेति । यदि शत्रुबलं स्वसैन्यात् तृतीयांशहीनम् अशि-

पुत्रवत् पालितं यत् तु दानमानविवर्द्धितम् ।  
युद्धसम्भारसम्पन्नं स्वसैन्यं विजयप्रदम् ॥२३३॥  
सन्धिं च विग्रहं यानमासनं च समाश्रयम् ।  
द्वैधीभावं च संविद्यान्मन्त्रस्यैतांस्तु षड्गुणान् २३४  
याभिः क्रियाभिर्बलवान् मित्रतां याति वै रिपुः ।  
सा क्रिया सन्धिरित्युक्ता विमृशेत् तां तु यत्नतः ॥२३५॥  
विकर्षितः सन् बाधीनो भवेच्छत्रुस्तु येन वै ।  
कर्मणा विग्रहस्तं तु चिन्तयेन्मन्त्रिभिर्नृपः ॥२३६॥

क्षितम् असारं वा साध्यस्कम् आधुनिकं तदा वै निश्चितं स्वस्य  
जयाय भवतीति शेषः ॥ २३२ ॥

पुत्रवदिति । यत्तु स्वसैन्यं पुत्रवत् पालितं दानेन मानेन  
च विवर्द्धितं विशेषतः वृद्धिं प्रापितं तथा युद्धसम्भारैः युद्धसाम-  
ग्रीभिः सम्पन्नं युक्तं तत् विजयप्रदं जयावहम् ॥ २३३ ॥

सन्धिमिति । सन्धिं परस्परसाहाय्यार्थं हस्त्यश्वादिदानेन  
आवाभ्यामन्योऽस्य उपकर्तव्यमित्येवं नियमबन्धं, विग्रहं विरु-  
दाचरणाधिक्येन वैरभावं, यानं शत्रुं प्रति गमनम् आसनम्  
उपेक्षणं, समाश्रयम् एकेन पौडितस्य अपरप्रबलतराश्रयणं,  
द्वैधीभावं स्वार्थसिद्धये स्वबलस्य द्वैधीकरणम् एतान् मन्त्रस्य  
षड्गुणान् संविद्यात् सम्यक् जानीयात् ॥ २३४ ॥

याभिरिति । बलवान् रिपुः याभिः क्रियाभिः अनुष्ठानैः वै  
निश्चितं मित्रतां याति प्राप्नोति सा सन्धिः इति उक्ता तां क्रियां  
यत्नतः विमृशेत् विवेचयेत् ॥ २३५ ॥

विकर्षित इति । येन कर्मणा व्यापारेण शत्रुः विकर्षितः

शत्रुनाशार्थगमनं यानं स्वाभीष्टसिद्धये ।

स्वरक्षणं शत्रुनाशो भवेत् स्थानात् तदासनम् २३७

यैर्गुप्तो बलवान् भूयाद् दुर्बलोऽपि स आश्रयः ।

द्वैधीभावः स्वसैन्यानां स्थापनं गुल्मगुल्मतः ॥ २३८ ॥

बलीयसाभियुक्तस्तु नृपोऽनन्यप्रतिक्रियः ।

आपन्नः सन्धिमन्विच्छेत् कुर्वाणः कालयापनम् २३९

एक एवोपहारस्तु सन्धिरेष मतो हितः ।

उपहारस्य भेदास्तु सर्वेऽन्ये मैत्रवर्जिताः ॥ २४० ॥

धीडितः अधीनः वा अधीन एव वाशब्दः अवधारणार्थः । भवेत्  
तं विग्रहं नृपः सन्धिभिः सह चिन्तयेत् ॥ २३६ ॥

शत्रुनाशार्थमिति । स्वस्य अभीष्टसिद्धये स्वमनोरथसाधनाय  
शत्रुनाशार्थगमनं यानम् । स्थानात् यस्मात् अवस्थानात् उपे-  
क्षणादित्यर्थः स्वरक्षणं शत्रुनाशश्च भवेत् तत् आसनम् ॥ २३७ ॥

यैरिति । दुर्बलोऽपि यैः गुप्तः रक्षितः सन् बलवान् भवेत्  
तेषामाश्रयणं समाश्रयः । स्वसैन्यानां गुल्मगुल्मतः प्रतिगुल्मं  
स्थापनं द्वैधीभावः ॥ २३८ ॥

बलीयसेति । बलीयसा अतिबलवता अभियुक्तः आक्रान्तः  
अनन्यप्रतिक्रियः अन्यप्रतिकाररहितः अत एव आपन्नः आप-  
न्नतः नृपः कालयापनं कुर्वाणः कालं प्रतीक्षमाणः सन् सन्धिम्  
अन्विच्छेत् कुर्यादित्यर्थः ॥ २३९ ॥

एक इति । एकः केवलः हितः हितकरः उपहारः उपदा एव  
एषः सन्धिः मतः । मैत्रवर्जिताः मैत्रं विना इत्यर्थः सर्वे अन्ये  
सम्मेलनप्रकारा इत्यर्थः उपहारस्य भेदास्तु विशेषा एव ॥ २४० ॥

अभियोक्ता बलीयस्त्वादलब्धा न निवर्त्तते ।  
 उपहारादृते तस्मात् सन्धिरन्यो न विद्यते ॥२४१॥  
 शत्रोर्बलानुसारेण उपहारं प्रकल्पयेत् ।  
 सेवां वापि च स्वीकुर्याद्दद्यात् कन्यां भुवं धनम् २४२  
 स्वसामन्तांश्च सन्धीयात् मन्त्रेणान्यजयाय वै ।  
 सन्धिः कार्योऽप्यनार्येण सम्प्राप्योत्सादयेद्वि सः २४३  
 सङ्घातवान् यथा वेणुर्निविडैः कण्टकैर्हतः ।  
 न शक्यते समुच्छेत्तुं वेणुः सङ्घातवांस्तथा ॥२४४॥

अभियोक्तेति । अभियोक्ता आक्रमणकारी प्रबलः राजा  
 बलीयस्त्वात् प्रबलत्वात् अलब्धा उपहारमिति शेषः न  
 निवर्त्तते, तस्मात् उपहारात् ऋते विना अन्यः सन्धिः न विद्यते  
 ॥ २४१ ॥

शत्रोरिति । शत्रोः बलानुसारेण यथा बलमित्यर्थः उपहारं  
 प्रकल्पयेत् तथाहि कुत्रचित् सेवां दासभावं वा स्वीकुर्यात्  
 अथवा कन्यां भुवं भूमिं वा धनं दद्यात् ॥ २४२ ॥

स्वेति । नृपः अन्यजयाय अपरशत्रुजयार्थं मन्त्रेण मन्त्र-  
 कौशलेन स्वस्य सामन्तान् अधीनस्थनृपान् सन्धीयात् । किञ्च  
 अनार्येण दुर्जनेनापि सन्धिः कार्यः, हि यतः सः अनार्यः  
 सम्प्राप्य सुयोगमिति भावः उत्सादयेत् उत्सन्नं कुर्यादित्यर्थः ॥२४३॥

सङ्घातवानिति । यथा निविडैः घनैः कण्टकैः हतः सङ्घात-  
 वान् समूहात्मकः वेणुः वंशः समुच्छेत्तुं नैव शक्यते तथा स-  
 ङ्घातवान् नृपश्च समुच्छेत्तुं न शक्यते अतो नृपेण स्वबल-  
 विरोधो न कर्त्तव्य इति भावः ॥ २४४ ॥

सन्धिश्चातिबले युद्धं साम्ये यानन्तु दुर्बले ।

सुहृद्भिराश्रयः स्थानं दुर्गाभिभजनं द्विधा ॥२४५॥

बलिना सह सन्धाय भये साधारणे यदि ।

आत्मानं गोपयेत् काले बह्वमित्रेषु बुद्धिमान् ॥२४६॥

बलिना सह योद्धव्यमिति नास्ति निदर्शनम् ।

प्रतिवातं न हि घनः कदाचिदपि सर्पति ॥२४७॥

बलीयसि प्रणमतां काले विक्रमतामपि ।

सम्पदो न विसर्पन्ति प्रतीपमिव निम्नगाः ॥२४८॥

राजा न गच्छेद्विश्वासं सन्धितोऽपि हि बुद्धिमान् ।

सन्धिरिति । अतिबले अतिप्रबले शत्रौ सन्धिः साम्ये तुल्य-  
कक्षतायां, युद्धं दुर्बले शत्रौ यानं युद्धार्थम् आक्रमणं, सुहृद्भिः  
आश्रयः स्थानम् आसनं तथा दुर्गाभिभजनं दुर्गं विभज्य द्विधा  
सैन्यस्थापनं कर्त्तव्यमिति शेषः ॥ २४५ ॥

बलिनेति । यदि बहुषु अमित्रेषु शत्रुषु सत्सु तथा साधा-  
रणे भये सति यः बलिना प्रबलेन सह सन्धाय मिलित्वा  
काले समये आत्मानं गोपयेत् रक्षेत् सः बुद्धिमान् ॥ २४६ ॥

बलिनेति । बलिना प्रबलेन सह न योद्धव्यम् इति अत्र  
निदर्शनं दृष्टान्तः अस्ति, हि तथाहि घनः मेघः कदाचिदपि  
प्रतिवातं प्रतिकूलं वायुम् अथवा वातं प्रति न सर्पति न  
गच्छति ॥ २४७ ॥

बलीयसीति । बलीयसि बलवत्तरे प्रणमतां तथा काले  
समये विक्रमतां जनानां सम्पदः निम्नगाः नद्य इव प्रतीपं  
प्रतिकूलं न विसर्पन्ति न गच्छन्तीत्यर्थः ॥ २४८ ॥

अद्रोहसमयं कृत्वा वृत्रमिन्द्रः पुरावधीत् ॥२४८॥

आपन्नोऽभ्युदयाकाङ्क्षी पीड्यमानः परेण वा ।

देशकालबलोपेतः प्रारभेत च विग्रहम् ॥२५०॥

प्रहीनबलमित्रन्तु दुर्गस्थं शत्रुमागतम् ।

अत्यन्तविषयासक्तं प्रजाद्रव्यापहारकम् ।

भिन्नमन्त्रिवलं राजा पीडयेत् परिवेष्टयन् ॥२५१॥

विग्रहः स च विज्ञेयो ह्यन्यश्च कलहः स्मृतः ॥२५२

बलीयसात्यल्पबलः शूरेण न च विग्रहम् ।

कुर्याद्वि विग्रहे पुंसां सर्वनाशः प्रजायते ॥२५३॥

राजेति । बुद्धिमान् राजा सन्धितोऽपि कृतसन्धिरपि विश्वासं न गच्छेत् हिशब्दः अवधारणार्थः पुरा पूर्वस्मिन् काले इन्द्रः अद्रोहसमयं परस्परं द्रोहम् अनिष्टमित्यर्थः न करोमीत्येवंरूपं समयं नियमबन्धं कृत्वा वृत्रम् अवधीत् ॥२४८॥

आपन्न इति । परेण पीड्यमानः अत एव आपन्नः आपदग्रस्तः नृपः देशकालबलोपेतः समयस्थानबलपरिपुष्टः सन् अभ्युदयाकाङ्क्षी अभ्युदयार्थमित्यर्थः विग्रहं युद्धं प्रारभेत च ॥२५०॥

प्रहीनेति । राजा प्रहीनबलमित्रं दुर्गस्थं दुर्गतम् अत्यन्तविषयासक्तम् अतिव्यसनिनं प्रजानां धनापहारकं भिन्नमन्त्रिवलं भिन्नं भेदं गतं मन्त्रिवलं यस्य तादृशम् आगतम् उपस्थितं शत्रुं परिवेष्टयन् पीडयेत् । हन्यादित्यर्थः ॥ २५१ ॥

विग्रह इति । स च विग्रहः विज्ञेयः, अन्यस्तु तदव्यतिरिक्तस्तु कलहः स्मृतः ॥ २५२ ॥

बलीयसेति । अत्यल्पबलः राजा बलीयसा शूरेण शत्रुणा

एकार्याभिनिवेशित्वं कारणं कलहस्य वा ।

उपायान्तरनाशे तु ततो विग्रहमाचरेत् ॥२५४॥

विगृह्य सन्धाय तथा सम्भूयाथ प्रसङ्गतः ।

उपेक्षया च निपुणैर्यानं पञ्चविधं स्मृतम् ॥२५५॥

विगृह्य याति हि यदा सर्वाञ्छत्रुगणान् बलात् ।

विगृह्ययानं यानञ्चैस्तदाचार्यैः प्रचक्ष्यते ॥२५६॥

अरिमित्राणि सर्वाणि स्वमित्रैः सर्वतो बलात् ।

विगृह्य चारिभिर्गन्तुं विगृह्यगमनन्तु वा ॥२५७॥

सह विग्रहं न च कुर्यात् हि यस्मात् तथा सति विग्रहे पुंसां  
सर्वनाशः प्रजायते ॥ २५३ ॥

एकेति । एकार्याभिनिवेशित्वत् एकद्रव्याभिलाषित्वं कल-  
हस्य कारणं वा हेतुरेव वाशब्दश्चावधारणार्थः । तस्मात् उपा-  
यान्तरनाशे गत्यन्तराभावे सति विग्रहम् आचरेत् ॥ २५४ ॥

विगृह्येति । निपुणैः विज्ञैः जनैः यानं शत्रुं प्रति गमनं  
पञ्चविधं स्मृतं यथा विगृह्ययानं सन्धाय यानं सम्भूय यानम्  
अथवा प्रसङ्गतः क्लृप्तः यानं किंवा उपेक्षया यानम् ॥ २५५ ॥

विगृह्येति । यदा बलात् बलमाश्रित्य सर्वान् शत्रुगणान्  
विगृह्य विग्रहेण पराजित्य याति, तत् यानं यानञ्चैः आचार्यैः  
गुरुभिः विगृह्ययानं प्रचक्ष्यते ॥ २५६ ॥

अरीति । सर्वाणि अरिमित्राणि शत्रोः मित्राणि सर्वतः सर्वैः  
स्वमित्रैः आत्मबन्धुभिः करणभूतैः बलात् विगृह्य अरिभिः  
सह गन्तुं विग्रहीतुमित्यर्थः यत् गमनं तत् विगृह्यगमनं  
वा ॥ २५७ ॥

सन्धायान्यत्र यात्रायां पार्श्विग्राहेण शत्रुणा ।  
 सन्धायगमनं प्रोक्तं तज्जिगीषोः फलार्थिनः ॥२५८॥  
 एको भूपो यदैकत्र सामन्तैः साम्प्रायिकैः ।  
 शक्तिशौर्ययुतैर्यानि सम्भूयगमनं हि तत् ॥२५९॥  
 अन्यत्र प्रस्थितः सङ्गादन्यत्रैव च गच्छति ।  
 प्रसङ्गयानं तत् प्रोक्तं यानविद्भिश्च मन्त्रिभिः ॥२६०॥  
 रिपुं यातस्य बलिनः सम्प्राप्य विहृतं फलम् ।  
 उपेक्ष्य तस्मिन् तद्यानमुपेक्षायानमुच्यते ॥२६१॥

सन्धयेति । अन्यत्र अन्यस्मिन् शत्रौ यात्रायां युद्धयात्रायां  
 पार्श्विग्राहेण पृष्ठानुधाविना शत्रुणा सह सन्धाय मिलित्वा  
 फलार्थिनः जिगीषोः यत् यानं तत् सन्धायगमनं प्रोक्तम् ॥२५८॥

एक इति । एकः भूपः शक्तिशौर्ययुतैः साम्प्रायिकैः  
 संग्रामनिपुणैः सामन्तैः अधीनस्थराजवर्गैः सह एकत्र एकस्मिन्  
 शत्रौ यत् यानं तत् सम्भूययानं हि ॥ २५९ ॥

अन्यत्रेति । अन्यत्र प्रस्थितः नृपः सङ्गात् प्रसङ्गात् कलादि-  
 त्यर्थः यत् अन्यत्र गच्छति तत् यानविद्भिः मन्त्रिभिः प्रसङ्गयानं  
 प्रोक्तम् ॥ २६० ॥

रिपुमिति । रिपुं शत्रुं प्रति यातस्य गतस्य आक्रमतः  
 बलिनः बलवतः नृपस्य विहृतं विपरीतं फलं पराजयरूप-  
 मित्यर्थः सम्प्राप्य तस्मिन् उपेक्ष्य यत् यानं गमनं खनगर्थ्या-  
 मिति शेषः । निवर्त्तनमिति भावः । तत् उपेक्षायानम् उ-  
 च्यते ॥ २६१ ॥

दुर्वृत्तेऽप्यकुलीने तु बलं दातरि रज्यते ।

हृष्टं कृत्वा स्वीयबलं पारितोष्यप्रदानतः ॥२६२॥

नायकः पुरतो यायात् प्रवीरपुरुषावृतः ।

मध्ये कलत्रं कोशश्च स्वामी फल्गु च यद्वनम् ।

ध्वजिनीञ्च सदोद्युक्तः स गोपायेद्विवानिशम् ॥२६३॥

नद्यद्विवनदुर्गेषु यत्र यत्र भयं भवेत् ।

सेनापतिस्तत्र तत्र गच्छेद् व्यूहकृतैर्बलैः ॥२६४॥

यायाद् व्यूहेन महता मकरेण पुरोभये ।

श्येनेनोभयपक्षेण सूच्या वा धीरवक्त्रया ॥२६५॥

दुर्वृत्ते इति । नायक इति । दुर्वृत्ते दुराचारिऽपि अकुलीने असहंशप्रसूतेऽपि राजनि दातरि दानशीले सति बलं रज्यते अनुरक्तं भवति, तस्मात् पारितोष्यप्रदानतः पुरष्कारदानेन स्वीयबलं हृष्टं सन्तुष्टं कृत्वा नायकः सेनापतिः प्रवीरपुरुषैः आवृतः सन् पुरतः अग्रतः यायात् गच्छेत् मध्ये कलत्रं स्त्रीवर्गः कोशः द्रव्यसमूहः स्वामी प्रभुः यच्च फल्गु सारं धनं तत् यायात् । सः नायकः सदोद्युक्तः सदा उद्योगी सन् दिवानिशं ध्वजिनीं गोपायेत् रक्षेत् ॥ २६२ ॥ २६३ ॥

नदीति । नदीषु अद्रिषु वनेषु दुर्गेषु दुर्गमस्थानेषु च यत्र यत्र भयं भवेत् सेनापतिः व्यूहकृतैः कृतव्यूहैः बलैः तत्र तत्र गच्छेत् ॥ २६४ ॥

यायादिति । पुरः अग्रे भये उपस्थिते सति महता मकरेण व्यूहेन, उभयपक्षेण श्येनेन व्यूहेन वा धीरवक्त्रया धीरमुखया सूच्या व्यूहेन यायात् ॥ २६५ ॥

पश्चाद्भये तु शकटं पार्श्वयोर्वज्रसंज्ञिकम् ।

सर्वतः सर्वतोभद्रं चक्रं व्यालमथापि वा ।

यथादेशं कल्पयेद्वा शत्रुसेनाविभेदकम् ॥ २६६ ॥

व्यूहरचनसङ्केतान् वाद्यभाषासमीरितान् ।

स्वसैनिकैर्विना कोऽपि न जानीयात् तथाविधान् २६७

नियोजयेच्च मतिमान् व्यूहान् नानाविधान् सदा २६८

अश्वानाञ्च गजानाञ्च पदातीनां पृथक् पृथक् ।

उच्चैः संश्रावयेद् व्यूहसङ्केतान् सैनिकान् नृपः २६९

वामदक्षिणसंस्थो वा मध्यस्थो वाग्रसंस्थितः ।

श्रुत्वा तान् सैनिकैः कार्यमनुशिष्टं यथा तथा २७०

पश्चादिति । पश्चात् भये सम्भवति शकटं शकटाकारं पार्श्वयोः भये आपतिते वज्रसंज्ञिकं वज्राख्यं सर्वतः भये उपस्थिते सर्वतोभद्रं चक्रम् अथवा व्यालं शत्रुसेनाविभेदकं शत्रुबलभञ्जकं व्यूहं यथा प्रदेशं कल्पयेद्वा रचयेदेव ॥ २६६ ॥

व्यूहेति । स्वसैनिकैः विना कोऽपि जनः वाद्यभाषया समीरितान् वाद्यध्वनिविशेषसूचितान् तथाविधान् व्यूहरचनानां सङ्केतान् न जानीयात् ॥ २६७ ॥

नियोजयेदिति । मतिमान् भूपः नानाविधान् व्यूहान् सदा सर्वस्मिन् समये नियोजयेच्च ॥ २६८ ॥

अश्वानामिति । नृपः अश्वानां गजानां पदातीनाञ्च पृथक् पृथक् सैनिकान् व्यूहसङ्केतान् उच्चैः यथा तथा संश्रावयेत् ॥ २६९ ॥ वामेति । सैनिकपुरुषः वामदक्षिणसंस्थः वामसंस्थः वा

सम्मीलनं प्रसरणं परिभ्रमणमेव च ।

आकुञ्चनं तथा यानं प्रयाणमपयानकम् ॥२७१॥

पर्यायेण च साम्मुख्यं समुत्थानञ्च लुण्ठनम् ।

संस्थानं चाष्टदलवच्चक्रवद्गोलतुल्यकम् ॥२७२॥

सूचीतुल्यं शकटवदूर्ध्वचन्द्रसमन्तु वा ।

पृथग्भवनमल्पाल्यैः पर्यायैः पङ्क्तिवेशनम् ॥२७३॥

शस्त्रास्त्रयोर्धारणञ्च सन्धानं लक्ष्यभेदनम् ।

मोक्षणञ्च तथास्त्राणां शस्त्राणां परिघातनम् ॥२७४॥

द्राक् सन्धानं पुनः पातो ग्रहो मोक्षः पुनः पुनः ।

स्वगूहनं प्रतीघातः शस्त्रास्त्रपदविक्रमैः ॥२७५॥

द्वाभ्यां विभिन्नतुर्भिर्वा पङ्क्तितो गमनं ततः ।

तथा प्राग्भवनं चापसरणं तूपसर्जनम् ॥२७६॥

दक्षिणसंस्थः वा मध्यस्थः अथवा अग्रतः स्थितः अस्तु किन्तु तैः  
तैः सैनिकैः तान् सङ्केतान् श्रुत्वा यथा अनुशिष्टं कर्तुं सङ्केतितं  
तथा कार्यम् ॥ २७० ॥

व्यूहस्थदैनिककार्याख्याह सम्मीलनमित्यादि । सम्मीलनं  
प्रसरणं परिभ्रमणम् आकुञ्चनं यानं प्रयाणम् अपयानकं पर्या-  
येण साम्मुख्यं समुत्थानं लुण्ठनम् अष्टदलवत् संस्थानं चक्रवत्  
गोलतुल्यकं गोलाकारेण वेष्टनमित्यर्थः सूचीतुल्यं शकटवत् शक-  
टाकारं वा अर्धचन्द्रसमं पृथक् विभिन्नं भवनं वर्तनम् अल्पाल्यैः  
पर्यायैः पङ्क्तिवेशनं पङ्क्तिषु प्रवेशनं शस्त्रास्त्रयोः धारणं  
सन्धानं लक्ष्यभेदनम् अस्त्राणां मोक्षणं निक्षेपः शस्त्राणां परि-

अपसृत्यास्त्रसिद्धार्थमुपसृत्य विमोचयेत् ।

प्राग्भूत्वा मोचयेदस्त्रं व्यूहस्थः सैनिकः सदा॥२७७

आसीनः स्याद्विमुक्तास्त्रः प्राग्वा चापसरेत् पुनः ।

प्रागासीनं तूपसृतो दृष्ट्वा स्वास्त्रं विमोचयेत् ।

एकैकशो द्विशो वापि सङ्घशो बोधितो यथा॥२७८

क्रौञ्चानां खे गतिर्यादृक् पङ्क्तिः सम्प्रजायते ।

तादृक् सञ्चारयेत् क्रौञ्चव्यूहं देशबलं यथा ॥२७९॥

घातनं शस्त्रैः प्रहरणमित्यर्थः द्राक् भटिति सन्धानं पुनः पुनः

पातः पतनं ग्रहः ग्रहणं मोक्षः त्यागः, स्वस्य आत्मनः गूहनं

रक्षणं शस्त्रास्त्रपदविक्रमैः शस्त्रैः अस्त्रैः पदविक्रमैश्च प्रतीघातः,

हाभ्यां त्रिभिः चतुर्भिर्वा पङ्क्तिः पङ्क्तिक्रमेण गमनम् ।

तथा प्राग्भवनं पुरोवर्त्तनम् अपसरणं पुरतः पलायनं तथा उप-

सर्जनं समीपगमनञ्च ॥ २७१—२७६ ॥

अपसृत्येति । व्यूहस्थः विन्यस्तबलमध्यवर्ती सैनिकः अस्त्र-

सिद्धार्थम् अपसृत्य विमोक्षणे अस्त्रत्यागे उपसृत्य समीपं गत्वा

तथा प्राग् अग्रगो भूत्वा सदा अस्त्रं मोचयेत् ॥ २७७ ॥

आसीन इति । विमुक्तास्त्रः विक्षिप्तास्त्रः सैनिकः आसीनः

उपविष्टः स्यात् वा अथवा प्राक् अपसरेत् । पुनश्च उपसृतः

सन्निहितः सन् प्राक् आसीनं रिपुं दृष्ट्वा यथा बोधितः सङ्केतितः

तथा एकैकशः द्विशः वा सङ्घशः बहुशः स्वस्य आत्मनः अस्त्रं

विमोचयेत् विक्षिपेत् ॥ २७८ ॥

क्रौञ्चव्यूहमाह क्रौञ्चानामिति । खे आकाशे क्रौञ्चानां

वकानां यादृक् पङ्क्तिः पङ्क्तिक्रमेण गतिः जायते, देशबलं

सूक्ष्मग्रीवं मध्यपुच्छं स्थूलपक्षन्तु पङ्क्तिः ।

वृहत्पक्षं मध्यगलपुच्छं श्येनं मुखे तनु ॥२८०॥

चतुष्पात् मकरो दीर्घस्थूलवक्त्रद्विरोष्ठकः ।

सूची सूक्ष्ममुखो दीर्घसमदण्डान्तरम्भ्रयुक् ॥२८१॥

चक्रव्यूहश्चैकमार्गो ह्यष्टधा कुण्डलीकृतः ।

चतुर्दिक्ष्वष्टपरिधिः सर्वतोभद्रसंज्ञकः ॥२८२॥

अमार्गश्चाष्टबलयी गोलकः सर्वतो मुखः ।

शकटः शकटाकारो व्यालो व्यालाकृतिः सदा ॥२८३॥

स्थानीयबलं यथा स्थानीयबलानुसारेण इत्यर्थः क्रौञ्चव्यूहं  
तादृक् यथा तथा सञ्चारयेत् विन्यसेत् ॥ २७८ ॥

श्येनव्यूहमाह सूक्ष्मेति । सूक्ष्मा ग्रीवा यस्य तत् मध्ये पुच्छं  
यस्य तथोक्तं स्थूली विशाली पक्षी यस्य तथाभूतं पङ्क्तिव्यूहं  
वृहत्पक्षं दीर्घपार्श्वं मध्ये गले च पुच्छं यस्य तादृशं तथा मुखे  
तनु सूक्ष्मं स्वल्पमित्यर्थः श्येनं श्येनव्यूह इत्यर्थः ॥ २८० ॥

मकरसूचीव्यूहावाह चतुष्पादिति । चतुष्पात् चतुश्चरणः  
चतुर्धा विभक्त इत्यर्थः दीर्घं स्थूलञ्च वक्त्रं मुखं यस्य तादृशः  
तथा द्विरोष्ठकः ओष्ठद्वयसंयुतः मकरः मकरव्यूहः । सूक्ष्ममुखः  
तथा दीर्घस्य समस्य च दण्डस्य अन्ते रम्भ्रयुक् छिद्रयुक्तः सूची  
सूचीव्यूहः ॥ २८१ ॥

चक्रसर्वतोभद्र शकटव्यालव्यूहान् निर्वर्त्ति चक्रेति । अमार्गः  
इति । अष्टधा कुण्डलीकुण्डः वेष्टितः एक एव मार्गः पन्थाः  
यस्य तथाभूतः व्यूहः चक्रव्यूहः । चतुर्दिक्षु अष्टपरिधिः अष्टधा  
कुण्डलीकृत इत्यर्थः अमार्गः अपथः अष्टबलयी वेष्टनाष्टकयुतः

सैन्यमल्पं वृहद्वापि दृष्ट्वा मार्गं रणस्थलम् ।

व्यूहैर्व्यूहेन व्यूहाभ्यां सङ्करेणापि कल्पयेत् ॥२८४॥

यन्त्रास्त्रैः शत्रुसेनाया भेदो येभ्यः प्रजायते ।

स्थलेभ्यस्तेषु सन्तिष्ठेत् ससैन्यो ह्यासनं हितत् ॥२८५॥

दृष्ट्वा न्नजलसम्भारा ये चान्ये शत्रुपोषकाः ।

सम्यङ् निरुध्य तान् यत्नात् परितश्चिरमासनात् ॥२८६॥

विच्छिन्नवीवधासारं प्रक्षीणयवसेम्भनम् ।

विगृह्यमाणप्रकृतिं कालेनैव वशं नयेत् ॥२८७॥

गोलकः मण्डलाकृतिः सर्वतोमुखः व्यूहः सर्वतो भद्रसंज्ञकः

सर्वतोभद्र इति प्रसिद्धः । शकटः शकटस्येव आकारः यस्य सः ।

व्यालः सदा व्यालस्येव सर्पस्येव आकृतिर्यस्य तथाभूतः ॥२८२॥

२८३ ॥

सैन्यमिति । सैन्यम् अल्पं वा वृहत् अधिकं दृष्ट्वा व्यूहेन व्यूहाभ्यां वा व्यूहैः सङ्करेणापि व्यूहेन अव्यूहेन च सैन्येन मार्गं रणस्थलञ्च कल्पयेत् ॥ २८४ ॥

यन्त्रास्त्रैरिति । येभ्यः स्थलेभ्यः यन्त्रास्त्रैः नालिकास्त्रैः शत्रु-  
सेनायाः भेदः प्रजायते सम्भवति, ससैन्यः सन् तेषु स्थलेषु  
सन्तिष्ठेत् तत् हि तदेव आसनम् ॥ २८५ ॥

दृष्टेति । विच्छिन्नेति । दृष्ट्वा न्नानि जलानि सम्भाराः  
प्रयोजनीयद्रव्याणि च ये च अन्ये शत्रुपोषकाः शत्रूणां पोषण-  
कारिणः चिरं दीर्घकालं व्याप्य आसनात् अवस्थानात् परितः  
भ्रमतः यत्नात् तान् शत्रुपोषकान् सम्यक् निरुध्य विच्छिन्ना  
निरुद्धाः वीवधाः धान्यादिसंग्रहाः आसाराः सुहृद्वलसम्पाताः

अरेश्च विजिगीषोश्च विग्रहे हीयमानयोः ।

सन्धाय यदवस्थानं सन्धायसनमुच्यते ॥२८८॥

उच्छिद्यमानो बलिना निरुपायप्रतिक्रियः ।

कुलोद्भवं सत्यमार्य्यमाश्रयेत बलोत्कटम् ॥२८९॥

विजिगीषोस्तु साह्यार्थाः सुहृत्सम्बन्धिवान्धवाः ।

प्रदत्तभृतिका ह्यन्ये भूपा अंशप्रकल्पिताः ।

सैवाश्रयस्तु कथितो दुर्गाणि च महात्मभिः ॥२९०॥

यस्मिन् तं प्रक्षीणानि यवसानि दृणानि इन्धनानि काष्ठानि च  
यस्मिन् तथोक्तं तथा विगृह्यमाणाः संग्रामव्यासक्ताः प्रहृतयो  
यस्य तादृशं देशं कालेन वशं नयेत् ॥ २८६ ॥ २८७ ॥

अरेरिति । विग्रहे युद्धे हीयमानयोः अरेः शत्रोः विजि-  
गीषोश्च सन्धाय परस्परं सन्धिं कृत्वा यत् अवस्थानं तत् सन्धा-  
यासनम् उच्यते ॥ २८८ ॥

उच्छिद्यमान इति । बलिना बलवता अरिणा उच्छिद्य-  
मानः अत एव निरुपायप्रतिक्रियः गत्यन्तरहीनः सन् कुलो-  
द्भवं कुलीनम् आर्य्यं साधुं बलोत्कटम् अतिप्रबलं नृपम् आश्र-  
येत ॥ २८९ ॥

विजिगीषोरिति । विजिगीषोः नृपस्य साह्यार्थाः सहायाः  
ये सुहृदः सम्बन्धिनः बान्धवाश्च प्रदत्तभृतिकाः दत्तवेतनाः ।  
अन्ये भूपाः साहाय्यकारिण इत्यर्थः अंशप्रकल्पिताः विजयलब्ध-  
धनम् अंशेन गृह्णीयुरित्यर्थः आपत्काले महात्मभिः उन्नताश्रयैः  
स सहायादिः एव आश्रयः कथितः तथा दुर्गाणि च आश्रय-  
स्थानानि आपत्तु इत्यर्थः ॥ २९० ॥

अनिश्चितोपायकार्यः समयानुचरो नृपः ।  
 द्वैधीभावेन वर्तेत काकाक्षिवदलक्षितम् ।  
 प्रदर्शयेदन्यकार्यमन्यमालम्बयेच्च वा ॥ २८१ ॥  
 सदुपायैश्च सन्मन्त्रैः कार्यसिद्धिरयोद्यमैः ।  
 भवेदल्पजनस्यापि किं पुनर्नृपतेर्न हि ? ॥ २८२ ॥  
 उद्योगेनैव सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः ।  
 न हि सुप्तमृगेन्द्रस्य निपतन्ति गजा मुखे ॥ २८३ ॥  
 अयोऽभेदमुपायेन द्रवतामुपनीयते ।  
 लोकप्रसिद्धमेवैतद्वारि वक्त्रे नियामकम् ॥ २८४ ॥

अनिश्चितेति । अनिश्चितम् उपायस्य कार्यं यस्य सः अत  
 एव समयानुचरः समयं प्रतीक्षमाण नृपः काकाक्षिवत् काकस्य  
 नेत्रमिव अलक्षितम् अन्यैरतर्कितं यथा तथा द्वैधीभावेन  
 वर्तेत, काकस्य एकमेव नेत्रम् उभयनेत्रकार्यकारकं किन्तु  
 केनापि न लक्ष्यते तद्वदिति भावः । तथा च कदाचित् अन्य-  
 कार्यं प्रदर्शयेत् कदाचिद् वा अन्यम् आलम्बयेच्च ॥ २८१ ॥

सदुपायैरिति । अल्पजनस्य इतरस्यापि सदुपायैः सन्मन्त्रैः  
 उत्कृष्टमन्त्रबलैः अथवा उद्यमैः चेष्टाभिः कार्यसिद्धिः भवेत् ।  
 नृपतेः पुनः किं न हि कार्यसिद्धिर्भवेत् ? अपितु भवेदेवेत्यर्थः  
 ॥ २८२ ॥

उद्योगेनेति । उद्योगेन चेष्टया एव कार्याणि सिध्यन्ति,  
 मनोरथैः न, हि तथाहि गजाः सुप्तस्य सिंहस्य मुखे न हि  
 निपतन्ति ॥ २८३ ॥

अय इति । अभेदम् अयः लौहम् उपायेन द्रवताम् उप-

उपायोपगृहीतेन तेनैतत् परिशोष्यते ।

उपायेन पदं मूर्ध्नि न्यस्यते मत्तहस्तिनाम् ॥ २८५ ॥

उपायेषूत्तमो भेदः षड्गुणेषु समाश्रयः ।

कार्यौ द्वौ सर्वदा तौ तु नृपेण विजिगीषुणा २८६

ताभ्यां विना नैव कुर्यात् युद्धं राजा कदाचन ॥ २८७

परस्परं प्रातिकूल्यं रिपुसेनपमन्त्रिणाम् ।

भवेद्यथा तथा कुर्यात् तत्प्रजायाश्च तत् स्त्रियाः २८८

उपायान् षड्गुणान् वीक्ष्य शत्रोः स्वस्यापि सर्वदा ।

युद्धं प्राणालये कुर्यात् सर्वस्वहरणे सति ॥ २८९ ॥

नीयते प्राप्यते, एतच्च लोकप्रसिद्धं यत् वारि जलं वङ्गेः न्या-  
मकं निवारकम् ॥ २९४ ॥

उपायोपगृहीतेनेति । उपायोपगृहीतेन तेन वङ्गिना च  
एतत् वारि परिशोष्यते परिशोषं नीयते । उपायेन मत्तानां  
दन्तिनां मूर्ध्नि पदं न्यस्यते ॥ २८५ ॥

उपायेष्विति । उपायेषु सामादिषु मध्ये भेदः तथा षड्-  
गुणेषु मध्ये समाश्रयः उत्तमः श्रेष्ठः । विजिगीषुणा नृपेण तौ  
द्वौ भेदसमाश्रयौ तु सर्वदा कार्यौ ॥ २८६ ॥

ताभ्यामिति । राजा ताभ्यां भेदसमाश्रयाभ्यां विना युद्धं  
कदाचन नैव कुर्यात् ॥ २८७ ॥

परस्परमिति । रिपूणां ये सेनपाः सेनापतयः मन्त्रिणश्च  
तेषां तथा तेषां प्रजायाश्च तथा तेषां स्त्रियाश्च यथा परस्परं  
प्रातिकूल्यं मनोभङ्गः भवेत् तथा कुर्यात् ॥ २८८ ॥

उपायानिति । शत्रोः स्वस्य आत्मनः अपि उपायान् सामा-

स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च गोविनाशेऽपि ब्राह्मणैः ।

प्राप्ते युद्धे क्वचिन्नैव भवेदपि पराङ्मुखः ॥३००॥

युद्धमुत्सृज्य यो याति स देवैर्हन्यते भृशम् ॥३०१॥

समोत्तमाधमै राजा त्वाङ्गतः पालयन् प्रजाः ।

न निवर्त्तेत सङ्ग्रामात् क्षत्रधर्ममनुस्मरन् ॥३०२॥

राजानञ्चावियोद्धारं ब्राह्मणञ्चाप्रवासिनम् ।

भूमिरेतौ निर्गिलति सर्पो विलशयानिव ॥३०३॥

ब्राह्मणस्यापि चापत्तौ क्षत्रधर्मेण वर्त्ततः ।

दौन तथा षट् गुणान् सन्ध्यादीन् सर्वदा वीक्ष्य प्राणात्यये तथा  
सर्वस्वहरणे आपतिते सति युद्धं कुर्यात् ॥ २९८ ॥

स्त्रीति । स्त्रीणां विप्राणाञ्च अभ्युपपत्तौ अनुग्रहार्थं तथा  
ब्राह्मणैः सह गोविनाशे गोब्राह्मणविनाशे इत्यर्थः उपस्थिते  
इत्यर्थः प्राप्ते युद्धे आपतिते संग्रामे क्वचित् कदाचित् पराङ्-  
मुखः नैव भवेत् ॥ ३०० ॥

युद्धमिति । यः युद्धम् उत्सृज्य याति पलायते, सः देवैः  
भृशम् अत्यर्थं हन्यते ॥ ३०१ ॥

समेति । प्रजाः पालयन् राजा समैः समानैः उत्तमैः उत्-  
कृष्टैः वा अधमैः शत्रुभिः आङ्गतः सन् क्षत्रधर्मम् अनुस्मरन्  
संग्रामात् न निवर्त्तेत ॥ ३०२ ॥

राजानमिति । सर्पः विलशयान् गर्त्तेशयान् इव भूमिः  
अवियोद्धारं युद्धविमुखं राजानम् अप्रवासिनं ब्राह्मणञ्च एतौ  
निर्गिलति नाशयतीत्यर्थः ॥ ३०३ ॥

ब्राह्मणस्येति । आपत्तौ आपदि स्वहृत्त्यनुपपत्तौ इत्यर्थः

प्रशस्तं जीवितं लोके क्षत्रं हि ब्रह्मसम्भवम् ॥३०४॥

अधर्मः क्षत्रियस्यैष यच्छय्यामरणं भवेत् ।

विसृजन् श्लेष्मपित्तानि कृपणं परिदेवयन् ॥३०५॥

अविक्षतेन देहेन प्रलयं योऽधिगच्छति ।

क्षत्रियो नास्य तत् कर्म प्रशंसन्ति पुराविदः ॥३०६॥

न गृहे मरणं शस्तं क्षत्रियाणां विना रणात् ।

शौण्डीराणामशौण्डीरमधर्मं कृपणं हि तत् ॥३०७॥

रणेष्वकदनं कृत्वा ज्ञातिभिः परिवारितः ।

शस्त्रास्त्रैः सुविनिर्भिन्नः क्षत्रियो बधमर्हति ॥३०८॥

क्षत्रधर्मेण क्षत्रियवृत्तिमाश्रित्य इत्यर्थः वर्ततः जीवितः ब्राह्मण-  
स्यापि जीवितं लोके प्रशस्तं हि यतः क्षत्रं ब्रह्मसम्भवं ब्रह्मोत्-  
त्पन्नम् अतः ब्राह्मणस्य तत् कर्मकरणं न विरुद्धमिति भावः ॥३०४

अधर्म इति । अविक्षतेनेति । शय्यायां मरणं भवेत्  
इति यत् एषः क्षत्रियस्य अधर्मः । यः क्षत्रियः श्लेष्मपित्तानि  
श्लेष्माणि पित्तानि च विसृजन् त्यजन् तथा कृपणं परिदेवयन्  
विलपन् सन् अविक्षतेन देहेन प्रलयं नाशं गच्छति, पुराविदः  
इतिहासज्ञाः पण्डिताः अस्य क्षत्रियस्य तत् कर्म शय्यामरण-  
रूपं न प्रशंसन्ति ॥ ३०५ ॥ ३०६ ॥

नेति । रणात् विना गृहे मरणं न शस्तं न प्रशस्तम् । हि  
यतः शौण्डीराणां गर्वशालिनां क्षत्रियाणां तत् कृपणं दीनम्  
आचरणम् अशौण्डीरं गर्वक्षयकरम् अधर्मं पापकरञ्च ॥३०७॥

रणेष्विति । क्षत्रियः ज्ञातिभिः स्वगणैः परिवारितः सन्  
रणेषु संग्रामेषु अकदनं शत्रोरदलनं कृत्वा शस्त्रास्त्रैः सुवि-

आह्वेषु मिथोऽन्योऽन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः ।

युद्धमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ॥३०६॥

भर्तुरर्थे च यः शूरो विक्रमेद्वाहिनीमुखे ।

भयान्न विनिवर्तेत तस्य स्वर्गो ह्यनन्तकः ॥३१०॥

आह्वे निहतं शूरं न शोचेत कदाचन ।

निर्मुक्तः सर्वपापेभ्यः पूतो याति सुलोकताम् ॥३११॥

वराप्सरःसहस्राणि शूरमायोधने हतम् ।

त्वरमाणाः प्रधावन्ति मम भर्ता भवेदिति ॥३१२॥

मुनिभिर्दीर्घतपसा प्राप्यते यत् पदं महत् ।

निर्मिन्नः सुविद्धतः सन् बधम् अर्हति ॥ ३०८ ॥

आह्वेष्विति । आह्वेषु युद्धेषु मिथः एकान्ते अन्योऽन्यं परस्परम् जिघांसन्तः हन्तुमिच्छन्तः परम् अत्यर्थं शक्त्या युध्यमानाः अपराङ्मुखाः अनिवृत्ताः स्वर्गं यान्ति ॥ ३०६ ॥

भर्तुरिति । यः शूरः वीरः भर्तुः स्वामिनः अर्थे निमित्तं वाहिनीमुखे सेनानामग्रे विक्रमेत् भयात् न निवर्तेत च, तस्य अनन्तकः अक्षयः स्वर्गः हिशब्दश्चावधारणार्थकः ॥ ३१० ॥

आह्वे इति । आह्वे युद्धे निहतं शूरं कदाचन न शोचेत, यतः सः सर्वपापेभ्यः निर्मुक्तः रणकर्मणेति भावः अत एव पूतः सन् सुलोकतां पुण्यवतां लोकमित्यर्थः याति प्राप्नोति ॥३११॥

वरेति । वराणां श्रेष्ठानाम् अप्सरसां सहस्राणि त्वरमाणाः सत्वराः सत्यः आयोधने युद्धे हतं शूरम् अयं मम भर्ता भवेदिति प्रधावन्ति ॥ ३१२ ॥

मुनिभिरिति । मुनिभिः दीर्घेण महता तपसा यत् महत्

युद्धाभिमुखनिहतैः शूरैस्तद् द्रागवाप्यते ॥३१३॥

एतत्तपश्च पुण्यञ्च धर्मश्चैव सनातनः ।

चत्वार आश्रमास्तस्य यो युद्धे न पलायते ॥३१४॥

न हि शौर्यात् परं किञ्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते ।

शूरः सर्वं पालयति शूरे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥३१५॥

चराणामचरा अन्नमदंष्ट्रा दंष्ट्रिणामपि ।

अपाणयः पाणिमतामन्नं शूरस्य कातराः ॥३१६॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ ।

परिव्राड् योगयुक्तो यो रणे चाभिमुखं हतः ॥३१७॥

पदं प्राप्यते, तत् युद्धाभिमुखनिहतैः युद्धे अभिमुखं यथा तथा निहतैः शूरैः द्वाक् भटिति अवाप्यते प्राप्यते ॥ ३१३ ॥

एतदिति । यः युद्धे न पलायते, तत्तत् एतत् युद्धादपलायनमित्यर्थः तपः तपश्चरणं पुण्यं सनातनः नित्यः धर्मः तथा चत्वारः आश्रमाः चातुराश्रम्यजनितधर्मानुष्ठानमित्यर्थः ॥३१४॥

नेति । त्रिषु लोकेषु शौर्यात् परं किञ्चित् न हि विद्यते, यतः शूरः सर्वं जनं पालयति, शूरे च सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥३१५॥

चराणामिति । चराणां गोमनुष्यादीनाम् अचराः व्रीहियवादयः अन्नं, दंष्ट्रिणां व्याघ्रादीनाम् अदंष्ट्राः गवादयः अन्नं, पाणिमतां हस्तवताम् अपाणयः पाणिरहिताः अन्नं, तथा शूरस्य वीरस्य कातराः दुर्बलाः अन्नम् ॥ ३१६ ॥

द्वाविति । यः योगयुक्तः योगी परिव्राट् चतुर्थाश्रमी यश्च रणे अभिमुखं हतः, इमौ द्वौ पुरुषौ लोके जगति सूर्यमण्डलभेदिनौ भवतः सूर्यलोकादपि उत्प्लुटं लोकं प्राप्तुं इत्यर्थः ॥३१७॥

आत्मानं गोपयेच्छक्तो वधेनाप्याततायिनः ।

सुविद्यब्राह्मणगुरोर्युद्धे श्रुतिनिदर्शनात् ॥३१८॥

आचार्या वै कारुणिकाः प्राज्ञाश्चापापदर्शिनः ।

नैते महाभये प्राप्ते सम्प्रष्टव्याः कथञ्चन ॥३१९॥

प्रासादेषु विचित्रेषु गोष्ठीषूपवनेषु च ।

कथा विचित्राः कुर्वाणाः पण्डितास्तत्र शोभनाः ३२०

बहून्याश्चर्यरूपाणि कुर्वाणा जनसंसदि ।

आत्मानमिति । श्रुतिनिदर्शनात् वेदवचनात् शक्तः शक्ति-  
मान् जनः युद्धे आततायिनः वधोद्यतस्य आततायी वधोद्यत  
इत्यमरः । सुविद्यस्य ब्राह्मणस्य गुरोरपि वधेन आत्मानं गोप-  
येत् रक्षेत् उक्तञ्च मनुना गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहु-  
श्रुतम् आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् । इति । आत-  
तायिनश्च उक्ताः यथा, अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।  
क्षेत्रदारापहारी च पठेते आततायिन इति ॥ ३१८ ॥

आचार्या इति । महाभये प्राप्ते उपस्थिते सति कारुणिकाः  
दयावन्तः अपापदर्शिनः निष्पापाः प्राज्ञाः आचार्याः गुरवश्च  
एते कथञ्चन न सम्प्रष्टव्याः तेषु पृष्ठेषु प्रतीकारस्य असम्भवा-  
दिति भावः ॥ ३१९ ॥

प्रासादेष्विति । विचित्रेषु प्रासादेषु राजभवनेषु गोष्ठीषु  
सभासु तथा उपवनेषु विनोदनस्थानेषु इति भावः । विचित्राः  
कथाः कुर्वाणाः पण्डिताः तत्र तेषु तेषु प्रदेशेषु इत्यर्थः शोभनाः  
शोभां प्राप्नुवन्ति इत्यर्थः ॥ ३२० ॥

बहूनीति । जनसंसदि जनानां सभासु बहूनि आश्चर्य-

ईडास्ते चोपसन्धाने पण्डितास्तत्र शोभनाः ॥३२१॥  
 परेषां विवरज्ञाने मनुष्यचरितेषु च ।  
 हस्त्यश्वरथचर्यासु खरोष्ट्राजाविकर्मणि ॥३२२॥  
 गोधनेषु प्रतोलीषु स्वयंवरमुखेषु च ।  
 अन्नसंस्कारदोषेषु पण्डितास्तत्र शोभनाः ॥३२३॥  
 पण्डितान् पृष्ठतः कृत्वा परेषां गुणवादिनः ।  
 अरेश्चित्तगुणान् ज्ञात्वा न सैन्ये भङ्गशङ्कया ।  
 विधीयतां तथा नीतिर्यथा बध्यो भवेत् परः ॥३२४॥

रूपाणि कर्माणीत्यर्थः कुर्वाणाः उपसन्धाने तत्त्वनिर्णये ते च  
 पण्डिताः ईडाः पूज्याश्च तत्र विषये शोभनाः ॥ ३२१ ॥

परेषामिति । गोधनेष्विति । परेषां शत्रूणां विवरज्ञाने  
 छिद्रावबोधे, मनुष्याणां चरितेषु, हस्तिनाम् अश्वानां रथानाञ्च  
 चर्यासु प्रक्रियासु, खराणां गर्दभानाम् उष्ट्राणाम् अजानाम्  
 अवीनां मेषाणाञ्च कर्मणि, गोधनेषु प्रतोलीषु रथ्यासु, स्वयं-  
 वरमुखेषु स्वयंवरप्रभृतिषु तथा अन्नसंस्कारदोषेषु रन्धनविष-  
 यकदोषेषु ये पण्डिताः निपुणाः ते तत्र तेषु तेषु विषयेषु  
 शोभनाः शोभां प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥ ३२२ ॥ ३२३ ॥

पण्डितानामिति । परेषां शत्रूणां गुणवादिनः गुणपक्ष-  
 पातिनः पण्डितान् पृष्ठतः कृत्वा अविगण्य इत्यर्थः अरेः शत्रोः  
 चित्तगुणान् मनोभावान् ज्ञात्वा भङ्गशङ्कया रणात् भग्नो मा  
 भूदिति शङ्कया अभिप्रायेण तथा नीतिः विधीयतां यथा परः  
 शत्रुः बध्यः भवेत् ॥ ३२४ ॥

आततायित्वमापन्नो ब्राह्मणः शूद्रवत् स्मृतः ।

नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ॥३२५॥

उद्यम्य शस्त्रमायान्तं भ्रूणमप्याततायिनम् ।

निहत्य भ्रूणं न स्यादहत्वा भ्रूणं न भवेत् ॥३२६॥

उद्यतेषुमथो दृष्ट्वा ब्राह्मणं क्षत्रवन्धुवत् ।

यो हन्यात् समरे क्रुद्धं युध्यन्तमपलायितम् ।

ब्रह्महत्या न तस्य स्यादिति धर्मेषु निश्चयः ॥३२७॥

अपसरति यो युद्धाज्जीवितार्थी नराधमः ।

जीवन्नेव मृतः सोऽपि भुङ्क्ते राष्ट्रकृतं त्वघम् ३२८

मितं वा स्वामिनं त्यक्त्वा निर्गच्छति रणाच्च यः ।

आततायित्वमिति । आततायित्वम् आततायिभावमापन्नः  
प्राप्तः वधोद्यत इत्यर्थः ब्राह्मणः शूद्रवत् स्मृतः । आततायिनः  
वधे हन्तुः घातकस्य कश्चन दोषः न भवति ॥ ३२५ ॥

उद्यम्येति । शस्त्रम् उद्यम्य आयान्तम् आततायिनं भ्रूणं  
वालकमपि निहत्य भ्रूणं न स्यात् अहत्वा तु भ्रूणं  
भवेत् ॥ ३२६ ॥

उद्यतेषुमिति । यः समरे उद्यतेषुम् उद्यतास्त्रं क्रुद्धं क्षत्र-  
वन्धुवत् क्षत्रियमिव युध्यन्तम् अपलायितं ब्राह्मणं दृष्ट्वा हन्यात्  
तस्य ब्रह्महत्या न स्यात् धर्मेषु धर्मशास्त्रेषु इति निश्चयः ॥३२७॥

अपसरति इति । यः नराधमः जीवितार्थी सन् युद्धात्  
अपसरति सः जीवन्नेव मृतः सन् राष्ट्रे राज्ये कृतम् अघं पापं  
भुङ्क्ते ॥ ३२८ ॥

सोऽन्ते नरकमाप्नोति सजीवो निन्द्यतेऽखिलैः ॥ ३२८ ॥  
 मित्रमापन्नं दृष्ट्वा सहायं न करोति यः ।  
 अकीर्त्तिं लभते सोऽत्र मृतो नरकमृच्छति ॥ ३२९ ॥  
 विश्रम्भाच्छरणं प्राप्तं यः सन्त्यजति दुर्मतिः ।  
 स याति नरके घोरे यावदिन्द्राश्चतुर्दशः ॥ ३३० ॥  
 सुदुर्वृत्तं यदा क्षत्रं नाशयेयुस्तु ब्राह्मणाः ।  
 युद्धं कृत्वापि शस्त्रास्त्रैर्न तदा पापभागिनः ॥ ३३१ ॥  
 हीनं यदा क्षत्रकुलं नीचैर्लोकः प्रपीड्यते ।  
 तदापि ब्राह्मणा युद्धे नाशयेयुस्तु तान् द्रुतम् ॥ ३३२ ॥

मित्रमिति । यः मित्रं वा स्वामिनं त्यक्त्वा रणात् निर्गच्छति  
 पलायते, सः अन्ते देहावसाने नरकम् आप्नोति, सजीवः  
 जीवन् सन् अखिलैः समस्तैः लोकैः निन्द्यते च ॥ ३२८ ॥

मित्रमिति । यः मित्रम् आपन्नं विपन्नं दृष्ट्वा सहायं  
 साहाय्यं न करोति, स अत्र इहलोके अकीर्त्तिं लभते, मृतश्च  
 नरकम् आप्नोति ॥ ३२९ ॥

विश्रम्भादिति । यः दुर्मतिः विश्रम्भात् विश्वासात् शरणं  
 प्राप्तं जनं सन्त्यजति सः यावत् चतुर्दश इन्द्राः तिष्ठन्तीति शेषः  
 तावत्कालमित्यर्थः घोरे नरके याति गच्छति ॥ ३३० ॥

सुदुर्वृत्तमिति । यदा तु ब्राह्मणाः शस्त्रास्त्रैः युद्धं कृत्वा  
 सुदुर्वृत्तम् अतिदुराशयं क्षत्रं क्षत्रियं नाशयेयुः तदा ते पाप-  
 भागिनः न भवन्तीत्यर्थः ॥ ३३१ ॥

हीनमिति । यदा तु हीनं क्षत्रकुलं नीचैः अधमैः लोकैः

उत्तमं मान्विकास्त्रेण नालिकास्त्रेण मध्यमम् ।  
 शस्त्रैः कनिष्ठं युद्धन्तु बाहुयुद्धं ततोऽधमम् ॥ ३३४ ॥  
 मन्त्रेरितमहाशक्तिवाणाद्यैः शत्रुनाशनम् ।  
 मान्विकास्त्रेण तद्युद्धं सर्वयुद्धोत्तमं स्मृतम् ॥ ३३५ ॥  
 नालाग्निचूर्णसंयोगाल्लक्ष्ये गोलनिपातनम् ।  
 नालिकास्त्रेण तद्युद्धं महावासकरं रिपोः ॥ ३३६ ॥  
 कुन्तादिशस्त्रसङ्घातै रिपूणां नाशनञ्च यत् ।  
 शस्त्रयुद्धन्तु तज्ज्ञेयं नालास्त्राभावतः सदा ॥ ३३७ ॥

प्रपीड्यते अभिभूयते, तदापि ब्राह्मणाः युद्धे तान् नीचान्  
 लोकान् द्रुतं शीघ्रं नाशयेयुः ॥ ३३३ ॥

उत्तममिति । मान्विकास्त्रेण मन्त्रसिद्धेन अस्त्रेण युद्धम्  
 उत्तमं नालिकास्त्रेण मध्यमं शस्त्रैः कनिष्ठम् अधमं बाहुयुद्धन्तु  
 ततः अधमादपि अधमम् ॥ ३३४ ॥

मन्त्रयुद्धमाह मन्त्रेति । मन्त्रेण ईरितैः महाशक्तिवाणाद्यैः  
 यत् शत्रूणां नाशनं तत् मान्विकास्त्रेण युद्धं तच्च सर्वेषु युद्धेषु  
 उत्तमं श्रेष्ठं स्मृतम् ॥ ३३५ ॥

नालयुद्धमाह नालेति । नालेन अग्निचूर्णसंयोगात् लक्ष्ये  
 लक्षणीये शत्रौ यत् गोलनिपातनं गोलाकारज्वलन्तीहपिण्ड-  
 निक्षेपणं तत् नालिकास्त्रेण युद्धं तच्च रिपोः शत्रोः महावास-  
 करम् अतिभयङ्करमित्यर्थः ॥ ३३६ ॥

शस्त्रयुद्धमाह कुन्तेति । कुन्तादीनां शस्त्राणां सङ्घातैः  
 समूहैः यत् रिपूणां शत्रूणां नाशनं तत् शस्त्रयुद्धं सदा नान्ता-

कर्षणैः सन्धिमर्माणां प्रतिलोमानुलोमतः ।  
 बन्धनैर्घातनं शत्रोर्युक्त्या तद् बाहुयुद्धकम् ॥३३८॥  
 वामपाणिकचोत्पीडा भूमौ निष्पेषणं बलात् ।  
 मूर्ध्नि पादप्रहरणं जानुनोदरपीडनम् ॥३३९॥  
 मालूराकारया मुष्ट्या कपोले दृढताडनम् ।  
 कफोणिपातोऽप्यसक्तत् सर्वतस्तलताडनम् ।  
 छलेन युद्धे भ्रमणं नियुद्धं स्मृतमष्टधा ॥३४०॥

स्त्राणाम् अभावतः ज्ञेयं नालास्त्रासदभावे तैरेव योद्धव्यमिति-  
 भावः ॥ ३३७ ॥

बाहुयुद्धमाह कर्षणैरिति । युक्त्या कौशलेन शत्रोः सान्ध-  
 मर्माणां सन्धीनां शरीरग्रन्थीनां मर्माणाञ्च कर्षणैः प्रपीडनैः  
 प्रतिलोमानुलोमतः प्रतिलोमेन अस्त्राभाविकरीत्या अनुलोमतः  
 स्वभावगत्या च तथा बन्धनैः बाहुभिरिति शेषः यत् घातनं  
 नाशनं तत् बाहुयुद्धकम् ॥ ३३८ ॥

नियुद्धं निरूपयति वामेत्यादि । नियुद्धम् अष्टधा अष्टप्रकारं  
 स्मृतम् । यथा वामपाणिना वामहस्तेन कचानां केशानाम्  
 उत्पीडा उत्पीडनं धारणमित्यर्थः १ बलात् भूमौ निष्पेषणं  
 दलनं २ मूर्ध्नि शिरसि पादप्रहरणं पदाघातः ३ जानुना उदर-  
 पीडनं ४ मालूरः श्रीफलं तस्यैव आकारः यस्याः तादृश्या मुष्ट्या  
 कपोले गण्डे दृढताडनं कठिनप्रहारः ५ असक्तत् पुनः पुनः  
 कफोण्याः कूर्परयोः पातः भूतले बलात् पातनं ६ सर्वतः सर्वैः  
 प्रकारैः तलेन चपेटेन ताडनं प्रहारः ७ तथा छलेन कापट्येन  
 शत्रूणां रन्ध्रार्थितयेति शेषः युद्धे भ्रमणम् ८ ॥ ३३९ ॥ ३४० ॥

चतुर्भिः क्षत्रियं हन्यात् पञ्चभिः क्षत्रियाधमम् ।

षड्भिवैश्यं सप्तभिस्तु शूद्रं सङ्करमष्टभिः ।

शत्रुष्वेतानि युञ्जीत न मित्रेषु कदाचन ॥३४१॥

नालास्त्राणि पुरस्कृत्य लघूनि च महान्ति च ।

तत्पृष्ठगांश्च पादातान् गजाश्वान् पार्श्वयोः स्थितान्

कृत्वा युद्धं प्रारभेत भिन्नामात्यबलारिणा ॥३४२॥

साम्मुख्येन प्रपातेन पार्श्वीभ्यामपयानतः ।

युद्धानुकूलभूमेस्तु यावज्ज्ञाभस्तथाविधम् ।

सैन्यार्द्धांशेन प्रथमं सेनपैर्युद्धमौरितम् ॥३४३॥

चतुर्भिरिति । चतुर्भिः नियुद्धप्रकारैरिति सर्वत्र शेषः

क्षत्रियं पञ्चभिः क्षत्रियाधमम् अधमक्षत्रियं, षड्भिः वैश्यं  
सप्तभिः शूद्रम् अष्टाभिस्तु सङ्करं सङ्कीर्णजातिम् अश्वष्टादिकं  
हन्यात् । एतानि अष्टविधानि नियुद्धानि शत्रुषु युञ्जीत प्रयु-  
ज्यात् मित्रेषु कदाचन न ॥ ३४१ ॥

नालास्त्राणीति । लघूनि च महान्ति च नालास्त्राणि  
पूर्वोक्तानि पुरस्कृत्य अग्रे कृत्य पादातान् पदातिवर्गान् तत्-  
पृष्ठगान् तेषां नालास्त्राणां पृष्ठगामिनः तथा गजाश्वान् गज-  
बलानि अश्वबलानि च पार्श्वयोः स्थितान् कृत्वा भिन्नानि, भेदं  
एतानि अमात्या बलानि च यस्य तादृशेन अरिणा शत्रुणा  
तद् युद्धं प्रारभेत ॥ ३४२ ॥

साम्मुख्येनेति । युद्धानुकूलभूमेः संग्रामोपयोगिस्थानस्य यावज्ज्ञाभः  
तादृशः लाभः, तथाविधं तादृशं तथा यथा साम्मुख्येन पार्श्वीभ्यां  
प्रपातेन अपयानतः अपसरणेन च सेनपैः सेनापतिभिः

अमात्यगोपितैः पश्चादमात्यैः सह तद्भवेत् ।

नृपसङ्गोपितैः पश्चात् स्वतः प्राणाल्यये च तत् ॥ ३४४

दीर्घाध्वनि परिश्रान्तं क्षुत्पिपासाहृतश्रमम् ।

व्याधिदुर्भिक्षकरकैः पीडितं दस्युविद्रुतम् ॥ ३४५ ॥

पङ्कपांशुजलस्कन्धं व्यस्तं श्वासातुरं तथा ।

प्रसुप्तं भोजने व्यग्रमभूयिष्ठमसंस्थितम् ॥ ३४६ ॥

घोराग्निभयवित्तस्तं वृष्टिवातसमाहतम् ।

एवमादिषु जातेषु व्यसनैश्च समाकुलम् ।

स्वसैन्यं साधु रक्षेत्तु परसैन्यं विनाशयेत् ॥ ३४७ ॥

सैन्यानाम् अर्द्धांशेन सह प्रथमं युद्धम् ईरितं कथितम् ॥ ३४३ ॥

अमात्यगोपितैरिति । पश्चात् अमात्यैः गोपितैः रक्षितैः सैन्यैः अमात्यैः शत्रूणांमिति शेषः सह तत् युद्धं भवेत् । पश्चात् अमात्यनाशे इत्यर्थः नृपसङ्गोपितैः राजरक्षितैः तैः सैन्यैः युद्धं भवेत् ततश्च प्राणाल्यये प्राणनाशसङ्कटे स्वतः स्वयम् अन्येन अगुप्तैरपीत्यर्थः तत् युद्धं भवेत् ॥ ३४४ ॥

दीर्घाध्वनीत्यादि । दीर्घाध्वनि दीर्घं मार्गं परिश्रान्तं क्लान्तं क्षुधां पिपासया च आहितः जनितः श्रमः क्लान्तिर्यस्य तादृशं व्याधिभिः पीडाभिः दुर्भिक्षैः अकालैः करकैः शिला-वृष्टिभिश्च पीडितं दस्युभिः विद्रुतम् आक्रान्तं पङ्कैः कर्दमैः पांशुभिः रजोभिः जलैश्च स्कन्धं क्लिन्नं व्यस्तम् उद्धिग्नं श्वासातुरं श्वासेन परिश्रमजनितेन दीर्घनिश्वासेन आतुरं कातरं प्रसुप्तं निद्रितं भोजने व्यग्रं क्षुधितमित्यर्थः अभूयिष्ठं स्वल्प-संख्यकम् असंस्थितं दुर्गतं चञ्चलं वा घोरेण भौषणेन

वलस्य व्यसनानीह यान्युक्तानि मनीषिभिः ।

मुख्यो भेदो हि तेषान्तु पापिष्ठो विदुषां मतः ॥ ३४८

भिन्ना हि सेना नृपतेर्दुःसन्देहा भवत्युत ।

मौला हि पुरुषव्याघ्र ! किमु नानासमुत्थिता ३४९

उपायान् षड्गुणं मन्त्रं शत्रोः स्वस्यापि चिन्तयेत् ।

धर्मयुद्धैः कूटयुद्धैर्हन्यादेव रिपुं सदा ॥ ३५० ॥

यानि सपादभृत्या तु स्वभृत्यान् वर्द्धयन् नृपः ।

स्वदेहं गोपयेत् युद्धे चर्मणा कवचेन च ॥ ३५१ ॥

विचक्षन् भीतं दृष्टिभिर्वातैश्च समाहतम् आकुलितम् एवमादियु  
जातेषु घटनासु व्यसनैः विपद्भिः समाकुलं स्वसैन्यं साधु सम्यक्  
रक्षेत् परसैन्यन्तु विनाशयेत् ॥ ३४५ ॥ ३४६ ॥ ३४७ ॥

वलस्येति । मनीषिभिः विद्वद्भिः इह शास्त्रे यानि वलस्य  
व्यसनानि दोषाः उक्तानि, तेषां मध्ये तेषां भेदः परस्परं  
विच्छेदः मुख्यः श्रेष्ठः, पापिष्ठः अतिपापः विदुषां पण्डितानां  
मतश्च ॥ ३४८ ॥

भिन्नेति । हे पुरुषव्याघ्र ! नृपतेः नानासमुत्थिता विविध-  
प्रकारेण समागता सेना भिन्ना भेदं गता सती इह दुःखदा  
भवति, मौला सेना किमुत ? दुःखदेति किं वक्तव्यमित्यर्थः ॥ ३४९

उपायानिति । शत्रोः स्वस्य आत्मनः अपि उपायान् सामा-  
दीन् षड्गुणान् सन्ध्यादीन् मन्त्रञ्च चिन्तयेत् तथा धर्मयुद्धैः  
कूटयुद्धैर्वा सदा रिपुं हन्यादेव ॥ ३५० ॥

यानि इति । नृपः यानि युद्धयात्रायां स्वभृत्यान् सपादभृत्या  
चतुर्थांशाधिकया भृत्या वेतनेन वर्द्धयन् रञ्जयन् युद्धे चर्मणा

पाययित्वा मदं सम्यक् सैनिकान् शौर्यवर्द्धनम् ।  
 उत्तेजितांश्च निर्द्विधान् वीरान् युद्धे नियोजयेत् ॥३५२॥  
 नालिकास्त्रेण खड्गाद्यैः सैनिकैः पातयेदरीन् ।  
 कुन्तेन सादौ बाणेन रथगो गजगोऽपि च ॥३५३॥  
 गजो गजेन यातव्यस्तुरगेण तुरङ्गमः ।  
 रथेन च रथो योज्यः पत्तिना पत्तिरेव च ।  
 एकेनैकश्च शस्त्रेण शस्त्रमस्त्रेण वास्त्रकम् ॥३५४॥  
 न च हन्यात् स्थलारूढं न क्लीवं न कृताञ्जलिम् ।

ढाल् इति भाषा प्रसिद्धेन कवचेन शरीरत्राणेन परिच्छेद-  
 विशेषेण स्वदेहं गोपयेत् रक्षेत् ॥ ३५१ ॥

पाययित्वेति । सैनिकान् शौर्यवर्द्धनं वीर्यवृद्धिकरं मदं सुरां  
 सम्यक् पाययित्वा उत्तेजितान् कृत्वेति शेषः तथा निर्द्विधान्  
 निःसंशयान् वीरान् युद्धे नियोजयेत् ॥ ३५२ ॥

नालिकास्त्रेणेति । सैनिकः पदातिः नालिकास्त्रेण खड्गा-  
 द्यैश्च, सादौ अश्वारूढः कुन्तेन रथगः तथा गजगः गजारूढश्च  
 बाणेन अरीन् पातयेत् ॥ ३५३ ॥

गज इति । गजेन गजारूढेन गजः गजारूढः रिपुः, तथा  
 तुरगेण अश्वारूढेन तुरङ्गमः अश्वारूढः रिपुः यातव्यः योद्धव्यः ।  
 रथेन रथिना इत्यर्थः रथः रथी पत्तिना पदातिना पत्तिः  
 पदातिः रिपुः योज्यः योजनीयः । तथा एकेन वीरेण एकः  
 योज्यः शस्त्रेण शस्त्रम् अस्त्रेण च अस्त्रकं निवारणीयमिति  
 शेषः ॥ ३५४ ॥

नेत्यादि । सतां साधूनां धर्मं युद्धधर्ममनुस्मरन् जनः स्थला-

न मुक्तकेशमासीनं न तवास्मीति वादिनम् ॥३५५॥

न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम् ।

नायुद्धमानं पश्यन्तं युद्धमानं परेण च ॥३५६॥

पिबन्तं न च भुञ्जानमन्यकार्याकुलं न च ।

न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन् ॥३५७॥

वृद्धो बालो न हन्तव्यो नैव स्त्री केवलो नृपः ।

यथायोग्यं तु संयोज्य निघ्नन् धर्मो न हीयते ३५८

धर्मयुद्धे तु कूटे वै न सन्ति नियमा अमी ।

न युद्धं कूटसदृशं नाशनं बलवद्रिपोः ॥३५९॥

रूढं भयेन कमपि देशम् आश्रितं न, क्लीवं न, कृताञ्जलिं  
वृद्धाञ्जलिपुटं न, मुक्तकेशं खलितं केशबन्धं न, आसीनम् उप-  
विष्टं न, तथा तव अस्मि अहं तव अधीनः भवामीति वादिनं,  
सुप्तं निद्रितं न, विसन्नाहम् अवद्धपरिकरं न, नग्नं न, निरा-  
युधं न आयुधरहितं न, अयुध्यमानं न, पश्यन्तं दर्शकं न,  
परेण अन्येन सह युध्यन्तं न, पिबन्तं न, भुञ्जानं न, अन्य-  
कार्येषु आकुलं न, भीतं न, परावृत्तं विमुखञ्च न हन्यात् ॥  
३५५ ॥ ३५६ ॥ ३५७ ॥

वृद्ध इति । वृद्धः बालः शिशुश्च न, तथा स्त्री स्त्रीलोकः  
तथा केवलः निःसहायः नृपश्च न हन्तव्यः । यथायोग्यं संयोज्य  
वीरभावेन मिलित्वा निघ्नन् जनः धर्मात् न हीयते ॥ ३५८ ॥

धर्मयुद्धे इति । धर्मयुद्धे तु पूर्वोक्तनियमः बोद्धव्य इति शेषः,  
कूटे कपटमये तु युद्धे अमी नियमाः न सन्ति । बलवतः रिपोः  
शत्रोः कूटयुद्धसदृशं नाशनं नाशोपायः न अस्तीति शेषः ॥३५९॥

रामकृष्णोन्द्रादिदेवैः कूटमेवादृतं पुरा ।

कूटेन निहतो वालिर्यवनो नमुचिस्तथा ॥३६०॥

प्रफुल्लवदनेनैव तथा कोमलया गिरा ।

अङ्गीकृतापराधेन सेवादाननतिस्तवैः ॥३६१॥

उपकारैः स्वाशयेन दिव्यैर्विश्वासयेत् परम् ।

क्षुरधारेण मनसा रिपोऽच्छिद्रं सुलक्षयेत् ॥३६२॥

अवमानं पुरस्कृत्य मानं कृत्वा तु पृष्ठतः ।

स्वकार्यं साधयेत् प्राज्ञः कार्यध्वंसो हि मूर्खता ३६३

मञ्चासीनः शतानीकः सेनाकार्यं विचिन्तयन् ।

रामेति । पुरा पूर्वस्मिन् काले रामेण कृष्णेन इन्द्रादिदेवैश्च  
कूटमेव आदृतं यथा कूटेन कपटेन युद्धेन वालिः निहतः  
रामेणेति शेषः यवनः निहतः कृष्णेनेति शेषः, नमुचिः निहतः  
इन्द्रेणेति शेषः ॥ ३६० ॥

प्रफुल्लेति । उपकारैरिति । प्रफुल्लेन प्रसन्नेन वदनेन, कोम-  
लया गिरा वाचा, अङ्गीकृतेन स्वीकृतेन अपराधेन दोषेण,  
सेवया दानेन नत्या प्रणामेन स्तवेन गुणकीर्तनेन उपकारैः  
हितानुष्ठानैः स्वाशयेन सुष्ठुभावेन आशयेन तथा दिव्यैः शपथैः  
परं शत्रुं विश्वासयेत् परन्तु क्षुरधारेण मनसा रिपोः शत्रोः  
छिद्रं दोषं सुलक्षयेत् ॥ ३६१ ॥ ३६२ ॥

अवमानमिति । प्राज्ञः पण्डितः जनः अवमानं पुरस्कृत्य  
अपेक्षित्य स्वीकृत्येत्यर्थः पृष्ठतः पश्चात् मानं कृत्वा मानमवि-  
गण्य इत्यर्थः स्वकार्यं साधयेत् हि यतः कार्यध्वंस एव  
मूर्खता भवति ॥ ३६३ ॥

सदैव व्यूहसङ्केतवाद्यशब्दान्तवर्त्तिनः ॥३६४॥

सञ्चरेयुः सैनिकाश्च राजराष्ट्रहितैषिणः ।

भेदितां शत्रुणा दृष्ट्वा स्वसेनां घातयेच्च ताम् ॥३६५॥

प्रत्यग्रे कर्मणि कृते योधैर्दद्याद्भनं च तान् ।

पारितोष्यञ्चाधिकारं क्रमतोऽर्हं नृपः सदा ॥३६६॥

जलान्नद्वृणसंरोधैः शत्रून् सम्पीड्य यत्नतः ।

पुरस्ताद्विषमे देशे पश्चात् हन्यात्तु वेगवान् ॥३६७॥

कूटस्वर्णमहादानैर्भेदयित्वा द्विषद्वलम् ।

मञ्चेति । सञ्चरेयुरिति । मञ्चासीनः पर्यङ्कगतः शतानीकः शतसंख्यकसेनापरिवृतः राजा सेनाकार्यं सेनानां कार्यम् अनु-  
रागापरागजनितमित्यर्थः विचिन्तयेत् । राजराष्ट्रहितैषिणः  
सैनिकाः सुविश्वस्ता इति भावः व्यूहस्य यः सङ्केतवाद्यशब्दः  
तस्य अन्ते वर्त्तिनः तदनुसारिण इत्यर्थः सदा सञ्चरेयुः अपरक्त-  
सैनिककार्यानुसन्धानार्थमिति भावः ततश्च शत्रुणा भेदितां  
स्वसेनां दृष्ट्वा तां स्वसेनां घातयेच्च नाशयेदपि ॥ ३६४ ॥ ३६५ ॥

प्रत्यग्रे इति । योधैः प्रत्यग्रे अभिनवे कर्मणि कृते सति  
नृपः सदा तान् योधान् तान् इति कर्मविवक्षया द्वितीया तेभ्यः  
इत्यर्थः क्रमतः यथाक्रमम् अर्हं योष्यं पारितोष्यं धनम् अधि-  
कारञ्च दद्यात् ॥ ३६६ ॥

जलेति । वेगवान् त्वरावान् सन् पुरस्तात् अग्रतः जलानां  
अन्नानां द्रवणानाञ्च संरोधैः सम्यक् निरोधैः यत्नतः शत्रून्  
संपीड्य पश्चात् विषमे देशे रणभूमौ इत्यर्थः हन्यात् ॥ ३६७ ॥

कूटेति । विलोभ्येति । कूटानां स्वर्णानां महादानैः बहु-

नित्यविश्रम्भसंसुप्तं प्रजागरकृतश्रमम् ॥३६८॥  
 विलोभ्यापि परानीकमप्रमत्तो विनाशयेत् ।  
 तत्सहायबलं नैव व्यसनाप्तमपि क्वचित् ॥३६९॥  
 स्वसमीपतरं राज्यं नान्यस्माद् ग्राहयेत् क्वचित् ३७०  
 क्षणं युद्धाय सज्जेत क्षणं चापसरेत् पुनः ।  
 अकस्मान्निपतेद् दूरादस्युवत् परितः सदा ॥३७१॥  
 रूप्यं हेम च कुप्यञ्च यो यज्जयति तस्य तत् ।  
 दद्यात् कार्य्यानुरूपञ्च दृष्टो यो धान् प्रहर्षयन् ३७२

कृत्रिमस्वर्णदानैरित्यर्थः द्विषतां शत्रूणां बलं विलोभ्य विशेषेण  
 लोभयित्वा अप्रमत्तः स्वयं सावधानः सन् भेदयित्वा शत्रुतः  
 विच्छिद्य नित्यविश्रम्भेण विश्वासेन संसुप्तं प्रजागरेण कृतः  
 श्रमः येन तं शत्रुभयात् निद्रारहितं परस्य शत्रोः अनीकं  
 सैनिकं विनाशयेत् । व्यसनाप्तं कामादिष्वासक्तम् अपि तस्य  
 सहायबलं क्वचित् कदाचित् नैव विनाशयेदित्यर्थः ॥३६८॥३६९  
 स्वेति । अन्यस्मात् शत्रोरिति कर्मणि पञ्चमी आर्षा इति  
 बोध्या क्वचित् कदाचित् स्वस्य आत्मनः समीपतरं निकटस्थं  
 राज्यं न ग्राहयेत् तथात्वे शत्रोर्निकटवर्त्तितया महानर्थसम्भव  
 इति भावः ॥ ३७० ॥

क्षणमिति । क्षणं युद्धाय सज्जेत उद्युञ्जीत, क्षणञ्च पुनः  
 अपसरेत् रणादिति शेषः, तथा अकस्मात् सहसा दूरात्  
 परितः समन्तात् दस्युवत् सदा निपतेच्च ॥ ३७१ ॥

रूप्यमिति । यः पुरुषः रूप्यं रजतं हेम स्वर्णं तथा कुप्यं  
 स्वर्णरौप्यव्यतिरिक्तं यत् द्रव्यं जयति जयेन अर्जयतीत्यर्थः

विजित्य च रिपूनेवं समादद्यात् करं तथा ।

राज्यांशं वा सर्वराज्यं नन्दयीत ततः प्रजाः ॥ ३७३ ॥

तूर्य्यमङ्गलघोषेण स्वकीयं पुरमाविशेत् ।

तत् प्रजाः पुत्रवत् सर्वाः पालयीतात्मसात्कृताः ३७४

नियोजयेन्मन्त्रिगणमपरे मन्त्रचिन्तने ।

देशे काले च पात्रे च ह्यादिमध्यावसानतः ॥ ३७५ ॥

भवेन्मन्त्रफलं कीदृगुपायेन कथन्त्विति ।

मन्त्राद्यधिकृतः कार्य्यं युवराजाय बोधयेत् ॥ ३७६ ॥

राजा हृष्टः सन् कार्य्यानुरूपं यथाकार्य्यं योधान् सैनिकान्  
प्रहर्षयन् तत् द्रव्यं तस्य अर्जकस्येत्यर्थः दद्यात् ॥ ३७२ ॥

विजित्येति । एवंप्रकारेण रिपून् शत्रून् विजित्य करं  
राज्यांशं राज्यस्य विजितस्येति शेषः अंशं कियन्तमिति भावः  
वा सर्वं समस्तं राज्यं शत्रुराज्यं समादद्यात् गृह्णीयात् ततः  
ग्रहणानन्तरं प्रजाः तत्रत्याः नन्दयीत, रञ्जयेत् नन्दयीत इति  
आर्षोऽयं प्रयोगः ॥ ३७३ ॥

तूर्य्येति । ततः तूर्य्यं वाद्यविशेषः तस्य मङ्गलघोषेण माङ्ग-  
लिकध्वनिना स्वकीयं पुरम् आविशेत् प्रविशेत् तथा आत्मसात्-  
कृताः अधीनीकृताः सर्वाः तस्य शत्रोः प्रजाः पुत्रवत् पालयीत  
पालयेदित्यर्थः पालयीत इति आर्षोऽयं प्रयोगः ॥ ३७४ ॥

नियोजयेदिति । मन्त्रिगणम् अपरे अन्यस्मिन् मन्त्रचिन्तने  
विषये देशे काले पात्रे तथा आदौ मध्ये अवसाने च नियो-  
जयेत् ॥ ३७५ ॥

भवेदिति । मन्त्रादिषु सचिवादिषु अधिकृतः जनः युव-

पश्चाद्राज्ञे तु तैः साकं युवराजो निवेदयेत् ।  
 राजा संशासयेदादौ युवराजं ततस्तु सः ॥३७७॥  
 युवराजो मन्त्रिगणान् राजाग्रे तेऽधिकारिणः ।  
 सदसत् कर्म राजानं बोधयेच्च पुरोहितः ॥३७८॥  
 ग्रामावहिः समीपे तु सैनिकान् धारयेत् सदा ।  
 ग्राम्यसैनिकयोर्न स्यादुत्तमर्णाधमर्णता ॥३७९॥  
 सैनिकार्थन्तु पण्यानि सैन्ये सन्धारयेत् पृथक् ।  
 नैकत्र वासयेत् सैन्यं वत्सरन्तु कदाचन ॥३८०॥

राजाय मन्त्रफलं कीदृक् केन उपायेन भवेत् तत्, कथं वा  
 इति सर्वं कार्यं मन्त्रितविषयं बोधयेत् ज्ञापयेत् ॥ ३७६ ॥

पश्चादिति । युवराज इति । पश्चात् युवराजः तैः मन्त्रा-  
 दिषु अधिकृतैः पुरुषैः साकं सह राज्ञे निवेदयेत् मन्त्रित-  
 विषयमिति शेषः । राजा आदौ अग्रतः युवराजं, ततः सः युव-  
 राजः मन्त्रिगणान् संशासयेत् सम्यक् उपदिशेत् । ते च अधि-  
 कारिणः राजाग्रे राजसमीपे सत् असच्च कर्म बोधयेयुरिति  
 शेषः, ततः पुरोहितः राजानं बोधयेत् सर्वमिति शेषः ॥ ३७७ ॥  
 ३७८ ॥

ग्रामादिति । ग्रामात् बहिः बाह्यप्रदेशे समीपे वा सदा  
 सैनिकान् धारयेत् रक्षेत् । ग्राम्यसैनिकयोः ग्रामवासिजनसैनिक-  
 पुरुषयोः उत्तमर्णाधमर्णता ऋणदानव्यवहारः न स्यात् तथात्वे  
 भूयाननिष्टपातः स्यादिति भावः ॥ ३७९ ॥

सैनिकार्थमिति । सैनिकार्थं सेनानां निमित्तं पण्यानि  
 विक्रयद्रव्याणि सैन्ये सेनानिवेशे पृथक् सन्धारयेत् स्थापयेत्

सेनासहस्रं सज्जं स्यात् क्षणात् संशासयेत् तथा ।  
 संशासयेत् स्वनियमान् सैनिकानष्टमे दिने ॥३८१॥  
 चण्डत्वमाततायित्वं राजकार्ये विलम्बनम् ।  
 अनिष्टोपेक्षणं राज्ञः स्वधर्मपरिवर्जनम् ॥३८२॥  
 त्यजन्तु सैनिका नित्यं सल्लापमपि वा परैः ।  
 नृपाज्ञया विना ग्रामं न विशेयुः कदाचन ३८३॥  
 स्वाधिकारिगणस्यापि ह्यपराधं दिशन्तु नः ।  
 मित्रभावेन वर्तन्तु स्वामिकृत्ये सदाखिलैः ॥३८४॥  
 सूज्ज्वलानि च रक्षन्तु शस्त्रास्त्रवसनानि च ।  
 अन्नं जलं प्रस्थमात्रं पात्रं वह्नद्वसाधकम् ॥३८५॥

ग्रामवासिसाधारण्ये सर्वदा विसंवादसम्भाषनादिति भावः ।  
 तथा वत्सरं व्याप्य सैन्यम् एकत्र एकस्मिन् स्थाने न वास-  
 येत् ॥ ३८० ॥

सेनेति । यथा सेनासहस्रं क्षणात् सज्जं स्यात् तथा संशा-  
 सयेत् सम्यक् शिचयेत् । तथा अष्टमे दिने दिनस्य अष्टमे भागे  
 इत्यर्थः अपराह्नसमये इति यावत् सैनिकान् स्वस्य नियमान्  
 संशासयेत् सम्यक् उपदिशेच्च ॥ ३८१ ॥

संशासनान्याह चण्डत्वमित्यादि । सैनिकाः नित्यं सततं  
 चण्डत्वम् उग्रत्वम् आततायित्वं राजकार्यविलम्बनं राज्ञः अनि-  
 ष्टस्य उपेक्षणं स्वधर्मस्य परिवर्जनं परित्यागम् अपि वा अथवा  
 परैः शत्रुभिः सल्लापं सदालापं त्यजन्तु । नृपस्य आज्ञया विना  
 कदाचन ग्रामं न विशेयुः प्रविशेयुः । स्वाधिकारिगणस्य सेनाधि-

शासनादन्यथाचारान् विनेष्यामि यमालयम् ।  
 भेदायितान् रिपुधनं गृहीत्वा दर्शयन्तु माम् ॥३८६॥  
 सैनिकैरभ्यसेन्नित्यं व्यूहाद्यनुकृतिं नृपः ।  
 तथायनेऽयने लक्ष्यमस्त्रपातैर्विभेदयेत् ॥३८७॥  
 सायं प्रातः सैनिकानां कुर्यात् सङ्गणनं नृपः ।  
 जात्याकृतिवयोदेशग्रामवासान् विमृश्य च ॥३८८॥  
 कालं भृत्यवधिं देयं दत्तं भृत्यस्य लेखयेत् ।

कारे नियुक्तस्य अपराधं दोषं न अस्मभ्यं दिशन्तु । अखिलैः  
 समस्तैः सैन्यैः स्वामिनः कृत्ये कार्यं मित्रभावेन वर्तध्वं दृश्य-  
 मिति शेषः । सूज्ज्वलानि अत्युज्ज्वलानि शस्त्राणि अस्त्राणि  
 वसनानि वस्त्राणि च तथा शासनात् मम आज्ञया इत्यर्थः अन्नं  
 जलं प्रस्थमात्रं प्रस्थपरिमितं बहूनाम् अन्नानां साधकं पात्रं  
 स्थालीमित्यर्थः रक्षन्तु । अन्यथाचारान् ये अन्यथा आचरन्ति  
 तानित्यर्थः यमालयं विनेष्यामि प्रापयिष्यामि । तथा रिपुधनं  
 गृहीत्वा भेदायितान् भेदं प्रापितान् सैनिकान् मां दर्शयन्तु  
 तानपि यमालयं नेष्यामि ॥ ३८२—३८६ ॥

सैनिकैरिति । नृपः सैनिकैः व्यूहादीनाम् अनुकृतिं नित्यम्  
 अभ्यसेत् तथा अयने अयने प्रति षाण्मासिकमित्यर्थः अथवा  
 गतिविशेषे गतिविशेषे, अस्त्राणां पातैः लक्ष्यं विभेदयेत् ॥३८७॥

सायमिति । नृपः सायं प्रातः सैनिकानां जातिम् आकृतिं  
 वयः, देशं ग्रामं वासं वासस्थानञ्च विमृश्य विविच्य संगणनं  
 संख्यां कुर्यात् ॥ ३८८ ॥

कालमिति । भृत्यस्य भृतेः अवधिं सीमारूपं कालं तथा

कति दत्तं हि भृत्येभ्यो वेतनं पारितोषिकम् ।

तत्प्राप्तिपत्रं गृह्णीयाद्दद्याद्वेतनपत्रकम् ॥ ३८६ ॥

सैनिकाः शिक्षिता ये ये तेषु पूर्णा भृतिः स्मृता ।

व्यूहाभ्यासे नियुक्ता ये तेष्वर्द्धां भृतिमावहेत् ॥ ३८७ ॥

असत्कर्ताश्रितं सैन्यं नाशयेच्छत्रुयोगतः ॥ ३८८ ॥

नृपस्यासद्गुणरताः के गुणद्वेषिणो नराः ।

असद्गुणोदासीनाः के हन्यात् तान् विमृशन् नृपः ।

सुखासक्तांस्त्यजेद् भृत्यान् गुणिनोऽपि नृपः सदा ३८९

सुखान्तलोकविश्वस्ता योज्यास्त्वन्तः पुरादिषु ।

भृत्येभ्यः देयं, दत्तं, कति दत्तं पारितोषिकञ्च कति इत्येतत्  
लेखयेत् । लेखयित्वा तेषां प्राप्तिपत्रं गृह्णीयात् वेतनपत्रञ्च  
दद्यात् ॥ ३८६ ॥

सैनिका इति । ये ये सैनिकाः शिक्षिताः तेषु भृत्येषु पूर्णा  
भृतिः वेतनं स्मृता ते पूर्णवेतनमर्हन्तीत्यर्थः । ये व्यूहानाम्  
अभ्यासे शिक्षायां नियुक्ताः तेषु अर्द्धां भृतिम् आवहेत् दद्यात्  
ते सैनिकाः पूर्णभृतेरर्द्धमर्हन्तीत्यर्थः ॥ ३८७ ॥

असदिति । असन्तम् अभद्रं कर्तारं स्वामिनम् आश्रितं  
सैन्यं शत्रुयोगतः शत्रुयोगेन नाशयेत् प्रभुमिति शेषः ॥ ३८८ ॥

नृपस्येति । के नराः असद्गुणेषु रताः के वा नृपस्य गुण-  
द्वेषिणः, के च असद्गुणेषु उदासीनाः उपेक्षमाणाः, नृपः विमृ-  
शन् विचारयन् तान् हन्यात् । किञ्च नृपः गुणिनोऽपि भृत्यान्  
सदा सुखेषु आसक्तान् त्यजेत् ॥ ३८९ ॥

सुखान्तेति । सुखान्ताः सदन्तःकरणाः लोकेषु जगत्सु वि-

धार्याः सुस्वान्तविश्वस्ता धनादिव्ययकर्मणि॥३८३

तथा हि लोकविश्वस्तो राजकृत्ये नियुज्यते ।

अन्यथा योजितास्ते हि परिवादाय केवलम् ॥३८४

शत्रुसम्बन्धिनो ये ये भिन्ना मन्त्रिगणादयः ।

नृपदुर्गुणतो नित्यं हृतमाना गणाधिकाः ।

स्वकार्यसाधका ये तु सुभृत्या पोषयेच्च तान् ३८५

लोभेनासेवनाभिन्नास्तेष्वर्द्धां भृतिमावहेत् ।

शत्रुत्यक्तान् सुगुणिनः सुभृत्या पालयेन् नृपः॥३८६

श्वस्ता जनाः अन्तःपुरादिषु योज्याः नियोक्तव्याः । तथा  
सुस्वान्ताः विश्वस्ताश्च जनाः धनादीनां व्ययकर्मणि धार्याः  
नियोज्याः ॥ ३८३ ॥

तथेति । तथा हि लोकेषु विश्वस्तो जनः राजकृत्ये राज-  
कार्ये नियुज्यते । ते हि अन्यथा अविश्वस्ताः योजिताः जनाः  
केवलं परिवादाय निन्दायै भवन्तीति भावः ॥ ३८४ ॥

शत्रुसम्बन्धिन इति । ये ये शत्रुसम्बन्धिनः भिन्नाः विच्छेदं  
गताः, मन्त्रिगणादयः ये च गणाधिकाः दलश्रेष्ठाः नृपस्य शत्रोः  
दुर्गुणतः दोषेण नित्यं सततं हृतमानाः मानभ्रष्टा अथच स्वस्य  
आत्मनः राज्ञ इति यावत् कार्यसाधकाः, तान् सुभृत्या उत्कृष्ट-  
वेतनेन पोषयेत् ॥ ३८५ ॥

लोभेनेति । ये च लोभेन अधिकप्राप्त्याशया असेवनात्  
सेवायाम् उपेक्षणादित्यर्थः भिन्नाः शत्रुतः विच्छिन्नाः नृपः तेषु  
अर्द्धां भृतिं पूर्णभृतेरर्द्धमित्यर्थः आवहेत् दद्यात् । तथा शत्रु-  
त्यक्तान् अथच सुगुणिनः जनान् सुभृत्या सुवेतनेन पालयेत् ॥३८६

परराष्ट्रे हृते दद्याद् भृतिं भिन्नावधिं तथा ।  
 दद्यादर्द्धां तस्य पुत्रे स्त्रियै पादमितां किल ॥ ३८७ ॥  
 हृतराज्यस्य पुत्रादौ सद्गुणे पादसम्मितम् ।  
 दद्याद्वा तद्राज्यतस्तु द्वात्रिंशांशं प्रकल्पयेत् ॥ ३८८ ॥  
 हृतराज्यस्य निचितं कोशं भोगार्थमाहरेत् ॥ ३८९ ॥  
 कौसीदं वा तद्वनस्य पूर्वोक्ताद्धं प्रकल्पयेत् ।  
 तद्वनं द्विगुणं यावन्न तदूर्ध्वं कदाचन ॥ ४०० ॥  
 स्वमहत्त्वद्योतनार्थं हृतराज्यान् प्रधारयेत् ।

परराष्ट्रे इति । परराष्ट्रे शत्रुराज्ये हृते आत्मसात्कृते सति  
 भिन्नावधिं राज्यहरणदिवसावधिं भृतिं भरणोपयोगिधनं दद्यात्  
 तथा तस्य पुत्रे अर्द्धां स्त्रियै पादमितां चतुर्थभागरूपां भृतिं  
 किल निश्चितं दद्यात् ॥ ३८७ ॥

हृतेति । हृतं राज्यं यस्य तस्य शत्रोः सद्गुणे सुगुण-  
 शालिनि पुत्रादौ तस्य राज्यस्य पादसम्मितं चतुर्थभागमित्यर्थः  
 दद्यात् वा एव वाशब्दः अवधारणार्थः अगुणशालिनि तु द्वात्रिं-  
 शांशं प्रकल्पयेत् दद्यादित्यर्थः ॥ ३८८ ॥

हृतेति । हृतराज्यस्य शत्रोः निचितं सञ्चितं कोशं धनं  
 स्वस्य भोगार्थम् आहरेत् गृह्णीयात् ॥ ३८९ ॥

कौसीदमिति । वा अथवा तद्वनस्य तस्य निचितकोशस्य  
 इत्यर्थः कौसीदं वृद्धिस्वरूपं पूर्वोक्तम् अर्द्धं यावत् तत् धनं  
 द्विगुणं भवेत् तावत्कालपर्यन्तं कल्पयेत् कदाचन तस्मात् ऊर्ध्वं  
 न, द्वैगुण्यादधिकं नेत्यर्थः ॥ ४०० ॥

स्वेति । हृतराज्यान् शत्रून् यदि सहृत्तान् सदाचारान्

प्राङ्मानैर्यदि सद्वृत्तान् दुर्वृत्तांस्तु प्रपीडयेत् ४०१

अष्टधा दशधा वापि कुर्याद् द्वादशधापि वा ।

यामिकार्थमहोरात्रं यामिकान् वीक्ष्य नान्यथा ४०२

आदौ प्रकल्पितानंशान् भजेयुर्यामिकास्तथा ।

आद्यः पुनस्त्वन्तिमांशं स्वपूर्वांशं ततोऽपरे ॥ ४०३ ॥

पुनर्वा योजयेत्तद्वदाद्येऽन्यं चान्तिमे ततः ।

स्वपूर्वांशं द्वितीयेऽङ्गि द्वितीयादिक्रमागतम् ॥ ४०४ ॥

चतुर्भ्यस्त्वधिकान् नित्यं यामिकान् योजयेद्दिने ।

स्वस्य माहात्मप्रद्योतनार्थं निजमहिमप्रकटनार्थं प्राङ्मानैः पूर्व-  
वत् राजोचितैः मानैः सम्मानैः धारयेत् स्थापयेत् दुर्वृत्तांस्तु  
प्रपीडयेत् ॥ ४०१ ॥

अष्टधेति । यामिकान् प्रहरिणः वीक्ष्य विचार्य यामिकार्थं  
प्रहरिणां निमित्तम् अहोरात्रम् अष्टधा दशधा अथवा द्वाद-  
शधा कुर्यात् विभजेदित्यर्थः अन्यथा न, यामिकानामेव दिवा-  
विभागस्य आवश्यकत्वादिति भावः ॥ ४०२ ॥

आदाविति । यामिकाः प्रहरिणः आदौ अग्रतः तथा तेन  
प्रकारेण प्रकल्पितान् निर्दिष्टान् अंशान् भजेयुः गृह्णीयुः । किञ्च  
आद्यः प्रथमः यामिकः अन्तिमांशं शेषभागं ततः आद्यात्  
अपरे अन्ये यामिका स्वपूर्वांशं निज निज पूर्वभागं भजेयुरिति  
शेषः ॥ ४०३ ॥

पुनरिति । पुनश्च आद्ये यामिके अन्यं तद्वत् तथा अन्तिमे  
शेषे यामिके वा आद्यं तथा द्वितीये अङ्गि द्वितीयादिक्रमागतं  
स्वपूर्वांशं योजयेत् ॥ ४०४ ॥

युगपद्योजयेद् दृष्ट्वा बहून् वा कार्य्यगौरवम् ॥४०५॥

चतुरूनान् यामिकांस्तु कदा नैव नियोजयेत् ४०६

यद्रक्ष्यमुपदेक्ष्यं यदादेश्यं यामिकाय तत् ।

तत् समत्वं हि सर्वं स्याद्यामिकोऽपि च तत्तथा ४०७

कीलकोष्ठे तु स्वर्णादि रक्षेन्नियमितावधि ।

स्वांशान्ते दर्शयेदन्ययामिकन्तु यथार्थकम् ॥४०८॥

क्षणे क्षणे यामिकानां कार्य्यं दूरात् सुबोधनम् ४०९

चतुर्भ्य इति । दिने चतुर्भ्यः अधिकान् यामिकान् नित्यं प्रत्यहं योजयेत् नियुञ्ज्यात्, वा अथवा कार्य्यगौरवं दृष्ट्वा युगपत् एककालं बहून् यामिकान् योजयेत् ॥ ४०५ ॥

चतुरूनानिति । कदापि चतुरूनान् चतुर्भ्यः हीनान् एकं द्वौ त्रीन् वेत्यर्थः यामिकान् नैव नियोजयेत् ॥ ४०६ ॥

यदिति । यत् रक्ष्यं रक्षणीयं यच्च उपदेश्यं शिक्षणीयं तत् यामिकाय आदेश्यम् उपदेष्टव्यं हि यतः सर्वं प्रजानां कार्य्यं तत् समत्वं तस्य यामिकस्य समत्वं प्रत्यक्षं स्यात् तस्मात् यामिकोऽपि तत् सर्वं तथा शिक्षेतेति शेषः ॥ ४०७ ॥

कीलेति । यामिकाः नियमितावधि निर्धारितकालं यावत् स्वर्णादि यत् अस्वामिकं वा सस्वामिकं चोरितादिप्राप्तमिति भावः कीलकोष्ठे कीलस्य आश्रयस्तम्भस्य कोष्ठे मध्ये रक्षेत् । ततः स्वस्य अंशान्ते प्रहरिकालस्य अंशावसाने अन्ययामिकं स्वपदे उपस्थितमिति शेषः यथार्थकं तत् सर्वं दर्शयेत् दर्शयित्वा बोधयेत् इत्यर्थः ॥ ४०८ ॥

सत्कृतान् नियमान् सर्वान् यदा सम्पालयेन् नृपः  
तदैव नृपतिः पूज्यो भवेत् सर्वेषु नान्यथा ॥ ४१० ॥

यस्यास्ति नियतं कर्म नियतः सद्ग्रहो यदि ।

नियतोऽसद्ग्रहत्यागो नृपत्वं सोऽश्नुते चिरम् ४११

यस्यानियमितं कर्म साधुत्वं वचनं त्वपि ।

सदैव कुटिलः सख्युः स्वपदाद् द्राग्बिभ्र्यति ४१२

नापि व्याघ्रगजाः शक्ता मृगेन्द्रं शासितुं यथा ।

न तथा मन्त्रिणः सर्वे नृपं स्वच्छन्दगामिनम् ४१३

क्षणे इति । क्षणे क्षणे दूरात् सुबोधनं प्रजानां सत्कर्ता-  
सम्पादनं यामिकानां कार्यम् ॥ ४०८ ॥

सत्कृतानिति । नृपः यदा सत्कृतान् शोभनान् सर्वान्  
नियमान् सम्पालयेत् तदैव नृपतिः सर्वेषु जगत्सु पूज्यः भवेत्  
अन्यथा न ॥ ४१० ॥

यस्येति । यस्य नियतं सततं कर्म कार्याभिनिवेशः तथा  
यदि नियतः सत्सु विषयेषु ग्रहः आदरः, तथा असत्सु विषयेषु  
ग्रहत्यागः अनादरः नियतः, सः चिरं नृपत्वं राजत्वम् अश्नुते  
प्राप्नोति ॥ ४११ ॥

यस्येति । यस्य कर्म साधुत्वं तथा वचनम् अनियमितम्  
अस्थिरं सदैव कुटिलं सः सख्युः सहृदः स्वपदाच्च द्राक् भ्र-  
ष्टि विनश्यति भ्रश्यति तस्य बन्धुविच्छेदो राज्यनाशश्च  
स्यादिति भावः ॥ ४१२ ॥

नापीति । यथा व्याघ्रा गजाश्च मृगेन्द्रं सिंहं शासितुं न शक्ताः,  
तथा तेन नृपेण निर्भृताः निःशेषेण भृताः अधिकृताः भृत्याः

निर्भृताधिकृतास्तेन निःसारत्वं हि तेष्वतः ।

गजो निबध्यते नैव तूलभारसहस्रकैः ॥४१४॥

उद्धर्तुं द्वाग्गजः शक्तः पङ्कलग्नं गजं वली ।

नीतिभ्रष्टनृपं त्वन्यनृप उद्धरणक्षमः ॥४१५॥

बलवन्नृपभृत्येऽल्पेऽपि श्रीस्तेजो यथा भवेत् ।

न तथा हीननृपतौ तन्मन्विष्वपि नो तथा ॥५१६॥

बहूनामैकमत्यं हि नृपतेर्वलवत्तरम् ।

बहुसूक्ष्मकृतो रज्जुः सिंहाद्याकर्षणक्षमः ॥४१७॥

सर्वे मन्विणः स्वेच्छन्दगामिनं स्वेच्छाचारिणं तं नृपं शास्तिं न  
शक्ता इत्यर्थः । अतः अस्मात् कारणात् तेषु मन्विषु निःसारत्वम्  
अक्षमत्वमित्यर्थः राज्ञः स्वेच्छाचारित्वात् मन्विणामक्षमत्वं  
सुतरामायातमिति भावः । तूलानां कार्पासानां भारसहस्रकैः  
सहस्रैरपि भारैरित्यर्थः गजः नैव निबध्यते ॥ ४१३ ॥ ४१४ ॥

उद्धर्तुमिति । वली प्रबलः गजः पङ्कलग्नं कर्दमपतितं  
गजं द्वाक् भटिति उद्धर्तुं शक्तः । तु तथेत्यर्थः अन्यनृपः नीति-  
भ्रष्टं नृपम् उद्धरणक्षमः अत्र नृपमिति क्लृप्त्योऽपि पृष्ठभावा-  
न्वयः ॥ ४१४ ॥

बलवदिति । बलवतः नृपस्य भृत्ये अल्पे क्षुद्रेऽपि यथा  
श्रीः तेजश्च भवेत् हीननृपतौ दुर्बले राजनि तथा न तस्य  
मन्विषु अपि तथा नो भवेदित्यर्थः ॥ ४१६ ॥

बहूनामिति । बहूनाम् ऐकमत्यं नृपतेः राज्ञः अपि बल-  
वत्तरम् अधिकबलवत् हि । तथाहि बहुसूक्ष्मकृतः बहूभिः  
सूत्रैः निर्मितः रज्जुः सिंहादीनाम् आकर्षणे क्षमः शक्तः ॥४१७॥

हीनराज्यो दुष्टभृत्यो न सैन्यं धारयेद् बहु ।  
 कोशवृद्धिं सदा कुर्यात् स्वपुत्राद्यभिवृद्धये ॥४१८॥  
 क्षुधया निद्रया सर्वमशनं शयनं शुभम् ।  
 भवेद्यथा तथा कुर्यादन्यथाशु दरिद्रकृत् ॥४१९॥  
 दिशानया व्ययं कुर्यान् नृपो नित्यं न चान्यथा ।  
 धर्मनीतिविहीना ये दुर्बला अपि वै नृपाः ।  
 सुधर्मबलयुगात्ता दण्डास्ते चौरवत् सदा ४२०॥  
 सर्वधर्मावनान्नीचनृपोऽपि श्रेष्ठतामियात् ।  
 उत्तमोऽपि नृपो धर्मानाशनान्नीचतामियात् ॥४२१॥

हीनेति । हीनं राज्यं यस्य सः तथा दुष्टः भृत्यः यस्य  
 तादृशः नृपः बहुसैन्यं न धारयेत् स्वस्य आत्मनः पुत्रादीनाम्  
 अभिवृद्धये अभ्युदयाय सदा कोशवृद्धिं धनवृद्धिं कुर्यात् ॥४१८॥

क्षुधयेति । सर्वम् अशनं भोजनं शयनञ्च यथा शुभं भवेत्  
 तथा कुर्यात् अन्यथा क्षुधया निद्रया च आशु शीघ्रं दरिद्र-  
 कृत् दारिद्र्यजनकं भवेदित्यर्थः ॥ ४१९ ॥

दिशेति । नृपः अनया दिशा रीत्या नित्यं व्ययं कुर्यात्  
 अन्यथा न । ये नृपाः दुर्बलाः तथा धर्मेण नीत्या च विहीनाः  
 ते सुधर्मबलयुजा राज्ञा सदा चौरवत् दण्डाः । अपि वै शब्दः  
 पादपूरणार्थः ॥ ४२० ॥

सर्वेति । नीचनृपोऽपि सर्वेषां धर्माणाम् अवनात् रक्षणात्  
 श्रेष्ठताम् इयात् प्राप्नुयात् तथा उत्तमोऽपि नृपः धर्मानाशनात्  
 नीचताम् इयात् ॥ ४२१ ॥

धर्माधर्मप्रवृत्तौ तु नृप एव हि कारणम् ।

स हि श्रेष्ठतमो लोके नृपत्वं यः समाप्नुयात् ॥४२२

मन्वाद्यैरादृतो योऽर्थस्तदर्थो भार्गवेण वै ।

द्वाविंशतिशतं श्लोका नीतिसारे प्रकीर्त्तिताः ॥४२३

शुक्रोक्तनीतिसारं यश्चिन्तयेदनिशं सदा ।

व्यवहारधुरं वोढुं, स शक्तो नृपतिर्भवेत् ॥४२४॥

न कवेः सदृशा नीतिस्त्रिषु लोकेषु विद्यते ।

काव्यैव नीतिरन्या तु कुनीतिर्व्यवहारिणाम् ४२५

नाश्रयन्ति च ये नीतिं मन्दभाग्यास्तु ते नृपाः ।

धर्मेति । नृप एव धर्मस्य अधर्मस्य च प्रवृत्तौ कारणं हि । यः  
नृपत्वं समाप्नुयात् लोके जगति स हि स एव श्रेष्ठतमः ॥४२२॥

मन्वाद्यैरिति । यः अर्थः विषयः मन्वाद्यैः मनुप्रभृतिभिः  
आदृतः भार्गवेण भृगुणा च तदर्थः तस्य मानवधर्मस्य अर्थः  
आदृतः, तदर्थसङ्कलिताः, द्वाविंशतिशतं श्लोकाः नीतिसारे  
प्रकीर्त्तिताः निबद्धाः मयेति शेषः ॥ ४२३ ॥

शुक्रोति । यः नृपतिः शुक्रमेव उक्तं नीतिसारम् अनिशं  
चिन्तयेत् सः सदा व्यवहारधुरं राजकार्यभारं वोढुं शक्तः  
भवेत् ॥ ४२४ ॥

नेति । त्रिषु लोकेषु कवेः शुक्रस्य सदृशी नीतिः न विद्यते,  
तस्मात् काव्यैव कविकृतैव शुक्रकृतैव इत्यर्थः नीतिः । अन्या  
तु तद्विन्ना तु व्यवहारिणां कुनीतिः ॥ ४२५ ॥

नेति । ये नृपाः कातर्यात् अक्षमत्वात् धनलोभाद्वा नीतिं

कातर्याङ्गनलोभाद्वा स्युर्वै नरकभाजनाः ॥४२६॥

इति शुक्रनीतौ चतुर्थाध्यायस्य सेनानिरूपणं

नाम सप्तमं प्रकरणम् ।

इति चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ।

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

नीतिशेषं खिले वक्ष्ये ह्यखिलं शास्त्रसम्मतम् ।

सप्ताङ्गानान्तु राज्यस्य हितं सर्वजनेषु वै ॥१॥

शतसंवत्सरान्तेऽपि करिष्याम्यात्मसाद्रिपुम् ।

इति सञ्चिन्त्य मनसा रिपोश्छिद्राणि लक्षयेत् ॥२॥

न आश्रयन्ति ते मन्दभाग्याः नरकभाजनाः स्युः वैशब्दः अवधारणार्थः निश्चितं नरकं गच्छन्तीत्यर्थः ॥ ४२६ ॥

इति श्रीजीवानन्दविद्यासागरविरचिता चतुर्थाध्यायस्य

सप्तमप्रकरणव्याख्या समाप्ता ।

नीतिशेषमिति । खिले परिशिष्टे अंशे राज्यस्य सप्तानाम् अङ्गानां सर्वजनेषु च विषयेषु हितं हितकरं शास्त्रसम्मतम् अखिलं समस्तं संचिन्तयित्वः नीतिशेषम् अवशिष्टां नीतिं वक्ष्ये कथयिष्यामि ॥ १ ॥

शतेति । शतसंवत्सराणाम् अन्तेऽपि कदाचिदपीत्यर्थः रिपुं शत्रुम् आत्मसात् करिष्यामि इति मनसा सञ्चिन्त्य रिपोः शत्रोः छिद्राणि लक्षयेत् ॥ २ ॥

राष्ट्रभृत्यविशङ्की स्याद्धीनमन्त्रबलो रिपुः ।

युक्त्या तथा प्रकुर्वीत सुमन्त्रबलयुक् स्वयम् ॥३॥

सेवया वा वणिग्द्वत्त्या रिपुराष्ट्रं विमृश्य च ।

दत्ताभयं सावधानो व्यसनासक्तचेतसम् ॥४॥

मार्जारलुब्धवक्त्रवत् सन्तिष्ठन् नाशयेदरिम् ॥५॥

सेनां युद्धे नियुञ्जीत प्रत्यनीकविनाशिनीम् ।

न युञ्ज्याद्रिपुराष्ट्रस्थां मिथः स्वद्वेषिणीं न च ॥६॥

न नाशयेत् स्वसेनान्तु सहसा युद्धकामुकः ।

राष्ट्रेति । स्वयं सुमन्त्रबलयुक् नृपः यथा रिपुः राष्ट्रेषु भृत्येषु च विशङ्की सन्देहवान् तथा हीनं मन्त्रः बलञ्च यस्य तादृशः स्यात् युक्त्या कौशलेन तथा प्रकुर्वीत ॥ ३ ॥

सेवयेति । मार्जारिति । सावधानः नृपः सेवया आनुगत्येन वा वणिग्द्वत्त्या वाणिज्यव्याजेन रिपोः शत्रोः राष्ट्रं विमृश्य समीक्ष्य मार्जारः विडालः तद्वत् लुब्धवक्त्रवच्च सन्तिष्ठन् दत्ताभयं दत्तम् अभयं यस्मै तादृशं पूर्वम् अभयं दत्त्वा इत्यर्थः व्यसनेषु कामादिषु आसक्तचेतसम् आक्रान्तचित्तं निर्भयत्वात् राज्यरक्षणे अव्यग्रतया भोगरतमिति भावः । अरिं शत्रुं नाशयेत् ॥ ४ ॥ ५ ॥

सेनामिति । प्रत्यनीकविनाशिनीं शत्रुसैन्यनाशिनीं सेनां युद्धे नियुञ्जीत, रिपुराष्ट्रस्थां शत्रुराज्यवासिनीं सेनां न, मिथः रहसि स्वस्य आत्मनः द्वेषिणीं विद्वेषकारिणीञ्च सेनां न युञ्ज्यात् ॥ ६ ॥

नेति । युद्धकामुकः रणप्रियः सन् सहसा स्वस्य आत्मनः

दानमानैर्वियुक्तोऽपि न भृत्या भूपतिं त्यजेत् ।

समये शत्रुसान्नैव गच्छेज्जीवधनाशया ॥७॥

मेघोदकैस्तु या पुष्टिः सा किं नद्यादिवारितः ? ।

प्रजापुष्टिर्नृपद्रव्यैस्तथा किं धनिनां धनात् ? ॥८॥

दर्शयन् मार्दवं नित्यं महावीर्यबलोऽपि च ।

रिपुराष्ट्रे प्रविश्यादौ तत्कार्ये साधको भवेत् ॥९॥

सञ्जातवह्नमूलस्तु तद्राज्यमखिलं हरेत् ।

अथ तद् द्विष्टदायादान् सेनपानंशदानतः ।

तद्राज्यस्य वशीकुर्व्यान् मूलमुन्मूलयन् बलात् ॥१०॥

सेनां न नाशयेत् तथा भृत्यः दानेन मानेन च वियुक्तः विरहितः अपि भूपतिं स्वामिनं न त्यजेत् । तथा जीवधनाशया जीवनोपयोगि धनप्रत्याशया शत्रुसात् नैव गच्छेत् शत्रोरधीनो न भवेदित्यर्थः ॥ ७ ॥

मेघोदकैरिति । मेघोदकैः वारिदजलैः या पुष्टिः शस्यानामिति शेषः, सा नद्यादीनां वारितः जलैः किं स्यात् ? नैवेत्यर्थः । यथा नृपस्य द्रव्यैः राजप्रसादलब्धैरिति भावः प्रजानां पुष्टिः, धनिनां धनात् तथा पुष्टिः किं ? नैवेत्यर्थः ? ॥ ८ ॥

दर्शयन्निति । महावीर्यबलः अपि नित्यं सततं मार्दवं मृदुतां दर्शयन् रिपुराष्ट्रे शत्रुराज्ये प्रविश्य आदौ प्रथमं तस्य रिपोः कार्यसाधकः कार्यनिवाहकः भवेत् ॥ ९ ॥

सञ्जातेति । अथ सञ्जातम् उत्पन्नं बह्वं दृढं मूलं यस्य तादृशः तत्र विशेषेण प्रतिपन्नः सन्नित्यर्थः बलात् मूलम् उन्मूलयन् निरस्यन् अखिलं समस्तं तस्य राज्यं हरेत्, तथा तस्य

तरोः सङ्घीणमूलस्य शाखाः शुष्यन्ति वै यथा ।  
 सद्यः केचिच्च कालेन सेनपाद्याः पतिं विना ॥११॥  
 राज्यवृक्षस्य नृपतिर्मूलं स्कन्धाश्च मन्त्रिणः ।  
 शाखाः सेनाधिपाः सेनाः पल्लवाः कुसुमानि च ।  
 प्रजाः फलानि भूभागा वीजं भूमिः प्रकल्पिता ॥१२॥  
 विश्वस्तान्यनृपस्यापि न विश्वासं समाप्नुयात् ।  
 नैकान्ते न गृहे तस्य गच्छेदल्पसहायवान् ॥१३॥  
 स्ववेशरूपसदृशान् निकटे रक्षयेत् सदा ।  
 विशिष्टचिह्नगुप्तः स्यात् समयेऽन्यादृशो भवेत् ॥१४॥

रिपोः द्विष्टान् विद्वेषिणः दायादान् ज्ञातीन् सेनपान् सेना-  
 पतींश्च तद्राज्यस्य अंशदानतः अंशप्रदानेन वशीकुर्व्यात् ॥१०॥

तरोरिति । यथा सङ्घीणमूलस्य शुष्कमूलस्य तरोः शाखाः  
 शुष्यन्ति वै शोषं प्राप्नुवन्त्येव तथा सेनपाद्याः सेनापतिप्रभृतयः  
 पतिं स्वामिनं विना सद्यः तत्क्षणात्, केचिच्च कालेन शुष्यन्ती-  
 त्यर्थः ॥ ११ ॥

राज्यवृक्षस्येति । नृपतिः राज्यवृक्षस्य मूलं, मन्त्रिणः  
 स्कन्धाः, सेनाधिपाः शाखाः, सेनाः पल्लवाः, प्रजाः कुसुमानि,  
 भूभागाः फलानि, भूमिः वीजं प्रकल्पिता कथिता ॥ १२ ॥

विश्वस्तेति । विश्वस्तस्यापि अन्यनृपस्य प्रतिकूलनृपतेः  
 विश्वासं न समाप्नुयात् शत्रौ नृपे नैव विश्वसेदित्यर्थः । तस्य  
 प्रतिनृपस्य गृहे वा एकान्ते निर्जने देशे अल्पसहायवान् न  
 गच्छेत् ॥ १३ ॥

स्वेति । सदा निकटे स्वस्य आत्मनः वेशेन परिच्छेदेन रूपेण

वेश्याभिश्च नटैर्मद्यैर्गायकैर्मोहयेदरिम् ॥१५॥

सुवस्त्राभरणैर्नैव न कुटुम्बेन संयुतः ।

विशिष्टचिह्नितो भीता युद्धे गच्छेन्न वै क्वचित् ॥१६॥

क्षणं नासावधानः स्याद् भृत्यस्त्रीपुत्रशत्रुषु ।

जीवन् सन् स्वामितो पुत्रे न देयाप्यखिला क्वचित् १७

स्वभावसद्गुणे यस्मान्महानर्थमदावहा ।

विष्णाद्यैरपि नो दत्ता स्वपुत्रे स्वाधिकारता ॥१८॥

च सदृशान् जनान् रक्षेत् तथात्वे व्यक्तिग्रहो न स्यादिति भावः,  
स्वयं विशिष्टम् अन्यविलक्षणं चिह्नं राजचिह्नमित्यर्थः गुप्तं यस्य  
तथाभूतः स्यात् तथा समये समयविशेषे इत्यर्थः अन्यादृशः  
सामान्यजनसदृशः भवेत् ॥ १४ ॥

वेश्याभिरिति । वेश्याभिः नटैः नर्तकैः मद्यैः सुराभिः  
गायकैश्च अरिं शत्रुं मोहयेत् सुगन्धं कुर्यात् ॥ १५ ॥

सुवस्त्रेति । सुवस्त्राभरणैः शोभनवसनालङ्कारैः तथा कुटु-  
म्बेन परिवारेण संयुतः न, विशिष्टचिह्नितः विशिष्टम् अन्य-  
विलक्षणं यत् चिह्नं तदस्य जातमिति तथाभूतः न, भीतश्च न  
क्वचित् कदाचित् युद्धे गच्छेत् ॥ १६ ॥

क्षणमिति । स्वभावेति । जीवन् शक्तः इत्यर्थः सन् क्षण-  
मपि भृत्यस्त्रीपुत्रशत्रुषु भृत्येषु स्त्रीषु पुत्रेषु शत्रुषु च असाव-  
धानः न स्यात् । किञ्च स्वभावसद्गुणेऽपि पुत्रे क्वचित् कदा-  
चित् अखिला सम्पूर्णा स्वामिता प्रभुता न देया, यस्मात् सा  
महानर्थमदावहा महान्तम् अनर्थं मदच्च आवहतीति तथोक्ता  
महानर्थकारिणी मदवर्द्धनी च । तस्मात् विष्णाद्यैः विष्णुप्रभ-

स्वायुषः स्वल्पशेषे तु सत्पुत्रे स्वाम्यमादिशेत् ।  
 नाराजकं क्षणमपि राष्ट्रं धर्तुं क्षमा किल ।  
 युवराजादयः स्वाम्यलोभचापलगौरवात् ॥१८॥  
 प्राप्योत्तमं पदं पुत्रः सुनीत्या पालयन् प्रजाः ।  
 पूर्वामात्येषु पितृवद्गौरवं सम्प्रधारयेत् ॥२०॥  
 तस्यापि शासनं तैस्तु प्रधाय्यं पूर्वतोऽधिकम् ।  
 युक्तं चेदन्यथा कार्य्यं निषेध्यं काललम्बनैः ॥२१॥

तिभिरपि स्वपुत्रे स्वाधिकारता स्वस्य अधिकारः तस्य भावः  
 स्वस्वाम्यं नो दत्ता ॥ १७ ॥ १८ ॥

स्वेति । स्वस्य आत्मनः आयुषः जीवनकालस्य स्वल्पशेषे  
 अत्यल्पावशेषे सति सत्पुत्रे सुपुत्रे स्वाम्यम् आदिशेत् अर्पयेत् ।  
 युवराजादयः स्वाम्यलोभेन यत् यत् चापलं चाञ्चल्यं तस्य  
 गौरवात् आतिशय्यात् अराजकं राजरहितं राष्ट्रं क्षणमपि  
 धर्तुं गृहीतुं शासितुमित्यर्थः न किल नैव क्षमाः शक्ताः  
 भवन्ति ॥ १८ ॥

प्राप्येति । पुत्रः उत्तमं पदं राजपदं प्राप्य सुनीत्या प्रजाः  
 पालयन् पूर्वामात्येषु पुरातनेषु अमात्येषु पितृवत् गौरवं गुरु-  
 भावं भक्तिमित्यर्थः सम्प्रधारयेत् सम्यक् कुर्यादित्यर्थः ॥ २० ॥

तस्येति । तैः पूर्वैः अमात्यैः तस्य राजपुत्रस्यापि शासनं चेत्  
 यदि युक्तं तदा पूर्वतः पूर्वस्मात् अधिकं यथा तथा प्रधाय्यं  
 प्रतिपालनीयम्, अन्यथा अयुक्तत्वे इत्यर्थः काललम्बनैः काला-  
 श्रयिभिः सद्भिः समयान्तरे एतत्प्रतिपालनीयमिति वादिभि-  
 रित्यर्थः कार्य्यं राजशासनीयं कर्म निषेध्यं निवायणीयम् ॥२१॥

यस्य चाप्रियमन्विच्छेत् तस्य कुर्व्यात् सदा प्रियम् ।  
 व्याधो मृगबधं कर्तुं गीतं गायति सुखरम् ॥३१॥  
 मायां विना महाद्रव्यं द्राड् न सम्पाद्यते जनैः ।  
 विना परस्वहरणान्न कश्चित् स्यात् महाधनः ।  
 मायया तु विना तद्धि न साध्यं स्यादयेस्मितम् ॥३२॥  
 स्वधर्मं परमं मत्वा परस्वहरणं नृपाः ।  
 परस्परं महायुद्धं कृत्वा प्राणांस्त्यजन्त्यपि ॥३३॥  
 राज्ञो यदि न पापं स्यादस्यूनामपि नो भवेत् ।  
 सर्वं पापं धर्मरूपं स्थितमाश्रयभेदतः ॥३४॥

पश्चात् मायया कृद्भना घातयन्ति ॥ ३० ॥

यस्येति । यस्य अप्रियम् अन्विच्छेत् अभिलषेत् सदा तस्य  
 प्रियं कुर्व्यात् । व्याधः मृगबधं कर्तुं सुखरं गीतं गायति सुम-  
 धुरगीतेन मृगम् आनन्दयतीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

मायामिति । जनैः मायां कापव्यं विना द्राक् भटिति  
 महाद्रव्यं बहुधनं न सम्पाद्यते न सञ्चीयते, परस्वहरणात्  
 विना कश्चित् जनः महाजनः न स्यात् मायया विना यथा यत्  
 ईप्सितं तत् न हि नैव साध्यम् ॥ ३२ ॥

स्वधर्ममिति । नृपाः परस्वहरणं परधनहरणं परमम् उत्कृष्टं  
 स्वधर्मं मत्वा परस्परं महायुद्धं कृत्वा प्राणानपि त्यजन्ति ॥३३॥

राज्ञ इति । यदि राज्ञः पापं न स्यात् तदा दस्यूनामपि  
 पापं नो स्यात् । आश्रयस्य भेदतः भेदात् सर्वं पापं धर्मरूपं  
 स्थितं दस्युषु परस्वहरणं पापं परं राजनि धर्म एवेति आश्रय  
 भेद इति भावः ॥ ३४ ॥

बहुभिर्यः स्तुतो धर्मो निन्दितोऽधर्म एव सः ।  
 धर्मतत्त्वं हि गहनं ज्ञातुं केनापि नोचितम् ॥३५॥  
 अतिदानं तपः सत्ययोगो दारिद्र्यकृत् त्विह ।  
 धर्मार्थौ यत्र न स्यातां तद्वाक् कामं निरर्थिका ३६  
 अर्थे वा यदि वा धर्मे समर्थो देशकालवित् ।  
 निःसंशयो नरः पूज्यो नेष्टः संशयिता सदा ॥३७॥  
 अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित् ।  
 अतोऽर्थाय यतैतैव सर्वदा यत्नमास्थितः ।

बहुभिरिति । यः व्यापारः बहुभिः स्तुतः प्रशंसितः सः धर्म  
 एव, यत्तु बहुभिः निन्दितः सः अधर्म एव । धर्मतत्त्वं गहनं  
 दुर्ज्ञेयमित्यर्थः हिशब्दः अवधारणार्थः, केनापि ज्ञातुं न उचितं  
 न शक्तमित्यर्थः ॥ ३५ ॥

अतीति । इह जगति अतिदानं तपः सत्ययोगश्च दारिद्र्य-  
 कृत् अतिदानेन दारिद्र्यं प्रसिद्धं तपसा धर्मानुष्ठानरूपेण  
 अर्थव्ययात् धनागमस्य मायासाध्यत्वात् सत्ययोगे तदभावाच्च  
 दारिद्र्यमित्यनुसन्धेयम् । यत्र यस्यां वाचि धर्मार्थौ धर्मः अर्थश्च  
 न स्यातां तद्वाक् सावाणी कामं सम्यक् निरर्थिका निष्फला ॥३६॥

अर्थे इति । अर्थे वा धर्मे वा समर्थः धर्मानुसारेण अर्था-  
 गमकौशलज्ञ इत्यर्थः देशकालवित् स्थानसमयानुसारेण कार्यज्ञ  
 इत्यर्थः निःसंशयः संशयरहितश्च नरः पूज्यः, सदा संशयिता  
 संशयानः नरः न इष्टः न सम्मतः ॥ ३७ ॥

अर्थस्येति । पुरुषः अर्थस्य दासः, अर्थस्तु न कस्यचित्  
 दासः, अतः अस्मात् कारणात् यत्नमास्थितः यत्नवान् सन्

अर्थाद्धर्मश्च कामश्च मोक्षश्चापि भवेन् नृणाम् ॥३८॥  
 शस्त्रास्त्राभ्यां विना शौर्यं गार्हस्थान्तु स्त्रियं विना  
 ऐकमत्यं विना युद्धं कौशल्यं ग्राहकं विना ।  
 दुःखाय जायते नित्यं सुसहायं विना विपत् ।  
 न विद्यते तु विपदि सुसहायं सुहृत्समम् ॥३९॥  
 अविभक्तधनान् मैत्र्या भृत्या भक्तधनान् सदा ।  
 मित्रं स्वसदृशैर्भोगैः सत्यैश्च परितोषयेत् ॥४०॥  
 नृपसम्बन्धिस्त्रीपुत्रसुहृद्भृत्यगणान् तथा ।  
 तोषयित्वा सुखी चैव भुङ्क्ते यस्तु स्वकं धनम् ॥४१॥  
 त्यक्त्वा तु दर्पकार्पण्यमानोद्वेगभयानि च ।

सर्वदा अर्थाय यतेत एव । अर्थात् धनात् नृणां धर्मश्च कामश्च  
 मोक्षश्च भवेत् ॥ ३८ ॥

शस्त्रेति । शौर्यं शस्त्रास्त्राभ्यां विना, गार्हस्थ्यं स्त्रियं भार्यां  
 विना, युद्धम् ऐकमत्यं योद्धृणामेकतां विना, कौशल्यं नैपुण्यं  
 ग्राहकं बोद्धारं विना, तथा विपत्, सुसहायं विना नित्यं सततं  
 दुःखाय जायते विपदि सुहृदा समः सुसहायः न विद्यते ॥३९॥

अविभक्तधनानिति । मैत्र्या सौहृद्येन अविभक्तधनान्  
 एकान्नवर्त्तिनः ज्ञातीनित्यर्थः, भृत्या मासिकादिवृत्तिविधानेन  
 भक्तधनान् पृथक्स्थान् दायादान् तथा स्वसदृशैः आत्मतुल्यैः  
 भोगैः सत्यैश्च मित्रं परितोषयेत् । तथा नृपसम्बन्धिस्त्रीपुत्र-  
 सुहृद्भृत्यगणान् तोषयित्वा यस्तु स्वकं धनं भुङ्क्ते चैव स सुखी  
 भवति इति यावत् ॥ ४० ॥ ४१ ॥

कुर्वीत नृपतिर्नित्यं स्वार्थसिद्धयै तु नान्यथा ।  
 विशेषभृतितो भृत्यं प्रेममानाधिकारतः ॥४२॥  
 ब्राह्मणाग्निजलैश्चैव धनवान् भक्ष्यते सदा ।  
 स सुखी मोदते नित्यमन्यथा दुःखमश्रुते ॥४३॥  
 दर्पस्तु परक्लासेच्छा मानोऽहं सर्वतोऽधिकः ।  
 कार्पण्यन्तु व्यये दैन्यं भयं खोच्छेदशङ्कनम् ।  
 मानसस्यानवस्थानमुद्देगः परिकीर्तितः ॥४४॥

त्यक्तेति । नृपतिः दर्पं कार्पण्यं कृपणतां मानम् उद्देगं  
 भयञ्च त्यक्त्वा स्वार्थसिद्धयै स्वकार्यसिद्धये विशेषभृतितः विशि-  
 ष्टया भृत्या तथा प्रेम्णा मानेन अधिकारतः अधिकारप्रदानेन  
 नित्यं सततं भृत्यं कुर्वीत नियुञ्ज्यात् अन्यथा सार्थसिद्धयै  
 इत्यर्थः न ॥ ४२ ॥

ब्राह्मणेति । धनवान् जनः ब्राह्मणाग्निजलैश्चैव सदा  
 नित्यं भक्ष्यते, ब्राह्मणेभ्यः दानात् अग्निसाध्ययज्ञानुष्ठानात्  
 पथिकानां श्रान्तिनिवारणार्थं पानीयशालाविधानाच्च धनक्षया-  
 दिति भावः । सः ब्राह्मणाग्निजलसात्कृतधनः पुरुष इत्यर्थः  
 सुखी सन् नित्यं मोदते आनन्दमनुभवति, अन्यथा दुःखम्  
 अश्रुते लभते ॥ ४३ ॥

दर्प इति । परस्य क्लासेच्छा खर्वीकरणाशयः दर्पः, अहं  
 सर्वतः सर्वेभ्यः अधिकः इत्येवं बुद्धिः मानः, व्यये दैन्यं कातर्यं  
 कार्पण्यं स्वस्य आत्मनः उच्छेदशङ्कनम् उच्छेदशङ्का भयम् ।  
 तथा मानसस्य चित्तस्य अनवस्थानम् अस्थिरता चाञ्चल्यमित्यर्थः  
 उद्देगः परिकीर्तितः ॥ ४४ ॥

लघोरप्यपमानस्तु महावैराय जायते ।

दानमानसत्यशौर्यमार्दवं सुसुहृत्करम् ॥४५॥

सर्वानापदि सदसि समाह्वय बुधान् गुरुन् ।

भ्रातृन् बन्धून् भृत्यांश्च ज्ञातीन् सभ्यान् पृथक् पृथक्

यथाहं पूज्य विनतः स्वाभीष्टं याचयेत् नृपः ॥४६॥

आपदं प्रतरिष्यामो यूयं युक्त्या वदिष्यथ ।

भवन्तो मम मित्राणि भवत्सु नास्ति भृत्यता ॥४७॥

न भवत्सदृशास्त्वन्ये सहायाः सन्ति मे ह्यतः ।

तृतीयांशं भूतेर्ग्राह्यमर्द्धं वा भोजनार्थकम् ।

लघोरिति । लघोः क्षुद्रस्यापि जनस्य अपमानः मानहानिः महावैराय जायते प्रभवति । दानं मानः सत्यं शौर्यं मार्दवञ्च सुसुहृत्करं सुष्ठु सौहार्दविधायकं भवति ॥ ४५ ॥

सर्वानिति । नृपः विनतः विनीतः सन् आपदि सदसि सभायां सर्वान् बुधान् पण्डितान् गुरुन् भ्रातृन् बन्धून् भृत्यान् ज्ञातीन् तथा सभ्यान् सभानियुक्तान् पुरुषान् समाह्वय पृथक् पृथक् यथाहं पूज्य पूजयित्वा पूज्येति यत्प्रत्यय आर्षः । स्वस्य अभीष्टं याचयेत् प्रार्थयेन ॥ ४६ ॥

याज्वाप्रकारमाह आपदमिति । आपदं प्रतरिष्यामः यथेति शेषः यूयं तथा युक्त्या वदिष्यथ उपदेक्ष्यथ, भवन्तः मम मित्राणि सुहृदः भवत्सु भृत्यता किङ्करता नास्ति ॥ ४७ ॥

नेति । भवतां सदृशाः अन्ये मम सहाया न सन्ति हि नैव विद्यन्ते इत्यर्थः । अतः इदानीं भूतेः वृत्तिरूपस्य वेतनस्य तृतीयांशं वा अर्द्धं भोजनार्थकं अन्नार्थं ग्राह्यं भवन्निति

दास्याम्यापत्समुत्तीर्णः शेषं प्रत्युपकारवित् ॥४८॥

भृतिं विना स्वामिकार्यं भृत्यः कुर्यात् समाष्टकम्

षोडशाब्दधनी यः स्यादितरोऽर्थानुरूपतः ॥४९॥

निर्धनैरन्नवस्त्रन्तु नृपाद् ग्राह्यं न चान्यथा ।

यतो भुक्तं सुखं सम्यक् तद्दुःखैर्दुःखितो न चेत् ।

विनिन्दति कृतघ्नन्तु स्वामी भृत्योऽन्य एव वा ॥५०॥

सकृत् सुभुक्तं यस्यापि तदर्थं जीवितं त्यजेत् ।

भृत्यः स एव सुश्लोको नापत्तौ स्वामिनं त्यजेत् ।

स्वामी स एव विज्ञेयो भृत्यार्थे जीवितं त्यजेत् ५१

शेषः आपत्सु बहुव्ययसम्भवात् समग्रदाने अशक्तेरिति भावः ।

अतः आपदः समुत्तीर्णः अत एव प्रत्युपकारवित् कृतज्ञः सन्नि-

त्यर्थः, शेषम् अवशिष्टं दास्यामि ॥ ४८ ॥

भृतिमिति । यः भृत्यः षोडशाब्दधनी षोडशवर्षीयव्ययोप-

योगिधनसम्पन्नः स्यात् सः भृतिं विना समाष्टकम् अष्टौ वत्स-

रान् स्वामिकार्यं कुर्यात् । इतरः तद्विन्नस्तु अर्थानुरूपतः

शेषदर्थमित्यर्थः स्वामिकार्यं कुर्यादिति शेषः ॥ ४९ ॥

निर्धनैरिति । निर्धनैः दरिद्रैः भृत्यैः नृपात् तथा विपन्ना-

दिति भावः अन्नवस्त्रं ग्राह्यम् अन्यथा सधनत्वे न, यतः नृपात्

सम्यक् सुखं भुक्तं चेत् यदि तस्य दुःखैः दुरवस्थाभिः दुःखितः

न भवेत् तदा स्वामी वा अन्यः कृतज्ञः भृत्यः कृतघ्नम् अकृतज्ञं

नादृशं संत्यं विनिन्दति ॥ ५० ॥

सकृदिति । यस्य अन्नं सकृत्, एकवारमपि सुभुक्तं भृत्यः

तदर्थं जीवितं त्यजेत् स एव भृत्यः सुश्लोकः पुण्यकीर्तिः यः

न रामसदृशो राजा पृथिव्यां नीतिमानभूत् ।  
 सुभृत्यता तु यन्नीत्या वानरैरपि स्वीकृता ॥५२॥  
 अपि राष्ट्रविनाशाय चोराणामेकचित्तता ।  
 शक्ता भवेन्न किं शत्रुनाशाय नृपभृत्ययोः ? ॥५३॥  
 न कूटनीतिरभवच्छ्रीकृष्णसदृशो नृपः ।  
 अर्जुने प्रापिता स्वस्य सुभद्रा भगिनी क्लृप्ता ॥५४॥  
 नीतिमतान्तु सा युक्तिर्या हि स्वश्रेयसेऽखिला ॥५५॥  
 आदौ तद्धितकृत्स्नेहं कार्य्यं स्नेहमनन्तरम् ।

आपत्तौ आपदि स्वामिनं न त्यजेत् । तथा स एव स्वामी  
 विज्ञेयः यः भृत्यार्थे भृत्यनिमित्तं जीवितं त्यजेत् । स्वामि-  
 भृत्याभ्यां परस्परानुरक्ताभ्यां भवितव्यमिति भावः ॥ ५१ ॥

नेति । पृथिव्यां रामेण सदृशः नीतिमान् राजा न अभूत् ।  
 यस्य नीत्या सुनयेन वानरैरपि सुभृत्यता स्वीकृता ॥ ५२ ॥

अपीति । चोराणां तस्कराणामपि एकचित्तता ऐकमत्यं  
 राष्ट्रस्य विनाशाय उच्छेदाय शक्ता समर्था भवेत् शत्रुनाशाय  
 नृपभृत्ययोः सा किं न भवेत् ? अपितु भवेदेवेत्यर्थः ॥ ५३ ॥

नेति । कश्चिदपि नृपः श्रीकृष्णेन सदृशः कूटनीतिः कपट-  
 नीतिमान् न अभवत् । येन स्वस्य भगिनी सुभद्रा क्लृप्ता  
 अर्जुने प्रापिता ॥ ५४ ॥

नीतिमतमिति । नीतिमतां नीतिज्ञानां सा युक्तिः हि  
 सैव युक्तिरित्यर्थः, या अखिला समग्रा स्वस्य आत्मनः श्रेयसे  
 भवतीति शेषः ॥ ५५ ॥

आदाविति । मध्यस्थः उदासीनः जनः आदौ अग्रतः तस्य

कृत्वा सधर्मवादञ्च मध्यस्थः साधयेद्वितम् ॥५६॥

परस्परं भवेत् प्रीतिस्तथा तद्गुणवर्णनम् ।

इष्टान्नधनवसनैर्लोभनं कार्य्यसिद्धिदम् ॥५७॥

दिव्यावलम्बनं मिथ्यासङ्गापं धैर्य्यवर्द्धनम् ।

इमे उपाया मध्यस्थकुट्टिनीमायिनां मताः ॥५८॥

यो नात्मगोपने युक्तिं चिन्तयेत् स पशोर्जडः ।

जारसङ्गोपने कृद्ग संश्रयन्ति स्त्रियोऽपि च ॥५९॥

युक्तिश्छूलात्मिका प्रायस्तथान्या सत्यरूपिका ।

आत्मनः हितकृति हितकारिणि मित्रे इत्यर्थः स्नेहम् अनन्तरं  
कार्य्यं कर्त्तव्यं धर्मवादसहितं धर्मवचनसमन्वितं स्नेहञ्च कृत्वा  
हितं साधयेत् ॥ ५६ ॥

परस्परमिति । परस्तरं यथा प्रीतिः भवेत् तथा तस्य  
प्रणयस्य गुणवर्णनम् इष्टेन अभिलषितेन अन्नेन धनेन वसनेन  
च लोभनं लोभप्रदर्शनं कार्य्यमिति शेषः । तदेव कार्य्यसिद्धिदं  
कार्य्यसाधकं भवतीत्यर्थः ॥ ५७ ॥

दिव्येति । मध्यस्थानां कुट्टिनीप्रभृतीनां मायिनां कपटिनां  
कार्य्ययोजकानामित्यर्थः दिव्यस्य शपथस्य अवलम्बनं मिथ्या-  
सङ्गापः असत्यशिष्टालापः धैर्य्यवर्द्धनं सन्तोषवृद्धिकरणञ्च इमे  
उपायाः मताः इष्टाः ॥ ५८ ॥

नेति । यः आत्मनः गोपने युक्तिं न चिन्तयेत् सः अनात्म-  
गोपनार्थीत्यर्थः पशोः पशुमपेक्ष्य जडः पश्वपेक्षयापि अज्ञ  
इत्यर्थः । स्त्रियः अपि जारस्य उपपत्तेः सङ्गोपने कृद्ग कृलं  
संश्रयन्ति ॥ ५९ ॥

यच्छुद्भवाचारी भवति तस्मिन् कृद्भ समाचरेत् ॥६०॥

अन्यथा शीलनाशाय महतामपि जायते ।

अस्ति बुद्धिमतां श्रेणिर्न त्वेको बुद्धिमानतः ॥६१॥

देशे काले च पुरुषे नीतिं युक्तिमनेकधा ।

कल्पयन्ति च कुशलाः दृष्ट्वा रुद्धान्तुतात्त्विकीम् ॥६२॥

मन्त्रौषधिपृथग्वेशकालवागर्थसंश्रयात् ।

कृद्भ सञ्जनयन्तीह मायासु कुशला जनाः ॥ ६३ ॥

लोकेऽधिकारिप्रत्यक्षं विक्रीतं दत्तमेव वा ।

युक्तिरिति । युक्तिः द्विधा प्रायः बाहुल्येन कलात्मिका कपटरूपा, अन्या अपरा सत्यरूपिका सत्यात्मिका इत्यर्थः । यः कृद्भवाचारी कपटाचारः भवति तस्मिन् जने कृद्भ कपटं समाचरेत् ॥ ६० ॥

अन्यथेति । देशे इति । अन्यथा उक्तवैपरीत्ये कृद्भ समाचरणं महतामपि शीलनाशाय चरित्रविनाशाय जायते । किञ्च बुद्धिमतां श्रेणिः समूहः अस्ति न तु एक एव बुद्धिमान् अस्तीत्यर्थः, अतः अस्मात् कारणात् कुशला निपुणा जनाः तात्त्विकीं सत्यरूपिकां युक्तिं रुद्धान् न्यकृताम् अफलामित्यर्थः दृष्ट्वा देशे काले पुरुषे पात्रे इत्यर्थः च अनेकधा बहुविधां नीतिं युक्तिश्च कल्पयन्ति रचयन्ति ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

मन्त्रेति । इह जगति मायासु कपटाचारिषु कुशला निपुणा जनाः मन्त्राणाम् औषधीनां पृथक् विभिन्नानां वेशानां परिच्छदानां कालानां वाचाम् अर्थानाञ्च संश्रयात् कृद्भ कलं सञ्जनयन्ति उत्पादयन्ति ॥ ६३ ॥

वस्त्रभाण्डादिकं क्रीतं स्वचिह्नैरङ्गयेच्चिरम् ॥६४॥

स्तेनकूटनिवृत्त्यर्थं राजज्ञातं समाचरेत् ।

जड़ान्धबालद्रव्याणां दद्याद्दृष्टिं नृपः सदा ॥६५॥

स्त्रीया तथा च सामान्या परकीया तु स्त्री यथा ।

त्रिविधो भृतकस्तदुत्तमो मध्यमोऽधमः ॥६६॥

स्वामिन्येवानुरक्तो यो भृतकस्तूत्तमः स्मृतः ।

सेवते पुष्टभृतिदं स्वामिनं स च मध्यमः ।

पुष्टोऽपि स्वामिना व्यक्तं भजतेऽन्यं स चाधमः ६७

लोके इति । लोके जगति विक्रीतं वस्त्रभाण्डादिकं दत्तं पात्रसात्कृतं वस्तु तथा क्रीतं वस्त्रभाण्डादिकम् अधिकारिणां विक्रेतृणां दातृणां क्रेतृणाञ्च प्रत्यक्षं स्वचिह्नैः आत्मचिह्नैः चिरं स्थायिरूपं यथा तथा अङ्गयेत् अङ्कितं कुर्यात् भाविविसंवाद-  
निराकरणार्थमिति भावः ॥ ६४ ॥

स्तेनेति । स्तेनानां चौराणां कूटस्य कपटस्य निवृत्त्यर्थं निवारणाय सर्वं क्रीतादिकं राजज्ञातं समाचरेत् राज्ञः ज्ञात-  
सारेण क्रीतादिकं कुर्यादित्यर्थः । नृपः जड़ानाम् अन्धानां बालानां शिशूनाञ्च यानि द्रव्याणि धनानि राजनि न्यस्ता-  
नीति भावः तेषां सदा दृष्टिं दद्यात् ॥ ६५ ॥

स्त्रीयेति । यथा स्त्री स्त्रीया, सामान्या साधारणी, पर-  
कीया चेति त्रिविधा, तथा भृतकः उत्तमः, मध्यमः अधमश्चेति  
त्रिविधः ॥ ६६ ॥

स्वामिनीति । यः भृतकः स्वामिनि एव अनुरक्तः सः उत्तमः  
स्मृतः । यः पुष्टभृतिदं पर्याप्तवेतनदायिनं स्वामिनम् अधि-

उपकरोत्यपकृतो ह्युत्तमोऽप्यन्यथाधमः ।

मध्यमः साम्यमन्विच्छेदपरः स्वार्थतत्परः ॥६८॥

नोपदेशं विना सम्यक् प्रमाणैर्ज्ञायतेऽखिलम् ।

बाल्यं वाप्यथ तारुण्यं प्रारम्भितसमाप्तिदम् ॥६९॥

प्रायो बुद्धिमता ज्ञेयं न वार्द्धक्यं कदाचन ।

आरम्भं तस्य कुर्याद्वि यत् समाप्तिं सुखं व्रजेत् ७०

नारम्भो बहुकार्य्याणामेकदैव सुखावहः ।

नारम्भितसमाप्तिन्तु विना चान्यं समाचरेत् ॥७१॥

कारिणं प्रभुमित्यर्थः सेवते पर्याप्तवेतनलोभेन न त्वनुरागेणेति भावः सः मध्यमः । यश्च स्वामिना पुष्टोऽपि सम्यक् पालितोऽपि अव्यक्तं गूढम् अन्यं भजते स अधमः ॥ ६७ ॥

उपकरोतीति । यः अपकृतोऽपि उपकरोति स हि स एव उत्तमः । अन्यथा अधमः । मध्यमः भूतकः साम्यम् अन्विच्छेत् समतां तुल्यव्यवहारताम् आप्तुमभिलषेत् अपरः अधमः स्वार्थेषु स्वकार्य्येषु तत्परः ॥ ६८ ॥

नेति । प्राय इति । उपदेशं विना प्रमाणैः अखिलं समस्तं सम्यक् न ज्ञायते । बुद्धिमता विदुषा बाल्यं वा तारुण्यं यौवनं प्रारम्भितसमाप्तिदं ज्ञेयं बाल्ये यौवने वा यत् प्रारभ्यते तत् समाप्यते इत्यर्थः, कदाचन वार्द्धक्यं न प्रारम्भितसमाप्तिदं वार्द्धक्ये यत् प्रारभ्यते तत् न समाप्यते इत्यर्थः । तस्मात् तस्य कार्य्यस्य आरम्भं कुर्यात् यत् सुखम् अक्लेशं यथा तथा समाप्तिं व्रजेत् गच्छेत् समाप्तं भवतीत्यर्थः ॥ ६९ ॥ ७० ॥

नेति । एकदैव युगपदेव बहूनां कार्य्याणाम् आरम्भः न

सम्पाद्यते न पूर्वं हि नापरं लभ्यते यतः ।

कृती तत् कुरुते नित्यं यत् समाप्तिं व्रजेत् सुखम् ॥ ७२

यदि सिद्धयति येनार्थः कलहेन वरस्तु सः ।

अन्यथायुर्धनसुहृदशोधर्महरः सदा ॥ ७३ ॥

ईर्ष्या लोभो मदः प्रीतिः क्रोधो भीतिश्च साहसम् ।

प्रवृत्तिच्छिद्रहेतूनि कार्ये सप्त बुधा जगुः ॥ ७४ ॥

यथाच्छिद्रं भवेत् कार्यं तथैव हि समाचरेत् ।

अविसंवादि विदुषां कालेऽतीतेऽप्यनापदि ॥ ७५ ॥

सुखावहः, तस्मात् आरम्भितस्य आरब्धस्य कार्यस्य समाप्तिं  
विना अन्यत् कार्यं न समाचरेत् आश्रयेत् ॥ ७१ ॥

सम्पाद्यते इति । यतः युगपद्बहुकार्यारम्भात् पूर्वं प्रथम-  
मारब्धमित्यर्थः हि अपि अत्र हिशब्दोऽप्यर्थः । न सम्पाद्यते न  
निष्पाद्यते अपरं द्वितीयञ्च न लभ्यते न समाप्यते तत् तस्मात्  
कृती कार्यकुशलः जनः सततं तत् कुर्यात् यत् सुखं यथा  
तथा समाप्तिं व्रजेत् ॥ ७२ ॥

यदीति । येन कलहेन यदि अर्थः सिद्धयति, सः कलहः  
वरः श्रेष्ठः, अन्यथा अर्थसिद्धौ इत्यर्थः आयुषः धनस्य सुहृदः  
धर्मस्य च हरः नाशकः भवति ॥ ७३ ॥

ईर्येति । ईर्ष्या विद्वेषः लोभः लालसा, मदः गर्वः, प्रीतिः  
प्रणयः, क्रोधः कोपः, भीतिर्भयं, साहसं निर्भीकता च एतानि  
सप्त कार्ये प्रवृत्तेः छिद्रस्य दोषस्य च हेतूनि बुधाः पण्डिताः  
सर्वशास्त्रदर्शिनः जगुः गायन्ति स्म ॥ ७४ ॥

यथेति । यथा कार्यम् अच्छिद्रं छिद्ररहितं निर्दोषमित्यर्थः

दशग्रामी शतानीकः परिचारकसंयुतौ ।  
 अश्वस्थौ विचरेयातां ग्रामपा ह्यपि चाश्वगाः ॥ ७६ ॥  
 साहस्रिकः शतग्रामी एकाश्वरथवाहनौ ।  
 दशशस्त्रास्त्रिभिर्युक्तौ गच्छेतां वाश्वसङ्गतौ ॥ ७७ ॥  
 सहस्रग्रामपो नित्यं नराश्वद्वयश्वयानगः ।  
 आयुतिको विंशतिभिः सेवकैर्हस्तिना व्रजेत् ॥ ७८ ॥  
 अयुतग्रामपः सर्वयानैश्च चतुरश्वगः ।

भवेत् तथैव हि समाचरेत् । अनापदि अविपन्नावस्थायां काले  
 अतीते समतिक्रान्ते अपि विदुषां पण्डितानाम् अविसंवादि  
 सम्मतम् एव कार्यं समाचरेत् कुर्यात् ॥ ७५ ॥

दशेति । दशग्रामी दशग्रामाधिपः शतानीकः शतसैन्या-  
 धिपश्च परिचारकैः भृत्यैः संयुतौ परिहृतौ तथा अश्वस्थौ  
 अश्वारूढौ सन्तौ विचरेयाताम् । ग्रामपा एकग्रामाधिपतयः  
 अपि अश्वगा अश्वारूढाः विचरेयुरित्यर्थः ॥ ७६ ॥

साहस्रिक इति । सहस्रसेनाधिपतिः शतग्रामी शतग्रामा-  
 धिपतिश्च दशशस्त्रास्त्रिभिः दशभिः शस्त्रिभिः अस्त्रिभिश्च युक्तौ  
 एकाश्वरथवाहनौ एकाश्वयुतरथारूढौ वा अश्वसङ्गतौ अश्व-  
 रूढौ गच्छेताम् ॥ ७७ ॥

सहस्रेति । सहस्रग्रामपः सहस्रग्रामाधिपतिः आयुतिकः  
 दशसहस्रसैन्याध्यक्षश्च विंशतिभिः सेवकैः युतः तथा नराश्व-  
 द्वयश्वयानगः नरयानं शिविका तदुग्रामी अश्वगामी वा द्वयश्व-  
 यानगः अश्वद्वययुतरथगामी वा हस्तिना गजारूढः सन्नि-  
 त्यर्थः व्रजेत् गच्छेत् ॥ ७८ ॥

पञ्चायुती सेनपोऽपि सञ्चरेद् बहुसेवकः ॥७६॥  
यथाधिकाधिपत्यन्तु वीक्ष्याधिक्यं प्रकल्पयेत् ।  
कल्पयेच्च यथाधिक्यं धनिकेषु गुणिष्वपि ॥८०॥  
श्रेष्ठो न मानहीनः स्यान्न्यूनो मानाधिकोऽपि न ।  
राष्ट्रे नित्यं प्रकुर्वीत श्रेयोऽर्थी नृपतिस्तथा ॥८१॥  
हीनमध्योत्तमानान्तु ग्रामे भूमिं प्रकल्पयेत् ।  
कुटुम्बिनां गृहार्थन्तु पत्तनेऽपि नृपः सदा ॥८२॥  
द्वाविंशत्प्रमितैर्हस्तैर्दीर्घाद्वा विस्तृताधमा ।  
उत्तमा द्विगुणा मध्या सार्द्धमाना यथार्हतः ।

अयुतेति । अयुतग्रामपः दशसहस्रग्रामाधिपः पञ्चायुत-  
सेनपः अपि बहुसेवकः बहुभृत्यपरिवृतः चतुरश्वगः अश्वचतु-  
ष्टययुतरयारूढः सन् सञ्चरेत् ॥ ७६ ॥

यथेति । यथाधिकाधिपत्यं वीक्ष्य आधिक्यं सम्मानाधिक्यं  
प्रकल्पयेत् । तथा धनिकेषु धनवत्सु गुणिष्वपि यथाधिक्यम्  
आधिक्यानुसारेण कल्पयेच्च सम्मानमिति भावः ॥ ८० ॥

श्रेष्ठ इति । यथा श्रेष्ठः मानहीनः न स्यात्, न्यूनः निम्नः  
मानाधिकः अधिकमानयुतः न स्यात् श्रेयोऽर्थी मङ्गलार्थी  
नृपतिः राष्ट्रे राज्ये तथा नित्यं प्रकुर्वीत ॥ ८१ ॥

हीनेति । नृपः ग्रामे हीनानां मध्यानाम् उत्तमानाञ्च तथा  
कुटुम्बिनां स्वजनानां गृहार्थं पत्तनेऽपि नगरेऽपि भूमिं वास-  
स्थानं प्रकल्पयेत् ॥ ८२ ॥

वासभूमेर्मानमाह द्वाविंशदिति । अधमा वासभूमिः द्वा-

कुटुम्बसंस्थितिसमा न न्यूना वाधिकापि न ॥८३॥  
 ग्रामाद् बहिर्वसेयुस्ते ये ये त्वधिकृता नृपैः ।  
 नृपकार्यं विना कश्चिन्न ग्रामं सैनिको विशेत् ॥८४॥  
 तथा न पीडयेत् कुत्र कदापि ग्रामवासिनः ।  
 सैनिकैर्न व्यवहरेन्नित्यं ग्राम्यजनोऽपि च ॥८५॥  
 श्रावयेत् सैनिकान् नित्यं धर्मं शौर्यविवर्द्धनम् ।  
 सुवाद्यनृत्यगीतानि शौर्यवृद्धिकराण्यपि ॥८६॥

त्रिंशद्विमितैः हस्तैः दीर्घा, विस्तृतौ अर्द्धा तदर्द्धा षोडशहस्त-  
 परिमिता इत्यर्थः । उत्तमा वासभूमिः यथार्हतः यथायोग्यं  
 द्विगुणा अधमद्विगुणा चतुःषष्टिहस्तदीर्घा द्वात्रिंशद्विस्तविस्तृता  
 इत्यर्थः । मध्या वासभूमिः सार्द्धमाना अर्द्धसहिताधमा इत्यर्थः  
 अष्टचत्वारिंशद्विस्तदीर्घा चतुर्विंशतिहस्तविस्तृतेति यावत्  
 कुटुम्बानां संस्थितौ समा सर्वेषां कुटुम्बानां समाना वासभूमिः  
 कार्या, न्यूना न, अधिकापि च न ॥ ८३ ॥

ग्रामादिति । ये ये नृपैः अधिकृताः कार्ये नियुक्ताः ते  
 ग्रामात् बहिः वसेयुः । कश्चित् सैनिकः नृपकार्यं विना ग्रामं  
 न विशेत् ॥ ८४ ॥

तथेति । तथा सैनिकः कुत्र कस्मिन्नपि स्थाने कदापि  
 ग्रामवासिनः जनान् न पीडयेत्, ग्राम्यजनोऽपि नित्यं सततं  
 सैनिकैः न व्यवहरेत् ॥ ८५ ॥

श्रावयेदिति । नित्यं सततं सैनिकान् शौर्यविवर्द्धनं शौर्य-  
 वृद्धिकरं धर्मं युद्धधर्मं तथा शौर्यवृद्धिकराणि सुवाद्यानि नृत्यानि  
 गीतानि च श्रावयेत् ॥ ८६ ॥

युद्धक्रियां विना सैन्यं योजयेन्नान्यकर्मणि ॥८७॥  
 सत्याचारास्तु धनिका व्यवहारे हता यदि ।  
 राजा समुद्धरेत् तांस्तु तथान्यांश्च कृषीबलान् ॥८८॥  
 ये सैन्यधनिकास्तेभ्यो यथार्हा भृतिमावहेत् ।  
 पारदेश्यञ्च त्रिंशांशमधिकं तद्धनव्ययात् ॥८९॥  
 धनं संरक्षयेत्तेषां यत्नतः स्वात्मकोशवत् ।  
 संहरेद्धनिकात् सर्वं मिथ्याचाराद्धनं नृपः ॥९०॥  
 यदा चतुर्गुणा वृद्धिर्गृहीता धनिकेन च ।

युद्धक्रियामिति । सैन्यं युद्धक्रियां सांघात्मिकव्यापारं विना  
 अन्यकर्मणि न योजयेत् न नियुक्तं कुर्यात् ॥ ८७ ॥

सत्याचारा इति । सत्याचाराः सत्यपथावलम्बिनः धनिकाः  
 यदि व्यवहारे बाणिज्यादौ हताः विनष्टाः क्षतिग्रस्ता इत्यर्थः  
 भवेयुः तदा राजा तान् तथा अन्यान् तथाविधान् कृषीबलान्  
 कृषिजीविनश्च समुद्धरेत् ॥ ८८ ॥

ये इति । ये जनाः सैन्येषु मध्ये धनिकाः, तेभ्यः यथार्हां  
 यथायोग्यां भृतिं तथा तस्य धनव्ययात् अधिकं पारदेश्यं पर-  
 देशगमनार्थं त्रिंशांशञ्च आवहेत् दद्यात् ॥ ८९ ॥

धनमिति । आत्मकोशवत् निजधनमिव तेषां धनिक-  
 सैन्यानां धनं यत्नतः यत्नेन संरक्षेत् । किञ्च नृपः मिथ्याचारात्  
 मायाव्यवहारिणः धनिकात् सर्वं धनं संहरेत् ॥ ९० ॥

यदेति । यदा धनिकेन उत्तमर्णेन अधमर्णात् चतुर्गुणा

अधमर्णान्न दातव्यं धनिने तु धनं तदा ॥६१॥

इति शुक्रनीतौ खिलनीतिनिरूपणं नाम  
पञ्चमोऽध्यायः ।

शुक्रनीतिः समाप्ता ।

वृद्धिः गृहीता, तदा धनिने तस्मै उत्तमर्णाय धनं मूलमित्यर्थः  
न दातव्यं अधमर्णेनेति शेषः ॥ ६१ ॥

इति शुक्रनीतौ खिलनीतिनिरूपणं नाम पञ्चमोऽध्यायः ।

इति श्रीजीवानन्दविद्यासागरभट्टाचार्यविरचिता शुक्र-  
नीतिसारव्याख्या समाप्ता ।

समाप्तश्च ग्रन्थः ।

प्रकाशक—श्रीजीवानन्द विद्यासागर

२ नं ब्रह्मानाथ मज्जुमदारैर लेन, कलिकाता

प्रिन्टर—श्रीब्रह्मनारायण पाल

१७ नं नूतन पगयापटी ।

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA  
JNANA SIMHASA, JYANAMANDIR  
LIBRARY.

Jangamwadi Mata, VARANASI,

Acc. No. ...~~211117~~... 1000

1318





